

अकलंकग्रन्थत्रयम्

[स्वोपज्ञविवृतिसहितं लघीयस्त्रयम्, न्यायविनिश्चयः, प्रमाणसंग्रहश्च ।]

[न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारशास्त्रिनिर्मितटिप्पणादिसहितम्]



सम्पादक

न्यायाचार्य परिडित महेन्द्रकुमारशास्त्री जैन-प्राचीनन्यायतीर्थ

सम्पादक—“न्यायकुमुदचन्द्र”

न्यायाध्यापक श्री स्याद्वाद जैन महाविद्यालय, भदौनी, बनारस ।



प्रकाशन कर्ता

संचालक—सिंधी जैन ग्रन्थमाला

अ ह म दा बा द—क ल क ता

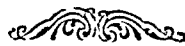
॥ सिंघीजैनग्रन्थमालासम्पादकप्रशस्तिः ॥



स्वस्ति श्रीमेदपाटास्थो देशो भारतविश्रुतः । रूपाहेलीति सन्नाम्नी पुरिका तत्र सुस्थिता ॥
 सदाचार-विचाराभ्यां प्राचीनचपतेः समः । श्रीमच्चतुरसिंहोऽत्र राठोडा-वयभूमिपः ॥
 तत्र श्रीवृद्धिसिंहोऽभूत् राजपुत्रः प्रसिद्धिमान् । चात्रधर्मधनो यश्च परमारकुलाग्रणीः ॥
 मुंज-भोजमुखा भूषा जाता यस्मिन्महाकुले । किं वर्यते कुलीनत्वं तत्कुलजातजन्मनः ॥
 पत्नी राजकुमारीति तस्याभूद् गुणसंहिता । चातुर्य-रूप-लावण्य-सुवाक्सौजन्यभूषिता ॥
 क्षत्रियाणी प्रभापूर्णा शौर्यदीप्तमुखाकृतिम् । यां दृष्ट्वैव जनो मेने राजन्यकुलजा त्वियम् ॥
 सूनुः किसनसिहास्थो जातस्तयोरतिप्रियः । रणमल्ल इति ह्यन्यद् यन्नाम जननीकृतम् ॥
 श्रीदेवीहंसनामात्र राजपूज्यो यतीश्वरः । ज्योतिर्मैषज्यविद्यानां पारगामी जनप्रियः ॥
 अष्टोत्तरशताब्दानामायुर्यस्य महायतेः । स चासीद् वृद्धिसिंहरय प्रीतिश्रद्धास्पदं परम् ॥
 तेनाथाप्रतिमप्रेम्णा स तत्सूनुः स्वसन्निधौ । रक्षितः, शिक्षितः सम्यक् कृतो जैनमतानुगः ॥
 दौर्भाग्यात्तच्छिशोर्वाल्ये गुरु-तातौ दिवंगतौ । मुग्धीभूय ततस्तेन त्यक्तं सर्वं गृहादिकम् ॥

तथा च—

परिभ्रम्याथ देशेषु संसेव्य च बहून् नरान् । दीक्षितो मुण्डितो भूत्वा कृत्वाऽऽचारान् सुदुष्करान् ॥
 ज्ञातान्यनेकशास्त्राणि नानाधर्ममतानि च । मय्यस्थवृत्तिना येन तत्त्रातत्त्रगवेपिणा ॥
 अधीता विविधा भाषा भारतीया युरोपजाः । अनेका लिपयोऽप्येवं प्रल-नूतनकालिकाः ॥
 येन प्रकाशिता नैका ग्रन्था विद्वत्प्रशंसिताः । लिखिता बहवो लेखा ऐतिह्यतथ्यगुम्फिताः ॥
 यो बहुभिः सुविद्वद्भिस्तन्मण्डलैश्च सङ्कृतः । जातः स्थान्यसमाजेषु माननीयो मनीषिणाम् ॥
 यस्य तां विश्रुतिं ज्ञात्वा श्रीमद्गान्धीमहात्मना । आहूतः सादरं पुण्यपत्तनात्स्वयमन्यदा ॥
 पुरे चाहम्मदावादे राष्ट्रीयशिक्षणालयः । विद्यापीठमिति ख्यातः प्रतिष्ठितो यदाऽभवत् ॥
 आचार्यत्वेन तत्रोच्चैर्नियुक्तो यो महात्मना । विद्वज्जनकृतश्लाघे पुरातत्त्वाख्यमन्दिरे ॥
 वर्षाणामष्टकं यावत् सम्भूष्य तत्पदं ततः । गत्वा जर्मनराष्ट्रे यस्तत्संस्कृतिमधीतवान् ॥
 तत आगत्य सल्लग्नो राष्ट्रकार्ये च सक्रियम् । कारावासोऽपि सम्प्राप्तः येन स्वराज्यपर्वाणि ॥
 क्रमात्तस्माद् विनिर्मुक्तः प्राप्तः शांतिनिकेतने । विश्ववन्द्यकवीन्द्रश्रीरवीन्द्रनाथभूषिते ॥
 सिंघीपदयुत जैनज्ञानपीठं यदाश्रितम् । स्थापितं तत्र सिंघीश्रीडालचन्दस्य सूनुना ॥
 श्रीवहादुरसिंहेन दानवीरेण धीमता । स्मृत्यर्थं निजतातस्य जैनज्ञानप्रसारकम् ॥
 प्रतिष्ठितश्च यस्तस्य पदेऽधिष्ठातृसङ्गके । अध्यापयन् वरान् शिष्यान् शोधयन् जैनवाङ्मयम् ॥
 तस्यैव प्रेरणां प्राप्य श्रीसिंघीकुलकेतुना । स्वपितृश्रेयसे चैषा ग्रन्थमाला प्रकाश्यते ॥
 विद्वज्जनकृताह्लादा सच्चिदानन्ददा सदा । चिरं नन्दत्वियं लोके जिनविजयभारती ॥



१ प्रास्ताविक (मुनि जिनविजयजी)	१-६
२ प्राक्थन (पं० सुखलालजी)	७-१३
३ सम्पादकीय वक्त्रव्य (सम्पादनगाथा, सस्करण परिचय, संशोधन- सामग्री, आभारप्रदर्शन)	१-१०
४ प्रस्तावना (पं० महेन्द्रकुमार)	११-१०६
(१) ग्रन्थकार	११-३२
जन्मभूमि-पितृकुल	११-१३
समय विचार	१३-१७
अकलंक के ग्रन्थों की तुलना	१७-३२
भर्तृहरि-कुमारिल	१७-१८
भर्तृहरि-धर्मकीर्ति	१८
कुमारिल-धर्मकीर्ति	१८
धर्मकीर्ति का समय	२१-२४
भर्तृहरि-अकलंक	२४
कुमारिल-अकलंक	२४
धर्मकीर्ति-अकलंक	२५
प्रजाकरगुप्त-अकलंक	२६-२९
कर्णकगोमि-अकलंक	२९-३०
धर्मोत्तर-अकलंक	२९-३०
शान्तरक्षित-अकलंक	३१-३२
(२) ग्रन्थ	३३-१०६
ब्राह्मस्वरूप परिचय	३३-४२
(ग्रन्थत्रय की अकलंककर्तृकता, नाम का इतिहास तथा परिचय, रचना शैली)	
आन्तरिक विषय परिचय	४३-१०६
प्रमाणनिरूपण	४३-७५
प्रमाणसामान्य	४३
प्रमाणसम्प्लव	४४
ज्ञान का स्वपरसंवेदनविचार	४५-४७
प्रत्यक्ष	४८-५२
सर्वज्ञत्वविचार	५२-५७
परोक्ष	५७-६५
वाद	६५-६६
जय-पराजय व्यवस्था	६६-६७
जाति	६७
धृत	६७-७०
वेदापीरूपेयत्वविचार	७०-७२
प्रमाणाभास	७२

ज्ञानके कारणों का विचार	७२-७४
प्रमाण का फल	७५
प्रमेयनिरूपण	७५-८४
प्रमाण का विषय	७५-७६
ध्रौव्य और सन्तान	७६-७८
विभ्रमवाद संवेदनाद्वैतादिनिरास	७८-८२
भूतचैतन्यवादनिरास	८२-८४
नयनिरूपण	८५-१००
जैनदृष्टि का आधार और स्थान	८५-९२
नय	९२-९४
नैगमादिनय विवेचन	९४-१००
निक्षेपनिरूपण	१००-१०१
सप्तभंगीनिरूपण	१०१-१०६
सप्तभंगी	१०१-१०३
सकलादेश-विकलादेश	१०३-१०४
संशयादिदूषण	१०५-१०६
५ ग्रन्थत्रय का विषयानुक्रम	१०७-११६
६ लघीयस्त्रय (मूलग्रन्थ)	१-२६
७ न्यायविनिश्चय	२६-६४
८ प्रमाणसंग्रह	६७-१२७
९ टिप्पण	१३१-१८२
लघीयस्त्रय टिप्पण	१३१-१५४
न्यायविनिश्चय टिप्पण	१५५-१७०
प्रमाणसंग्रह टिप्पण	१७१-१८०
टिप्पणपरिशिष्ट	१८१-१८२
१० परिशिष्ट	१-६०
१ लघीयस्त्रय-कारिकानुक्रम	१-२
२ लघीयस्त्रय-अवतरण	२
३ न्यायविनिश्चय-कारिकानुक्रम	३-१२
४ प्रमाणसंग्रह-कारिकानुक्रम	१३-१४
५ प्रमाणसंग्रह-अवतरण	१४
६ लघीयस्त्रयादिग्रन्थत्रयगत दार्शनिक लाक्षणिक नामसूची	१५-५२
७ टिप्पणोपयुक्त ग्रन्थसंकेतविवरण	५३-५७
८ टिप्पणनिर्दिष्ट आचार्यसूची	५७
९ लघीयस्त्रयादिग्रन्थत्रयवाह्य अकलंकोक्त गद्यपद्यसूची	५८-६०
११ शुद्धि-पाठभेद	६०

समर्पणम्—

१—विभाति सदृत्तवर्णगणेशप्रसादवर्णी गुरुरसदीयः ।
प्रसादतो यस्य निरस्य विघ्नं करोमि निघ्नं सकलेप्सितार्थम् ॥

२—मञ्जुलजैनहितैपीत्याख्यं पत्रं प्रचारयन् प्रथितः ।
पूर्णगवेषणमभितः सञ्चितजैनेतिहासश्च ॥
नाथुरामप्रेमी सन्ततमुत्साहयन्नतिप्रेम्णा ।
न्यायकुमुदसम्पादनलग्नं चेतो ममाकार्षीत् ॥

३—श्रीजैनवाणीप्रणयी मुसद्दीलालः स्वधर्मस्य निषेवकोऽस्ति ।
यस्यानुकम्पाभिरहं चिराय स्याद्वादाविद्यालयमाश्रयामि ॥

तेनोदाहृतनाम्नां सतां त्रयाणां करारविन्देषु ।
अमलाकलङ्कशास्त्रत्रयं क्रमादर्प्यते मोदात् ॥

न्यायाचार्य महेन्द्रकुमारेण

ग्रन्थमाला-मुख्यसम्पादक लिखित-

प्रास्ताविक

सिंघी जैन ग्रन्थमाला के १२ वे मणि के रूपमें पाठकों के करकमल में, आज यह

अकलंकग्रन्थत्रय नामक पुस्तक उपस्थित की जा रही है। इस ग्रन्थत्रय के कर्ता भट्ट श्रीअकलंकदेव जैनधर्म के दिगम्बर संप्रदाय के एक महान् ज्योतिर्धर आचार्य थे। जैनमतसम्मत खास खास सिद्धान्तों और पदार्थों की प्रमाणपरिष्कृत व्याख्या और तर्कामित प्रतिष्ठा करने में इन आचार्य का शायद सर्वाधिक कर्तृत्व है। आर्हतमत के दार्शनिक विचारों की मौलिक सुशृंखला के व्यवस्थित संकलन का कार्य मुख्यतया इन तीन आचार्यों ने किया है—१ दिवाकर सिद्धसेन, २ स्वामी समन्तभद्र और ३ भट्ट अकलंकदेव। इनमें प्रथम के दो आचार्य आविष्कारक कोटिके हैं और भट्ट अकलंक समुच्चायक और प्रसारक कोटिके हैं। सिद्धसेन और समन्तभद्र, इन दोनों में कौन पूर्वकालीन हैं और कौन पश्चात्कालीन इसका अभी तक ठीक ठीक निर्णय नहीं हो पाया। ज्ञाननयन पंडित सुखलालजी ने सम्मतितर्क आदि की प्रस्तावना में, तथा जैन-इतिहासान्वेपक पं० श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार ने 'स्वामी समन्तभद्र' नामक पुस्तक में, इस विषय की यद्यपि खूब ऊहापोहपूर्ण आलोचना और विवेचना की है, तथापि अभी इसमें और भी अधिक प्रमाण और अधिक अन्वेषण की आवश्यकता अपेक्षित है इसमें सन्देह नहीं।

साम्प्रदायिक मान्यतानुसार दिवाकर सिद्धसेन श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रभावक पुरुष हैं और स्वामी समन्तभद्र दिगम्बर सम्प्रदाय के। तथापि इन दोनों आचार्यों को दोनों सम्प्रदायों के अनुगामी विद्वानों ने, समान श्रद्धास्पद और समान प्रामाणिक के रूपमें स्वीकृत और उल्लिखित किया है। जिस आदर के साथ सिद्धसेनसूरि की कृतियाँ श्वेताम्बर साहित्य में प्रतिष्ठित हैं उसी आदर के साथ वे दिगम्बर साहित्य में भी उद्धृत हैं और जो सम्मान दिगम्बर साहित्य में समन्तभद्राचार्य को समर्पित है वही सम्मान श्वेताम्बर साहित्य में भी सुस्मृत है। इन दोनों की कृतियों में, परस्पर संप्रदाय-भेद की कोई विश्लेषात्मक व्याख्या सूचित न होकर, समन्वयात्मक व्याख्या ही विशेषतः विवेचित होने से, इन दोनों का स्थान, दोनों संप्रदायों में समान सम्मान की कोटि का पात्र बना हुआ है।

भट्ट अकलंकदेव, स्वामी समन्तभद्र के उपज्ञ सिद्धान्तों के उपस्थापक, समर्थक, विवेचक और प्रसारक हैं। जिन मूलभूत तात्त्विक विचारों का और तर्क-संवादों का स्वामी समन्तभद्र ने उद्बोधन या आविर्भाव किया उन्हींका भट्ट अकलंकदेव ने अनेक तरह से उपवृंहण, विश्लेषण, संचयन, समुपस्थापन, संकलन और प्रसारण आदि किया।

इस तरह भट्ट अकलंकदेव ने जैसे समन्तभद्रोपज्ञ आर्हतमतप्रकर्षक पदार्थों का परिस्फोट और विकास किया वैसे ही पुरातन-सिद्धान्त-प्रतिपादित जैन पदार्थों का भी, नई प्रमाण-परिभाषा और तर्कपद्धति से, अर्थोद्घाटन और विचारोद्बोधन किया। जो कार्य श्वेताम्बर संप्रदाय में जिनभद्रगणी, मल्लवादी, गन्धहस्ती और हरिभद्रसूरि ने किया वही कार्य दिगम्बर संप्रदाय में अनेक अंशों में अकेले भट्ट अकलंकदेव ने किया; और वह भी कहीं अधिक सुंदर और उत्तमरूपसे किया। अतएव इस दृष्टि से भट्ट अकलंकदेव जैन-वाङ्मयाकाश के यथार्थ ही एक बहुत बड़े तेजस्वी नक्षत्र थे। यद्यपि संकुचित विचार के दृष्टिकोण से देखने पर वे संप्रदाय से दिगम्बर दिखाई देते हैं और उस संप्रदाय के जीवन के वे प्रबल बलवर्द्धक और प्राणपोषक आचार्य प्रतीत होते हैं; तथापि उदार दृष्टि से उनके जीवनकार्य का सिंहावलोकन करने पर, वे समग्र आर्हतदर्शन के प्रखर प्रतिष्ठापक और प्रचण्ड प्रचारक विदित होते हैं। अतएव समुच्चय जैनसंघ के लिये वे परम पूजनीय और परम श्रेष्ठ मानने योग्य युगप्रधान पुरुष हैं।

सिंधी जैन ग्रन्थमाला में, इस प्रकार इनकी कृतियों का यह संगुम्फन, माला के गौरव के सौरभ की समृद्धि का बतानेवाला और ज्ञानमधु-लोलुप विद्वद्-भ्रमरगण को अपनी तरफ अधिक आकृष्ट करनेवाला होगा। ग्रन्थमाला के प्रतिष्ठाता श्रीमान् सिंधीजी, यद्यपि संप्रदाय की दृष्टिसे श्वेताम्बर समाज के एक प्रधान अग्रणी और जातिनेता पुरुष हैं; तथापि अपने उच्च संस्कार और उदार स्वभाव के कारण ये सांप्रदायिक लुद्रता से सर्वथा परे हैं। जैन समाजके व्यापक गौरव का, ये सांप्रदायिकता के रंगीन और विरूपदर्शी चशमे पहन कर उच्चावच अवलोकन नहीं करते। समुच्चय जैन साहित्यगत सुन्दर सुन्दर ग्रन्थरत्नों का, भेदभाव-निरपेक्ष, सुसंस्कृत रीति से समुद्धार करना और तद्द्वारा जगत् में समुच्चय जैन साहित्य का समादर बढ़ाना, यही इस ग्रन्थमाला के स्थापन में इनका आदर्श ध्येय है। इसी ध्येय के अनुसार, श्वेताम्बर साहित्य की संपत्तिरूप समझे जानेवाले पूर्व प्रकाशित अन्यान्य ग्रन्थरत्नों के साथ, आज दिगम्बर साहित्य के मणिरूप इन कृतियों का भी सर्वप्रथम प्रकाशन किया जा रहा है। और भविष्य में अन्य भी ऐसे कई दिगम्बराचार्यकृत ग्रन्थरत्न यथासमय प्रकाशित किये जाने की भावना है।

सिंधीजी का यह आदर्श कार्य, जैन समाज के अन्यान्य धनिक जनों के लिये अनुकरणीय है। जहाँ तक हमारा खयाल है, जैन समाज में, अभी तक सिंधी जी के जैसा आदर्श उदारचेता, साहित्यप्रिय और ज्ञानोपासक कोई धनिक सज्जन अग्रसर नहीं हुए, जो इस प्रकार अपने द्रव्य का, अमेदभाव से सदुपयोग करने की इच्छा रखते हों। यद्यपि, श्रीमद् राजचन्द्रजी की प्रेरणा और भावना को लक्ष्यकर, उनके कुछ अनुयायी जनों में यह सांप्रदायिक भाव शिथिल हुआ नजर आता है और उनके द्वारा संचालित रायचन्द्र ग्रन्थमाला में, जो बहुत वर्षों से बन्दई से प्रकाशित हो रही है—

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों संप्रदायों के कुछ ग्रन्थों का समान रूपसे प्रकाशन किया जाता है, तथापि उस ग्रन्थमाला का ध्येय शुद्ध साहित्यिक न होकर उसका ध्येय धार्मिक है। उसके पीछे जो प्रेरणा है वह एक अंश में असांप्रदायिक होकर भी, दूसरे अंश में बहुत कुछ सांप्रदायिक है। वह श्रीमद् राजचन्द्रजी के एक नये अतएव एक तीसरे ही संप्रदाय का प्रभाव, प्रकाश और प्रचार करने की दृष्टि से प्रकट की जाती है। सिंधी जैन ग्रन्थमाला के पीछे ऐसा कोई संकुचित हेतु नहीं है। इसका हेतु विशुद्ध साहित्य-सेवा और ज्ञानज्योति का प्रसार करना है। जैन धर्म के पूर्वकालीन समर्थ विद्वान् अपने समाज और देश में, ज्ञानज्योति का प्रकाश फैलाने के लिये, यथाशक्ति अनेकानेक विषयों के जो छोटे बड़े अनेकानेक ग्रन्थनिबन्धन रूप दीपकों का निर्माण कर गये हैं, लेकिन देश काल की भिन्न परिस्थिति के कारण, अब वे वैसे क्रियाकारी न हो कर निर्वाणोन्मुखसे बन रहे हैं, उन्हीं ज्ञानदीपकों को, इस नवयुगीन-प्रदर्शित नई संशोधनपद्धति से सुपरिमार्जित, सुपरिष्कृत और सुसज्जित कर, समाज और देश के प्रोत्थान में प्रस्थापित करना ही इस ग्रन्थमाला का एक मात्र ध्येय है। समाज और देश इससे तत्तद् विषयों में उदीप्त और उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश प्राप्त करे।



प्रस्तुत ग्रन्थके संपादक और संपादन कार्य के विषय में पंडितवर श्रीसुखलाल जी ने अपने वक्तव्य में यथेष्ट निर्देश कर दिया है। एक तरह से पंडितजी के परामर्श से ही इस ग्रन्थ का संपादन कार्य हुआ है। संपादक पंडित श्रीमहेन्द्रकुमार जी अपने विषय के आचार्य हैं और तदुपरान्त खूब परिश्रमशील और अध्ययनरत अध्यापक हैं। आधुनिक अन्वेषणात्मक और तुलनात्मक दृष्टि से विषयो और पदार्थों का परिशीलन करने में यथेष्ट प्रवीण हैं। दार्शनिक, सांप्रदायिक और वैयक्तिक पूर्वग्रहों का पक्षपात न रख कर तत्त्वविचार करने की शैली के अनुगामी हैं। इससे भविष्य में हमें इनसे जैन साहित्य के गंभीर आलोचन-प्रत्यालोचन की अच्छी आशा है।



ग्रन्थ के उपोद्घातरूप जो विस्तृत निबन्ध राष्ट्रभाषा में लिखा गया है, उसके अवलोकन से, जिज्ञासुओं को ग्रन्थगत हार्द का अच्छी तरह आकलन हो सकेगा, और साथ में बहुत से अन्यान्य तात्त्विक विचारों के मनेन और चिन्तन की सामग्री भी इसमें उपलब्ध होगी। ग्रन्थकार भट्ट अकलंकदेव के समय के वारे में विद्वानों में कुछ मतभेद चला आ रहा है। इस विषय में पंडितजी ने जो कुछ नये विचार और तर्क उपस्थित किये हैं उन पर तज्ज्ञ विद्वान् यथेष्ट ऊहापोह करे। हम इस विषय में अभी अपना कुछ निर्णायक मत देने में असमर्थ हैं। प्रस्तावना के पृ० १४-१५ पर पंडितजी ने नन्दीचूर्णि के कर्तृत्व के विषय में जो शंका प्रदर्शित की है—वह हमें संशोधनीय

मालूम देती है। शायद, सबसे पहले हमने ही अपने 'हरिभद्रसूरि का समयनिर्णय' नामक उस पुराने निबन्ध में यह सूचित किया था कि नन्दीचूर्णि के कर्ता जिनदास-गणी महत्तर हैं और वे ही निशीथचूर्णि और आवश्यकचूर्णि के कर्ता भी हैं। और नन्दीचूर्णि के प्रान्तोल्लेख से यह भी निर्धारित किया था कि—उसकी रचना शक-संवत् ५६८ (वि० सं० ७३३) में समाप्त हुई थी। पंडितजी को चूर्णि का रचनाकाल तो मान्य सा लगता है लेकिन कर्ता के विषय में सन्देह है। इसके कर्ता जिनदासगणी ही हैं इसका कोई प्रमाण इन्हे नहीं दिखाई देता। साथ में, भांडारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर के जैन केटलॉग से प्रो० H. R. कापडिया का मत भी प्रदर्शित किया है, जिसमें उन्होंने 'नन्दीचूर्णि के कर्ता जिनदास हैं यह प्रघोषमात्र है' ऐसा कहा है। प्रो० कापडिया ने यह प्रघोषमात्र है, ऐसा कथन किस आधार से किया है इसका हमें कोई ज्ञान नहीं है। लेकिन उस केटलॉग में जो नन्दीचूर्णि का प्रान्त पद्य खयं प्रोफेसर महाशय ने उद्धृत किया है उसमें तो, इस चूर्णि के कर्ता 'जिनदास गणि महत्तर' है, ऐसा प्रकट विधान किया हुआ मिलता है। यह ठीक है कि नन्दीचूर्णि का यह पद्य गूढ़ है और गूढ़ ही रूप में चूर्णिकार ने अपना नाम निर्देश किया है, जिससे प्रो० कापडिया इस गूढ़ भाव को समझने में असफल हुए हों। इसका विशेष विस्तार न करके हम सिर्फ यहाँ पर इतना ही सूचित कर देना चाहते हैं कि—इस पद्य का जो प्रथम पाद 'निरेणगामेत्त महासहाजिता' ऐसा लिखा हुआ है वह कुछ भ्रष्टा है, इसके बदले 'निरेणगागत्त महासदाजिना' ऐसा पाठ चाहिए। इस पाद में कुल १२ अक्षर हैं और इन बारह अक्षरों को लौटपलट कर क्रम में रखने से 'जिनदासगणिणा महत्तरेण' यह वाक्य निकल आता है। निशीथचूर्णि में भी इन्होंने इसी ढंग से अपना और अपने गुरु आदि का नामोल्लेख किया है। इसलिये नन्दीचूर्णि के भी कर्ता वही जिनदास गणी महत्तर हैं जो निशीथचूर्णि के कर्ता हैं यह निश्चित है।*

* प्रसंगवश, हम यहाँ पर इस नन्दीचूर्णि के रचना समय के विषय में भी कुछ निर्देश कर देना चाहते हैं। जिस तरह पंडित श्री महेन्द्रकुमारजी ने, इसके कर्तृत्व के विषय में शका की है इसी तरह कुछ विद्वान् इसके रचनाकाल के विषय में भी वैसे ही शका करते हैं। जिस तरह प्रो० कापडिया जैसे उक्त पद्य के मर्म को न समझ कर इसके कर्ता के नाम को 'प्रघोषमात्र' कह देने का साहस करते दिखाई देते हैं, वैसे कुछ विद्वान्, इस चूर्णि के प्रान्त में जो रचनाकाल निर्देशक पक्ति है, उसके उतने अक्षरों को प्रक्षिप्त बतला कर उसका अपलाप करते दिखाई देते हैं। उनका साहस तो इन्से भी बहुत बढ़ कर है। वे इस पक्तिगत, उस वाक्याश का अपलाप करके ही नहीं चुप रहते, वे तो अपने छपाये हुए ग्रन्थमें से उतने वाक्याश को, स्वेच्छापूर्वक निकाल कर बाहर फेंक देने तक का अधिकार रखते हैं और बिना किसी प्रमाण बतलाए कह देना चाहते हैं कि किसी किसी प्रति में यह पाठ नहीं भी मिलता है और इसलिये यह प्रक्षिप्त है। इत्यादि।

नन्दीचूर्णि की जो प्रति छपाई गई है उसमें ऐसा ही किया गया नजर आ रहा है। इसके

इस सम्बन्ध के जो अन्य विचार हैं उन पर हमने अभी तक कोई विशेष विचार नहीं किया। निशीथचूर्णि में जिस सिद्धिविनिश्चय नामक ग्रन्थ का निर्देश है वह अकलंक-कृत ही है या किसी अन्यकृत है इसका विशेष विचार आवश्यक है। सम्प्रदाय भेद के कारण एकही नामके दो दो ग्रन्थ रचें जाने के उदाहरणों का हमारे साहित्य में अभाव नहीं है। सिद्धपाहुड, समयसार, नयचक्र, धर्मपरीक्षा आदि ऐसे अनेक समनामक ग्रन्थ

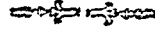
छपवानेवाले वे ही सुप्रसिद्ध आगमोद्धारक आचार्यवर्य श्रीसागरानन्द सूरि हैं, जिनकी जानोपासना के हम अत्यन्त प्रशंसक हैं और जिनका शास्त्रव्यासंग जैनसमाज के समग्र साधुवर्ग में सर्वोत्कृष्ट है। सूरिजी महाराज, हरिभद्रसूरि के उस समयनिर्णय के विरुद्ध हैं जो हमने अपने निबन्ध में निश्चित किया है। उसीके सम्बन्ध में आपका यह मन्तव्य है कि नन्दीचूर्णि के रचनासमय का जो निर्देश उसकी प्रान्त पंक्तिमें किया गया है वह ठीक नहीं है और इसलिये वह प्रक्षिप्त है। किसी ग्रन्थ में किसी पंक्ति के प्रक्षिप्त होने की बात कोई आश्चर्यजनक नहीं होती। सैकड़ों ग्रंथों में सैकड़ों पंक्तियाँ प्रक्षिप्त मिलती हैं। लेकिन यह पंक्ति प्रक्षिप्त है या मौलिक है इसका विचार और निर्णय किसी प्रमाण के आधार से ही किया जाता है। बिना आधार के किया जानेवाला कथन विद्वानों को ग्राह्य नहीं हो सकता। अगर हम किसी ग्रन्थ में कोई पंक्ति, उसकी पुरानी हस्तलिखित पोथियों में, भिन्न भिन्न शब्दोंवाली या वाक्यांशोंवाली प्राप्त हो, तो हमें जरूर मानना पड़ेगा कि उस पंक्ति की मौलिकता के विषय में कुछ न कुछ गडबड़ अवश्य है। ऐसे शकित स्थलों में सत्यान्वेपी विद्वानों का कर्तव्य होता है कि उन पंक्तियों का खूब सत्यतापूर्वक सशोधन और संपादन किया जाय और कहाँ की प्रति में कौन पाठ मिलता है और कौन नहीं मिलता इसका प्रामाणिक परिचय दिया जाय। हो सके तो उसकी फोटो-प्रतिकृति भी प्रकट की जाय। ऐसा करनेसे हमारा कथन और मन्तव्य सत्य का अधिक समर्थन करनेवाला होता है और हमारी प्रामाणिकता बढ़ती है। नन्दीचूर्णि के कर्ता चाहे जिस समय में हुए सिद्ध हो, हमें उसके बारे में यत्किंचित् भी कदाग्रह नहीं है, वैसे ही हरिभद्रसूरि के समय का जो निर्धारण हमने किया है उससे अन्यथा ही यदि वह किसी अन्य प्रामाणिक आधारों पर से सिद्ध हो सकता हो तो हम उसको उसी क्षण स्वीकार करने को उद्यत ही नहीं हैं, बल्कि उत्सुक भी हैं। हमारे लिये इसमें कोई आग्रह या पूर्वग्रह की बात नहीं है। हमारा आग्रह है प्रामाणिकता का। यदि, सागरानन्दसूरिजी महाराज, नन्दीचूर्णि की ऐसी कोई पुरानी हस्तलिखित प्रति का विश्वसनीय परिचय दे और पता बतावे, कि जिसमें उनको, विवादग्रस्त पंक्ति के पाठांतर मिले हो या उसका सर्वथा अभाव ही दृष्टिगोचर हुआ हो, तो हम अवश्य उनके अनुग्रहीत होंगे और हम अपना भ्रम दूर कर निःशंकित बनेंगे। अन्यथा हमारा यह सन्देह कि 'सूरिजी महाराज ने, साभिप्राय, नन्दीचूर्णि के उस उल्लेख को नष्ट कर देने का प्रयत्न किया है और वैसा करके अपने एक महान् पूर्वचार्य की कृति का और उसके साथ ही एक सार्वजनिक ऐतिहासिक तथ्यका अपलाप करने का निन्द्य अपराध किया है' दूर नहीं होगा। क्योंकि हमने जितनी प्रतियाँ इस ग्रन्थ की जहाँ कहीं भंडारों में, देखीं हैं उन सबमें, यह पंक्ति बराबर लिखी हुई मिली है। खासकर, जबसे सागरानन्दसूरिजी की वह मुद्रित प्रति हमारे हाथ में आई तबसे हम इस विषयमें बड़ी सावधानी और बड़ी उत्सुकता के साथ इसका अन्वेषण कर रहे हैं कि कोई एक भी प्रति वैसी मिल जाय जिसमें सूरिजी का मुद्रित किया हुआ पाठभेद हो, जिससे हम अपनी शंका की निवृत्ति कर सकें और अपने भ्रम का निवारण कर मिथ्यात्व नष्ट कर सकें। अगर इस वक्तव्य में हमारी कुछ श्रुति मालूम दे तो साथ में उसे क्षमा की जाने की प्रार्थना है।

हैं जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों संप्रदायों में मिलते हैं और जिनके कर्ता भिन्न भिन्न हैं। इसी तरह बौद्ध और ब्राह्मण मत के साहित्य में भी ऐसे समनामक कई ग्रन्थ मिलते हैं। केवल ग्रन्थ ही नहीं, कई समनामक विद्वान् भी हमारे भूतकाल के इतिहास में, भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में और भिन्न भिन्न काल में हो चुके हैं, जिनका समयादि निश्चिततया ज्ञात न हो सकने के कारण हमारे इतिहास की गुत्थियाँ बड़ी जटिल हो रहीं हैं। अगर किसी शास्त्रकार के विषय में कोई समयसूचक निर्देश मिल जाता है तो वह भी ठीक है या नहीं इसकी पूरी मीमांसा की अपेक्षा रखता है। समय सूचक संवत्सर भी, यदि उसके साथ किसी खास विशिष्ट नामका उल्लेख नहीं किया हुआ हो तो, विचारणीय होता है कि वह कौन संवत् है—शक है, विक्रम है, गुप्त है, हर्ष है या वैसा कोई और है। हमारे देश के पुराने लेखों में ऐसे कई संवत्तो का विधान किया हुआ मिलता है जिनका अभी कुछ पता नहीं चला है। जिन संवत्तो का प्रारंभ हम एक तरह से निश्चितता के साथ अमुक काल में हुआ मानते हैं, उनके बारे में भी कितनी ही ऐसी नई नई समस्याएँ उपस्थित होती रहती हैं, जो मानी हुई निश्चितता को शंकाशील बना देती हैं। इसलिये हमारे इन इतिहास की पहेलियों का ठीक ठीक वास्तविक उत्तर ढूँढ़ निकालना बड़ा कठिन कार्य है। इसमें कोई शक नहीं है कि इसके लिये बहुत अन्वेषण, बहुत संशोधन, बहुत परिशीलन, और बहुत आलोचन-प्रत्यालोचन की आवश्यकता है। किसी प्रकार के अभिनिवेश से रहित होकर, केवल सत्य के शुद्ध स्वरूप को जानने की इच्छा से प्रेरित होकर, जो विद्वान् इन मार्ग में प्रवृत्त होते हैं वे ही अपना अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, दूसरे तो भ्रम की भूलभुलैया में आजीवन भटकते रहते हैं और अन्त तक प्रगति के मार्ग से पराङ्मुख बने रहते हैं। न उनको आगे बढ़ने का कोई रास्ता मिलता है और न वे आगे बढ़ सकते हैं। इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक इन जटिल समस्याओं का, निरभिनिवेशता के साथ आलोचन-प्रत्यालोचन करना और तद्द्वारा सम्यग्ज्ञान का, यथाशक्ति प्रकाश और प्रसार करना, यही एक प्रधान नीति, सिधी जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित किये जानेवाले ग्रन्थों के संपादनकार्य में रखी गई है। और उसी नीति के आदर्शानुसार ये ग्रन्थरत्न सुयोग्य संपादक विद्वानों द्वारा संपादित और परिष्कृत होकर प्रसिद्ध हो रहे हैं। ग्रन्थमाला के संचालन में, इस प्रकार अपने इन सुहृद् मित्रों का जो हमें सहयोग प्राप्त हो रहा है उसके लिये हम इनके पूर्ण कृतज्ञ हैं।

श्रावणशुक्ला पंचमी }
संवत् १९९६ }
व व ई }

जिनविजय

प्राकथन



§ १. प्राकृतयुग और संस्कृतयुग का अन्तर-

जैन परम्परा मे प्राकृतयुग वह है जिसमें एकमात्र प्राकृत भाषाओं में ही साहित्य रचने की प्रवृत्ति थी। संस्कृतयुग वह है जिसमे संस्कृत भाषा मे भी साहित्यनिर्माण की प्रवृत्ति व प्रतिष्ठा स्थिर हुई। प्राकृतयुग के साहित्य को देखने से यह तो स्पष्ट जान पड़ता है कि उस समय भी जैन विद्वान् संस्कृत भाषासे, तथा संस्कृत दार्शनिक साहित्य से परिचित अवश्य थे। फिर भी संस्कृतयुग में संस्कृत भाषा मे ही शास्त्र रचने की ओर झुकाव होने के कारण यह अनिवार्य था कि संस्कृत भाषा, तथा दार्शनिक साहित्य का अनुशीलन अधिक गहरा तथा अधिक व्यापक हो। वाचक उमास्वाति के पहले की संस्कृत-जैन-रचना का हमें स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। फिर भी संभव है उनके पहले भी वैसी कोई रचना जैन-साहित्य में हुई हो। कुछ भी हो संस्कृत-जैन-साहित्य नीचे लिखी क्रमिक भूमिकाओं में विकसित तथा पुष्ट हुआ जान पड़ता है।

१-तत्त्वज्ञान तथा आचार के पदार्थों का सिर्फ आगमिक शैली में संस्कृत-भाषा में रूपान्तर, जैसे कि तत्त्वार्थभाष्य, प्रशमरति आदि।

२-उसी शैली के संस्कृत रूपान्तर में कुछ दार्शनिक छाया का प्रवेश, जैसे सर्वार्थसिद्धि।

३-इने गिने आगमिक पदार्थ (खासकर ज्ञानसंबन्धी) को लेकर उसपर मुख्यतया तार्किकदृष्टि से अनेकान्तवाद की ही स्थापना, जैसे समन्तभद्र और सिद्धसेन की कृतियाँ।

४-ज्ञान और तत्संबन्धी आगमिक पदार्थों का दर्शनान्तरीय प्रमाण शास्त्र की तरह तर्कवद्ध शास्त्रीकरण, तथा दर्शनान्तरीय चिन्तनो का जैन वाङ्मय मे अधिकाधिक संगतीकरण, जैसे अकलंक और हरिभद्र आदि की कृतियाँ।

५-पूर्वाचार्यों की तथा निजी कृतियों के ऊपर विस्तृत-विस्तृत टीकाएँ लिखना और उनमे दार्शनिक वादों का अधिकाधिक समावेश करना, जैसे विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादिदेव आदि की कृतियाँ।

६—श्वेताम्बरीय-दिगम्बरीय दोनों प्राचीन कृतियों की व्याख्याओं में तथा निजी मौलिक कृतियों में नव्यन्याय की परिष्कृत शैली का संचार, तथा उसी शैली की अपरिमित कल्पनाओं के द्वारा पुराने ही जैन-तत्त्वज्ञान तथा आचार सम्बन्धी पदार्थों का अभूत-पूर्व विशदीकरण, जैसे उपाध्याय यशोविजयजी की कृतियाँ ।

उपर्युक्त प्रकार से जैन-साहित्य का विकास व परिवर्द्धन हुआ है, फिर भी उस प्रबल तर्कयुग में कुछ जैन पदार्थ ऐसे ही रहे हैं जैसे वे प्राकृत तथा आगमिक युग में रहे । उनपर तर्क-शैली या दर्शनान्तरीय चिन्तन का कोई प्रभाव आज तक नहीं पड़ा है । उदाहरणार्थ—सम्पूर्ण कर्मशास्त्र, गुणस्थानविचार, पद्द्रव्यविचारणा, खासकर लोक तथा जीवविभाग आदि । सारांश यह है कि संस्कृत भाषा की विशेष उपासना, तथा दार्शनिक ग्रन्थों के विशेष परिशीलन के द्वारा जैन आचार्यों ने जैन तत्त्वचिन्तन में जो और जितना विकास किया है, वह सब मुख्यतया ज्ञान और तत्सम्बन्धी नय, अनेकान्त आदि पदार्थों के विषय में ही किया है । दूसरे प्रमेयों में जो कुछ नयी चर्चा हुई भी है वह बहुत ही थोड़ी है और प्रासंगिक मात्र है । न्याय-वैशेषिक, सांख्य-मीमांसक, बौद्ध आदि दर्शनों के प्रमाणशास्त्रों का अवगाहन जैसे जैसे जैनपरम्परा में बढ़ता गया वैसे वैसे जैन आचार्यों की निजी प्रमाणशास्त्र रचनेकी चिन्ता भी तीव्र होती चली और इसी चिन्ता में से पुरातन पंचविध ज्ञानविभाग की भूमिका के उपर नये प्रमाणशास्त्र का महल खड़ा हुआ ।

§ २. सिद्धसेन और समन्तभद्र—

जैन परम्परा में तर्कयुग की या न्याय-प्रमाण-विचारणा की नींव डालने वाले येही दो आचार्य हैं । इनमें से कौन पहले या कौन पीछे है इत्यादि अभी सुनिश्चित नहीं है । फिर भी इसमें तो सन्देह ही नहीं है कि उक्त दोनों आचार्य ईसा की पाँचवीं शताब्दी के अनन्तर ही हुए हैं । नये साधनों के आधार पर सिद्धसेन दिवाकर का समय छठी शताब्दी का अन्त भी संभवित है । जो कुछ हो पर स्वामी समन्तभद्र के बारे में अनेकविध ऊहापोह के बाद मुझको अब अतिस्पष्ट हो गया है कि—वे ‘पूज्यपाद देवनन्दी’ के पूर्व तो हुए ही नहीं । ‘पूज्यपाद’ के द्वारा स्तुत आस के समर्थन में ही उन्होंने आसमीमांसा लिखी है’ यह बात विद्यानन्द ने आसपरीक्षा तथा अष्टसहस्री में सर्वथा स्पष्टरूप से लिखी है । स्वामी समन्तभद्र की सब कृतियों की भाषा, उनमें प्रतिपादित दर्शनान्तरीय मत, उनकी युक्तियाँ, उनके निरूपण का ढंग और उनमें विद्यमान विचारविकास, यह सब वस्तु पूज्यपाद के पहले तो जैन परंपरा में न आई है न आने का संभव ही था । जो दिग्नाग, भर्तृहरि, कुमारिल और धर्मकीर्ति के ग्रन्थों के साथ समन्तभद्र की कृतियों की बाह्यान्तर तुलना करेगा और जैन संस्कृत साहित्य के विकास-क्रम की ओर ध्यान देगा वह मेरा उपर्युक्त विचार बड़ी सरलता से समझ लेगा ।

अधिक संभव तो यह है कि समन्तभद्र और अकलंक के बीच साक्षात् विद्या का संबन्ध हो; क्योंकि समन्तभद्र की कृति के ऊपर सर्वप्रथम अकलंक की ही व्याख्या है। यह हो नहीं सकता कि अनेकान्तदृष्टि को असाधारण रूप से स्पष्ट करनेवाली समन्तभद्र की विविध कृतियों में अतिविस्तार से और आकर्षक रूप से प्रतिपादित सप्तभंगियों को तत्त्वार्थ की व्याख्या में अकलंक तो सर्वथा अपनावे, जब कि पूज्यपाद अपनी व्याख्या में उसे छुएँ तक नहीं। यह भी संभव है कि—शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह-गत पात्रस्वामी शब्द स्वामी समन्तभद्र का ही सूचक हो। कुछ भी हो पर इतना निश्चित है कि श्वेताम्बर परंपरा में सिद्धसेन के बाद तुरन्त जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हुए और दिगम्बर परंपरा में स्वामी समन्तभद्र के बाद तुरन्त ही अकलंक आए।

§ ३. जिनभद्र और अकलंक—

यद्यपि श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परंपरा में संस्कृत की प्रतिष्ठा बढ़ती चली। फिर भी दोनों में एक अन्तर स्पष्ट देखा जाता है, वह यह कि—दिगम्बर परंपरा संस्कृत की ओर झुकने के बाद दार्शनिक क्षेत्र में अपने आचार्यों को केवल संस्कृत में ही लिखने को प्रवृत्त करती है जब कि श्वेताम्बर परंपरा अपने विद्वानों को उसी विषय में प्राकृत रचनाएँ करने को भी प्रवृत्त करती है। यही कारण है कि श्वेताम्बरीय साहित्य में सिद्धसेन से यशोविजयजी तक की दार्शनिक चिन्तनवाली प्राकृत कृतियाँ भी मिलती हैं। जब कि दिगम्बरीय साहित्य में मात्र संस्कृतनिबद्ध ही वैसी कृतियाँ मिलती हैं। श्वेताम्बर परंपरा का संस्कृत-युग में भी प्राकृत भाषा के साथ जो निकट और गंभीर परिचय रहा है, वह दिगम्बरीय साहित्य में विरल होता गया है। क्षमाश्रमण जिनभद्र ने अपनी प्रधान कृतियाँ प्राकृत में रचीं जो तर्कशैली की होकर भी आगमिक ही हैं। भट्टारक अकलंक ने अपनी विशाल और अनुपम कृति राजवार्तिक संस्कृत में लिखी, जो विशेषावश्यक भाष्य की तरह तर्कशैली की होकर भी आगमिक ही है। परन्तु जिनभद्र की कृतियों में ऐसी कोई स्वतन्त्र संस्कृत कृति नहीं है जैसी अकलंक की है। अकलंक ने आगमिक ग्रन्थ राजवार्तिक लिखकर दिगम्बर साहित्य में एक प्रकार से विशेषावश्यक के स्थान की पूर्ति तो की, पर उनका ध्यान शीघ्र ही ऐसे प्रश्न पर गया जो जैन-परंपरा के सामने जोरो से उपस्थित था। बौद्ध और ब्राह्मण प्रमाणशास्त्रों की कक्षा में खड़ा रह सके ऐसा न्याय-प्रमाण की समग्र व्यवस्था-वाला कोई जैन प्रमाण-ग्रन्थ आवश्यक था। अकलंक, जिनभद्र की तरह पाँच ज्ञान, नय आदि आगमिक वस्तुओं की केवल तार्किक चर्चा करके ही चुप न रहे, उन्होंने उसी पञ्चज्ञान, सप्तनय आदि आगमिक वस्तु का न्याय और प्रमाण-शास्त्ररूप से ऐसा विभाजन किया, ऐसा लक्षण प्रणयन किया, जिससे जैन न्याय और प्रमाण ग्रन्थों के स्वतन्त्र प्रकरणों की माँग पूरी हुई। उनके सामने वस्तु तो आगमिक थी ही, दृष्टि और तर्क का मार्ग भी सिद्ध-

सेन तथा समन्तभद्र के द्वारा परिष्कृत हुआ ही था, फिर भी प्रबल दर्शनान्तरों के विकसित विचारों के साथ प्राचीन जैन निरूपण का तार्किक शैली में मेल बिठाने का काम जैसा तैसा न था जो कि अकलंक ने किया। यही सबब है कि अकलंक की मौलिक कृतियाँ बहुत ही संक्षिप्त हैं, फिर भी वे इतनी अर्थघन तथा सुविचारित हैं कि आगे के जैन न्याय का वे आधार बन गई हैं।

यह भी संभव है कि भट्टारक अकलंक क्षमाश्रमण जिनभद्रकी महत्त्वपूर्ण कृतियों से परिचित होंगे। प्रत्येक मुद्दे पर अनेकान्त दृष्टि का उपयोग करने की राजवास्तिकगत व्यापक शैली ठीक वैसी ही है जैसी विशेषावश्यक भाष्य में प्रत्येक चर्चा में अनेकान्त दृष्टि लागू करने की शैली व्यापक है।

§ ४ अकलंक और हरिभद्र आदि-

तत्त्वार्थभाष्य के वृत्तिकार सिद्धसेन गणि जो गन्धहस्तीरूपसे सुनिश्चित हैं, उनके और याकिनीसूनु हरिभद्र के समकालीनत्व के सम्बन्ध में मैं अपनी संभावना तत्त्वार्थ के हिन्दी विवेचन के परिचय में बतला चुका हूँ। हरिभद्र की कृतियों में अभी तक ऐसा कोई उल्लेख नहीं पाया गया जो निर्विवादरूपसे हरिभद्र के द्वारा अकलंक की कृतियों के अवगाहन का सूचक हो। सिद्धसेनगणि की तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति में पाया जानेवाला सिद्धि-विनिश्चय का उल्लेख अगर अकलंक के सिद्धिविनिश्चय का ही बोधक हो तो यह मानना पड़ेगा कि गन्धहस्ती सिद्धसेन कमसे कम अकलंक के सिद्धिविनिश्चय से तो परिचित थे ही। हरिभद्र और गन्धहस्ती अकलंक की कृतियों से परिचित हो या नहीं फिर भी अधिक संभावना इस बातकी है कि अकलङ्क और गन्धहस्ती तथा हरिभद्र ये अपने दीर्घ जीवन में थोड़े समय तक भी समकालीन रहे होंगे। अगर यह संभावना ठीक हो तो विक्रम की आठवीं और नववीं शताब्दी का अमुक समय अकलङ्क का जीवन तथा कार्यकाल होना चाहिए।

मेरी धारणा है कि विद्यानन्द और अनन्तवीर्य जो अकलङ्क की कृतियों के सर्व प्रथम व्याख्याकार हैं वे अकलङ्क के साक्षात् विद्याशिष्य नहीं तो अनन्तरवर्ती अवश्य हैं; क्योंकि इनके पहिले अकलङ्क की कृतियों के ऊपर किसी के व्याख्यान का पता नहीं चलता। इस धारणा के अनुसार दोनों व्याख्याकारों का कार्यकाल विक्रम की नववीं शताब्दी का उत्तरार्ध तो अवश्य होना चाहिए, जो अभी तक के उनके ग्रन्थों के आन्तरिक अवलोकन के साथ मेल खाता है।

§ ५ गन्धहस्तिभाष्य

दिगम्बर परम्परा में समन्तभद्र के गन्धहस्ति महाभाष्य होने की चर्चा कभी चल पड़ी

थी। इस बारे में मेरा असंदिग्ध निर्णय यह है कि—तत्त्वार्थसूत्र के ऊपर या उसकी किसी व्याख्या के ऊपर स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा के अतिरिक्त कुछ भी लिखा ही नहीं है। यह कभी संभव नहीं कि समन्तभद्र की ऐसी विशिष्ट कृति का एक भी उल्लेख या अवतरण अकलंक और विद्यानन्द जैसे उनके पदानुवर्ती अपनी कृतियों में बिना किए रह सके। वेशक अकलंक का राजवार्तिक गुण और विस्तार की दृष्टिसे ऐसा है जिसे कोई भाष्य ही नहीं महाभाष्य भी कह सकता है। श्वेताम्बर परंपरा में गन्धहस्ती की वृत्ति जब गन्धहस्तिमहाभाष्य नाम से प्रसिद्ध हुई तब करीब गन्धहस्ती के ही समानकालीन अकलंक की उसी तत्त्वार्थ पर बनी हुई विशिष्ट व्याख्या अगर दिगम्बर परम्परा में गन्धहस्ति-भाष्य या गन्धहस्ति महाभाष्य रूपसे प्रसिद्ध या व्यवहृत होने लगे तो यह क्रम दोनों फिरकों की साहित्यिक परम्परा के अनुकूल ही है।

परन्तु हम राजवार्तिक के विषय में गन्धहस्ति-महाभाष्य विशेषण का उल्लेख कहीं नहीं पाते। तेरहवीं शताब्दी के बाद ऐसा विरल उल्लेख मिलता है जो समन्तभद्र के गन्धहस्तिभाष्य का सूचन करता हो। मेरी दृष्टि में पीछे के ऐसे सब उल्लेख निराधार और किंवदन्तीमूलक हैं। तथ्य यह ही हो सकता है कि—अगर तत्त्वार्थ-महाभाष्य या तत्त्वार्थ-गन्धहस्ति-महाभाष्य नाम का दिगम्बर साहित्य में मेल बैठाना हो तो वह अकलंकीय राजवार्तिक के साथ ही बैठ सकता है।



§ ६. प्रस्तुत संस्करण—

प्रस्तुत पुस्तक में अकलंकीय तीन मौलिक कृतियाँ एक साथ सर्वप्रथम सम्पादित हुई हैं। इन कृतियों के संबन्ध में तात्त्विक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से जितना साधन उपलब्ध है उसे विद्वान् सम्पादक ने टिप्पण तथा अनेक उपयोगी परिशिष्टों के द्वारा प्रस्तुत पुस्तक में सन्निविष्ट किया है। जो जैन, बौद्ध और ब्राह्मण, सभी परंपरा के विद्वानों के लिए मात्र उपयोगी ही नहीं बल्कि मार्गदर्शक भी है। वेशक अकलंक की प्रस्तुत कृतियाँ अभी तक किसी पाठ्यक्रम में नहीं हैं तथापि उनका महत्त्व और उपयोगित्व दूसरी दृष्टि से और भी अधिक है।

अकलंकग्रन्थत्रय के सम्पादक पं० महेन्द्रकुमार जी के साथ मेरा परिचय छह साल का है। इतना ही नहीं बल्कि इतने आरसे के दार्शनिक चिन्तन के अखाड़े में हम लोग समशील साधक हैं। इससे मैं पूरा ताटस्थ्य रखकर भी निःसंकोच कह सकता हूँ कि—पं० महेन्द्रकुमार जी का विद्याव्यायाम कम से कम जैन परंपरा के लिए तो सत्कारास्पद ही नहीं अनुकरणीय भी है। प्रस्तुत ग्रन्थ का बहुश्रुत सम्पादन उक्त कथन का साक्षी है। प्रस्तावना में विद्वान् सम्पादक ने अकलंकदेव के समय के बारे में जो विचार प्रकट किया है,

मेरी समझ में अन्य समर्थ प्रमाणों के अभाव में वही विचार आन्तरिक यथार्थ तुलना मूलक होने से सत्य के विशेष निकट है। समयविचार में सम्पादक ने जो सूक्ष्म और विस्तृत तुलना की है वह तत्त्वज्ञान, तथा इतिहास के रसिकों के लिए बहुमूल्य भोजन है। ग्रन्थ के परिचय में सम्पादक ने उन सभी पदार्थों का हिन्दी में वर्णन किया है जो अकलंकीय प्रस्तुत ग्रन्थत्रय में ग्रथित हैं। यह वर्णन सम्पादक के जैन और जैनेतर शास्त्रों के आकंठ पान का उद्गार मात्र है। सम्पादक की दृष्टि यह है कि—जो अभ्यासी जैन प्रमाण-शास्त्र में आने वाले पदार्थों को उनके असली रूप में हिन्दी भाषा के द्वारा ही अल्पश्रम में जानना चाहें उन्हें वह वर्णन उपयोगी हो। पर उसे साद्यन्त सुन लेने के बाद मेरे ध्यान में तो यह बात आई है कि संस्कृत के द्वारा ही जिन्होंने जैनन्याय-प्रमाण शास्त्र का परिशीलन किया है वैसे जिज्ञासु अध्यापक भी अगर उस वर्णन को पढ़ जायेंगे तो संस्कृत मूलग्रन्थों के द्वारा भी स्पष्ट एवं वास्तविक रूप में अज्ञात, कई प्रमेयों को वे सुज्ञात कर सकेंगे। उदाहरणार्थ कुछ प्रमेयों का निर्देश भी कर देता हूँ—प्रमाणसम्भव, द्रव्य और सन्तान की तुलना आदि। सर्वज्ञत्व भी उनमें से एक है, जिसके बारे में सम्पादक ने ऐसा ऐतिहासिक प्रकाश डाला है जो सभी दार्शनिकों के लिए ज्ञातव्य है। विशेषज्ञों के ध्यान में यह बात बिना आए नहीं रह सकती कि—कम से कम जैन-न्याय-प्रमाण के विद्यार्थियों के वास्ते तो सभी जैन संस्थाओं में यह हिन्दी विभाग वाचनीय रूप से अवश्य सिफारिश करने योग्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थ उस प्रमाणमीमांसा की एक तरह से पूर्ति ही करता है जो थोड़े ही दिनों पहले सिंधी जैन सिरीज में प्रकाशित हुई है। प्रमाणमीमांसा के हिन्दी टिप्पणों में तथा प्रस्तावना में नहीं आए ऐसे प्रमेयों का भी प्रस्तुत ग्रन्थ के हिन्दी वर्णन में समावेश है, और उसमें आए हुए अनेक पदार्थों का सिर्फ दूसरी भाषा तथा शैली में ही नहीं बल्कि दूसरी दृष्टि, तथा दूसरी सामग्री के साथ समावेश है। अतएव कोई भी जैनतत्त्वज्ञान का एवं न्याय-प्रमाणशास्त्र का गंभीर अभ्यासी सिंधी जैन सिरीज के इन दोनों ग्रन्थों से बहुत कुछ जान सकेगा।

प्रसंगवश मैं अपने पूर्व लेख की सुधारणा भी कर लेता हूँ। मैंने अपने पहले लेखों में अनेकान्त की व्याप्ति बतलाते हुए यह भाव सूचित किया है कि—प्रधानतया अनेकान्त तात्त्विक प्रमेयों की ही चर्चा करता है। अलवत्ता उस समय मेरा वह भाव तर्कप्रधान ग्रन्थों को लेकर ही था। पर इसके स्थान में यह कहना अधिक उपयुक्त है कि—तर्कयुग में अनेकान्त की विचारणा भले ही प्रधानतया तात्त्विक प्रमेयों को लेकर हुई हो फिर भी अनेकान्तदृष्टि का उपयोग तो आचार के प्रदेश में आगमों में उतना ही हुआ है जितना कि तत्त्वज्ञान के प्रदेश में। तर्कयुगीन साहित्य में भी ऐसे अनेक ग्रन्थ बने हैं जिन में प्रधानतया आचार के विषयों को लेकर ही अनेकान्तदृष्टि का उपयोग हुआ है। अतएव समुच्चय रूप से यही कहना चाहिए कि अनेकान्तदृष्टि आचार और विचार के प्रदेश में एकसी लागू की गई है।

सिंधी जैन सिरीज के लिए यह सुयोग ही है कि जिसमें प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य की कृतियों का एक विशिष्ट दिगम्बर विद्वान् के द्वारा ही सम्पादन हुआ है। यह भी एक आकस्मिक सुयोग नहीं है कि दिगम्बराचार्य की अन्यत्र अलभ्य परन्तु श्वेताम्बरीय भाण्डार से ही प्राप्त ऐसी विरल कृति का प्रकाशन श्वेताम्बर परंपरा के प्रसिद्ध वावू श्री बहादुर-सिंह जी सिंधी के द्वारा स्थापित और प्रसिद्ध ऐतिहासिक मुनि जिनविजय जी के द्वारा संचालित सिंधी जैन सिरीज में हो रहा है। जब मुझको विद्वान् मुनि श्री पुण्यविजय जी के द्वारा प्रमाणसंग्रह उपलब्ध हुआ तब यह पता न था कि वह अपने दूसरे दो सहोदरों के साथ इतना अधिक सुसज्जित होकर प्रसिद्ध होगा।

हिन्दू विश्वविद्यालय,
काशी
१४-८-१९३९ ई०

-सुखलाल संघवी

[जैनदर्शनाध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी,
भूतपूर्व जैनवाङ्मयाध्यापक गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद]



येनाशेषकुतर्कविभ्रमतमो निर्मूलमुन्मीलितम् ।
स्फारागाधकुनीतिसार्थसरितो निःशेषतः शोषिताः ॥
स्याद्वादाप्रतिघप्रभूतकिरणैः व्याप्तं जगत् सर्वतः ।
स श्रीमान् अकलङ्कभानुरसमो जीयाज्जिनेन्द्रः प्रभुः ॥

—प्रभाचन्द्रः

सम्पादकीय वक्तव्य

§ १. सम्पादन गाथा—

सन् १९३५ के अप्रैल माह में मैंने सिद्धिविनिश्चयटीका के पारायण के लिए उसकी एक कापी करना प्रारम्भ किया। उसमें कई जगह 'प्रमाणसंग्रह' ग्रन्थ का नाम देखकर अकलङ्कित प्रमाणसंग्रह के खोज करने की इच्छा हुई। जुलाई १९३५ में मान्यवर पंडित सुखलालजी जब ग्रीष्मावकाश के बाद काशी आए तो मैंने प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ की चरचा उनसे की। पंडितजी जहां कहीं शास्त्रभण्डार देखने की सुविधा पाते हैं वड़ी सूक्ष्मता से उसका निरीक्षण कर अतिमहत्त्व के ग्रन्थों को अपनी यादी में लिखवा लेते हैं। उन्होंने जब अपनी नोटबुक के पन्ने उलटवाये तो सचमुच पाटन के भंडार के चुने हुये ग्रन्थों में प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ का नाम दर्ज था। अभी यह निश्चितरूप से मालूम नहीं हुआ था कि यह हमारा इष्ट प्रमाणसंग्रह है या अन्य कोई।

पंडितजी ने सहज शास्त्ररसिक श्री मुनि पुण्यविजयजी को पत्र लिखा। उनका यह उत्तर पाकर कि 'उक्त प्रमाणसंग्रह अकलंककर्तृक है तथा उसकी कापी भिजवाएँगे' हम लोग आनन्दविभोर हो गये, और मार्च १९३६ में उनके द्वारा भिजवाई गई फलन्म-नोरथरूप कापी को पाकर तो सचमुच नाच ही उठे। पंडितजी ने इसकी सूचना और संक्षिप्त परिचय उसी समय 'वीर, जैनदर्शन तथा जैनसिद्धान्तभास्कर' आदि पत्रों में भिजवा दिया था। प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ को २-४ बार बांच जाने पर भी मुझे सन्तोष न हुआ; अतः उसके अक्षरशः वाचननिमित्त मैंने उसकी एक कापी की।

समस्त दर्शनशास्त्रों में भारतीय रूप से अखण्डश्रद्ध पंडितजी ने इस प्रकरण के साथ ही साथ अकलङ्क के स्वोपज्ञविवृतियुक्त लघुयुक्त को जो उस समय उपलब्ध था, एकही संग्रह में प्रकाशित करने की योजना बनाई और उसे सिन्धी सीरिज के सम्पादक अपने पंडितरूप समशीलसखा मुनि जिनविजयजी से कही। मुनिजी ने कलाप्रिय बाबू बहादुरसिंहजी सिन्धी के सद्बिचारानुसार संचालित और परिपोषित सिन्धी सीरिज में इन्हें प्रकाशित करना स्वीकार करके बाबूजी के साहित्यिक-असाम्प्रदायिकभाव को कार्यरूप में परिणत किया।

पंडित सुखलालजी की योजनाएँ वस्तुतः गहरी अर्थभरी तथा बेजोड़ होती हैं। उन्होंने जब तक न्यायकुमुदचन्द्र का कार्य चलता रहा तब तक मुझसे इसकी चरचा ही नहीं की कि—मुझे इनका सम्पादन करना है। नवम्बर १९३७ में जब न्यायकुमुद का कार्य किनारे आलगा तब एक दिन टहलते समय उन्होंने अपनी चिरपोषित योजना बताई कि—'प्रमाणसंग्रह और लघुयुक्त के साथ ही साथ न्यायविनिश्चयमूल को भी मिलाकर

‘अकलङ्क ग्रन्थत्रय’ को एक साथ प्रकाशित किया जाय और इनका सम्पादन में करे। मेरा अभी तक यही ख्याल था कि जिस प्रकार जैनतर्कभाषा प्रमाणमीमांसा आदि का कार्य हम लोग पंडितजी के सम्पादकत्व में आंशिक भार को उठा कर करते आए हैं उसी तरह प्रमाणसंग्रहादि का कार्य भी इसी संभूयकारिता में ही निष्पन्न होगा। पंडितजी का क्षीणशरीर पर अद्भुत पुष्टमनोगति एवं समुचित व्यवस्थाप्रणाली का ध्यान करके तो मुझे ऐसा लगा कि—पंडित जी क्यों मेरे ही ऊपर यह भार डाल रहे हैं? क्या अब पंडितजी सचमुच सन्मतितर्क की कार्यसमाप्तिकाल की भांति फिर लम्बा विश्राम करना चाहते हैं? पर मेरी ये आशंकाएँ प्रमाणमीमांसा के अवशिष्ट कार्य के भार का विचार आते ही विलीन हो गई। वस्तुतः उस समय मीमांसा का कार्य इतना बाकी पड़ा था कि उसके निवटते निवटते ही करीब १॥ साल का समय लग गया।

पंडितजी के इस स्नेहल आश्वासन के बीच कि—‘भाई, जिम्मेवारी तुम्हारी है कार्य तो हम लोगों का एक दूसरे की पूर्ण मदद से चलेगा ही’ मैंने इसका सम्पादन भार बढ़े उत्साह से ले लिया; क्योंकि उनके साथ ३-४ वर्षों के प्रत्यक्षकार्यानुभव से मैं यह समझता ही था कि—पंडितजी के इतने का कहने अर्थ है—संपादन की रूपरेखा, योजना एवं व्यवस्था के निदर्शन का बौद्धिक भार लेना। इस तरह पूर्ण साधनों तथा आश्वस्त-वातावरण के बीच इसका सम्पादन चालू किया गया। उसका फलद्रूप यह संस्करण है।

इस संस्करण में मुद्रित खोपज्ञविवृतिसहित लघीयख्य, न्यायविनिश्चय तथा प्रमाण-संग्रह ये तीनों ग्रन्थ सर्वप्रथम ही प्रकाशित हो रहे हैं। सिर्फ इतः पूर्व लघीयख्य की मूलकारिकाएँ अभयनन्दि की वृत्ति के साथ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुई हैं।

§ २. संस्करण परिचय—

प्रस्तुत संस्करण में प्रस्तावना के अतिरिक्त तीन स्थूल विभाग हैं—१ मूलग्रन्थ, २ टिप्पण, ३ परिशिष्ट। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

मूलग्रन्थ—मूलग्रन्थों में सर्वप्रथम लघीयख्य ततः न्यायविनिश्चय फिर प्रमाणसंग्रह का मुद्रण हुआ है। इस क्रम में ग्रन्थों की रचनाकाल के इतिहास का आधार लिया है। रचनाशैली तथा विचारों की प्रौढ़ता का ध्यान से निरीक्षण करने पर मालूम होता है कि प्रस्तुतग्रन्थत्रय में लघीयख्य ही अकलंकदेव की आद्यकृति है तथा प्रमाणसंग्रह अन्तिम। लघीयख्य खोपज्ञविवृति सहित मुद्रित कराया है। प्रभाचन्द्राचार्य ने इसके उपर १८ हजार श्लोक प्रमाण ‘न्यायकुमुदचन्द्र’ नाम की बृहत्काय टीका लिखी है। वह इतनी विस्तृत एवं शास्त्रार्थबहुल है कि उसमें से मूल कारिकाओं एवं विवृति को ढूँढ़ निकालना अत्यन्त कठिन है। फिर अभी तो उसके मात्र दो परिच्छेद ही मुद्रित हुए हैं, जिनमें सिर्फ ६ कारिकाओं की ही विवृति आती है। अतः अकलंक के हार्द को जानने के लिए यह आवश्यक हुआ कि इसका अखण्ड रूप से पृथक् मुद्रण हो। इन्हीं ग्रन्थों के शाब्दिक एवं

आर्थिक शिलाधार पर ही उत्तरकालीन आचार्यों ने जैनन्याय का महाप्रासाद खड़ा किया है। अकलंकदेव का, वाक्यविन्यास एवं प्रतिपादनशैली इतनी दुरवगाह है कि उसमें न्यायशास्त्र की योग्यभूमिका रखनेवाले लोगों को भी विना आलम्बन के सीधे ही प्रवेश करना वस्तुतः कठिन है। इसीलिए प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र से कारिकाओं के अनेक उत्थानवाक्यों से चुन कर वे उत्थान वाक्य दिए हैं, जिनसे कारिका का सामान्यतः प्रतिपाद्य अर्थ भी भासित हो जाय, और प्रतिपाद्य विषयों का स्थूल वर्गीकरण भी हो जाय।

इसी तरह न्यायविनिश्चय के ऊपर वादिराजसूरिविरचित २० हजार श्लोक प्रमाण 'न्यायविनिश्चयविवरण' नाम की टीका उपलब्ध है, जो आजतक अमुद्रित है। उसमें न्यायविनिश्चय की कारिकाओं के शाब्दिक तथा आर्थिक दृष्टि से दस दस अर्थ तक किए गए हैं। साधारणतः २।३ अर्थ तो चलते ही हैं। उस लिखितविवरण से विषय-वर्गीकरण को ध्यान में रखकर कारिकार्थस्पर्शी उत्थानवाक्य न्यायविनिश्चय में छोटकर दे दिए हैं। उत्थानवाक्यों के द्वारा विषयावगाहन को सुलभ बनाने के लिए कहीं कहीं एक ही कारिका के पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षों के अंशों को पृथक् उत्थान देकर छुपाना पड़ा है। इन उत्थानवाक्यों के विस्तृत अंश को इसलिए संक्षिप्त किया है कि—जिससे व्यर्थका संभार भी न बढ़े और आवश्यक भाग भी न छूटे।

प्रमाणसंग्रह की एक मात्र प्रति पाटन के भंडार में मिली। यह नितान्त अशुद्ध है। इसमें जो कारिकांश गद्यभाग में प्रतीक रूप से शामिल थे, उन्हें पृथक् करके कारिका के रूप में [] इस ब्रेकिट में छुपाया है। प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ पर सिद्धिविनिश्चयटीका के उल्लेखानुसार एक 'प्रमाणसंग्रहालंकार या प्रमाणसंग्रहभाष्य' नाम की टीका का पता तो चलता है; पर वह न जाने किस भंडार में कीटकों का भोजन बनकर शास्त्रभक्तों की हास्यास्पद शास्त्रभक्ति का उदाहरण बन अपना जीवन निःशेष कर रही होगी। यद्यपि इसके विषयों का सामान्य विभाजन कर अपनी ओर से उत्थानवाक्य देने का पहिले विचार किया था; पर यह सोचकर कि—'जब लघीयस्त्रय और न्याय-विनिश्चयमें प्राचीन टीकाकारों के ही उत्थानवाक्य दिए हैं तब इसमें अपनी ओर से अभी कुछ न लिखकर जैसा का तैसा मूलग्रन्थ ही प्रकाशित करना समुचित होगा' अपनी ओर से उत्थानवाक्य देने की इच्छा को विषयसूची में ही सीमित कर दिया और प्रमाण-संग्रह को विना किसी उत्थानवाक्य के मूलमात्र ही छुपाया है।

लघीयस्त्रय में आए हुए अवतरणवाक्यों को इटालिक टाइप में “ ” डबल इनवर्टेड कामा में तथा प्रमाणसंग्रह के अवतरणवाक्यों को चालूटाइप में ही डबल इनवर्टेड कामा में छुपाया है। सब ग्रन्थों में कारिकाओं का टाइप चालू टाइप से बड़ा रखा है।

टिप्पण—टिप्पण लिखते समय पहिले तो यह विचार कर लिखना शुरू किया

कि—प्रस्तुतग्रन्थगत खास खास शब्दों पर ऐतिहासिक एवं तात्त्विक विवेचन के साथ ही साथ भावोद्घाटन भी संस्कृत में ही किया जाय । तदनुसार ही लघीयस्त्रयके प्रमाणप्रवेश के प्रथमपरिच्छेद के टिप्पण लिखे भी । पीछे तो एक तरफ से इस कार्य की बहुसमय-साध्यता और विस्तार, तथा दूसरी ओर इने गिने विद्वानों के सिवाय साधारण अभ्यासियों के लिए इसकी अल्पोपयोगिता का विचार करने से यही उचित प्रतीत हुआ कि इस टिप्पणभाग को इतना विस्तृत न किया जाय । अतः मध्यममार्ग निकालकर मुख्यतया निम्नदृष्टियों के अनुसार टिप्पण लिखे हैं—

१—अकलंकदेव ने प्रस्तुतग्रन्थों में जिन पूर्ववर्ती और समवर्ती वादों या विचारों की समालोचना की है उन पूर्वपक्षीय विचारों का उन्हीं ग्रन्थकारों के ग्रन्थों से अवतरण देकर संग्रह तथा स्पष्टीकरण ।

२—यदि पूर्वपक्ष के आधारभूत पूर्वकालीन या समकालीन ग्रन्थ उपलब्ध न हो तब भी उन पूर्वपक्षीय विचारों का अन्य उत्तरकालीन ग्रन्थकारों के ग्रन्थों के अवतरण द्वारा भी स्पष्टीकरण ।

३—पूर्वपक्ष के भाव को समानतन्त्रीय ग्रन्थों में आए हुए पूर्वपक्ष के शब्दों द्वारा विशदीकरण । तात्पर्य यह कि—प्रस्तुतग्रन्थगत पूर्वपक्षीय विचारों का पूर्ववर्ती, समवर्ती और उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों के ग्रन्थों से, तथा अकलंकदेवकी तरह उन पूर्वपक्षों का खंडन करने वाले बौद्धादिग्रन्थों से भी अवतरण देकर पूरा पूरा खुलासा करना ।

४—अकलंकदेव ने जिन शब्दों या विचारों द्वारा इतरमतों का निरसन किया है उन उत्तरपक्षीय शब्दों और विचारों की पूर्वकालीन, समकालीन तथा उत्तरकालीन ग्रन्थों से शाब्दिक और आर्थिक तुलना ।

५—प्रस्तुत तीनों ग्रन्थों के गद्य-पद्यांश जिन जिन ग्रन्थों में जिस जिस पाठभेद से उद्धृत मिलते हैं, उन ग्रन्थों का स्थलनिर्देश करके उन गद्यपद्यांशोंका पाठभेद के साथ आकलन । जिससे मूलग्रन्थों की पाठशुद्धि का समर्थन हो ।

६—प्रस्तुतग्रन्थगत कारिकाओं की अन्य आचार्यों द्वारा की गई विविध व्याख्याओं का तत्तद्ग्रन्थों से सञ्चयन ।

७—अकलंक के प्रस्तुतग्रन्थत्रयगत विचारों की जिन ग्रन्थों में आलोचना की गई है उन ग्रन्थों के उस आलोचनात्मक भाग का संकलन ।

८—प्रस्तुत ग्रन्थों में आए हुए दर्शनान्तरीय पारिभाषिक शब्दों का प्रामाणिक रूप से भावोद्घाटन ।

९—प्रमाणसंग्रह के टिप्पण लिखते समय यह बात और भी ध्यान में रखी गई है कि—इसकी कारिकाओं या गद्यभाग की अन्य ग्रन्थों में जो भी व्याख्या उपलब्ध हो उसका पूरा संग्रह किया जाय । जिससे इस ग्रन्थ की उत्थानवाक्य न देने की कभी भी यथासंभव पूर्ण हो जाय और अमुकभाग का अर्थ भी स्पष्ट हो जाय ।

इस टिप्पणसंग्रह में मुद्रित दार्शनिकग्रन्थों के सिवाय प्रमाणवार्तिक, प्रमाणवार्तिक-कालंकार, प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति, प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका प्रमाणवार्तिकमनोरथनन्दिनीटीका, हेतुबिन्दु, हेतुबिन्दुटीका, मोक्षकरीय तर्कभाषा, सिद्धिविनिश्चयटीका से उद्धृत मूल सिद्धिविनिश्चय, नयचक्रवृत्ति आदि अलभ्य लिखित तथा प्रूपपुस्तकों का विशिष्ट उपयोग किया गया है। इस तरह प्रस्तुत ग्रन्थत्रय की यावत् ऐतिहासिक और तात्त्विक सामग्री के संग्रह करने का संभव प्रयत्न किया है।

टिप्पण में जिस ग्रन्थ का पाठ दिया गया है उस ग्रन्थ का नाम [] इस ब्रेकिट में दिया गया है, शेष द्रष्टव्य ग्रन्थों के नाम ब्रेकिट के बाहिर दिए हैं।

परिशिष्ट—इस संस्करण में १ महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट लगाए हैं। इन ग्रन्थों की कारिकाओं के आधे भाग भी अन्य ग्रन्थों में उद्धृत पाए जाते हैं, अतः कारिकाओं के आधे आधे भागों का अनुक्रम बनाया है, जिससे अनुक्रम बनाने का उद्देश सर्वश में सफल हो।

१—लघीयस्त्रय के कारिकार्थ का अकारादिक्रमसे अनुक्रम।

२—लघीयस्त्रय में आए हुए अवतरणवाक्यों का अनुक्रम।

३—न्यायविनिश्चय के कारिकार्थ का अनुक्रम।

४—प्रमाणसंग्रह के कारिकार्थ का अनुक्रम।

५—प्रमाणसंग्रह के अवतरणवाक्यों की सूची।

६—लघीयस्त्रयादिग्रन्थत्रय के सभी लाक्षणिक और दार्शनिक शब्दों की सूची।

७—टिप्पणसंग्रह में उपयुक्त ग्रन्थों के संकेत का विवरण तथा स्थलनिर्देश।

८—टिप्पणनिर्दिष्ट आचार्यों की सूची।

९—अकलंकदेव के नाम से अन्य ग्रन्थों में उद्धृत उन गद्यपद्यभागों की सूची, जो प्रस्तुतग्रन्थत्रय में नहीं हैं। इसमें उन्हीं गद्यपद्यभागों का संग्रह किया है, जिन्हें ग्रन्थकारों ने अकलंककर्तृकरूप से उद्धृत किया है।

प्रस्तावना—इसके दो विभाग किए हैं—पहिला ग्रन्थकार से सम्बन्ध रखता है, तथा दूसरा ग्रन्थों से।

ग्रन्थकार विभाग में अकलंकदेव के समयनिर्णय के लिए उपयोगी नवीन सामग्री का संकलन है। इसमें ग्रन्थों का आन्तरिक परीक्षण कर उन विशिष्ट एवं तथ्य विचारों का चयन है जिनके आधार से विचार करने पर ग्रन्थकार के इतिहास विवेचन में खासी मदद मिलेगी। अभी तक के इस दिशा में हुए प्रयत्न बाह्यनिरीक्षण से अधिक सम्बन्ध रखते हैं।

ग्रन्थविभाग में ग्रन्थों का बाह्यस्वरूप, उनका अकलंककर्तृत्व, उनके नाम का

इतिहास तथा विस्तृत आन्तरिक विषयपरिचय है। आन्तरिक विषयपरिचय में अकलङ्कदेव के प्रस्तुत ग्रन्थों में आए हुए विचारों का विषयदृष्टि से विवेचन है। यह परिचय प्रस्तुतग्रन्थत्रय के हार्द को समझने में तो सहायक होगा ही पर इससे भी अधिक मदद न्यायशास्त्र की साधारण भूमिकावाले जैनन्याय के प्रवेशार्थियों को देगा। इस विषयपरिचय में प्रस्तुतग्रन्थत्रय का सार तो आ ही गया है, साथ ही साथ बहुत से महत्वपूर्ण विषयों का स्वतन्त्र विवेचन भी है। इससे जैनन्याय के विशिष्ट अभ्यासी भी नवीन विचार-सामग्री पा सकेंगे।

§ ३. संशोधन सामग्री—

लघीयस्त्रय सविवृति—न्यायकुमुदचन्द्र की ईडरभंडारवाली प्रति के प्रारम्भ में विवृति के ११ त्रुटितपत्र विद्यमान हैं। सर्वप्रथम इन्हीं पत्रोंके आधार से इसकी टीका न्यायकुमुदचन्द्र से मैनें और मित्रवर पं० कैलाशचन्द्रजी ने विवृति का पूरा संकलन किया था। उन त्रुटित विवृति के पत्रों में करीब ६१ कारिकाओं की ही विवृति थी। इन त्रुटित पत्रों का भी प्रस्तुत संस्करण में उपयोग किया है। इनकी संज्ञा 'ई०' रखी है। इसके पश्चात् मास्टर मोतीलालजी संधी तथा पं० चैनसुखदासजी कान्यतीर्थ की कृपा से जयपुर से एक विवृति की प्रति प्राप्त हुई। यह प्रति प्रायः शुद्ध है। इस प्रति के मिलने से संकलित विवृति को पूर्णता तथा प्रामाणिकता प्राप्त हुई। इस प्रति का 'ज०' संकेत रखा है। इसमें कुल १५ पत्र हैं। एक पत्रमें १३ पंक्तियाँ हैं। एक दो पत्रोंमें १२ तथा ११ पंक्तियाँ भी हैं। पत्र की लम्बाई चौड़ाई "१० $\frac{१}{४}$ × ४ $\frac{१}{४}$ " इंच है। एक पंक्ति में ४१—४२ अक्षर हैं।

न्यायविनिश्चय—न्यायविनिश्चयमूल की कोई प्रति आज तक नहीं मिली। इसका उद्धार न्यायविनिश्चयविवरण से किया गया है। 'अनेकान्त' (द्वितीयवर्ष पृ० १०४) में पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने इसकी उद्धार कथा में लिखा है कि—'इसके उद्धार का सर्वप्रथम प्रयत्न पं० जिनदास-पार्श्वनाथ शास्त्री सोलापुर ने किया। वह उद्धृत अंश मुख्तार सा० को प्राप्त हुआ। मुख्तार सा० ने उसकी बहुत सी त्रुटियाँ निकालकर पं० भाणिकचन्द्रजी सहारनपुर की सहायता से उसे क्रमवद्ध तथा पूर्णप्राय किया।' यह कापी मुख्तार सा० द्वारा इसके सम्पादनकाल में मुझे प्राप्त हुई।

इसके बाद दूसरा प्रयत्न स्याद्वादविद्यालय के धर्माध्यापक पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने किया। मुख्तार सा० के संग्रह से उसका मिलान करने पर मालूम हुआ कि—मुख्तार सा० के संग्रह में कुछ कारिकांश विवरण में आए हुए पूर्वपक्षीय ग्रन्थों के थे। इन्होंने कुछ नवीन पर सन्दिग्ध पद्यों का पता लगाया। जब यह निश्चय हुआ कि—प्रस्तुत संस्करण में न्यायविनिश्चय मूल भी छपाया जाय, तो मैने भी न्यायविनिश्चयविवरण से मूलभाग

छाँटना शुरू किया, और उसी के आधार से प्रेस कापी बनाई। मुह्तार सा० के संग्रह से मिलान करने पर, जिसमें पं० कैलाशचन्द्रजी के परिवर्तनों की भी सूचना थी, मैंने अपने संग्रह को पं० कैलाशचन्द्रजी के संग्रह से बहुत कुछ मिलता जुलता पाया। बाद में कारिकाओं की संख्या तथा पाठ के निर्णयार्थ पं० कैलाशचन्द्रजी के संग्रह से मिलान भी किया।

मुह्तार सा० के संग्रह में तो विवादग्रस्त कारिकाओं की संख्या ५-६ है। जिसे मुह्तार सा० ने पं० कैलाशचन्द्रजी की सूचनानुसार विचाराधीन रखा है। पर पं० कैलाशचन्द्रजी तथा मेरे संग्रह में पारस्परिक विचार विमर्श के बाद विवादग्रस्त कारिका सिर्फ एक ही बची है। प्रथमपरि० की चौथी 'हिताहितासि' वाली कारिका पं० कैलाशचन्द्रजी मूल की नहीं मानते हैं। उनका विचार है कि—न्यायविनिश्चयविवरण की प्रति में 'खल-क्षणमसङ्कीर्ण' कारिका पर ११७ का अंक पड़ा है। जो मेरे संग्रह से यदि 'हिता-हितासि' वाली कारिका निकाल दी जाय तो ठीक बैठता है। अर्थात् ११७॥ वां अंक उसपर आयगा। आधी कारिका का हेर फेर तो किसी श्लोक को ३ चरण का मानने से भी हो सकता है। मेरा विचार है कि—जिस तरह अन्य कारिकाएँ हम लोगों ने व्याख्यान के आधार से ही संकलित की हैं उसी तरह जब इस कारिका का भी यथावत् व्याख्यान विवरण में पाया जाता है तब इसे भी मूल की ही मानना चाहिए। इस कारिका में इन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण करने के बाद ही विवरण में शंका की गई है कि—अनिन्द्रियप्रत्यक्ष तथा अतीन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण क्यों नहीं कहा? इसका उत्तर यह दिया है कि वृत्ति में इसका लक्षण है। इससे भी मालूम होता है कि—अकलङ्कदेव ने इन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण तो कारिका में किया है तथा अनिन्द्रिय और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण वृत्ति में। ११७ वाली संख्याका निर्वाह तो तीन कारिकाओं को तीन तीन चरण वाली मानकर भी किया जा सकता है। बाकी कारिकाओं के विषय में मेरा तथा पं० कैलाशचन्द्रजी का प्रायः समान मत है।

इस तरह तीन भिन्न संग्रहों के आधार से न्यायविनिश्चय मूल का संपादन किया गया है। न्यायविनिश्चयविवरण की बनारसवाली प्रति अत्यन्त अशुद्ध ही नहीं है, किन्तु उसमें कई जगह ४-४ पत्र तक के पाठ छूटे हैं, २-४ पंक्तियाँ छूटना तो साधारणसी बात है। मैंने इसकी शुद्धि के लिए मूडविंदी के वीरवाणीविलास भवन से न्यायविनिश्चयविवरण की ताडपत्रीय प्रति बुलाई। प्रति कनड़ी अक्षरो में है। अतः एक कनड़ी-वाचक की सहायता से कारिकाओं के मूलस्थलों के विवरणांश को शुद्ध किया और छूटे हुए पत्रों में से मूलांश का संग्रह किया। इतना संभव प्रयत्न होने पर यह संग्रह पाठकों के सामने आया है। मैं स्वयं अभी इसकी पूर्णता के विषय में निःशंक नहीं हूँ; क्योंकि—सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० ६१ B.) में आए हुए "कथमन्यथा न्यायविनिश्चये

सहभुवो गुणाः इत्यस्य 'सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम् । शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्यूनः कान्तासमागमे ॥' इत्युदाहरणं स्यात्" इस अवतरण से मालूम होता है कि— 'सुखमाह्लादनाकारं' कारिका न्यायविनिश्चय की है । पर विवरण में यह कारिका मूल की नहीं मालूम होती; क्योंकि एक तो इसका व्याख्यान नहीं किया गया, दूसरे विवरण (पृ० २३० B.) में यह कारिका 'तदुक्तं स्याद्वादमहार्णवे' लिखकर बिना किसी उत्थानवाक्य के उद्धृत पाई जाती है । हाँ, इतना विश्वास अवश्य है कि—यह संग्रह शुद्धि के बहुत पास होगा ।

प्रमाणसंग्रह—मैं पहिले लिख आया हूँ कि—पं० सुखलालजी और मुनि पुण्य-विजयजी के प्रयत्न से इसकी प्रतिलिपि प्राप्त हुई । उसी प्रतिलिपि के अनुसार प्रेसकापी की गई थी । प्रेसकापी का ताड़पत्र से मिलान तथा कुछ शुद्धपाठों की सूचना श्रीमान् मुनि पुण्यविजयजी ने की । प्रमाणसंग्रह की यह एक मात्र प्रति अत्यन्त अशुद्ध है । इसकी मूलप्रति के अनुसार शुद्धता के लिए मुनि पुण्यविजयजी ने इसके प्रूफों का मिलान भी ताड़पत्र की प्रति से किया है । इसका परिचय भी मुनिजी ने इस प्रकार लिखा है—

पाठन के संघवी के पाडे के ताड़पत्रीय पुस्तक भंडार की यह प्रति है । डब्बा नं० १३५, प्रति नं० २ है । इस पोथी में स्त्रीनिर्वाण केवलभुक्ति आदि निम्नलिखित १४ प्रकरणात्मक ग्रन्थ हैं—

- १—स्त्रीनिर्वाण, पत्र ११—१३ तक, संस्कृत, शाकटायनकृदन्तपादकृत, श्लोक ४५ ।
 - २—केवलभुक्ति, पत्र १३—१५ तक, संस्कृत, शाकटायनकृदन्तपादकृत, श्लोक ३३ ।
 - ३—मोक्षोपदेशपञ्चाशक, पत्र १५—१८ तक, संस्कृत, मुनिचन्द्रसूरिकृत, श्लोक ५१ ।
 - ४—प्रमाणसंग्रह, पत्र ६०—६२ तक, संस्कृत, अकलङ्कदेवकृत ।
 - ५—ईश्वरकर्तृत्वप्रकरण, पत्र ६३—६८ तक, संस्कृत, चन्द्रप्रभकृत ।
 - ६—ब्राह्मणजातिनिराकरण, पत्र ६८—१०४ तक, संस्कृत ।
 - ७—बोटिकप्रतिषेध, पत्र १०४—१०८ तक, संस्कृत, हरिभद्रसूरिकृत ।
 - ८—सर्वज्ञव्यवस्थाप्रकरण, पत्र १०८—१२१ तक, संस्कृत ।
 - ९—क्षणिकवादनिरासप्रकरण, पत्र १२२—१२७ तक, संस्कृत ।
 - १०—गणकारिका रत्नटीकासमेत, पत्र १२८—१५५, संस्कृत, भासर्वज्ञकृत ।
 - ११—यमप्रकरण, पत्र १५५—१५६ तक, संस्कृत, विशुद्धमुनि षड्गोचर शिष्यकृत, श्लोक २१ ।
 - १२—लकुलिशप्रार्थना, पत्र १५७, संस्कृत, श्लोक १३ ।
 - १३—कारणपदार्थ, पत्र १५७—१५९ तक, संस्कृत, श्लोक ३६ ।
 - १४—पुराणोक्तस्कन्दनामानि, पत्र १५९, संस्कृत, श्लोक ७ ।
- इनमें प्रमाणसंग्रह पत्र ६० से ६२ में है ।

पत्रों की लम्बाई चौड़ाई "१४ $\frac{1}{2}$ ×२ $\frac{1}{2}$ " इंच है। एक पत्र में ४ से ८ तक पंक्तियाँ हैं। दो विभाग में लिखा गया है। एक पंक्ति में ६०-६३ अक्षर हैं। ताड़पत्रीय प्रतियों के पत्र प्रायः छोटे बड़े होते हैं। इस प्रति में १ $\frac{3}{4}$ इंच से लेकर २ $\frac{1}{4}$ इंच तक के चौड़े पत्र हैं।

लिपि के ऊपर से प्रति १२ वीं सदी की लिखी हुई मालूम होती है। प्रति में लेखक का पुष्पिका लेख नहीं है। प्रति में कहीं कहीं किसी विद्वान् वाचक ने अक्षर सुधारे हैं, अवग्रह, पदच्छेद तथा टिप्पण भी किये हैं।

प्रति की लिपि सुन्दर, स्वच्छ तथा स्पष्ट है। हाँ, कुछ अक्षरों में विपर्यास हुआ है। जैसे कि-श के बदले स, स के बदले श बहुत जगह लिखा है। सकल के बदले शकल शाख के बदले साख इत्यादि। व और व का भेद तो लेखक ने रखा ही नहीं है। निम्न अक्षरों को समझने में भ्रम होता है—व ध, त्व न्व न्ध, ध्य घ्न ध्व, न्त न्न त्त, न् न आदि। कहीं कहीं परसवर्ण किया है। व्यंजन न् के बदले नु तथा नु के बदले न्, कु के बदले क अथवा क्र लिखा है। कर्म धर्म शर्म तर्क सर्व इत्यादि शब्द द्वित्व करके लिखे हैं। प्रति प्राचीन, अखंड तथा सुरक्षित है। कहीं कहीं दीमक के जाने के निशान मालूम होते हैं; पर प्रति के अक्षर खराब नहीं हुए हैं।

अन्य प्रमाणसंग्रह—मद्रास प्रान्त की प्राइवेट लाइब्रेरियों के सूचीपत्र में निम्नस्थानों पर प्रमाणसंग्रह का पता चला है—

केटलाग नं० १४६७—अन्नस्वामी श्रौति भवानी (coimbatore)

२३८०—सरस्वती भंडारकमेटी Tiruvalli kkeni (ट्रिप्लिकेन)

३१७०—सीताराम शास्त्रियर आस्थानपंडित मैसूर।

५०६८—Attan Alaka PPangar of Alvar Truna Pari (Tinni velly)

५३८७—अन्नस्वामी ऑफ श्रीरंगम् (त्रिचनापल्ली)

५८०७—विद्वान् श्रीरंगाचारिअर of shri valli Puttur (Tinni velly)

मैंने इन सब स्थानों को जवाबी पत्र लिखे पर कहीं से कुछ भी उत्तर नहीं मिला। मालूम नहीं कि इन स्थानों में प्रमाणसंग्रह अकलंककृत जैन ग्रन्थ है या अन्य कोई अजैन प्रमाणसंग्रह। अडयार लाइब्रेरी के सूचीपत्र में भी प्रमाणसंग्रह का नाम था। खोज करने पर मालूम हुआ कि—वह कोई अजैन ग्रन्थ है और उसमें दायभाग के प्रमाणों का संग्रह है। शास्त्ररसिक महानुभावों को उक्त स्थानों में प्रमाणसंग्रह की खोज करनी चाहिए।

§ ४. आभार प्रदर्शन—

श्रद्धेय प्रज्ञादृष्टि पं० सुखलालजी—आपने अत्यन्त कठिनता से प्राप्त प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ के सम्पादनका भार मुझे सौंपा। आपकी अमूल्य तथा मार्मिक सूचनाओं के अनुसार ही इसका सम्पादन किया गया है। आपकी सूक्ष्मदृष्टि एवं सत्साहित्य-प्रवृद्धिविषयक

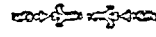
उदारभाव से मैं बिना किसी कठिनाई के इसका सम्पादन करने में समर्थ हुआ। ग्रन्थ के टिप्पण हिन्दीलेखन आदि सभी कार्य आपकी सूचना एवं परामर्श के अनुसार ही हुए हैं। सिन्धी ग्रन्थमाला के संस्थापक सदाशय बाबू बहादुरसिंह जी सिन्धी—जो बिना किसी सम्प्रदायभेद के उत्तम साहित्य का अकल्पित औदार्य से प्रकाशन कर संस्कृति के इस अंग की भी सुदृढ़ रक्षा कर रहे हैं। ग्रन्थमाला के संपादक विद्वान् मुनि श्रीजिनविजयजी—जिनकी सुसंस्कृत कार्यप्रणाली से ग्रन्थमाला का सर्वाङ्ग सुन्दर प्रकाशन हो रहा है, तथा जिनने सम्पादन के अभ्यन्तर एवं बाह्य स्वरूपनिर्धारण में अपने चिरकालीन सम्पादन प्रकाशन के अनुभव से अनेकों सूचनाएँ दीं।

मुनि श्रीपुण्यविजयजी—आपने प्रमाणसंग्रह की प्रेसकापी को तथा प्रूफों को ताड़पत्र से मिलाकर अनेक शुद्ध पाठों की सूचना दी। प्रमाणसंग्रह का प्रतिपरिचय भी आपने ही लिखा है। आप जैसा निःस्वार्थ साहित्यप्रेम अन्यत्र कम दिखाई देता है। आप की इस सहज परकार्यपरायणता से मुझे बड़ा आश्वासन मिला है। भाई पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री—आपकी सहायता से ही सर्वप्रथम विवृति का संकलन किया गया था। आपने अपने संकलित न्यायविनिश्चय से हमें जब जरूरत हुई तब कारिकानिर्णय, अशुद्धिशोधन तथा पाठान्तर देने में सहज भ्रातृत्व से पूर्ण योग दिया। पं० जुगलकिशोरजी मुस्तार—आपने बड़े श्रम से तैयार किया हुआ न्यायविनिश्चयमूल का लिखित संग्रह पं० सुखलालजी का पत्र पाते ही तुरन्त भेज दिया। जिसके आधार से कारिकानिर्णय आदि में बड़ी सहायता मिली।

त्रिपिटिकाचार्य भिन्नुर राहुलसांकृत्यायन—आपने अपनी असाधारण कर्मठता से प्राप्त प्रमाणवार्तिक, प्रमाणवार्तिक मनोरथनन्दिनी टीका, प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति और स्वोपज्ञवृत्ति टीका के प्रूफ दिए, तथा प्रमाणवार्तिकालंकार की सर्वथा अलभ्य प्रेसकापी से नोट लेने दिए। आप की इस आन्तरिक उदारता के कारण मैं टिप्पणों में अलभ्य अवतरणों का संग्रह कर सका हूँ। मि० P. तारकस M. A. ने हेतुविन्दुमूल देखने दिया।

कविरत्न पं० चैनसुखदासजी, तथा मास्टर मोतीलालजी संघी जयपुर ने लघीयस्वय-स्वविवृति की प्रति भेजी। पं० लोकनाथ पार्श्वनाथ शास्त्री मूडविंद्री ने न्यायविनिश्चया-लङ्कार की प्रति भेजी। भाई पं० दलसुखजी न्यायतीर्थ ने छपाई परिशिष्ट आदि बनाने की सूचनाएँ दीं। प्रो० श्रीकण्ठशास्त्री मैसूर तथा प्रो० ए. एन. उपाध्याय कोल्हापुर ने अकलङ्क के समय विषयक अपने मन्तव्य की पत्र द्वारा विस्तार से सूचना दी। अतएव मैं उक्त महानुभावों का आन्तरिक आभार प्रदर्शन करता हूँ। इति शम्।

प्रस्तावना



१. ग्रन्थकार

श्रीमद्ब्रह्माकलङ्कदेव की जीवनगाथा न तो उन्होंने स्वयं ही लिखी है और न तन्निकट-समयवर्ती किन्हीं दूसरे आचार्यों ने ही। उपलब्ध कथाकोशों में सबसे पुराने हरिप्रेणकृत कथाकोश में समन्तभद्र और अकलंक जैसे युगप्रधान आचार्यों की कथाएँ ही नहीं हैं। हरिप्रेण ने स्वयं अपने कथाकोश का समाप्तिकाल शकसंवत् ८५३ (ई० १४१) लिखा है। प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोश में अकलंक की कथा मिलती है। पं० नाथूराम जी प्रेमी इसका रचनाकाल विक्रमकी चौदहवीं सदी अनुमान करते हैं। प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोश को ही ब्रह्मचारी नेमिदत्त ने विक्रमसंवत् १५७५ के आसपास पद्यरूप में परिवर्तित किया है। देवचन्द्रकृत कनड़ी भाषा की 'राजावलीकथे' में भी अकलंक की कथा है। इसका रचनाकाल १६ वीं सदी के बाद है। इस तरह कथाग्रन्थों में चौदहवीं सदी से पहिले का कोई कथाग्रन्थ नहीं मिलता जिसमें अकलंक का चरित्र तो क्या निर्देश तक भी हो। अकलंकदेव के ६०० वर्ष बाद की इन कथाओं का इतिवृत्तज्ञ विद्वान पूरे पूरे रूप में अनुसरण नहीं करते हैं। इनके सिवाय अकलंक के शास्त्रार्थ का उल्लेख मल्लिप्रेण-प्रशस्ति में है। यह प्रशस्ति विक्रमसंवत् ११८५ में लिखी गई थी। अकलंक के पिता का नाम राजवार्तिक प्रथमाध्याय के अन्त में आए हुए 'जीयाच्चिर' श्लोक में 'लघुहव्व' लिखा हुआ है। इस तरह अकलंक के जीवनवृत्त की सामग्री नहीं बत है। जो है भी वह इतनी बाद की है कि उस पर अन्य प्रबल साधक प्रमाणों के अभाव में सहसा जोर नहीं दिया जा सकता।

पं० नाथूरामजी प्रेमी ने कथाकोश आदि के आधार से जैनहितैषी (भाग ११ अंक ७-८) में अकलंकदेव का जीवन वृत्तान्त लिखा है। उसीके आधार से न्याय-कुमुदचन्द्र की प्रस्तावना में भी बहुत कुछ लिखा गया है। यहां मैं उसका पिष्टपेषण न करके सिर्फ उन्हीं मुद्दों पर कुछ विचार प्रकट करूँगा, जिनके विषय में अभी कुछ नया जाना गया है तथा अनुमान करने के लिए प्रेरकसामग्री संकलित की जासकी है। खास कर समयनिर्णयार्थ कुछ आभ्यन्तर सामग्री उपस्थित करना ही इस समय मुख्यरूप से प्रस्तुत है; क्योंकि इस दिशा में जैसी गुंजाइश है वैसा प्रयत्न नहीं हुआ।

§ १. जन्मभूमि-पितृकुल-

प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोश तथा उसीके परिवर्तितरूप ब्रह्मचारी नेमिदत्त के आराधनाकथाकोश के लेखानुसार अकलंक का जन्मस्थान मान्यखेट नगरी है। वे वहां के राजा

शुभतुंग के मंत्री पुरुपोत्तम के ज्येष्ठ पुत्र थे। श्री देवचन्द्रकृत कनड़ी भाषाके राजावलीकथे नामक ग्रन्थ में उन्हें काञ्ची के जिनदास ब्राह्मण का पुत्र बताया है। इनकी माता का नाम जिनमती था। तीसरा उल्लेख राजवार्तिक के प्रथम अध्यायके अन्तमें पाया जाने वाला यह श्लोक है—

“जीयाच्चिरमकलंकब्रह्मा लघुहव्यनृपतिवरतनयः ।

अनवरतनिखिलजननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः ॥”

इस श्लोकके अनुसार वे लघुहव्य राजाके वरतनय-ज्येष्ठ पुत्र थे। विद्वानों की आज तक की पर्यालोचना से ज्ञात होता है कि वे राजावलीकथे का वर्णन प्रमाणकोटि में नहीं मानते और कथाकोश के वर्णन की अपेक्षा उनका भुकाव राजवार्तिक के श्लोक की ओर अधिक दिखाई देता है।

मुझे तो ऐसा लगता है कि—लघुहव्य और पुरुपोत्तम एक ही व्यक्ति हैं। राष्ट्रकूट-वंशीय इन्द्रराजद्वितीय तथा कृष्णराजप्रथम भाई भाई थे। इन्द्रराज द्वितीय का पुत्र दन्तिदुर्गद्वितीय अपने पिता की मृत्यु के बाद राज्याधिकारी हुआ। कर्नाटक प्रान्त में पिता को अव्व या अप्प शब्द से कहते हैं। सम्भव है कि दन्तिदुर्ग अपने चाचा कृष्णराज को भी अव्व शब्द से कहता हो। यह तो एक साधारणसा नियम है कि जिसे राजा ‘अव्व’ कहता हो, उसे प्रजा भी ‘अव्व’ शब्द से ही कहेंगी। कृष्णराज जिसका दूसरा नाम शुभतुंग था, दन्तिदुर्ग के बाद राज्याधिकारी हुआ। मालूम होता है कि—पुरुपोत्तम कृष्णराज के प्रथम से ही लघु सहकारी रहे हैं, इसलिए स्वयं दन्तिदुर्ग एवं प्रजाजन इनको ‘लघु अव्व’ शब्द से कहते होंगे। बाद में कृष्णराज के राज्यकाल में ये कृष्णराज के मंत्री बने होंगे। कृष्णराज अपनी परिणत अवस्था में राज्याधिकारी हुए थे। इसलिये यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि—पुरुपोत्तम की अवस्था भी करीब करीब उतनी ही होगी और उनका ज्येष्ठ पुत्र अकलंक दन्तिदुर्ग की सभा में, जिनका उपनाम ‘साहसतुंग’ कहा जाता है, अपने हिमशीतल की सभा में होने वाले शालार्थ की बात कहे। पुरुपोत्तम का ‘लघुअव्व’ नाम इतना रूढ़ हो गया था कि अकलंक भी उनके असली नाम पुरुपोत्तम की अपेक्षा प्रसिद्ध नाम ‘लघुअव्व’ अधिक पसन्द करते होंगे। यदि राजवार्तिकवाला श्लोक अकलंक या तत्समकालीन किसी अन्य आचार्य का है तो उसमें पुरुपोत्तम की जगह ‘लघुअव्व’ नाम आना स्वाभाविक ही है। ‘लघुअव्व’ एक ताल्लुकेदार होकर भी विशिष्ट राजमान्य तो थे ही और इसीलिए वे भी नृपति कहे जाते थे। अकलंक उनके वरतनय-ज्येष्ठ पुत्र या श्रेष्ठ पुत्र थे।

यद्यपि अभी तक इतिहास से यह मालूम हो सका है कि—मान्यखेट राजधानी की प्रतिष्ठा महाराज अमोघवर्ष ने की थी। पर इसमें सभी ऐतिहासिक विद्वानों का एकमत नहीं है। यह तो सम्भव है कि अमोघवर्ष ने इसका जीर्णोद्धार करके पुनः प्रतिष्ठा की हो,

क्योंकि अमोघवर्ष के पहिले भी 'मान्यपुर, मान्यान्' आदि उल्लेख मिलते हैं। अथवा यह मान भी लिया जाय कि अमोघवर्ष ने ही मान्यखेट को प्रतिष्ठित किया था। तब भी इससे कथाकोश की बातें सर्वथा अप्रामाणिक नहीं कही जा सकती। इससे तो इतना ही कहा जा सकता है कि—कथाकोशकार के समय में राष्ट्रकूटवंशीय राजाओं की राजधानी आमतौर से मान्यखेट प्रसिद्ध थी और इसीलिये कथाकोशकार ने शुभतुंग की राजधानी भी मान्यखेट लिख दी है।

यदि पुरुषोत्तम और लघुअव्व के एक ही व्यक्ति होने का अनुमान सत्य है तो कहना होगा कि अकलंकदेव की जन्मभूमि मान्यखेट के ही आस पास होगी तथा पिता का असली नाम पुरुषोत्तम तथा प्रचलित नाम 'लघुअव्व' होगा। 'लघुअव्व' की जगह 'लघुहव्व' का होना तो उच्चारण की विविधता और प्रति के लेखनवैचित्र्य का फल है।

§ २. समय विचार—

अकलंक के समय के विषय में मुख्यतया दो मत हैं। पहिला स्वर्गीय डॉ० के० वी० पाठक का और दूसरा प्रो० श्रीकण्ठशास्त्री तथा पं० जुगलकिशोर मुख्तार का। डॉ० पाठक मल्लिपेणप्रशस्ति के 'राजन् साहसतुंग' श्लोक के आधार से इन्हें राष्ट्रकूटवंशीय राजा दन्तिदुर्ग या कृष्णराज प्रथम का समकालीन मानते हैं, और अकलंकचरित के—

“विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुपि । कालेऽकलंकयतिनो वौद्धैर्वादो महानभूत् ॥”

इस श्लोक के 'विक्रमार्कशकाब्द' शब्द का शकसंवत् अर्थ करते हैं। अतः इनके मतानुसार अकलंकदेव शकसंवत् ७०० (ई० ७७८) में जीवित थे।

दूसरे पक्ष में श्रीकण्ठशास्त्री तथा मुख्तारसा० 'विक्रमार्कशकाब्द' का विक्रमसंवत् अर्थ करके अकलंक देवकी स्थिति विक्रम सं० ७०० (ई० ६४३) में बतलाते हैं।

प्रथममत का समर्थन स्व० डॉ० आर० जी० भाण्डारकर, स्व० डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण तथा पं० नाथूरामजी प्रेमी आदि विद्वानों ने किया है। इसके समर्थनार्थ हरिवंशपुराण (१।३१) में अकलंकदेव का स्मरण, अकलंक द्वारा धर्मकीर्ति का खंडन तथा प्रभाचन्द्र के कथाकोश में अकलंक को शुभतुंग का मन्त्रिपुत्र बतलाया जाना आदि युक्तियाँ प्रयुक्त की गई हैं।

दूसरे मत के समर्थक प्रो० ए० एन० उपाध्ये और पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री आदि हैं। इस मत के समर्थनार्थ वीरसेन द्वारा धवलाढीका में राजवार्तिक के अवतरण लिये जाना, हरिभद्र के द्वारा 'अकलंक न्याय' शब्द का प्रयोग, सिद्धसेनगणि का सिद्धि-विनिश्चय वाला उल्लेख, जिनदासगणि महत्तर द्वारा निशीथचूर्णि में सिद्धिविनिश्चय का दर्शनप्रभावक शास्त्ररूपसे लिखा जाना आदि प्रमाण दिए गए हैं।

१ इन दोनों मतों के समर्थन की सभी युक्तियों का विस्तृत संग्रह न्यायकमुदचन्द्र की प्रस्तावना में देखना चाहिए।

हमारी विचारसरणि—किसी एक आचार्य का या उसके ग्रन्थ का अन्य आचार्य समकालीन होकर भी उल्लेख और समालोचन कर सकते हैं, और उत्तरकालीन होकर भी। पर इस में हमें इस बात पर ध्यान रखना होगा कि उल्लेखादि करनेवाला आचार्य जैन है या जैनेतर। अपने सम्प्रदाय में तो जब मामूली से थोड़ा भी अच्छा व्यक्ति, जिसकी प्रवृत्ति इतरमत निरसन के द्वारा मार्गप्रभावना की ओर अधिक होती है, बहुत जल्दी ख्यात हो जाता है, तब असाधारण विद्वानों की तो बात ही क्या? स्वसम्प्रदाय में प्रसिद्धि के लिये अधिक समय की आवश्यकता नहीं होती। अतः स्वसम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा पूर्वकालीन तथा समकालीन आचार्यों का उल्लेख किया जाना ठीक है। इतना ही नहीं; पर स्वसम्प्रदाय में तो किसी वृद्ध आचार्य द्वारा असाधारणप्रतिभाशाली युवक आचार्य का भी उल्लेख होना संभव है। पर अन्य सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा समालोचन या उल्लेख होने योग्य प्रसिद्धि के लिए कुछ समय अवश्य ही अपेक्षित होता है। क्योंकि १२-१३ सौ वर्ष पूर्व के साम्प्रदायिक वातावरण में असाधारण प्रसिद्धि के बिना अन्य सम्प्रदाय के आचार्यों पर इस प्रकार की छाप नहीं पड़ सकती, जिससे वे उल्लेख करने में तथा समालोचन या अनुसरण करने में प्रवृत्त हों। अतः सम्प्रदायान्तर के उल्लेख या समालोचन करने वाले आचार्य से समालोच्य या उल्लेखनीय आचार्य के समय में समकालीन होने पर भी १५-२० वर्ष जितने समय का पौर्वापर्य मानना विशेष सयुक्तिक जान पड़ता है। यद्यपि इसके अपवाद मिल सकते हैं और मिलते भी हैं; पर साधारणतया यह प्रणाली सत्यमार्गेन्मुख होती है। दूसरे समानकालीन लेखकों के द्वारा लिखी गई विश्वस्त सामग्री के अभाव में ग्रन्थों के आन्तरिकपरीक्षण को अधिक महत्त्व देना सत्य के अधिक निकट पहुँचने का प्रशस्त मार्ग है। आन्तरिक परीक्षण के सिवाय अन्य बाह्य साधनों का उपयोग तो खींचतान करके दोनों ओर किया जा सकता है, तथा लोग करते भी हैं। मैं यहां इसी विचार पद्धति के अनुसार विचार करूँगा।

अकलंक के ग्रन्थों के आन्तरिक अवलोकन के आधार से मेरा विचार स्पष्टरूप से अकलंक के समय के विषय में डॉ० पाठक के मत की ओर ही अधिक झुकता है। हाँ, मेरी समर्थनपद्धति डॉ० पाठक की समर्थन पद्धति से भिन्न है। मैं पहिले विरोधी मत की उन एक दो खास युक्तियों की आलोचना करूँगा जिनके आधार पर उनका मत स्थिर है, फिर उन विचारों को विस्तार से लिखूँगा जिनने मेरी मति डॉ० पाठक के मतसमर्थन की ओर झुकाई।

आलोचना—(१) निशीथचूर्णि में सिद्धिविनिश्चय का दर्शनप्रभावकरूप से उल्लेख है तो सही। यह भी ठीक है कि इसके कर्ता जिनदासगणिमहत्तर हैं, क्योंकि निशीथचूर्णि के अन्त में दी हुई गाथा से उनका नाम स्पष्टरूपसे निकल आता है। पर अभी इस

चूर्णि के रचनाकाल का पूरा निश्चय नहीं है। यद्यपि नन्दीचूर्णि की प्राचीन और विश्वसनीय प्रति में उसका रचनासमय शक ५६८ (ई० ६७६) दिया है पर इसके कर्ता जिनदासगणिमहत्तर हैं यह अभी संदिग्ध है। इसके कारण ये हैं—

१—अभी तक परम्परागत प्रसिद्धि ही ऐसी चली आ रही है कि नन्दीचूर्णि जिनदास की है, पर कोई साधकप्रमाण नहीं मिला। भाण्डारकर प्राच्यविद्यासंशोधन मन्दिर के जैनागम कैटलॉग में प्रो० H.R. कापड़िया ने स्पष्ट लिखा है कि—नन्दीचूर्णि के कर्ता जिनदास हैं यह प्रघोषमात्र है।

२—निशीथचूर्णि की तरह नन्दीचूर्णि के अन्त में जिनदास ने अपना नाम नहीं दिया।

३—नन्दीचूर्णि के अन्त में पाई जाने वाली—

“गिरेण गामेत्त महासहा जिता, पसूयती संख जगद्धिताकुला।

कमद्धिता वीसंत चितितक्खरो फुडं कहेयं अभिहारणकम्मुणा ॥”

इस गाथा के अक्षरों को लौट पलटने पर भी ‘जिनदास’ नाम नहीं निकलता।

४—नन्दध्ययन टीका के रचयिता आचार्य मलयगिरि को भी चूर्णिकार का नाम नहीं मालुम था; क्योंकि वे अपनी टीका में पूर्वटीकाकार आचार्यों का स्मरण करते समय हरिभद्रसूरि का तो नाम लेकर स्मरण करते हैं जब कि हरिभद्र के द्वारा आधार रूप से अवलम्बित चूर्णि के रचयिता का वे नामोल्लेख नहीं करके ‘तस्मै श्रीचूर्णिकृते नमोऽस्तु’ इतना लिखकर ही चुप हो जाते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि—आचार्य मलयगिरि चूर्णिकार के नाम से अपरिचित थे; अन्यथा वे हरिभद्र की तरह चूर्णिकार का नाम लिये बिना नहीं रहते।

अतः जब नन्दीचूर्णि की और निशीथचूर्णि की एककर्तृकता ही अनिश्चित है तब नन्दीचूर्णि के समय से निशीथचूर्णि के समय का निश्चय नहीं किया जा सकता। इस तरह अनिश्चितसमयवाला निशीथचूर्णि का सिद्धिविनिश्चय वाला उल्लेख अकलंक का समय ई० ६७६ से पहिले ले जाने में साधक नहीं हो सकता।

(२) अकलंकचरित के ‘विक्रमार्क शकाब्द’ वाले उल्लेख को हमें अन्य समर्थ प्रमाणों के प्रकाश में ही देखना तथा संगत करना होगा; क्योंकि अकलंकचरित १५ वीं १६ वीं शताब्दी का ग्रन्थ है। यह अकलंक से करीब सात आठ सौ वर्ष बाद बनाया गया है। अकलंकचरित के कर्ता के सामने यह परम्परा रही होगी कि ‘संवत्

१ भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर के जैनागम कैटलॉग (Part II. P. 302) में मलयगिरिरचित लिखित तीन नन्दिसूत्रविवरणों का परिचय है। उनमें चूर्णिकार तथा हरिभद्र का निम्न श्लोकों में स्मरण किया है—

“नन्दध्ययनं पूर्वं प्रकाशितं येन विषमभावार्यम् । तस्मै श्रीचूर्णिकृते नमोऽस्तु विदुषे परोपकृते ॥१॥

मध्ये समस्तभूषीठं यशो यस्याभिबद्धत । तस्मै श्रीहरिभद्राय नमोऽस्तीकाविवाधिने ॥२॥”

७०० में अकलंक का शास्त्रार्थ हुआ था; पर उन्हें यह निश्चित मालूम नहीं था कि—यह संवत् विक्रम है या शक अथवा और कोई? आगे लिखे हुए ‘अकलंक के ग्रन्थों की तुलना’ शीर्षक स्तम्भ से यह स्पष्ट हो जायगा कि अकलंक ने भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, कर्णकगोमि आदि आचार्यों के विचारों की आलोचना की है। कुमारिल आदि का कार्यकाल सन् ६५० ई० से पहिले किसी भी तरह नहीं जाता; क्योंकि भर्तृहरि (सन् ६०० से ६५०) की आलोचना कुमारिल आदि के ग्रन्थों में पाई जाती है। यदि विक्रमार्क शकान्द से विक्रमसंवत् विवक्षित किया जाय तो अकलंक को कुमारिल आदि से पूर्वकालीन नहीं तो ज्येष्ठ तो अवश्य ही मानना पड़ेगा। यह अकलंक के द्वारा जिन अन्य आचार्यों की समालोचना की गई है, उनके समय से स्पष्ट ही विरुद्ध पड़ता है। अतः हम इस श्लोक को इतना महत्त्व नहीं दे सकते, जिससे हमें सारी वस्तुस्थिति को उलट कर भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर और कर्णकगोमि को, जिनमें स्पष्टरूप से पौर्वापर्य है खींचतान कर समान काल में लाना पड़े। अकलंकदेव के ग्रन्थों से मालूम होता है कि उनका बौद्धदर्शनविषयक अभ्यास धर्मकीर्ति तथा उनके शिष्यों के मूल एवं टीकाग्रन्थों का था। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि—उन्होंने वसुवन्धु या दिग्नाग के ग्रन्थ नहीं देखे थे। किन्तु बौद्धों के साथ महान् शास्त्रार्थ करनेवाले अकलंक को उन पूर्वग्रन्थों का देखना भर पर्याप्त नहीं था, उन्हें तो शास्त्रार्थ में खण्डनीय जटिल युक्तिजाल का विशिष्ट अभ्यास चाहिए था। इसलिये शास्त्रार्थ में उपयोगी दलीलों के कोटिक्रम में पूर्ण निष्णात अकलंक का महान् वाद विक्रम ७०० में असंभव मालूम होता है; क्योंकि धर्मकीर्ति आदि का ग्रन्थरचनाकाल सन् ६६० से पहिले किसी तरह संभव नहीं है। सारांश यह कि—हमें इस उल्लेख की संगति के लिए अन्य सावक एवं पोषक प्रमाण खोजने होंगे। मैंने इसी दिशा में यह प्रयत्न किया है।

अन्य हरिभद्र, सिद्धसेनगणि आदि द्वारा अकलंक का उल्लेख, हरिवंशपुराण में

१ हरिवंशपुराण के “इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षिणः। देवस्य देवसंघस्य न चन्दन्ते गिरः कथम् ॥” (१-३१) इस श्लोक में पं० कैलाशचन्द्रजी देवनन्दि का स्मरण मानते हैं। उसके लिये ‘देवसंघस्य’ की जगह ‘देववन्द्यस्य’ पाठ शुद्ध वताते हैं (न्यायकुमुद प्रस्ता०)। पर इस श्लोक का ‘इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षिणः’ विशेषण ध्यान देने योग्य है। इसका तात्पर्य यह है कि—वे देव इन्द्र चन्द्र अर्क जैनेन्द्र व्याडि आदि व्याकरणों के इक्षिन्-द्रष्टा—विशिष्ट अभ्यासी थे। देवनन्दि इन्द्र आदि व्याकरणों के अभ्यासी तो हो सकते हैं पर जैनेन्द्र व्याकरण के तो वे रचयिता थे। यदि देवनन्दि का स्मरण हरिवंशकार को करना था तो वे ‘जैनेन्द्रकर्तुः या जैनेन्द्रप्रणेतुः’ ऐसा कोई पद रखते। एक ही पद में जैनेन्द्र के कर्त्ता तथा इन्द्रादि व्याकरणों के अभ्यासी देवनन्दि का उल्लेख व्याकरणशास्त्र के नियमों से विरुद्ध है। देवनन्दि का स्मरण मानने के लिए ‘देवसंघस्य’ की जगह ‘देववन्द्यस्य’ पाठ रूप कल्पनागौरव का, तथा ‘देवनन्दस्य’ पाठ के अष्ट रूप से देवनन्दि का सकेत मानने रूप विलुप्तकल्पना का भार व्यर्थ ही ढोना पड़ता है। अतः इस श्लोक में शब्दशास्त्रनिष्णात अकलंक का ही स्मरण मानना चाहिए।

अकलंक का उल्लेख, वीरसेन द्वारा राजवार्तिक के अवतरण लिये जाना आदि ऐसे स्वरप्रकृतिक प्रमाण हैं, जिन्हें खींचकर कहीं भी बिठाया जा सकता है। अतः उनकी निराधार खींचतान में मैं अपना तथा पाठकों का समय खर्च नहीं करूँगा।

§ ३. अकलंक के ग्रन्थों की तुलना—

हमें अकलंक के ग्रन्थों के साथ जिन आचार्यों के ग्रन्थों की तुलना करना है उनके पारस्परिक पौर्वापर्य एवं समय के निर्णय की खास आवश्यकता है। अतः तुलना लिखने के पहिले उन खास खास आचार्यों के पौर्वापर्य तथा समय के विषय की आवश्यक सामग्री प्रस्तुत की जाती है। इसमें प्रथम भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, कर्णकगोमि, शान्तरक्षित आदि आचार्यों के समय आदि का विचार होगा फिर इनके साथ अकलंक की तुलना करके अकलंकदेव का समय निर्णय होगा।

भर्तृहरि और कुमारिल—इत्सिंग के उल्लेखानुसार भर्तृहरि उस समय के एक प्रसिद्ध वैयाकरण थे। उस समय इनका वाक्यविषयकचर्चावाला वाक्यपदीय ग्रन्थ प्रसिद्ध था। इत्सिंग ने जब (सन् ६६१) अपना यात्रा वृत्तान्त लिखा तब भर्तृहरि की मृत्यु हुए ४० वर्ष हो चुके थे। अतः भर्तृहरि का समय सन् ६००-६५० तक सुनिश्चित है। भर्तृहरि शब्दाद्वैत दर्शन के प्रस्थापक थे। मीमांसकधुरीण कुमारिल ने भर्तृहरि के वाक्यपदीय से अनेकों श्लोक उद्धृत कर उनकी समालोचना की है। यथा—

“अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याख्यलक्षणम्।

अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु ॥” [वाक्यपदीय २।१२१]

तन्त्रवार्तिक (पृ० २५१-२५३) में यह श्लोक दो जगह उद्धृत होकर आलोचित हुआ है। इसी तरह तन्त्रवार्तिक (पृ० २०६-१०) में कुमारिल ने वाक्यपदीय के “तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते” (वाक्यप० १।७) अंश को उद्धृत कर उसका खंडन किया है। मीमांसाश्लोकवार्तिक (वाक्याधिकरण श्लोक ५१ से) में वाक्यपदीय (२।१-२) में आए हुए दशविध वाक्यलक्षणों का समालोचन किया है। भर्तृहरि के स्फोटवाद की भी आलोचना कुमारिल ने (मी० श्लो० स्फोटवाद) बड़ी प्रखरता से की है। डॉ० के. वी. पाठक ने यह निर्धारित किया है कि—कुमारिल इसवी सन् की ८ वीं शताब्दी के पूर्वभाग में हुए हैं। डॉ० पाठक के द्वारा अन्विष्ट प्रमाणों से इतना तो स्पष्ट है कि कुमारिल भर्तृहरि (सन् ६५०) के बाद हुए हैं। अतः कम से कम उनका कार्यकाल सन् ६५० के बाद तो होगा; पर वे इतने बाद तो कभी नहीं हो सकते। मेरे ‘धर्मकीर्ति और कुमारिल’ के विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि—कुमारिल भर्तृहरि के बाद होकर भी धर्मकीर्ति के कुछ पूर्व हुए हैं; क्योंकि धर्मकीर्ति ने कुमारिल के विचारों का खंडन किया है। डॉ० पाठक कुमारिल और धर्मकीर्ति के पारस्परिक पौर्वापर्य के विषय में अभ्रान्त नहीं थे। यही कारण है कि—वे कुमारिल का समय ई०

८ वीं का पूर्वभाग मानते थे । धर्मकीर्ति का समय आगे सन् ६२० से ६६० तक निश्चित किया जायगा । अतः कुमारिल का समय सन् ६०० से ६८० तक मानना ही समुचित होगा ।

भर्तृहरि और धर्मकीर्ति—कुमारिल की तरह धर्मकीर्ति ने भी भर्तृहरि के स्फोटवाद तथा उन के अन्य विचारों का खंडन अपने प्रमाणवार्तिक तथा उसकी स्वोपज्ञवृत्ति में किया है । यथा—

१—धर्मकीर्ति स्फोटवाद का खंडन प्रमाणवार्तिक (३।२५।१ से) में करते हैं ।

२—भर्तृहरि की—“नादेनाहितबीजायामन्येन ध्वनिना सह ।

आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवभासते ॥” [वाक्यप० १।८५]

इस कारिका में वर्णित वाक्यार्थबोधप्रकार का खंडन धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति (३।२५३) में इस प्रकार उल्लेख कर के करते हैं—

“समस्तवर्णसंस्कारवत्या अन्यया बुद्ध्या वाक्यावधारणमित्यपि मिथ्या ।”

अतः धर्मकीर्ति का समय भर्तृहरि के अनन्तर मानने में कोई सन्देह नहीं है ।

कुमारिल और धर्मकीर्ति—डॉ० विद्याभूषण आदि को विश्वास था कि कुमारिल ने धर्मकीर्ति की आलोचना की है । मद्रास युनि० से प्रकाशित बृहती के द्वितीय भाग की प्रस्तावना में प्रो० रामनाथ शास्त्री ने उक्त मन्तव्य की पुष्टि के लिये मीमांसाश्लोकवार्तिक के ४ स्थल (मी० श्लो० पृ० ६६ श्लो० ७६, पृ० ८३ श्लो० १३१, पृ० १४४ श्लो० ३६, पृ० २५० श्लो० १३१) भी खोज निकाले हैं । मालूम होता है कि—इन स्थलों की पार्थसारथिमिश्र विरचित न्यायरत्नाकर व्याख्या में जो उत्थान वाक्य दिए हैं, उन्हीं के आधार से ही प्रो० रामनाथ जी ने उन श्लोकों को धर्मकीर्ति के मतखंडनपरक समझ लिया है । यहाँ पार्थसारथिमिश्र की तरह, जो कुमारिल से ४-५ सौ वर्ष बाद हुए हैं, शास्त्रीजी भी भ्रम में पड़ गए हैं । क्योंकि उन श्लोकों में कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जिसके बल पर उन श्लोकों का अर्थ साक्षात् धर्मकीर्ति के मतखंडनपरक रूप में लगाया जा सके । ४-५ सौ वर्ष बाद हुए टीकाकार को, जिसकी दृष्टि ऐतिहासिक की अपेक्षा तात्त्विक अधिक है ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है । इसी तरह डॉ० पाठक का यह लिखना भी अभ्रान्त नहीं है कि—“मीमांसा श्लोकवार्तिक के शून्यवाद प्रकरण में कुमारिल ने बौद्धमत के ‘बुद्ध्यात्मा ग्राह्य ग्राहक रूप से भिन्न दिखाई देता है’ इस विचार का खंडन किया है । श्लोकवार्तिक की व्याख्या में इस स्थान पर सुचरितमिश्र धर्मकीर्ति का निम्न श्लोक, जिसको शंकराचार्य और सुरेश्वराचार्य ने भी उद्धृत किया है, बारम्बार उद्धृत करते हैं—

“अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥” [प्रमाणवा० २।३५४]

इससे यह मालूम होता है कि कुमारिल धर्मकीर्ति के बाद हुए हैं ।”

डॉ० पाठक जिन श्लोकों की व्याख्या में सुचरितमिश्र द्वारा ‘अविभागोऽपि’ श्लोक उद्धृत किए जाने का जिक्र करते हैं, वे श्लोक ये हैं—

“मत्पक्षे यद्यपि स्वच्छो ज्ञानात्मा परमार्थतः । तथाप्यनादौ संसारे पूर्वज्ञानप्रसूतिभिः ॥

चित्राभिश्चित्रहेतुत्वाद्वासनाभिरुपप्लवात् । स्वानुरूपेण नीलादिग्राह्यग्राहकदूषितम् ॥

प्रविभक्तमित्रोत्पन्नं नान्यमर्थमपेक्षते ।” [मी० श्लो० शून्यवाद श्लो० १५-१७]

इन श्लोकों की व्याख्या में न केवल सुचरितमिश्र ने ही किन्तु पार्थसारथिमिश्र ने भी ‘अविभागोऽपि’ श्लोक को उद्धृत कर बौद्धमत का पूर्वपक्ष स्थापित किया है । पर इन श्लोकों की शब्दावली का ध्यान से पर्यवेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि—ग्रन्थकार इन श्लोकों को सीधे तौर से पूर्वपक्ष के किसी ग्रन्थ से उठाकर उद्धृत कर रहा है । इनकी शब्दावली ‘अविभागोऽपि’ श्लोक की शब्दरचना से करीब करीब बिल्कुल भिन्न है । यद्यपि आर्थिक दृष्टि से ‘अविभागोऽपि’ श्लोक की संगति ‘मत्पक्षे’ आदि श्लोकों से ठीक बैठ सकती है; पर यह विषय स्वयं धर्मकीर्ति द्वारा मूलतः नहीं कहा गया है । धर्मकीर्ति के पूर्वज आचार्य वसुवन्धु आदि ने विंशतिकाविज्ञप्तिमात्रता और त्रिशतिकाविज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि आदि ग्रन्थों में बड़े विस्तार से उक्त विषय का स्थापन किया है । दिग्नाग के जिस प्रमाणसमुच्चय पर धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक वृत्ति रची है उस में तो इसका विवेचन होगा ही । स्थिरमति आदि विज्ञानवादियों ने वसुवन्धु की त्रिशतिकाविज्ञप्तिमात्रतासिद्धि पर भाष्य आदि रचके उक्त मंत को पूरी पूरी तौर से पल्लवित किया है । धर्मकीर्ति तो उक्त मत के अनुवादक हैं । अतः सुचरितमिश्र या पार्थसारथिमिश्र के द्वारा उद्धृत श्लोक केवल पर कुमारिल को धर्मकीर्ति का समालोचक नहीं कहा जा सकता ।

अब मैं कुछ ऐसे स्थल उद्धृत करता हूँ जिनसे यह निर्धारित किया जा सकेगा कि धर्मकीर्ति ही कुमारिल का खण्डन करते हैं—

१—कुमारिल ने शावरभाष्यके ‘धर्मे चोदनैव प्रमाणम्’ इस वाक्य को ध्यान में रखकर अपने द्वारा किए गए सर्वज्ञत्वनिराकरण का एक ही तात्पर्य बताया है कि—

“धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते । सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते ॥”

अर्थात्—सर्वज्ञत्व के निराकरण का तात्पर्य है धर्मज्ञत्व का निषेध । धर्म के सिवाय अन्य सब पदार्थों के जाननेवाले का निषेध यहाँ प्रस्तुत नहीं है ।

धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (१-३१-३५) में ठीक इससे विपरीत सुगत की धर्मज्ञता

ही पूरे जोर से सिद्ध करते हैं, उन्हें सुगत की सर्वज्ञता अनुयोगी मालूम होती है। वे लिखते हैं कि—

“हेयोपादेयतत्त्वस्य साम्युपायस्य वेदकः । यः प्रमाणमसाविष्टः न तु सर्वस्य वेदकः ॥
दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु । प्रमाणं दूरदर्शी चेदेत गृध्रानुपास्महे ॥”

[प्रमाणवा० १।३४-३५]

अर्थात्—जो हेय-दुःख, उपादेय-निरोध, हेयोपाय-समुदय, और उपादेयोपाय-मार्ग इन चार आर्यसत्यो का जानता है वही प्रमाण है। उसे समस्त पदार्थों का जाननेवाला होना आवश्यक नहीं है। वह दूर-अतीन्द्रिय पदार्थों को जाने या न जाने, उसे इष्टतत्त्व का परिज्ञान होना चाहिए। यदि दूरवर्ती पदार्थों का द्रष्टा ही उपास्य होता हो तब तो हम को दूरद्रष्टा गृध्रो की उपासना पहिले करनी चाहिए।

२—कुमारिल ने शब्द को नित्यत्व सिद्ध करने में जिन क्रमबद्ध दलीलों का प्रयोग किया है धर्मकीर्ति उनका प्रमाणवार्तिक में (३।२६५ से आगे) खण्डन करते हैं।

३—कुमारिल के ‘वर्णानुपूर्वी वाक्यम्’ इस वाक्यलक्षण का धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (३।२५६) में ‘वर्णानुपूर्वी वाक्यं चेत्’ उल्लेख करके उसका निराकरण करते हैं।

४—कुमारिल के “नित्यस्य नित्य एवार्थः कृतकस्याप्रमाणता” [मी० श्लो० वेदनि० श्लो० १४] इस वाक्य का धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक में उल्लेख करके उसकी मखौल उड़ाते हैं—

“मिथ्यात्वं कृतकेष्वेव दृष्टमित्यकृतकं वचः ।

सत्यार्थं व्यतिरेकेण विरोधिव्यापनाद् यदि ॥” [प्रमाणवा० ३।२८६]

५—कुमारिल के “अतोऽत्र पुष्पिमित्त्वादुपपन्ना मृषार्थता” [मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० १६६] इस श्लोक का खण्डन धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति (३।२९१) में किया है—“ततो यत्किञ्चिन्मिथ्यार्थं तत्सर्वं पौरुषेयमित्यनिश्चयात् ।”

६—कुमारिल ने “आप्तवादाविसंवादसामान्यादनुमानता” दिग्नाग के इस वचन की मीमांसाश्लोकवार्तिक में (पृ० ४१८ और ६१३) में समालोचना की है। इसका उत्तर धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (३।२१६) में देते हैं।

७—कुमारिल श्लोकवार्तिक (पृ० १६८) में निर्विकल्पकप्रत्यक्ष का निम्नरूप से वर्णन करते हैं—

“अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् । बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥”

धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक (२।१४१) में इसका “केचिदिन्द्रियजत्वादेर्बालधीवद-कल्पनाम् । आहुर्वाला……” उल्लेख करके खण्डन किया है।

८—कुमारिल वेद के अपौरुषेयत्वसमर्थन में वेदाध्ययनवाच्यत्व हेतु का भी प्रयोग करते हैं—

“वेदस्याध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम् ।

वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥” [मी० श्लो० पृ० ६४६]

धर्मकीर्ति अपौरुषेयत्वसाधक अन्य हेतुओं के साथ ही साथ कुमारिल के इस हेतु का भी उल्लेख करके खंडन करते हैं—

“यथाऽयमन्यतोऽश्रुत्वा नेमं वर्णपदक्रमम् ।

वक्तुं समर्थः पुरुषः तथान्योऽपीति कश्चन ॥” [प्रमाणवा० ३।२४०]

प्रमाणवार्तिकस्वोपज्ञवृत्ति के टीकाकार कर्णकगोमि इस श्लोक की उत्थानिका इस प्रकार देते हैं—“तदेवं कर्तुरस्मरणादिति हेतुं निराकृत्य अन्यदपि साधनम् वेदस्याध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम्...इति दूषयितुमुपन्यस्यति यथेत्यादि ।” इससे स्पष्ट है कि—इस श्लोक में धर्मकीर्ति कुमारिल के वेदध्ययनवाच्यत्व हेतु का ही खंडन कर रहे हैं ।

इन उद्धरणों से यह बात असन्दिग्धरूप से प्रमाणित हो जाती है कि—धर्मकीर्ति ने ही कुमारिल का खंडन किया है न कि कुमारिल ने धर्मकीर्ति का । अतः भर्तृहरि का समय सन् ६०० से ६५० तक, कुमारिल का समय सन् ६०० से ६८० तक, तथा धर्मकीर्ति का समय सन् ६२० से ६६० तक मानना समुचित होगा । धर्मकीर्ति के इस समय के समर्थन में कुछ और विचार भी प्रस्तुत किए जाते हैं—

धर्मकीर्ति का समय—डॉ० विद्याभूषण आदि धर्मकीर्ति का समय सन् ६३५ से ६५० तक मानते हैं । यह प्रसिद्धि है कि—धर्मकीर्ति नालन्दा विश्वविद्यालय के अध्यक्ष धर्मपाल के शिष्य थे । चीनी यात्री हुएनसांग जब सन् ६३५ में नालन्दा पहुँचा तब धर्मपाल अध्यक्षपद से निवृत्त हो चुके थे और उनका वयोवृद्ध शिष्य शीलभद्र अध्यक्षपद पर था । हुएनसांग ने इन्हीं से योगशास्त्र का अध्ययन किया था । हुएनसांग ने अपना यात्रा विवरण सन् ६४५ ई० के बाद लिखा है । उसने अपने यात्रावृत्तान्त में नालन्दा के प्रसिद्ध विद्वानों की जो नामावली दी है, उसमें ये नाम हैं—धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानमित्र, शीघ्रबुद्ध और शीलभद्र । धर्मकीर्तिका नाम न देने के विषय में साधारणतया यही विचार है, और वह युक्तिसंगत भी है कि—धर्मकीर्ति उस समय प्रारम्भिक विद्यार्थी होंगे ।

भिक्षु राहुलसांकृत्यायन जी का विचार है कि—‘धर्मकीर्तिकी उस समय मृत्यु हो चुकी होगी । चूंकि हुएनसांग को तर्कशास्त्र से प्रेम नहीं था और यतः वह समस्त विद्वानों के नाम देने को बाध्य भी नहीं था, इसी लिए उसने प्रसिद्ध तार्किक धर्मकीर्ति का नाम नहीं लिया ।’ राहुलजी का यह तर्क उचित नहीं मालूम होता; क्योंकि धर्मकीर्ति जैसे युगप्रधानतार्किक का नाम हुएनसांग को उसी तरह लेना चाहिए था जैसे कि उसने

पूर्वकालीन नागार्जुन या वसुवन्धु आदि का लिया है। तर्कशास्त्र से प्रेम न होने पर भी गुणमति स्थिरमति जैसे विज्ञानवादी तार्किकों का नाम जब हुएनसांग लेता है तब धर्मकीर्ति ने तो बौद्धदर्शन के विस्तार में उनसे कहीं अधिक एवं ठोस प्रयत्न किया है। इसलिए धर्मकीर्ति का नाम लिया जाना न्यायप्राप्त ही नहीं था, किन्तु हुएनसांग की सहज गुणानु-रागिता का द्योतक भी था। यह ठीक है कि—हुएनसांग सबके नाम लेने को बाध्य नहीं था, पर धर्मकीर्ति ऐसा साधारण व्यक्ति नहीं था जिसकी ऐसी उपेक्षा अनजान में भी की जाती। फिर यदि धर्मकीर्ति का कार्यकाल गुणमति स्थिरमति आदि से पहिले ही समाप्त हुआ होता तो इनके ग्रन्थों पर धर्मकीर्ति की विशालग्रन्थराशि का कुछ तो असर मिलना चाहिए था। जो उनके ग्रन्थों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। हुएनसांग ने एक जिनमित्र नामके आचार्य का भी उल्लेख किया है। इत्सिंग के “धर्मकीर्ति ने ‘जिन’ के पश्चात् हेतुविद्या को और सुधारा” इस उल्लेख के अनुसार तो यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि धर्मकीर्ति का कार्यकाल ‘जिन’ के पश्चात् था; क्योंकि हुएनसांग के ‘जिनमित्र’ और इत्सिंग के ‘जिन’ एक ही व्यक्ति मालूम होते हैं। अतः यही उचित मालूम होता है कि—धर्मकीर्ति उस समय युवा थे जब हुएनसांग ने अपना यात्राविवरण लिखा।

दूसरा चीनी यात्री इत्सिंग था। इसने सन् ६७१ से ६९५ तक भारतवर्ष की यात्रा की। यह सन् ६७५ से ६८५ तक दस वर्ष नालन्दा विश्वविद्यालय में रहा। इसने अपना यात्रावृत्तान्त सन् ६९१-९२ में लिखा है। इत्सिंग ने नालन्दा विश्वविद्यालय की शिक्षाप्रणाली आदि का अच्छा वर्णन किया है। वह विद्यालय के लब्धप्रतिष्ठ स्नातकों की चर्चा के सिलसिले में लिखता है कि—“प्रत्येक पीढ़ी में ऐसे मनुष्यों में से केवल एक या दो ही प्रकट हुआ करते हैं जिनकी उपमा चोंद या सूर्य से होती है और उन्हें नाग और हाथी की तरह समझा जाता है। पहिले समय में नागार्जुनदेव, अश्वघोष, मध्यकाल में वसुवन्धु, असङ्ग, संघभद्र और भवविवेक, अन्तिम समय में जिन, धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शीलभद्र, सिंहचन्द्र, स्थिरमति, गुणमति, प्रज्ञागुप्त, गुणप्रभ, जिनप्रभ ऐसे मनुष्य थे।” (इत्सिंग की भारतयात्रा पृ० २७७) इत्सिंग (पृ० २७८) फिर लिखते हैं कि—“धर्मकीर्ति ने ‘जिन’ के पश्चात् हेतुविद्या को और सुधारा। प्रज्ञागुप्त ने (मतिपाल नहीं) सभी विपक्षी मतों का खंडन करके सच्चे धर्म का प्रतिपादन किया।” इन उल्लेखों से मालूम होता है कि—सन् ६९१ तक में धर्मकीर्ति की प्रसिद्धि ग्रन्थकार के रूप में हो रही थी। इत्सिंग ने धर्मकीर्ति के द्वारा हेतुविद्या के सुधारने का जो वर्णन किया है वह सम्भवतः धर्मकीर्ति के हेतुबिन्दु ग्रन्थ को लक्ष्य में रखकर किया गया है, जो हेतुविद्या

१ दिनागके प्रमाणसमुच्चय पर जिनेन्द्रविरचित टीका उपलब्ध है। संभव है ये जिनेन्द्र ही हुएनसांग के जिनमित्र हों।

का एक प्रधान ग्रन्थ है। वह इतना परिष्कृत एवं हेतुविद्या पर सर्वाङ्गीण प्रकाश डालनेवाला है कि केवल उसीके अध्ययन से हेतुविद्या का पर्याप्त ज्ञान हो सकता है।

इत्सिंग के द्वारा धर्मपाल, गुणमति, स्थिरमति आदि के साथ ही साथ धर्मकीर्ति तथा धर्मकीर्ति के टीकाकार शिष्य प्रज्ञागुप्त का नाम लिए जाने से यह मालूम होता है कि—उसका उल्लेख किसी खास समय के लिए नहीं है किन्तु एक ८० वर्ष जैसे लम्बे समय वाले युग के लिए है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि—धर्मकीर्ति इत्सिंग के यात्राविवरण लिखने तक जीवित थे। यदि राहुलजी की कल्पनानुसार धर्मकीर्ति की मृत्यु हो गई होती तो इत्सिंग जिस तरह भर्तृहरि को धर्मपाल का समकालीन लिखकर उनकी मृत्यु के विषय में भी लिखता है कि—‘उसे मरे हुए अभी ४० वर्ष हो गए’ उसी तरह अपने प्रसिद्ध ग्रन्थकार धर्मकीर्ति की मृत्यु पर भी आँसू बहाए बिना न रहता।

यद्यपि इत्सिंग धर्मकीर्ति को हेतुविद्या के सुधारक रूप से लिखता है; परन्तु वह हेतुविद्या में पाण्डित्य ग्राम करने के लिये पठनीय शास्त्रों की सूची में हेतुद्वारशास्त्र, हेत्वाभासद्वार, न्यायद्वार, प्रज्ञप्तिहेतु, एकीकृत अनुमानों पर शास्त्र, आदि ग्रन्थों का ही नाम लेता है, धर्मकीर्ति के किसी भी प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम नहीं लेता। इसके ये कारण हो सकते हैं—इत्सिंग ने अपना यात्रा विवरण चाइनी भाषा में लिखा है अतः अनुवादकों ने जिन शब्दों का हेतुद्वार न्यायद्वार तथा हेत्वाभासद्वार अनुवाद किया है उनका अर्थ हेतु-विन्दु और न्यायविन्दु भी हो सकता हो। अथवा धर्मकीर्ति को हेतुविद्या के सुधारक रूप में जानकर भी इत्सिंग उनके ग्रन्थों से परिचित न हो। अथवा उस समय धर्मकीर्ति के ग्रन्थों की अपेक्षा अन्य आचार्यों के ग्रन्थ नालन्दा में विशेषरूप से पठन पाठन में आते होंगे।

इस विवेचन से हमारा यह निश्चित विचार है कि—भर्तृहरि (सन् ६०० से ६५०) के साथ ही साथ उसके आलोचक कुमारिल (सन् ६२० से ६८०) की भी आलोचना करने वाले, तथा प्रमाणवार्तिक, न्यायविन्दु, हेतुविन्दु, प्रमाणविनिश्चय, सन्तानान्तरसिद्धि, वादन्याय, सम्बन्ध परीक्षा आदि ६ प्रौढ़, विस्तृत और सटीक प्रकरणों के रचयिता धर्मकीर्ति की समयावधि सन् ६३५—६५० से आगे लम्बानी ही होगी। और वह अवधि सन् ६२० से ६६० तक रखनी समुचित होगी। इससे हुएनसांग के द्वारा धर्मकीर्ति के नाम का उल्लेख न होने का, तथा इत्सिंग द्वारा होनेवाले उल्लेख का वास्तविक अर्थ भी संगत हो जाता है। तथा तिब्बती इतिहासलेखक तारानाथ का धर्मकीर्ति को तिब्बत के राजा खोङ् त्सन् गम् पो का, जिसने सन् ६२६ से ६८६ तक राज्य किया था, समकालीन लिखना भी युक्तियुक्त सिद्ध हो जाता है।

॥ अकलंकदेव ने भर्तृहरि कुमारिल तथा धर्मकीर्ति की समालोचना के साथ ही साथ प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णकगोमि, धर्मोत्तर आदि के विचारों का भी आलोचना किया है। इन सब आचार्यों के ग्रन्थों के साथ अकलंक के ग्रन्थों की आन्तरिक तुलना अकलंक के

समयनिर्णय में खास उपयोगी होगी। इसलिए अकलंक के साथ उक्त आचार्यों की तुलना क्रमशः की जाती है—

भर्तृहरि और अकलंक—भर्तृहरि के स्फोटवाद की आलोचना के सिलसिले में अकलंक देव ने अपने तत्त्वार्थराजवार्तिक (पृ० २३१) में वाक्यपदीय की (१।७६) “इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्योभयस्य वा ।” इस कारिका में वर्णित इन्द्रियसंस्कार, शब्द-संस्कार तथा उभयसंस्कार रूप तीनों पक्षों का खंडन किया है।

राजवार्तिक (पृ० ४०) में वाक्यपदीय की “शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविधैवोपवर्ण्यते” [वाक्यप० २।२३५] यह कारिका उद्धृत की गई है। सिद्धिविनिश्चय (सिद्धिवि० टी० पृ० ५४६ से) के शब्दसिद्धि प्रकरण में भी स्फोटवाद का खंडन है। शब्दाद्वैतवाद का खंडन भी सिद्धिविनिश्चय में (टी० पृ० ४५८ से) किया गया है।

कुमारिल और अकलंक—अकलंकदेव के ग्रन्थों में कुमारिल के मन्तव्यो के आलोचन के साथ ही साथ कुछ शब्दसादृश्य भी पाया जाता है—

१—कुमारिल सर्वज्ञका निराकरण करते हुए लिखते हैं कि—

“प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य च ।

सद्भाववारणे शक्तं को नु तं कल्पयिष्यति ॥” [मी० श्लो० पृ० ८५]

अर्थात्—जब प्रत्यक्षादिप्रमाणो से अवाधित प्रमेयत्वादि हेतु ही सर्वज्ञ का सद्भाव रोक रहे हैं तब कौन उसे सिद्ध करने की कल्पना भी कर सकेगा ?

अकलंकदेव इसका प्रतिबन्दि उत्तर अपनी अष्टशती (अष्टसह० पृ० ५८) में देते हैं कि—“तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्पाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धमर्हति संशयितुं वा” अर्थात्—जब प्रमेयत्व और सत्त्व आदि अनुमेयत्व हेतु का पोषण कर रहे हैं तब कौन चेतन उस सर्वज्ञ का प्रतिषेध या उसके सद्भाव में संशय कर सकता है ?

२ तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित के लेखानुसार कुमारिल ने सर्वज्ञनिराकरण में यह कारिका भी कही है कि—

“दश हस्तान्तरं व्योम्नो यो नामोत्सृज्य गच्छति ।

न योजनशतं गन्तुं शक्तोऽभ्याशतैरपि ॥” [तत्त्वस० पृ० ८२६]

अर्थात्—यह संभव है कि कोई प्रयत्नशील पुरुष अभ्यास करने पर अधिक से अधिक १० हाथ ऊँचा कूद जाय; पर सैकड़ों वर्षों तक कितना भी अभ्यास क्यों न करे वह १०० योजन ऊँचा कभी भी नहीं कूद सकता। इसी तरह कितना भी अभ्यास क्यों न किया जाय ज्ञान का प्रकर्ष अतीन्द्रियार्थ के जानने में नहीं हो सकता।

अकलंकदेव सिद्धिविनिश्चय (टीका पृ० ४२५ B.) में इसका उपहास करते हुए लिखते हैं कि—

“दश हस्तान्तरं व्योम्नो नोत्सवेरन् भवादृशः । योजनानां सहस्रं किं वोत्सवेदधुना नरैः ॥”

अर्थात्—जब शारीरिक असामर्थ्य के कारण आप दस हाथ भी ऊँचा नहीं कूद सकते तब दूसरों से हजार योजन कूदने की आशा करना व्यर्थ है। क्योंकि अमुक मर्यादा से ऊँचा कूदने में शारीरिकगुरुत्व बाधक होता है।

३—कुमारिल ने जैनसम्मत केवलज्ञान की उत्पत्ति को आगमाश्रित मानकर यह अन्योन्याश्रय दोष दिया है कि—‘केवलज्ञान हुए विना आगम की सिद्धि नहीं हो सकती तथा आगम सिद्ध हुए विना केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती’—

“एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः । सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ॥

“नर्ते तदागमात्सिद्धयेत् न च तेनागमो विना ।” [मी० श्लो० पृ० ८७]

अकलंकदेव न्यायविनिश्चय (का० ४१२-१३) में मीमांसाश्लोकवार्तिक के शब्दों को ही उद्धृत कर इसका उत्तर यह देते हैं कि—सर्वज्ञ और आगम की परम्परा अनादि है। इस पुरुष को केवलज्ञान पूर्व आगम से हुआ तथा उस आगम की उत्पत्ति तत्पूर्व सर्वज्ञ से। यथा—

“एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम् । नर्ते तदागमात्सिद्धयेत् न च तेन विनागमः ॥

सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः । प्रभवः पौरुषेयोस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥”
शाब्दिक तुलना—

“पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ।” [मी० श्लो० पृ० ६१५]

“प्रत्यक्षप्रतिसंवेद्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ।” [न्यायवि० का० ११७]

“तदयं भावः स्वभावेषु कुण्डलादिषु सर्पवत् ।” [प्रमाणसं० पृ० ११२]

धर्मकीर्ति और अकलंक—अकलंक ने धर्मकीर्ति की केवल मार्मिक समालोचना ही नहीं की है, किन्तु परपक्ष के खंडन में उनका शाब्दिक और आर्थिक अनुसरण भी किया है। अकलंक के साहित्य का बहुभाग बौद्धों के खंडन से भरा हुआ है। उसमें जहां धर्मकीर्ति के पूर्वज दिग्नाग आदि विद्वानों की समालोचना है वहां धर्मकीर्ति के उत्तरकालीन प्रज्ञाकर तथा कर्णकगोमि आदि के विचारों का भी निरसन किया गया है। अकलंक और धर्मकीर्ति की पारस्परिक तुलना कुछ उद्धरणों द्वारा स्पष्ट रूप से नीचे की जाती है—

१—धर्मकीर्ति के सन्तानान्तरसिद्धि प्रकरण का पहिला श्लोक यह है—

“बुद्धिपूर्वा क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात् । मन्यते बुद्धिसद्भावं सा न येषु न तेषु धीः ॥”

अकलंकदेव ने राजवार्तिक (पृ० १६) में इसे ‘तदुक्तम्’ लिख कर उद्धृत किया है, तथा सिद्धिविनिश्चय (द्वितीय परि०) में तो ‘ज्ञायते बुद्धिरन्यत्र अभ्रान्तैः पुरुषैः क्वचित्’ इस हेरफेर के साथ मूल में ही शामिल करके इसकी समालोचना की है।

२—हेतुविन्दु प्रथमपरिच्छेद का “अर्थक्रियार्थी हि सर्वः प्रेक्षावान् प्रमाणमप्रमाणं वाऽन्वेषते” यह वाक्य लघीयल्लय की स्वोपज्ञविवृति (पृ० ३) में मूलरूप से पाया जाता है। हेतुविन्दु की—

“पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः । अविनाभावनियमाद् हेत्वाभासास्ततोऽपरे ॥”

इस आद्यकारिका की आलोचना सिद्धिविनिश्चय की हेतुलक्षणसिद्धि में की गई है ।

३-प्रमाणविनिश्चय के “सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्विद्योः” वाक्य की अष्टशती (अष्टसह० पृ० २४२) में उद्धरण देकर आलोचना है ।

४-वादन्याय की—“असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावने द्वयोः ।

निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते ॥”

इस आद्यकारिका की समालोचना न्यायविनिश्चय (का० ३७८) में, सिद्धिविनिश्चय के जल्पसिद्धि प्रकरण में, तथा अष्टशती (अष्टसह० पृ० ८१) में हुई है ।

५-प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति का “तस्मादेकस्य भावस्य यावन्ति पररूपाणि तावत्स्यस्तदपेक्षाः तदसम्भविकार्यकारणाः तस्य भेदात् यावन्त्यश्च व्यावृत्तयः तावत्यः श्रुतयः ।” यह अंश अष्टशती (अष्टसह पृ० १३८) के “ततो यावन्ति पररूपाणि तावन्त्येव प्रत्यात्मं स्वभावान्तराणि” इस अंश से शब्द तथा अर्थदृष्ट्या तुलनीय है ।

६-प्रमाणवार्तिक की आलोचना तथा तुलना के लिए उपयोगी अवतरण न्याय-विनिश्चयादि ग्रन्थों में प्रचुर रूप से पाए जाते हैं । ये सब अवतरण प्रस्तुतग्रन्थत्रय के टिप्पणों में संगृहीत किए हैं । देखो—लघी० टि० पृ० १३१-१३३, १३६-१३६, १४१, १४२, १४६, १४७, १५२ तथा न्यायविनिश्चय टि० पृ० १५५-१५७, १५६-१७० में आए हुए प्रमाणवार्तिक के अवतरण ।

प्रज्ञाकरगुप्त और अकलंक—धर्मकीर्ति के टीकाकारों में प्रज्ञाकरगुप्त एक मर्मज्ञ टीकाकार हैं । ये केवल टीकाकार ही नहीं हैं किन्तु कुछ अपने स्वतन्त्र विचार भी रखते हैं । इनका समय अभी तक पूर्ण रूप से निश्चित नहीं है । डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण उन्हें १० वीं सदी का विद्वान् बताते हैं । भिज्जु राहुल सांकृत्यायनजी ने टिवेटियन गुरुपरम्परा के अनुसार इनका समय सन् ७०० दिया है । इनका नामोल्लेख अनन्त-वीर्य सिद्धिविनिश्चयटीका में, विद्यानन्द अष्टसहस्री में, तथा प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्त्तण्ड में करते हैं । जयन्तभट्ट ने (न्यायमं० पृ० ७४) जिनका समय ईस्वी ८ वीं का मध्य भाग है, इनके वार्तिकालंकार के “एकमेवेदं संविद्रूपं हर्षविपादाद्यनेकाकारविवर्त्त पश्यामः तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्” इस वाक्य का खंडन किया है । अतः इनका समय ८ वीं सदी का प्रारम्भिक भाग तो होना ही चाहिये । इत्सिंग ने अपने यात्रा विवरण में एक प्रज्ञागुप्त नाम के विद्वान् का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—“प्रज्ञागुप्त (मतिपाल नहीं) ने सभी विपक्षी मतों का खंडन करके सच्चे धर्म का प्रतिपादन किया ।” हमारे विचार से इत्सिंग के द्वारा प्रशंसित प्रज्ञागुप्त दूसरे व्यक्ति नहीं हैं । वे वार्तिकालंकार के रचयिता प्रज्ञाकरगुप्त ही हैं; क्योंकि इनके वार्तिकालंकार में विपक्ष खंडन का भाग अधिक है ।

इस तरह सन् ६९१-६९२ में लिखे गए यात्रा विवरण में प्रज्ञाकरगुप्त का नाम

होने से ये भी धर्मकीर्ति के समकालीन ही हैं । हाँ, धर्मकीर्ति वृद्ध तथा प्रज्ञाकर युवा रहे होंगे । अतः इनका समय भी करीब ६७० से ७२५ तक मानना ठीक है । यह समय भिज्जु राहुलजी द्वारा सूचित टिवेटियन गुरुपरम्परा के अनुसार भी ठीक बैठता है । प्रज्ञाकरगुप्त के वार्तिकालंकार की भिज्जु राहुलजी द्वारा की गई प्रेसकापी पलटने से मालूम हुआ कि प्रज्ञाकर ने मात्र प्रमाणवार्तिक की टीका ही नहीं की है; किन्तु कुछ अपने स्वतन्त्र विचार भी प्रकट किए हैं । जैसे—

१—सुप्त अवस्था में ज्ञान की सत्ता नहीं मानकर जाग्रत् अवस्था के ज्ञान को प्रबोध अवस्थाकालीन ज्ञान में कारण मानना तथा भाविमरण को अरिष्ट—अपशकुन में कारण मानना । तात्पर्य यह कि—अतीतकारणवाद और भाविकारणवाद दोनों ही प्रज्ञाकर के द्वारा आविष्कृत हैं । वे वार्तिकालंकार में लिखते हैं कि—

“अविद्यमानस्य करणमिति कोऽर्थः ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता, तदेतदानन्तर्य-मुभयापेक्षयापि समानम् । यथैव भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयापि । नचानन्तर्यमेव तत्त्वे निबन्धनम्, व्यवहितस्यापि कारणत्वात् ।

गाढसुप्तस्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात् । जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम् ॥ तस्मादन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं निबन्धनम् । कार्यकारणभावस्य तद्भाविन्यपि विद्यते ॥ भावेन च भावो भाविनापि लक्ष्यत एव । मृत्युप्रयुक्तमरिष्टमिति लोके व्यवहारः, यदि मृत्युर्न भविष्यन्न भवेदेवम्भूतमरिष्टमिति ।” [वार्तिकालंकार पृ० १७६]

प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ११० A.) का यह उल्लेख—“ननु प्रज्ञाकराभिप्रायेण भाविरोहिण्युदयकार्यतया कृतिकोदयस्य गमकत्वात् कथं कार्यहेतौ नास्यान्तर्भावः”—इस बात का सवल प्रमाण है कि—प्रज्ञाकरगुप्त भाविकारणवादी थे । इसी तरह व्यवहितकारणवाद के सिलसिले में अनन्तवीर्य का यह लिखना कि “इति प्रज्ञाकरगुप्तस्यैव मतं न धर्मोत्तरादीनामिति मन्यते ।” [सिद्धिवि० टी० पृ० १६१ A.] प्रज्ञाकर के व्यवहितकारणवादी होने का खासा प्रमाण है । प्रज्ञाकर के इस मत को समकालीन धर्मोत्तर आदि तथा उत्तरकालीन शान्तरक्षित आदि नहीं मानते थे ।

२—स्वप्नान्तिकशरीर—प्रज्ञाकर स्वप्न में स्थूल शरीर के अतिरिक्त एक सूक्ष्म शरीर मानता है । स्वप्न में जो शरीर का दौड़ना, त्रास, भूख, प्यास, मेरुपर्वतादि पर गमन आदि देखे जाते हैं वे सब क्रियाएँ, मौजूदा स्थूलकाय के अतिरिक्त जो सूक्ष्मशरीर बनता है, उसीमें होती हैं । इस सूक्ष्मशरीर को वह स्वप्नान्तिकशरीर शब्द से कहता है । यथा—“यथा स्वप्नान्तिकः कायः त्रासलंघनधावनैः । जाग्रदेहविकारस्य तथा जन्मान्तरेष्वपि ॥”

“स्वप्नान्तिकशरीरसञ्चारदर्शनात्” [वार्तिकालंकार पृ० १४८, १८४]

अनन्तवीर्याचार्य के सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० १३८ B.) में उल्लिखित “प्रज्ञाकरस्तु स्वप्नान्तिकशरीरवादी……” वाक्य से स्पष्ट है कि यह मत भी प्रज्ञाकरगुप्त का था ।

३—धर्मकीर्ति ने सुगत की सर्वज्ञता के समर्थन में अपनी शक्ति न ~~लिगाकर~~ धर्मज्ञत्व का समर्थन ही किया है। पर प्रज्ञाकर धर्मज्ञत्व के साथ ही साथ सर्वज्ञत्व का भी समर्थन करते हैं। सर्वज्ञत्व के समर्थन में वे 'सत्यस्वप्नज्ञान' का दृष्टान्त भी देते हैं। यथा—

“इहापि सत्यस्वप्नदर्शिनोऽतीतादिकं संविदन्येव” [वार्तिकालंकार पृ० ३६६]

४—पीतशंखादिविज्ञानों के द्वारा अर्थक्रिया नहीं होती, अतः वे प्रमाण नहीं हैं, पर संस्थानमात्र अंश से होने वाली अर्थक्रिया तो उनसे भी हो सकती है, अतः उस अंश में उन्हें अनुमानरूप से प्रमाण मानना चाहिए, तथा अन्य अंश में संशयरूप। इस तरह इस एक ज्ञान में आंशिक प्रमाणाता तथा आंशिक अप्रमाणाता है। यथा—

“पीतशंखादिविज्ञानं तु न प्रमाणमेव तथार्थक्रियाव्याप्तेरभावात्। संस्थानमात्रार्थ-क्रियाप्रसिद्धावन्यदेव ज्ञानं प्रमाणमनुमानम्; तथाहि—

‘प्रतिभास एवम्भूतो यः स न संस्थानवर्जितः। एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा च तत् ॥’ ततोऽनुमानं संस्थाने, संशयः परत्रेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाणं च, अनेन मणिप्रभायां मणिज्ञानं व्याख्यातम्।” [वार्तिकालंकार पृ० ६]

अकलंकदेव ने प्रज्ञाकरगुप्त के उक्त सभी सिद्धान्तों का खंडन किया है। यथा—

१—अकलंकदेव ने सिद्धिविनिश्चय में जीव का स्वरूप बताते हुए ‘अभिन्नः संविदात्माथः स्वापप्रबोधादौ’ विशेषण दिया है। इसका तात्पर्य है कि—स्वाप और प्रबोध तथा मरण और जन्म आदि में जीव अभिन्न रहता है, उसकी सन्तान विच्छिन्न नहीं होती। इसीका व्याख्यान करते हुए उन्होंने लिखा है कि—‘तदभावे मिद्धादेरनुपपत्तेः’ यदि सुप्तादि अवस्थाओं में ज्ञान का अभाव माना जायगा तो मिद्ध-अतिनिद्रा मूर्च्छा आदि नहीं बन सकेगी; क्योंकि सर्वथा ज्ञान का अभाव मानने से तो मृत्यु ही हो जायगी। मूर्च्छा और अतिनिद्रा व्यपदेश तो ज्ञानका सद्भाव मानने पर ही हो सकता है। हाँ, उन अवस्थाओं में ज्ञान तिरोहित रहता है। अनन्तवीर्याचार्य ‘तदभावे मिद्धादेरनुपपत्तेः’ वाक्य का व्याख्यान निम्नरूप से करते हैं—“ननु स्वापे ज्ञानं नास्त्येव इति चेदत्राह—‘तदभाव इत्यादि’……ज्ञानस्य असति मिद्धादेः अनुपपत्तेः इति। मिद्धो निद्रा आदिः यस्य मूर्च्छादेः तस्यानुपपत्तेः मरणोपपत्तेः अवस्थाचतुष्टयाभावः तदवस्थ एव।” [सिद्धिवि० टी० पृ० ५७६ A.] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि—अकलंकदेव सुषुप्तावस्था में ज्ञान नहीं मानने वाले प्रज्ञाकर का खंडन करते हैं। अत एव वे न्यायविनिश्चय (का० २२२) में भी जीव-स्वरूप का निरूपण करते हुए ‘सुषुप्तादौ बुद्धः’ पद देते हैं। इसके अतिरिक्त व्यवहित-कारणवाद पर भी उन्होंने आक्षेप किया है। (देखो सिद्धिवि० टी० पृ० १६१ A. ।)

इसके सिवाय अकलंकदेव सिद्धिविनिश्चय प्रथमपरिच्छेद में स्पष्टरूप से लिखते हैं कि—“ न हि स्वापादौ चित्तचैतसिकानामभावं प्रतिपद्यमानान् प्रमाणमस्ति ” अर्थात्—जो लोग स्वापादि अवस्थाओं में निर्विकल्पक और सविकल्पकज्ञान का अभाव मानते

हैं' उनका ऐसा मानना प्रमाणशून्य है। इस पंक्ति से अकलंक के द्वारा प्रज्ञाकर के अतीतकारणवाद के ऊपर किए गए आक्षेप की बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है।

२—न्यायविनिश्चय (का० ४७) में अकलंकदेव ने प्रज्ञाकर के स्वप्नान्तिकशरीर का अन्तःशरीर शब्द से उल्लेख करके पूर्वपक्ष किया है। सिद्धिविनिश्चय (टीका पृ० १३ = B.) में भी अकलंक ने स्वप्नान्तिक शरीर पर आक्रमण किया है।

३—अकलंकदेव प्रज्ञाकर की तरह सर्वज्ञता के समर्थन में न्यायविनिश्चय (कारि० ४०७) में स्वप्न का दृष्टान्त देते हैं। तथा प्रमाणसंग्रह (पृ० २६) में तो स्पष्ट ही सत्यस्वप्नज्ञान का ही उदाहरण उपस्थित करते हैं। यथा—“स्वयंप्रभुरलङ्घनार्हः स्वार्थालोक-परिस्फुटमवभासते सत्यस्वप्नवत् ।”

४—जिस प्रकार प्रज्ञाकरगुप्त ने पीतशंखादिज्ञान को संस्थानमात्र अंश में प्रमाण तथा इतरांश में अप्रमाण कहा है। उसी तरह अकलंक भी लघीयस्वय तथा अष्टशती में द्विचन्द्रज्ञान को चन्द्रांश में प्रमाण तथा द्वित्वांश में अप्रमाण कहते हैं। दोनों ग्रन्थों के अवतरण के लिए देखो—लघी० टि० पृ० १४० पं० २० से। अष्टशती में तो अकलंकदेव प्रज्ञाकर गुप्त की संस्थानमात्र में अनुमान मानने की बात पर आक्षेप करते हैं। यथा—“नापि लैङ्गिकं लिंगलिंगिसम्बन्धाप्रतिपत्तेः अन्यथा दृष्टान्तेतरयोरेकत्वात् किं केन कृतं स्यात् ।” [अष्टश० अष्टसह० पृ० २७७]

इसके अतिरिक्त हम कुछ ऐसे वाक्य उपस्थित करते हैं जिससे प्रज्ञाकर और अकलंक के ग्रन्थों की शाब्दिक और आर्थिक तुलना में बहुत मदद मिलेगी।

“एकमेवेदं सविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त्तं पश्यामः तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्” [वार्तिकालंकार]

“हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त्तज्ञानवृत्तेः प्रकृतेरपरां चैतन्यवृत्तिं कः प्रेक्षावान् प्रतिजानीते ।” [सिद्धिवि० टी० पृ० ५२६ B.] शेष के लिए देखो—लघी० टि० पृ० १३५ पं० ३१, न्यायवि० टि० पृ० १५६ पं० ११, पृ० १६२ पं० १३, पृ० १६५ पं० २०।

प्रज्ञाकरगुप्त ने प्रमाणवार्तिक की टीका का नाम प्रमाणवार्तिकालंकार रखा है। इसीलिए उत्तरकाल में इनकी प्रसिद्धि ‘अलङ्कारकार’ के रूप में भी रही है। अकलंकदेव का ‘तत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार’ या ‘तत्त्वार्थवार्तिकव्याख्यानलंकार’ नाम भी वार्तिकालंकार के नामप्रभाव से अछूता नहीं मालूम होता। इस तरह उपर्युक्त दलीलों के आधार से कहा जा सकता है कि—अकलंकदेव ने धर्मकीर्ति की तरह उनके टीकाकार शिष्य प्रज्ञाकरगुप्त को देखा ही नहीं था किन्तु उनकी समालोचना भी डट कर की है।

कर्णकगोमि और अकलंक—धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक के प्रथम-स्वार्थानुमान परिच्छेद पर ही वृत्ति बनाई थी। इस वृत्ति की कर्णकगोमिरचित टीका के प्रूफ हमारे सामने हैं। कर्णकगोमि के समय का बिल्कुल ठीक निश्चय न होने पर भी इतना तो

उनके ग्रन्थ देखने से कहा जा सकता है कि—ये मंडनमिश्र के बाद के हैं। इन्होंने अनेकों जगह मण्डनमिश्र का नाम लेकर कारिकाएँ उद्धृत की हैं तथा उनका खंडन किया है। इनने प्रमाणवा० खट्ट० टीका (पृ० ८८) में ‘तदुक्तं मण्डनेन’ कहकर “आहुर्विधातु प्रत्यक्षं न निपेद्ध्य विपश्चितः । नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रवाध्यते ॥” यह कारिका उद्धृत की है, तथा इसका खंडन भी किया है।

मण्डनमिश्र ने स्फोटसिद्धि (पृ० ११३) में मी० श्लोकवार्तिक (पृ० ५४२) की “वर्णा वा ध्वनयो वापि” कारिका उद्धृत की है, तथा विधिविवेक (पृ० २७६) में तन्त्र-वार्तिक (२।१।१) की ‘अभिधाभावनामाहुः’ कारिका उद्धृत की है। इसलिए इनका समय कुमारिल (सन् ६०० से ६८०) के बाद तो होना ही चाहिए। बृहती द्वितीयभाग की प्रस्तावना में इनका समय सन् ६७० से ७२० सूचित किया है, जो युक्तियुक्त है।

अतः मण्डन का उल्लेख करनेवाले कर्णकगोमि का समय ७०० ई० के बाद होना चाहिए। ये प्रज्ञाकरगुप्त के उत्तरकालीन मालूम होते हैं; क्योंकि इन्होंने अपनी टीका में (पृ० १३७) ‘अलङ्कार एव अवस्तुत्वप्रतिपादनात्’ लिखकर वार्तिकालंकार का उल्लेख किया है। अतः इनका समय ६६० से पहिले होना संभव ही नहीं है।

अकलंकदेव ने प्रमाणसंग्रह में इनके मत की भी आलोचना की है। यथा—

जब कुमारिल आदि ने बौद्धसम्मत पक्षधर्मत्वरूप पर आक्षेप करते हुए कहा कि कृतिकोदयादि हेतु तो शकटोदयादि पक्ष में नहीं रहते, अतः हेतु का पक्षधर्मत्वरूप अव्यभिचारी कैसे कहा जा सकता है ? तब इसका उत्तर कर्णकगोमि ने अपनी खट्टसिद्धिटीका में इस प्रकार दिया है कि—काल को पक्ष मानकर पक्षधर्मत्व घटाया जा सकता है। यथा—“तदा च स एव कालो धर्मी तत्रैव च साध्यानुमानं चन्द्रोदयश्च तत्सम्बन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम् ? [प्रमाणवा० खट्ट० टी० पृ० ११]

अकलंकदेव इसका खंडन करते हुए लिखते हैं कि—यदि कालादि को धर्मी मानकर पक्षधर्मत्व सिद्ध करोगे तो अतिप्रसंग हो जायगा। यथा—“कालादिधर्मिकल्पनायामतिप्रसङ्गः ।” [प्रमाणसं० पृ० १०४]

धर्मोत्तर और अकलंक—प्रज्ञाकर की तरह धर्मोत्तर भी धर्मकीर्ति के यशस्वी टीकाकार हैं। इन्होंने प्रमाणविनिश्चय न्यायविन्दु आदि पर टीका लिखने के सिवाय कुछ खतन्त्र प्रकरण भी लिखे हैं। न्यायविनिश्चयविवरणकार (पृ० ३६० B.) के लेखानुसार मालूम होता है कि—अकलंकदेव ने न्यायविनिश्चय (का० १६२) में धर्मोत्तर (न्यायवि० टी० पृ० १६) के मानसप्रत्यक्ष विषयक विचारों की आलोचना की है। इसी तरह वे न्यायविनिश्चयविवरण (पृ० २६ B.) में लिखते हैं कि—चूर्णि में अकलंकदेव ने धर्मोत्तर के (न्यायविन्दुटीका पृ० १) आदिवाक्यप्रयोजन तथा शास्त्रशरीरोपदर्शन का प्रतिक्रिय किया है। यह चूर्णि अकलंकदेव की ही है; क्योंकि—‘तथा च सूक्तं चूर्णौ

देवस्य वचनम्' इस उल्लेख के साथ ही एक श्लोक न्यायविनिश्चयविवरण में उद्धृत देखा जाता है (देखो इसी ग्रन्थ का परिशिष्ट ६ वां)। इसी तरह अनन्तवीर्याचार्य ने सिद्धिविनिश्चय के अनेक वाक्यों को धर्मोत्तर के खंडन रूप में सूचित किया है। धर्मोत्तर करीव करीव प्रज्ञाकर के समकालीन मालूम होते हैं।

शान्तरक्षित और अकलंक—धर्मकीर्ति के टीकाकारों में शान्तरक्षित भी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन्होंने वादन्याय की टीका के सिवाय तत्त्वसंग्रह नाम का विशाल ग्रन्थ भी लिखा है। इनका समय सन् ७०५ से ७६२ तक माना जाता है। (देखो तत्त्वसंग्रह की प्रस्तावना) अकलंक और शान्तरक्षित की तुलना के लिए हम कुछ वाक्य नीचे देते हैं—

“वृत्ते शाखाः शिलाश्वाग इत्येषा लौकिका मतिः ।” [तत्त्वसं० पृ० २६७]

“तानेव पश्यन् प्रत्येति शाखा वृत्तेऽपि लौकिकः ।” [न्यायविनि० का १०४,
प्रमाणसं० का० २६]

“अविकल्पमविभ्रान्तं तद्योगीश्वरमानसम् ।” [तत्त्वसं० पृ० ६३४]

“अविकल्पकमभ्रान्तं प्रत्यक्षं न पटीयसाम् ।” [न्यायवि० का० १५५]

“एवं यस्य प्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणाः । निहन्तुं हेतवोऽशक्ताः को न तं कल्पयिष्यति ॥”
[तत्त्वसं० पृ० ८८५]

“तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्पाति तं कथं चेतनः प्रतिपेदधुमर्हति संशयितुं वा ।” (अष्टश० अष्टसह० पृ० ५८)

इनके सिवाय शान्तरक्षित ने सर्वज्ञसिद्धि में ईक्षणिकादिविद्या का दृष्टान्त दिया है।

यथा—“अस्ति हीक्षणिकाद्याख्या विद्या यां (या) सुविभाविता ।

परचित्तापरिज्ञानं करोतीहैव जन्मनि ॥” [तत्त्वसं० पृ० ८८८]

अकलंकदेव भी (न्यायवि० का० ४०७) सर्वज्ञसिद्धि में ईक्षणिकाविद्या का दृष्टान्त देते हैं।

इन अवतरणों से अकलंक और शान्तरक्षित के विम्वप्रतिविम्वभाव का आभास हो सकता है।

अकलंक के साथ की गई प्रज्ञाकर आदि की तुलना से यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है कि अकलंकदेव इनके उत्तरकालीन नहीं तो लघुसमकालीन तो अवश्य ही हैं। उक्त समस्त आचार्यों को खींच कर एक काल में किसी भी तरह नहीं रखा जा सकता। अतः भर्तृहरि के समालोचक कुमारिल, कुमारिल का निरसन करने वाले धर्मकीर्ति, धर्मकीर्ति के टीकाकार प्रज्ञाकर गुप्त तथा प्रज्ञाकरगुप्त के वार्तिकालंकार के बाद बनी हुई कर्णकगोमि की टीका तक का आलोचन करने वाले अकलंक किसी भी तरह कुमारिल और धर्मकीर्ति के समकालीन नहीं हो सकते। धर्मकीर्ति के समय से इनको अवश्य ही कम से कम ५० वर्ष बाद रखना होगा। इन पचास वर्षों में प्रमाणवार्तिक की टीका वार्तिकालंकार की रचना तथा कर्णकगोमि की स्वोपज्ञवृत्तिटीका बनी होगी,

और उसने इतनी प्रसिद्धि पाई होगी कि जिससे वह अकलंक जैसे तार्किक को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। अतः अकलंक का समय ७२० से ७८० तक मानना चाहिए। पुराने जमाने में आज जैसे प्रेस डाँक आदि शीघ्र प्रसिद्धि के साधन नहीं थे, जिनसे कोई लेखक या ग्रन्थकार ५ वर्ष में ही दुनियाँ के इस छोर से उस छोर तक ख्याति प्राप्त कर लेता है। फिर उस समय का साम्प्रदायिक वातावरण ऐसा था जिससे काफी प्रसिद्धि या विचारों की मौलिकता ही प्रतिपक्षी विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर सकती थी, और इस प्रसिद्धि में कम से कम १५-२० वर्ष का समय तो लगना ही चाहिए। इस विवेचना के आधार पर हम निम्न आचार्यों का समय इस प्रकार रख सकते हैं—

भर्तृहरि ६०० से ६५० तक	प्रज्ञाकर ६७० से ७२५ तक
कुमारिल ६०० से ६८० तक	कर्णकगोमि ६६० से ७५० तक
धर्मकीर्ति ६२० से ६६० तक	शान्तरक्षित ७०५ से ७६२ तक
धर्मोत्तर ६५० से ७२० तक	अकलंक ७२० से ७८० तक

तात्पर्य यह कि— भर्तृहरि की अन्तिम कृति वाक्यपदीय सन् ६५० के आसपास बनी होगी। वाक्यपदीय के श्लोकों का खंडन करने वाला कुमारिल का मीमांसाश्लोक-वार्तिक और तन्त्रवार्तिक जैसा महान् ग्रन्थ सन् ६६० से पहिले नहीं रचा गया होगा। कुमारिल के मीमांसाश्लोकवार्तिक की समालोचना जिस धर्मकीर्तिकृत वृहत्काय प्रमाण-वार्तिक में है, उसकी रचना सन् ६७० के आसपास हुई होगी। प्रमाणवार्तिक पर प्रज्ञाकरगुप्त की अतिविस्तृत वार्तिकालंकार टीका सन् ६८५ के करीब रची गई होगी। वार्तिकालंकार का उल्लेख करने वाली कर्णकगोमि की विशाल प्रमाणवार्तिकस्वोपज्ञवृत्ति-टीका की रचना ७२० से पहिले कम संभव है। अतः इन सब ग्रन्थों की आलोचना करने वाले अकलंक का समय किसी भी तरह सन् ७२० से पहिले नहीं जा सकता। अकलंक चरित के '७०० विक्रमार्कशताब्द' वाले उल्लेख को हमें इन्हीं प्रमाणों के प्रकाश में देखना है। यदि १६ वीं सदी के अकलंक चरित की दी हुई शास्त्रार्थ की तिथि ठीक है तो वह विक्रमसंवत् की न होकर शक संवत् की होनी चाहिए। शकसंवत् का उल्लेख भी 'विक्रमार्कशकाब्द' शब्द से पाया जाता है। अकलंक का यह समय मानने से प्रभाचन्द्र के कथाकोश का उन्हें शुभतुंग (कृष्णराज प्र० राज्य सन् ७५८ के बाद) का मन्त्रिपुत्र बतलाना, मल्लिपेणप्रशस्ति का साहसतुंग (दन्तिदुर्गद्वि०, राज्य सन् ७४५-७५८) की सभा में उपस्थित होना आदि घटनाएं युक्तिसंगत समयवाली सिद्ध हो जाती है। सोलहवीं सदी के अकलंकचरित की अपेक्षा हमें १४ वीं सदी के कथाकोश तथा १२ वीं सदी की मल्लिपेणप्रशस्ति को अग्रस्थान देना ही होगा; जब कि उसके साधक तथा पोषक अन्य आन्तरिक प्रमाण उपलब्ध हो रहे हैं। इति।



२. ग्रन्थ

[बाह्यस्वरूपपरिचय]

§ १. ग्रन्थत्रय की अकलङ्ककर्तृकता—

प्रस्तुत ग्रन्थत्रय के कर्त्ता प्रखर तार्किक, वाग्मी श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेव हैं। अकलङ्क-देव की यह शैली है कि—वे अपने ग्रन्थों में कहीं न कहीं ‘अकलङ्क’ नाम का प्रयोग करते हैं। कहीं वह प्रयोग जिनेन्द्र के विशेषणरूप से हुआ है तो कहीं ग्रन्थ के विशेषणरूप से और कहीं किसी लक्ष्य के लक्षणभूत शब्दों में विशेषणरूप से।

लघीयस्त्रय के प्रमाणनयप्रवेश के अन्त में आए हुए ‘कृतिरियं सकलवादिचक्र-चक्रवर्तिनो भगवतो भट्टाकलङ्कदेवस्य’ इस पुष्पिकावाक्य से, कारिका नं० ५० में प्रयुक्त ‘प्रेक्षावानकलङ्कमेति’ पद से, तथा कारिका नं० ७८ में कथित ‘भगवदकलङ्कानाम्’ पद से ही लघीयस्त्रय की अकलङ्ककर्तृकता स्पष्ट है और अनन्तवीर्याचार्य द्वारा सिद्धिविनिश्चय-टीका (पृ० ६६ B.) में उद्धृत “तदुक्तम् लघीयस्त्रये-प्रमाणफलयोः ………” इस वाक्य से, आचार्य विद्यानन्द द्वारा प्रमाणपरीक्षा (पृ० ६६) एवं अष्टसहस्री (पृ० १३४) में ‘तदुक्तमकलङ्कदेवैः’ कहकर उद्धृत लघीयस्त्रय की तीसरी कारिका से, तथा तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक (पृ० २३६) में ‘अत्र अकलङ्कदेवाः प्राहुः’ करके उद्धृत लघीयस्त्रय की १० वीं कारिका से लघीयस्त्रय की अकलङ्ककर्तृकता समर्थित होती है। आचार्य मलय-गिरि आवश्यकनिर्युक्ति की टीका (पृ० ३७० B.) में ‘तथा चाहाकलङ्कः’ कहकर लघीयस्त्रय की ३० वीं कारिका उद्धृत करके लघीयस्त्रय की अकलङ्ककर्तृता का अनुमोदन करते हैं।

न्यायविनिश्चय कारिका नं० ३८६ में प्रयुक्त ‘विस्रब्धैरकलङ्करत्ननिचयन्यायो’ पद से, तथा कारिका नं० ४८० में ‘आभव्यादकलंकमङ्गलफलम्’ पद के प्रयोग से केवल न्यायविनिश्चय की अकलङ्ककर्तृकता द्योतित ही नहीं होती; किन्तु न्यायविनिश्चय-विवरणकार वाटिराजसूरि के उल्लेखों से तथा आचार्य अनन्तवीर्यद्वारा सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० २०८ B.) में, एवं आचार्य विद्यानन्द द्वारा आप्तपरीक्षा (पृ० ४६) में ‘तदुक्तमकलङ्कदेवैः’ कहकर उद्धृत की गई इसकी ५१ वीं कारिका से इसका प्रबल समर्थन भी होता है। आचार्य धर्मभूषण ने तो न्यायदीपिका (पृ० ८) में ‘तदुक्तं भगवद्भिरकलङ्कदेवैः न्यायविनिश्चये’ लिखकर न्यायविनिश्चय की तीसरी कारिका उद्धृत करके इसका अस-न्दिग्ध अनुमोदन किया है।

प्रमाणसंग्रह की कारिका नं० ६ में आया हुआ 'अकलङ्कं महीयसाम्' पद प्रमाणसंग्रह के अकलङ्करचित होने की सूचना दे देता है। इसका समर्थन आचार्य विद्यानन्द द्वारा 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १८५) में 'अकलङ्कैरभ्यधायि यः' कहकर उद्धृत इसकी दूसरी कारिका से, तथा बादिराजसूरि द्वारा न्यायविनिश्चयविवरण (पृ० ८३ A.) में 'तथा चात्र देवस्य वचनम्' लिखकर उद्धृत किए गए इसके (पृ० ६८) 'विविधानु-विवादनस्य' वाक्य से स्पष्टरूप में हो जाता है।

§ २. ग्रन्थत्रय के नाम का इतिहास तथा परिचय-

लघीयस्त्रय नाम से मालूम होता है कि यह छोटे छोटे तीन प्रकरणों का एक संग्रह है। पर इसका लघीयस्त्रय नाम ग्रन्थकर्ता के मन में प्रारम्भ से ही था या नहीं, अथवा बाद में ग्रन्थकार ने स्वयं या उनके टीकाकारों ने यह नाम रखा, यह एक विचारणीय प्रश्न है। मालूम होता है कि-ग्रन्थ बनाते समय अकलङ्कदेव को 'लघीयस्त्रय' नाम की कल्पना नहीं थी। उनके मन में तो दिग्गग के न्यायप्रवेश जैसा एक जैनन्यायप्रवेश बनाने की बात घूम रही थी। यद्यपि बौद्ध और नैयायिक परार्थानुमान को न्यायशब्द की मर्यादा में रखते हैं; पर अकलङ्कदेव ने तत्त्वार्थसूत्र के 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र में वर्णित अधिगम के उपायभूत प्रमाण और नय को ही न्यायशब्द का वाच्य माना है। तदनुसार ही उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना के समय प्रमाण और नय के निरूपण का उपक्रम किया। लघीयस्त्रय के परिच्छेदों का प्रवेशरूप से विभाजन तो न्यायप्रवेश को आधार मानने की कल्पना का स्पष्ट समर्थन करता है। प्रमाणनयप्रवेश की समाप्तिस्थल में विवृति की प्रति में "इति प्रमाणनयप्रवेशः समाप्तः। कृतिरियं सकलवादि-चक्रचक्रवर्तिनो भगवतो भट्टकलङ्कदेवस्य" यह वाक्य पाया जाता है। इस वाक्य से स्पष्ट मालूम होता है कि-अकलङ्कदेव ने प्रथम ही 'प्रमाणनयप्रवेश' बनाया था। इस प्रमाणनयप्रवेश की संकलना, मंगल तथा पर्यवसान इसके अखण्ड प्रकरण होने को पूरी तरह सिद्ध करते हैं। यदि नयप्रवेश प्रमाणप्रवेश से भिन्न एक स्वतन्त्र प्रकरण होता तो उसमें प्रवचनप्रवेश की तरह स्वतन्त्र मंगलवाक्य होना चाहिए था। अकलङ्कदेव की प्रवचन पर अगाध श्रद्धा थी। यही कारण है कि-स्वतन्त्र उत्पादन की पूर्णसामर्थ्य रखते हुए भी उन्होंने अपनी शक्ति पुरातनप्रवचन के समन्वय में ही लगाई। उनसे प्रवचन में प्रवेश करने के लिए तत्त्वार्थसूत्र में अधिगमोपाय रूप से प्ररूपित प्रमाण, नय और निक्षेप का अखण्डरूप से वर्णन करने के लिए प्रवचनप्रवेश बनाया। इस तरह अकलङ्कदेव ने प्रमाणनयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश ये दो स्वतन्त्र प्रकरण बनाए।

यह प्रश्न अभी तक है ही कि-इसका लघीयस्त्रय नाम किसने रखा? मुझे तो ऐसा लगता है कि-यह सूझ अनन्तवीर्य आचार्य की है; क्योंकि लघीयस्त्रय नाम का सब से पुराना उल्लेख हमें सिद्धिविनिश्चय टीका में मिलता है। अनन्तवीर्य की दृष्टि में

‘प्रमाणनयप्रवेश’ एक अखण्ड प्रकरण नहीं था, वे उसे दो स्वतन्त्र प्रकरण मानते थे । इसका आधार यह है कि—सिद्धिविनिश्चय टीका (पृ० ५७२ B.) में शब्दनयादि का लक्षण करके वे लिखते हैं कि “ एतेपामुदाहरणानि नयप्रवेशकप्रकरणादवगन्तव्यानि ”— इनके उदाहरण नयप्रवेशकप्रकरण से जानना चाहिए । यहां नयप्रवेश को स्वतन्त्र प्रकरण रूप में उल्लेख करने से अनुमान किया जा सकता है कि अनन्तवीर्य की दृष्टि में प्रमाणप्रवेश और नयप्रवेश दो प्रकरण थे । और यह बहुत कुछ संभव है कि उनने ही प्रवचनप्रवेश को मिलाकर इनकी ‘लघीयस्रय’ संज्ञा दी हो । उस समय प्रवेशक और लघु ग्रन्थों को प्रकरण शब्द से कहने की परम्परा थी । जैसे न्यायप्रवेशप्रकरण, न्याय-विन्दुप्रकरण आदि । अनन्तवीर्य के इस लघीयस्रय संज्ञाकरण के बाद तो इनकी प्रमाण-नयप्रवेश तथा प्रवचनप्रवेश संज्ञा लघीयस्रय के तीन प्रवेशों के रूप में ही रही ग्रन्थ के नाम के रूप में नहीं ।

अस्तु, लघीयस्रय नाम का इतिहास जान लेने के बाद अब हम इसका एक अखण्ड ग्रन्थ के रूप में ही वर्णन करेंगे; क्योंकि आज तक निर्विवाद रूप से यह एक ही ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत चला आ रहा है । इस ग्रन्थ में तीन प्रवेश हैं—१ प्रमाण प्रवेश, २ नय प्रवेश, ३ निक्षेप प्रवेश । प्रमाण प्रवेश के चार परिच्छेद हैं—१ प्रत्यक्ष परिच्छेद, २ विषय परिच्छेद, ३ परोक्ष परिच्छेद, ४ आगम परिच्छेद । इन चार परिच्छेदों के साथ नयप्रवेश तथा प्रवचन प्रवेश को मिलाकर कुल ६ परिच्छेद स्वोपज्ञविवृति की प्रति में पाए जाते हैं । लघीयस्रय के व्याख्याकार आ० प्रभाचन्द्र ने प्रवचनप्रवेश के भी दो परिच्छेद करके कुल सात परिच्छेदों पर अपनी न्यायकुमुदचन्द्र व्याख्या लिखी है । प्रवचनप्रवेश में जहाँ तक प्रमाण और नय का वर्णन है वहाँ तक प्रभाचन्द्र ने छठवाँ परिच्छेद, तथा निक्षेप के वर्णन को स्वतन्त्र सातवाँ परिच्छेद माना है ।

लघीयस्रय में कुल ७८ कारिकाएँ हैं । मुद्रित लघीयस्रय में ७७ ही कारिकाएँ हैं । उसमें ‘ लक्षणं क्षणिकैकान्ते’ (का० ३५) कारिका नहीं है । नयप्रवेश के अन्त में ‘मोहेनैव परोऽपि’ इत्यादि पद्य भी विवृति की प्रति में लिखा हुआ मिलता है । पर इस पद्य का प्रभाचन्द्र तथा अभयनन्दि ने व्याख्यान नहीं किया है, तथा उसकी मूलग्रन्थ के साथ कोई संगति भी प्रतीत नहीं होती, अतः इसे प्रक्षिप्त समझना चाहिए । प्रथम परि० में ६॥, द्वि० परि० में ३, तृ० परि० में १२, चतु० परि० में ७, पंचम परि० में २१, तथा ६ प्रवचन प्र० में २८, इस तरह कुल ७८ कारिकाएँ हैं ।

मूल लघीयस्रय के साथ ही स्वयं अकलंकदेव की संक्षिप्त विवृति भी इसी संस्करण में मुद्रित है । यह विवृति कारिकाओं का व्याख्यानरूप न होकर उसमें सूचित विषयों की पूरक है । अकलंकदेव ने इसे मूल श्लोकों के साथ ही साथ लिखा है । मालूम होता है कि—अकलंक देव जिस पदार्थ को कहना चाहते हैं, वे उसके अमुक अंश की कारिका

वनाकर वाकी को गद्य भाग में लिखते हैं। अतः विषय की दृष्टि से गद्य और पद्य दोनों मिलकर ही ग्रन्थ की अखंडता स्थिर रखते हैं। धर्मकीर्ति की प्रमाणवार्तिक की वृत्ति भी कुछ इसी प्रकार की है। उसमें भी कारिकोक्त पदार्थ की पूर्ति तथा स्पष्टता के लिए बहुत कुछ लिखा गया है। अकलंक के प्रमाणसंग्रह का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि—अकलंक के गद्यभाग को हम शुद्ध वृत्ति नहीं कह सकते, क्योंकि शुद्ध वृत्ति में मात्र मूलकारिका का व्याख्यान होना ही आवश्यक है, पर लघीयखण्ड की विवृति या प्रमाणसंग्रह के गद्यभाग में व्याख्यानात्मक अंश नहीं के ही बराबर है। हाँ, कारिकोक्त पदों को आधार बनाकर उस विषय का शेष वक्तव्य गद्यरूप में उपस्थित कर दिया है। व्याख्याकार प्रभाचन्द्र ने इसको विवृति माना है और वे कारिका का व्याख्यान करके जब गद्य भाग का व्याख्यान करते हैं तब 'विवृति विवृण्नाह' लिखते हैं। विवृति शब्द का प्रयोग हमारे विचार से खालिस टीका या वृत्ति के अर्थ में न होकर तत्सम्बद्ध शेष वक्तव्य के अर्थ में है।

लघीयखण्डमें चर्चित विषय संक्षेप में इस प्रकार हैं—

प्रथमपरि० में—सम्यग्ज्ञान की प्रमाणाता, प्रत्यक्ष परोक्ष का लक्षण, प्रत्यक्ष के सांख्यवहारिक और मुख्य रूप से दो भेद, सांख्यवहारिक के इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष रूपसे भेद, मुख्यप्रत्यक्ष का समर्थन, सांख्यवहारिक के अवग्रहादिरूप से भेद तथा उनके लक्षण, अवग्रहादिके बह्वादिरूप भेद, भावेन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय के लक्षण, पूर्व पूर्वज्ञान की प्रमाणाता में उत्तरोत्तर ज्ञानों की फलरूपता आदि विषयों की चर्चा है।

द्वितीयपरि० में—द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु का प्रमाणविषयत्व तथा अर्थक्रियाकारित्व, नित्यैकान्त तथा क्षणिकैकान्त में क्रमयौगपद्यरूपसे अर्थक्रियाकारित्व का अभाव, नित्य मानने पर विक्रिया तथा अविक्रिया का अविरोध आदि प्रमाण के विषय से सम्बन्ध रखनेवाले विचार प्रकट किए हैं।

तृतीयपरि० में—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, तथा अभिनिवोध का शब्दयोजना से पूर्व अवस्था में मतिव्यपदेश तथा उत्तर अवस्था में श्रुतव्यपदेश, व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा असंभव होने से व्याप्तिग्राही तर्क का प्रामाण्य, अनुमान का लक्षण, जलचन्द्र के दृष्टान्त से कारण हेतु का समर्थन, कृतिकोदय आदि पूर्वचर हेतु का समर्थन, अदृश्यानुपलब्धि से भी परचैतन्य आदि का अभावज्ञान, नैयायिकाभिमत उपमान का सादृश्यप्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भाव, प्रत्यभिज्ञान के वैसदृश्य आपेक्षिक प्रतियोगि आदि भेदों का निरूपण, बौद्ध मत में स्वभावादि हेतुओं के प्रयोग में कठिन्ता, अनुमानानुमेयव्यवहार की वास्तविकता एवं विकल्पबुद्धि की प्रमाणाता आदि परोक्षज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले विषयों की चर्चा है।

चतुर्थपरि० में—किसी भी ज्ञान में ऐकान्तिक प्रमाणाता या अप्रमाणाता का निषेध करके प्रमाणाभास का स्वरूप, सविकल्पज्ञान में प्रत्यक्षाभासता का अभाव, अविस्मयवाद

और विसंवाद से प्रमाण-प्रमाणाभासव्यवस्था, विप्रकृष्टविषयों में श्रुत की प्रमाणाता, हेतुवाद और आप्तोक्तरूप से द्विविध श्रुत की अविसंवादि होने से प्रमाणाता, शब्दों के विवक्षावाचित्व का खण्डन कर उनकी अर्थवाचकता आदि श्रुत सम्बन्धी बातों का विवेचन किया गया है। इस तरह प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय और फल का निरूपण कर प्रमाणप्रवेश समाप्त होता है।

पंचमपरि० में—नय दुर्नय के लक्षण, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक रूप से मूलभेद, सत्स्वरूप से समस्त वस्तुओं के ग्रहण का संग्रहनयत्व, ब्राह्मवाद का संग्रहाभासत्व, बौद्धाभिमत एकान्तक्षणिकता का निरास, गुण गुणी, धर्म धर्मी की गौण मुख्य विवक्षा में नैगमनय की प्रवृत्ति, वैशेषिकसम्मत गुणगुण्यादि के एकान्त भेद का नैगमाभासत्व, प्रामाणिक भेद का व्यवहारनयत्व, काल्पनिक भेद का व्यवहाराभासत्व, कालकारकादि के भेद से अर्थभेद निरूपण की शब्दनयता, पर्यायभेद से अर्थभेदक कथनका समभिरूढनयत्व, क्रियाभेद से अर्थभेद प्ररूपण का एवंभूतनयत्व, सामग्रीभेद से अभिन्नवस्तु में भी पट्कारकी का संभव आदि समस्त नयपरिवार का विवेचन है। यहाँ नयप्रवेश समाप्त हो जाता है।

६ प्रवचन प्रवेश में—प्रमाण, नय, और निक्षेप के कथन की प्रतिज्ञा, अर्थ और आलोक की ज्ञानकारणता का खंडन, अन्धकार को ज्ञान का विषय होने से आवरणरूपता का अभाव, तज्जन्म, ताद्रूप्य और तदध्यवसाय का प्रामाण्य में अप्रयोजकत्व, श्रुत के सकलादेश विकलादेश रूप से दो उपयोग, 'स्यादस्येव जीवः' इस वाक्य की विकलादेशता, 'स्याज्जीव एव' इस वाक्य की सकलादेशता, शब्द की विवक्षा से भिन्न वास्तविक अर्थ की वाचकता, नैगमादि सात नयों में से आदि के नैगमादि चार नयों का अर्थनयत्व, शब्दादि तीन नयों का शब्दनयत्व, नामादि चार निक्षेपों के लक्षण, अप्रस्तुत निराकरण तथा प्रस्तुत अर्थ का निरूपण रूप निक्षेप का फल, इत्यादि प्रवचन के अधिगमोपायभूत प्रमाण, नय और निक्षेप का निरूपण किया गया है।

न्यायविनिश्चय—धर्मकीर्ति का एक प्रमाणविनिश्चय ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसकी रचना गद्यपद्यमय है। न्यायविनिश्चय नाम स्पष्टतया इसी प्रमाणविनिश्चय नाम का अनुकरण है। नाम की पसन्दगी में आन्तरिक विषय का निश्चय भी एक खास कारण होता है। सिद्धसेन दिवाकर ने अपने न्यायावतार में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणों का विवेचन किया है। अकलंकदेव ने न्यायविनिश्चय में भी तीन प्रस्ताव रखे हैं—१ प्रत्यक्ष प्रस्ताव, २ अनुमान प्रस्ताव, ३ प्रवचन प्रस्ताव। अतः संभव है कि—अकलंक के लिए विषय की पसन्दगी में तथा प्रस्ताव के विभाजन में न्यायावतार प्रेरक हो, और इसीलिए उन्होंने न्यायावतार के 'न्याय' के साथ प्रमाणविनिश्चय के 'विनिश्चय' का मेल बैठकर न्यायविनिश्चय नाम रखा हो। बादिदेवसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर (पृ० २३) में 'धर्मकीर्तिरपि न्यायविनिश्चयस्य....' यह उल्लेख करके लिखा है कि न्यायविनिश्चय के तीन परिच्छेदों में क्रमशः प्रत्यक्ष,

स्वार्थानुमान और परार्थानुमान का वर्णन है। यदि धर्मकीर्ति का प्रमाणविनिश्चय के अतिरिक्त भी कोई न्यायविनिश्चय ग्रन्थ है तब तो ज्ञात होता है कि—प्रस्तावविभाजन तथा नामकरण की कल्पना में उसी ने कार्य किया है। यह भी संभव है कि—प्रमाणविनिश्चय को ही वादिदेवसूरि ने न्यायविनिश्चय समझ लिया हो। इसके तीन प्रस्तावों में निम्न-विषयों का विवेचन है—

प्रथम प्रत्यक्षप्रस्ताव में—प्रत्यक्ष का लक्षण, इन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण, प्रमाणसम्प्लव-सूचन, चक्षुरादिवुद्धियों का व्यवसायात्मकत्व, विकल्प के अभिलापवत्त्व आदि लक्षणों का खंडन, ज्ञान को परोक्ष मानने का निराकरण, ज्ञान के स्वसंवेदन की सिद्धि, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञाननिरास, अचेतनज्ञाननिरास, साकारज्ञाननिरास, निराकारज्ञानसिद्धि, संवेदना-द्वैतनिरास, विभ्रमवादनिरास, वहिरर्थसिद्धि, चित्रज्ञानखण्डन, परमाणुरूप वहिरर्थ का निराकरण, अवयवों से भिन्न अवयवी का खण्डन, द्रव्य का लक्षण, गुणपर्याय का स्वरूप, सामान्य का स्वरूप, अर्थ के उत्पादादादित्रयात्मकत्व का समर्थन, अपोहरूप सामान्य का निरास, व्यक्ति से भिन्न सामान्य का खंडन, धर्मकीर्तिसम्मत प्रत्यक्षलक्षण का खंडन, बौद्ध-कल्पित स्वसंवेदनयोगिमानसप्रत्यक्षनिरास, साख्यकल्पित प्रत्यक्षलक्षण का खंडन, नैयायिक के प्रत्यक्ष का समालोचन, अतीन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण आदि विषयों का विवेचन किया गया है।

द्वितीय अनुमानप्रस्ताव में—अनुमान का लक्षण, प्रत्यक्ष की तरह अनुमान की वहिरर्थविषयता, साध्य-साध्याभास के लक्षण, बौद्धादिमतों में साध्यप्रयोग की असंभवता, शब्द का अर्थवाचकत्व, शब्दसंकेतग्रहणप्रकार, भूतचैतन्यवाद का निराकरण, गुणगुणि भेद का निराकरण, साधन-साधनाभास के लक्षण, प्रमेयत्व हेतु की अनेकान्तसाधकता, सत्त्वहेतु की परिणामित्वप्रसाधकता, त्रैरूप्य खंडन पूर्वक अन्यथानुपपत्तिसमर्थन, तर्क की प्रमाणाता, अनुपलम्भहेतु का समर्थन, पूर्वचर उत्तरचर और सहचरहेतु का समर्थन, असिद्ध विरुद्ध अनेकान्तिक और अकिञ्चित्कर हेत्वाभासों का विवेचन, दूषणाभास लक्षण, जातिलक्षण, जयेतरव्यवस्था, दृष्टान्त-दृष्टान्ताभास विचार, वाद का लक्षण, निग्रहस्थानलक्षण, वादाभासलक्षण आदि अनुमान से सम्बन्ध रखने वाले विषयों का वर्णन है।

तृतीय प्रवचनप्रस्ताव में—प्रवचन का स्वरूप, सुगत के आसत्त्व का निरास, सुगत के करुणावत्त्व तथा चतुरार्यसत्यप्रतिपादकत्व का परिहास, आगम के अपौरुषेयत्व का खण्डन, सर्वज्ञत्वसमर्थन, ज्योतिर्ज्ञानोपदेश सत्यस्वप्नज्ञान तथा इक्षणिकादिविधा के दृष्टान्त द्वारा सर्वज्ञत्वसिद्धि, शब्दनित्यत्वनिरास, जीवादितत्त्वनिरूपण, नैरात्म्यभावना की निरर्थकता, मोक्ष का स्वरूप, सप्तभंगीनिरूपण, स्याद्वाद में दिए जाने वाले संशयादि दोषों का परिहार, स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदि का प्रामाण्य, प्रमाण का फल आदि विषयों का विवेचन है।

लघीयस्त्रय की तरह न्यायविनिश्चय पर भी स्वयं अकलङ्ककृत विवृति अवश्य रही है। जैसा कि न्यायविनिश्चयविवरणकार (पृ० १२० B.) के 'वृत्तिमध्यवर्तित्वात्'

आदि वाक्यों से तथा सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० १२० A.) में न्यायविनिश्चय के नाम से उद्धृत “नचैतद्विहिरेव.....” आदि गद्यभाग से पता चलता है। न्यायविनिश्चयविवरण (पृ० १६१ B.) में ‘तथा च सूक्तं चूर्णो देवस्य वचनम्’ कहकर “समारोपव्यवच्छेदात्.....” श्लोक उद्धृत मिलता है। बहुत कुछ संभव है कि इसी विवृतिरूप गद्यभाग का ही विवरणकार ने चूर्णि शब्द से उल्लेख किया हो। न्यायविनिश्चयविवरणकार बादिराज ने न्यायविनिश्चय के केवल पद्यभाग का व्याख्यान किया है।

प्रमाणसंग्रह—पं० सुखलालजी की कल्पना है कि—‘प्रमाणसंग्रह नाम दिग्नाग के प्रमाणममुच्चय तथा शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह का स्मरण दिलाता है।’ यह कल्पना हृदय को लगती है। पर तत्त्वसंग्रह के पहिले भी प्रशस्तपादभाष्य का पदार्थसंग्रह नाम प्रचलित रहा है। संभव है कि संग्रहान्त नाम पर इसका भी कुछ प्रभाव हो। जैसा कि इसका नाम है वैसा ही यह ग्रन्थ वस्तुतः प्रमाणों—युक्तियों का संग्रह ही है। इस ग्रन्थ की भाषा और खासकर विषय तो अत्यन्त जटिल तथा कठिनता से समझने लायक है। अकलंक के इन तीन ग्रन्थों में यही ग्रन्थ प्रमेयबहुल है। मालूम होता है कि यह ग्रन्थ न्यायविनिश्चय के बाद बनाया गया है; क्योंकि इसके कई प्रस्तावों के अन्त में न्यायविनिश्चय की अनेकों कारिकाएँ बिना किसी उपक्रम वाक्य के लिखी गई हैं। इसकी प्रौढ़-शैली से ज्ञात होता है कि यह अकलंकदेव की अन्तिम कृति है, और इसमें उन्होंने अपने यावत् अवशिष्ट विचारों के लिखने का प्रयास किया है, इसीलिए यह इतना गहन हो गया है। इसमें हेतुओं के उपलब्धि अनुपलब्धि आदि अनेकों भेदों का विस्तृत विवेचन है; जब कि न्यायविनिश्चय में मात्र उनका नाम ही लिया गया है। अतः यह सहज ही समझा जा सकता है कि—यह न्यायविनिश्चय के बाद बनाया गया होगा।

इसमें ६ प्रस्ताव हैं, तथा कुल ८७½ कारिकाएँ।

प्रथम प्रस्ताव में—६ कारिकाएँ हैं। इनमें प्रत्यक्ष का लक्षण, श्रुत का प्रत्यक्षानुमानागमपूर्वकत्व, प्रमाण का फल, मुख्यप्रत्यक्ष का लक्षण आदि प्रत्यक्ष विषयक निरूपण है।

द्वितीय प्रस्ताव में— ६ कारिकाएँ हैं। इनमें स्मृति का प्रामाण्य, प्रत्यभिज्ञान की प्रामाण्यता, तर्क का लक्षण, प्रत्यक्षानुपलम्भ से तर्क का उद्भव, कुतर्क का लक्षण, विवक्षा के बिना भी शब्दप्रयोग का संभव, परोक्ष पदार्थों में श्रुत से अविनाभावग्रहण आदि का वर्णन है। अर्थात् परोक्ष के भेद स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्क का निरूपण है।

तृतीय प्रस्ताव में— १० कारिकाएँ हैं। इनमें अनुमान के अवयव साध्य साधन का लक्षण, साध्याभास का लक्षण, सदसदेकान्त में साध्यप्रयोग की असंभवता, सामान्य-विशेषात्मक वस्तु की साध्यता तथा उसमें दिए जानेवाले संशयादि आठ दोषों का परिहार आदि का वर्णन है।

चतुर्थ प्रस्ताव में—११॥ कारिकाएँ हैं। इनमें त्रिरूप का खंडन करके अन्यथा-

नुपपत्तिरूप हेतुलक्षण का समर्थन, हेतु के उपलब्धि अनुपलब्धि आदि भेदों का विवेचन, पूर्वचर उत्तरचर और सहचरहेतु का समर्थन आदि हेतुसम्बन्धी विचार हैं ।

पंचम प्रस्ताव में—१०॥ कारिकाएँ हैं । इनमें विरुद्धादि हेत्वाभासों का निरूपण, सर्वथा एकान्त में सत्त्वहेतु की विरुद्धता, सहोपलम्भनियमहेतु की विरुद्धता, विरुद्धान्यभिचारी का विरुद्ध में अन्तर्भाव, अज्ञात हेतु का अकिञ्चित्कर में अन्तर्भाव आदि हेत्वाभास विषयक प्ररूपण है, तथा अन्तर्व्याप्ति का समर्थन है ।

षष्ठ प्रस्ताव में—१२॥ कारिकाएँ हैं । इनमें वाद का लक्षण, जयपराजय व्यवस्था का स्वरूप, जाति का लक्षण, दध्युष्टत्वादि के अभेदप्रसंग का जात्युत्तरत्व, उत्पादादित्रयात्मकत्व-समर्थन, सर्वथा नित्य सिद्ध करने में सत्त्वहेतु का सिद्धसेनादि के मत से असिद्धत्वादिनिरूपण आदि वादविषयक कथन है । अन्त में—धर्मकीर्ति आदि ने अपने ग्रन्थों में प्रतिवादियों के प्रति जिन जाडय आदि अपशब्दों का प्रयोग किया है उनका बहुत सुन्दर मुंहतोड़ उत्तर दिया है । लिखा है कि—शून्यवाद, संवृतिवाद, विज्ञानवाद, निर्विकल्पकदर्शन, परमाणुसञ्चय को प्रत्यक्ष का विषय मानना, अपोहवाद तथा मिथ्यासन्तान ये सात बातें माननेवाला ही वस्तुतः जड़ है । प्रतिज्ञा को असाधन कहना, अदृश्यानुपलब्धि को अगमक कहना आदि ही अहीकता—निर्लज्जता है । निर्विकल्पकप्रत्यक्ष के सिवाय सब ज्ञानों को भ्रान्त कहना, साकार ज्ञान मानना, क्षणभङ्गवाद तथा असत्कार्यवाद ही पशुता के द्योतक हैं । परलोक न मानना, शास्त्र न मानना, तप दान देवता आदि से इन्कार करना ही अलौकिकता है । अतीन्द्रिय धर्माधर्म आदि में शब्द-वेद को ही प्रमाण मानना, किसी चेतन को उसका ज्ञाता न कहना ही तामस है । संस्कृत आदि शब्दों में साधुता असाधुता का विचार तथा उनके प्रयोग मात्र से पुण्य-पाप मानना ही प्राकृत-आगीणजन का लक्षण है ।

सप्तम प्रस्ताव में—१० कारिकाएँ हैं । इसमें प्रवचन का लक्षण, सर्वज्ञता में किए जाने वाले सन्देह का निराकरण, अपौरुषेयत्व का खडन, तत्त्वज्ञानचारित्र की मोक्षहेतुता आदि प्रवचन सम्बन्धी विषयों का विवेचन है ।

अष्टम प्रस्ताव में—१३ कारिकाएँ हैं । इनमें सप्तभंगी का निरूपण तथा नैगमादिनयों का कथन है ।

नवम प्रस्ताव में—२ कारिकाएँ हैं । इनमें प्रमाण नय और निक्षेप का उपसंहार है ।

§ ३. रचनाशैली—

अकलङ्क के ग्रन्थ दो प्रकार के हैं—१ टीका ग्रन्थ, २ स्वतंत्र प्रकरण । टीका ग्रन्थों में राजवार्तिक तथा अष्टशती हैं । स्वतंत्र ग्रन्थों में लघीयख्यसविवृति, न्यायविनिश्चय सवृत्ति, सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति और प्रमाणसंग्रह ये चार ग्रन्थ निश्चित रूप से अकलंककर्तृक हैं । परम्परागत प्रसिद्धि की दृष्टि से स्वरूपसम्बोधन, न्यायचूल्का, अकलंक प्रतिष्ठापाठ, अकलंक प्रायश्चित्तसंग्रह आदि हैं, जिनके कर्त्ता प्रसिद्ध अकलंकदेव न होकर अन्य अकलंक हैं ।

राजवार्तिक के सिवाय प्रायः सभी ग्रन्थ अष्टशती जितने ८०० श्लोक प्रमाण ही मालूम होते हैं। धर्मकीर्ति के हेतुविन्दु, वादन्याय, प्रमाणविनिश्चय ग्रन्थ भी करीब करीब इतने ही छोटे हैं। उस समय संक्षिप्त पर अर्थबहुल, गंभीर तथा तलस्पर्शी प्रकरणों की रचना का ही युग था।

अकलंक जब आगमिक विषय पर कलम उठाते हैं तब उनके लेखन की सरलता, विशदता एवं प्रसाद गुण का प्रवाह पाठक को पढ़ने से ऊबने नहीं देता। राजवार्तिक की प्रसन्न रचना इसका अप्रतिम उदाहरण है। परन्तु जब वही अकलंक तार्किक विषयों पर लिखते हैं तब वे उतने ही दुरूह बन जाते हैं। अकलंक के प्रस्तुत संस्करण में मुद्रित प्रकरणग्रन्थ अत्यन्त जटिल, गूढ़ एवं इतने संक्षिप्त हैं कि कहीं कहीं उनका आधार लेकर टीकाकारों द्वारा किए गए अर्थ अकलंक के मनोगत थे या नहीं यह संदेह होने लगता है। अकलंक के प्रकरणों की यथार्थज्ञता का दावा करने वाले अनन्तवीर्य भी इनकी गूढ़ता के विषय में बरबस कह उठते हैं कि—

“देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तं तु सर्वथा । न जानीतेऽकलंकस्य चित्रमेतत्परं भुवि ॥”

अर्थात्—“अनन्तवीर्य भी अकलंक देव के पदों के व्यक्त अर्थ को नहीं जान पाता यह बड़ा आश्चर्य है।” ये अनन्तवीर्य उस समय अकलंक के प्रकरणों के मर्मज्ञ, तलद्रष्टा समझे जाते थे। प्रभाचन्द्र एवं वादिराज अनन्तवीर्य की अकलंकीय प्रकरणों की तलस्पर्शिता का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि—“मैंने त्रिलोक के यावत् पदार्थों को संक्षेपरूपसे वर्णन करनेवाली अकलंक की पद्धति को अनन्तवीर्य की उक्तियों का सैकड़ों बार अभ्यास करके समझ पाया है।” “अकलंक के गूढ़ प्रकरणों को यदि अनन्तवीर्य के वचनदीप प्रकट न करते तो उन्हें कौन समझ सकता था ?” आदि।

सविवृति लघीयस्त्रय पर प्रभाचन्द्र की टीका उपलब्ध होने से तथा उसका विषय कुछ प्रारम्भिक होने से समझने में उतनी कठिनाई नहीं मालूम होती जितनी न्याय-विनिश्चय में। प्रमाणसंग्रह में तो यह कठिनाई अपनी चरम सीमा को पहुँच जाती है। एक ही प्रकरण में अनेक चर्चाओं का समावेश हो जाने से तो यह जटिलता और भी बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ—न्यायविनिश्चय में भूतचैतन्यवाद का निराकरण करते हुए जहाँ यह लिखा है कि ज्ञान भूतों का गुण नहीं है, वहीं लगे हाथ गुण शब्द का व्याख्यान तथा वैशेषिक के गुणगुणिभेद का खंडन भी कर दिया है। समझनेवाला इससे विषय के वर्गीकरण में बड़ी कठिनाई का अनुभव करता है। अकलंकदेव का पददर्शन का गहरा अभ्यास तथा बौद्धशास्त्रों का अतुलभावनापूर्वक आत्मसात्करण ही उन के प्रकरणों की जटिलता में कारण मालूम होता है। वे यह सोचते हैं कि कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक सूक्ष्म और बहु पदार्थ ही नहीं किन्तु बहुविध पदार्थ लिखा जाय। उनकी यह शब्दसंक्षिप्तता बड़े बड़े प्रकाण्डपण्डितों को अपनी बुद्धि को मापने का मापदण्ड बन

रही है। धर्मकीर्ति की प्रमाणवार्तिक-स्ववृत्ति को देखकर तो यह और भी स्पष्ट मालूम होने लगता है कि उस समय कुछ ऐसी ही सूत्र रूप से लिखने की परम्परा थी। लेखनशैली में परिहास का पुट भी कहीं कहीं बड़ी व्यंजना के साथ मिलता है, जैसे—न्यायविनिश्चय में धर्मकीर्ति के—“जब सब पदार्थ द्रव्यरूपसे एक हैं तब दही और ऊँट भी द्रव्यरूपसे एक हुए, अतः दही को खानेवाला ऊँट को क्यों नहीं खाता ?” इस आक्षेप का उत्तर देते हुए लिखा है कि—भाई, जैसे सुगत पूर्व भव में मृग थे, तथा मृग भी सुगत हुआ था, अतः सन्तानदृष्टि से एक होने पर भी आप मृग की जगह सुगत को क्यों नहीं खाते और मृग की वन्दना क्यों नहीं करते ? अतः जिस तरह वहाँ पर्यायभेद होने से बन्धत्व और खाद्यत्व की व्यवस्था है उसी तरह दही और ऊँट के शरीर में पुद्गलद्रव्यरूपसे एकता होने पर भी पर्याय की अपेक्षा भिन्नता है। यथा—

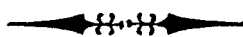
“सुगतोऽपि मृगो जातः मृगोऽपि सुगतस्तथा । तथापि सुगतो बन्धो मृगः खाद्यो यथेप्यते ॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः । चोदितो दधि खादेति किमुष्टमभिधावति ॥”

[न्यायवि० ३।३७३-७४]

अकलंक के प्रकरणों का सूक्ष्मता से अनुसंधान करने पर मालूम होता है कि—अकलंकदेव की सीधी चोट बौद्धों के ऊपर है। इतरदर्शन तो प्रसंग से ही चर्चित हैं, और उनकी समालोचना में बौद्धदर्शन का सहारा भी लिया गया है। बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक से तो अनेकों पूर्वपक्ष शब्दशः लेकर समालोचित हुए हैं। धर्मकीर्ति के साथ ही साथ उनके शिष्य एवं टीकाकार प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णकगोमि प्रभृति भी अकलंक के द्वारा युक्तिजालों में लपेटे गए हैं। जहाँ भी मौका मिला सौत्रान्तिक या विज्ञानवादी के ऊपर पूरा पूरा प्रहार किया गया है। कुमारिल की सर्वज्ञताविरोधिनी युक्तियाँ प्रबलप्रमाणों से खंडित की गई हैं। जैननिरूपण में समन्तभद्र, पूज्यपाद का प्रभाव होने पर भी न्यायविनिश्चय में सिद्ध-सेन दिवाकर के न्यायावतार तथा लघीयख्य के नयनिरूपण में सन्मतितर्क के नयकाण्ड तथा मैल्लवादि के नयचक्र का भी प्रभाव है। उत्तरकालीन ग्रन्थकार अनन्तवीर्य, माणिक्यनन्दि, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, शान्तिसूरि, वादिराज, वादिदेव, हेमचन्द्र तथा यशोविजय आदि सभी आचार्यों ने अकलंक के द्वारा प्रस्थापित जैनन्यायकी रेखा का विस्तार किया तथा उनके वाक्यों को बड़ी श्रद्धा से उद्धृत कर अपनी कृतज्ञता प्रकट की है।

अकलंक द्वारा प्रणीत व्यवस्था में अनुपपत्ति शान्तिसूरि तथा मलयगिरि आचार्य ने दिखाई है। शान्तिसूरि ने जैनतर्कवार्तिक में अकलङ्क द्वारा प्रमाणसंग्रह में प्रतिपादित प्रत्यक्ष-अनुमान-आगमनिमित्तक त्रिविध श्रुत की जगह द्विविध-अनुमानज और शब्दज श्रुत माना है। मलयगिरि आचार्य ने सम्यग्नय में स्यात्पद के प्रयोग का इस आधार पर समालोचन किया है कि स्यात् पद का प्रयोग करने से तो प्रमाण और नय में कोई भेद नहीं रहेगा। पर इसका उत्तर उ० यशोविजय ने गुरुत्वविनिश्चय में दे दिया है कि—मात्रस्यात् पद

के प्रयोग से प्रमाण और नय में भेदाभाव नहीं हो सकता । नयान्तरसापेक्ष नय यदि प्रमाण हो जाय तब तो व्यवहारादि सभी नयों को प्रमाण मानना होगा । इस तरह उपाध्यायजी ने अकलंक के मत का ही समर्थन किया है ।



आन्तरिक विषयपरिचय

इस परिचय में अकलंकदेव ने प्रस्तुत तीनों ग्रन्थों में जिन विषयों पर संक्षेप या विस्तार से जो भी लिखा है, उन विषयों का सामान्य परिचय तथा अकलंकदेव के वक्तव्य का सार दिया गया है । इससे योग्यभूमिकावाले जैनन्याय के अभ्यासियों का अकलंक के ग्रन्थों में प्रवेश तो होगा ही, साथ ही साथ जैनन्याय के रसिक अध्यापकों को जैनन्याय से सम्बन्ध रखने वाले दर्शनान्तरीय विषयों की अनेकों महत्त्वपूर्ण चर्चाएँ भी मिल सकेंगीं । इसमें प्रसंगतः जिन अन्य आचार्यों के मतों की चर्चा आई है उनके अवतरण देखने के लिए उस विषय के टिप्पणों को ध्यान से देखना चाहिए । इस परिचय को ग्रंथशः नहीं लिखकर तीनों ग्रन्थों के मुख्य २ विषयों का संकलन करके लिखा है । जिससे पाठकों को विशेष सुविधा रहेगी । यह परिचय मुख्यतया से प्रमाण, प्रमेय, नय, निक्षेप और सप्तभंगीरूपसे स्थूल विभाग करके लिखा गया है ।

§ १. प्रमाणनिरूपण—

प्रमाणसामान्यविचार—समन्तभद्र और सिद्धसेन ने प्रमाणसामान्य के लक्षण में स्वपरावभासक, ज्ञान तथा बाधवर्जित पद रखे हैं, जो उस समय के प्रचलित लक्षणों से जैनलक्षण को व्यावृत्त कराते थे । साधारणतया ‘प्रमाकरणं प्रमाणम्’ यह लक्षण सर्वमान्य था । विवाद था तो इस विषय में कि वह करण कौन हो ? न्यायभाष्य में करणरूपसे सन्निकर्ष और ज्ञान दोनों का स्पष्टतया निर्देश है । यद्यपि विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञान को स्वसंवेदी मानते रहे हैं, पर वे करण के स्थान में सारूप्य या योग्यता को रखते हैं । समन्तभद्रादि ने करण के स्थान में स्वपरावभासक ज्ञान पद रखके ऐसे ही ज्ञान को प्रमाण माना जो स्व और पर उभय का अवभासन करने वाला हो । अकलंकदेव ने इस लक्षण में अविसंवादि और अनधिगतार्थग्राहि इन दो नए पदों का समावेश करके अवभासक के स्थान में व्यवसायात्मक पद का प्रयोग किया है । अविसंवादि तथा अज्ञातार्थ-प्रकाश पद स्पष्टरूपसे धर्मकीर्ति के प्रमाण के लक्षण से आए हैं तथा व्यवसायात्मक पद न्यायसूत्र से । इनकी लक्षणसंघटना के अनुसार स्व और पर का व्यवसाय-निश्चय करनेवाला, अविसंवादि-संशयादि समारोप का निरसन करनेवाला और अनधिगतार्थ को जाननेवाला ज्ञान प्रमाण होगा ।

प्रमाणसम्प्लव विचार—यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि धर्मकीर्ति और उनके टीकाकार धर्मोत्तर ने अज्ञातार्थप्रकाश और अनधिगतार्थग्राहि शब्दों का प्रयोग करके प्रमाणसम्प्लव का निषेध किया है। एक प्रमेय में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति को प्रमाणसम्प्लव कहते हैं। बौद्ध पदार्थों को एकक्षणस्थायी मानते हैं। उनके सिद्धान्त के अनुसार पदार्थ ज्ञान में कारण होता है। अतः जिस विवक्षित पदार्थ से कोई भी प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ कि वह पदार्थ दूसरे क्षण में नियम से नष्ट हो जाता है। इसलिए किसी भी अर्थ में दो ज्ञानों के प्रवृत्ति होने का अवसर ही नहीं है। दूसरे, बौद्धों ने प्रमेय के दो भेद किए हैं—१ विशेष (स्वलक्षण), २ सामान्य (अन्यापोहरूप)। विशेष पदार्थ को विषय करने वाला प्रत्यक्ष है तथा सामान्य को जाननेवाले अनुमानादि विकल्पज्ञान। इस तरह विषयद्वैविध्य से प्रमाणद्वैविध्यात्मक व्यवस्था होने से कोई भी प्रमाण अपनी विषयमर्यादा को नहीं लाँघ सकता। इसलिए विजातीय प्रमाण की तो स्वनियत विषय से भिन्न प्रमेय में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। रह जाती है सजातीय प्रमाणान्तर के सम्प्लव की बात, सो द्वितीय क्षण में जब वह पदार्थ रहता ही नहीं है तब सम्प्लव की चर्चा अपने आप ही समाप्त हो जाती है।

यहां यह प्रश्न होता है कि—‘जैन तो पदार्थ को एकान्तक्षणिक नहीं मानते और न विषयद्वैविध्य को ही। जैन की दृष्टि से तो एक सामान्य-विशेषात्मक अर्थ सभी प्रमाणों का विषय होता है। तब अनधिगतार्थग्राहि पद का जैनोक्त प्रमाणलक्षण में क्या उपयोग हो सकता है?’ अकलंकदेव ने इसका उत्तर दिया है कि—वस्तु अनन्तधर्मवाली है। अमुक ज्ञान के द्वारा वस्तु के अमुक अंशों का निश्चय होने पर भी अगृहीत अंशों को जानने के लिए प्रमाणान्तर को अवकाश रहता है। इसी तरह जिन ज्ञात अंशों में संवाद हो जाने से निश्चय हो गया है, उन अंशों में भले ही प्रमाणान्तर कुछ विशेष परिच्छेद न करें पर जिन अंशों में असंवाद होने से अनिश्चय या विपरीतनिश्चय है उनका निश्चय करके तो प्रमाणान्तर विशेषपरिच्छेदक होने के कारण अनधिगतग्राहिरूप से प्रमाण ही हैं। प्रमाणसम्प्लव के विषय में यह बात और भी ध्यान देने योग्य है कि—अकलंकदेव ने प्रमाण के लक्षण में अनधिगतार्थग्राहि पद के प्रवेश करने के कारण अनिश्चितांश के निश्चय में या निश्चितांश में उपयोगविशेष होने पर प्रमाणसम्प्लव माना है, जब कि नैयायिक ने अपने प्रमाणलक्षण में ऐसा कोई पद नहीं रखा, अतः उसकी दृष्टि से वस्तु गृहीत हो या अगृहीत, यदि इन्द्रियादि कारणकलाप मिल जाँय तो अवश्य ही प्रमाण की प्रवृत्ति होगी, इसी तरह उपयोग विशेष होया न हो, कोई भी ज्ञान इसलिए अप्रमाण नहीं होगा कि उसने गृहीत को ग्रहण किया है। तात्पर्य यह कि नैयायिक को प्रत्येक अवस्था में प्रमाणसम्प्लवसंवीकृत है।

अकलंकदेव ने बौद्धमत में प्रमाणसम्प्लव की असंभवता के कारण ‘अनुमान की अप्रवृत्ति’ रूप दूषण देते हुए कहा है कि—जब आप के यहां यह नियम है कि प्रत्यक्ष के

द्वारा वस्तु के समस्त गुणों का दर्शन हो जाता है; तब प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वाश्रय गृहीत वस्तु में कोई भी अनधिगत अंश नहीं बचा, जिसके ग्रहण के लिए अनुमान को प्रमाण माना जाय । अनुमान के विषयभूत अन्यापोहरूप सामान्य में विपरीतारोप की संभावना नहीं है, अतः समारोपव्यवच्छेदार्थ भी अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता । अकलंकोत्तरवर्त्ति आ० माणिक्यनन्दि ने अनधिगतार्थ की जगह कुमारिल के अपूर्वार्थ पद को स्थान दिया । पर विद्यानन्द तथा उनके बाद अभयदेव, वादिदेव, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने अनधिगत या अपूर्वार्थ किसी भी पद को अपने लक्षणों में नहीं रखा ।

ज्ञान का स्व-परसंवेदन विचार—ज्ञान के स्वरूपसंवेदन के विषय में निम्न वाद हैं—१ मीमांसक का परोक्षज्ञानवाद, २ नैयायिक का ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद, ३ सांख्य का प्रकृतिपर्यायात्मक ज्ञान का पुरुष द्वारा संचेतनवाद, ४ बौद्ध का साकार-स्वसंवेदनज्ञानवाद, ५ जैन का निराकार-स्वसंवेदनज्ञानवाद । अकलंकदेव ने इतर वादों की समालोचना इस प्रकार की है—

परोक्षज्ञानवादनिरास—यदि ज्ञान को परोक्ष माना जाय अर्थात् ज्ञान स्वयं अपने स्वरूप को न जान सके, तब उस परोक्षज्ञान के द्वारा जाना गया पदार्थ हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकेगा; क्योंकि आत्मान्तर के ज्ञान से हमारे ज्ञान में यही स्वकीयत्व है कि वह हमारे स्वयं प्रत्यक्ष का विषय है, उसे हम स्वयं उसी के द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं, जब कि आत्मान्तर के ज्ञान को हम स्वयं उसी के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं करते । यही कारण है कि आत्मान्तर के ज्ञान के द्वारा हमें पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता । जब ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष नहीं तब उसकी सिद्धि अनुमान से भी कैसे होगी ? क्योंकि अस्वसंविदित अर्थप्रकाश-रूप लिंग से अज्ञात धर्मि-ज्ञान का अविनाभाव ही गृहीत नहीं है । अर्थप्रकाश को स्वसंविदित मानने पर तो ज्ञान की कल्पना ही निरर्थक हो जायगी; क्योंकि स्वार्थसंवेदी अर्थप्रकाश से स्व और अर्थ उभय का परिच्छेद हो सकता है । इसी तरह विषय, इन्द्रिय, मन आदि भी परोक्ष ज्ञान का अनुमान नहीं करा सकते; क्योंकि एक तो इनके साथ ज्ञान का अविनाभाव असिद्ध है, दूसरे इनके होने पर भी कभी कभी ज्ञान नहीं होता अतः ये व्यभिचारी भी हैं । यदि विषयजन्य ज्ञानात्मक सुखादि परोक्ष हैं; तब उनसे हमें अनुग्रह या परिताप नहीं हो सकेगा । अपने सुखादि को अनुमानग्राह्य मानकर अनुग्रहादि मानना तो अन्य आत्मा के सुख से व्यभिचारी है, अर्थात् परकीय आत्मा के सुखादि का हम उसकी प्रसाद-विपादादि चेष्टाओं से अनुमान तो कर सकते हैं पर उनसे अनुग्रहादि तो हमें नहीं होता । ज्ञान को परोक्ष मानने पर आत्मान्तर की बुद्धि का अनुमान करना भी कठिन हो जायगा । परकीय आत्मा में बुद्धि का अनुमान व्यापार वचनादि चेष्टाओं से किया जाता है । यदि हमारा ज्ञान हमें ही अप्रत्यक्ष है, तब हम ज्ञान का व्यापारादि के साथ कार्यकारणरूप अविनाभाव अपनी आत्मा में तो ग्रहण ही नहीं कर सकेगे, अन्य आत्मा में तो अभी तक

ज्ञान का सद्भाव ही असिद्ध है। अतः अविनाभाव का ग्रहण न होने से परकीय आत्मा में बुद्धि का अनुमान नहीं हो सकेगा।

ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद निराकरण—यदि प्रथमज्ञान का प्रत्यक्ष द्वितीयज्ञान से माना जाय और इसी तरह अस्वसंवेदी तृतीयादिज्ञान से द्वितीयादिज्ञानों का प्रत्यक्ष; तब अनवस्था नाम का दूषण ज्ञान के सद्भाव सिद्ध करने में बाधक होगा, क्योंकि जब तक आगे आगे के ज्ञान अपने स्वरूप का निश्चय नहीं करेंगे तब तक वे पूर्वपूर्वज्ञानों को नहीं जान सकेंगे। और जब प्रथमज्ञान ही अज्ञात रहेगा तब उसके द्वारा अर्थ का ज्ञान असंभव हो जायगा। इस तरह जगत् अर्थनिश्चयशून्य हो जायगा। एक ज्ञान के जानने में ही जब इस तरह अनेकानेक ज्ञानों का प्रवाह चलेगा, तब तो ज्ञान की विषयान्तर में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकेगी। यदि अप्रत्यक्षज्ञान से अर्थबोध माना जाय; तब तो हम लोग ईश्वरज्ञान के द्वारा भी समस्त पदार्थों को जानकर सर्वज्ञ बन जाँयगे, क्योंकि अभी तक हम लोग सर्वज्ञ के ज्ञान के द्वारा अर्थों को इसी कारण से नहीं जान सकते थे कि वह हमारे स्वयं अप्रत्यक्ष है।

प्रकृतिपर्यायात्मकज्ञानवाद निरसन—यदि ज्ञान प्रकृति का विकार होने से अचेतन है तथा वह पुरुष के संचेतन द्वारा अनुभूत होता है; तो फिर इस अकिञ्चित्कर ज्ञान का क्या प्रयोजन? क्योंकि उसी ज्ञानस्वरूपसञ्चेतक पुरुषानुभव के द्वारा अर्थ का भी परिज्ञान हो जायगा। यदि वह सञ्चेतन स्वप्रत्यक्ष नहीं है; तब इस अकिञ्चित्कर ज्ञान की सत्ता किससे सिद्ध की जायगी? ज्ञान विषयक सञ्चेतना जो कि अनित्य है, अविकारी कूटस्थनित्य पुरुष का धर्म भी कैसे हो सकती है? अतः ज्ञान परिणामी पुरुष का ही धर्म है और वह स्वार्थसंवेदक होता है। इसी तरह यदि अर्थसञ्चेतना स्वार्थसंवेदक है; तब तद्व्यतिरिक्त अकिञ्चित्कर पुरुष के मानने का भी क्या प्रयोजन? यदि वह अस्वसंवेदक है; तब पूर्वज्ञान तथा पुरुष की सिद्धि किससे होगी?

साकारज्ञानवाद निरास—साकारज्ञानवादी निराकारज्ञानवादियों को ये दूषण देते हैं कि—‘यदि ज्ञान निराकार है, उसका किसी अर्थ के साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं है; तब प्रतिकर्मव्यवस्था—घटज्ञान का विषय घट ही है पट नहीं—कैसे होगी? तथा विषयप्रतिनियम न होने से सब अर्थ एकज्ञान के या सब ज्ञानों के विषय हो जाँयगे। विषयज्ञान और विषयज्ञानज्ञान में कोई भेद नहीं रहेगा। इनमें यही भेद है कि विषयज्ञान जहाँ केवल विषय के आकार होता है तब विषयज्ञानज्ञान अर्थ और अर्थाकारज्ञान दोनों के आकार को धारण करता है। विषय की सत्ता सिद्ध करने के लिए ज्ञान को साकार मानना आवश्यक है।’ अकलंकदेव ने इनका समाधान करके ज्ञान को निराकार सिद्ध करते हुए लिखा है कि—विषयप्रतिनियम के लिए ज्ञान की अपनी शक्ति ही नियामक है। जिस ज्ञान में जिस प्रकार की जितनी शक्ति होगी उससे उतनी और उसी प्रकार की अर्थव्यवस्था होगी।

इस स्वशक्ति को न मानकर ज्ञान को साकार मानने पर भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि 'घटज्ञान घट के ही आकार क्यों हुआ पट के आकार क्यों नहीं हुआ ?' तदुत्पत्ति से तो आकारनियम नहीं किया जा सकता; क्योंकि जिस तरह घटज्ञान घट से उत्पन्न हुआ है उसी तरह इन्द्रिय, आलोक आदि पदार्थों से भी तो उत्पन्न हुआ है, अतः उनके आकार को भी उसे ग्रहण करना चाहिए। ज्ञान विषय के आकार को यदि एकदेश से ग्रहण करता है; तब तो ज्ञान सांश हो जायगा। यदि सर्वदेश से; तो ज्ञान अर्थ की तरह जड़ हो जायगा। समानकालीन पदार्थ किसी तरह अपना आकार ज्ञान में समर्पित कर सकते हैं पर अतीत और अनागत पदार्थों के जाननेवाले स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, अनुमानादि ज्ञान कैसे उन अविद्यमान पदार्थों के आकार हो सकते हैं ? हाँ, शक्तिप्रतिनियम मानने से अतीतादि पदार्थों का ज्ञान भली भाँति हो सकता है। ज्ञान का अमुक अर्थ को विषय करना ही अन्य पदार्थ से व्यावृत्त होना है। अतः ज्ञान को निराकार मानना ही ठीक है। अमूर्त ज्ञान में मूर्त अर्थ का प्रतिबिम्ब भी कैसे आ सकता है ?

सौत्रान्तिक को ज्ञान के साकार होने का 'ज्ञान में अर्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है।' यह अर्थ इष्ट था या नहीं यह तो विचारणीय है। पर विज्ञानवादी बौद्धों ने उसका खंडन यही अर्थ मानकर किया है और उसीका प्रतिबिम्ब अकलंककृत खंडन में है।

इस तरह अकलंक ने स्वार्थव्यवसायात्मक, अनधिगतार्थग्राहि, अविशंवादि ज्ञान को प्रमाण कहा है। इस लक्षण के अनधिगतार्थग्राहित्व विशेषण के सिवाय बाकी अंश सभी जैन तार्किकों ने अपनाए हैं। अनधिगतार्थग्राहित्व की परम्परा माणिक्यनन्दि तक ही चली। आ० हेमचन्द्र ने स्वनिर्णय को भी प्रमाण के व्यावर्तक लक्षण में नहीं रखा; क्योंकि स्वनिर्णय तो ज्ञानसामान्य का धर्म है न कि प्रमाणात्मक विशेषज्ञान का। अकलंकदेव ने जहाँ अज्ञानात्मक सन्निकर्षादि की प्रमाणाता का व्यवच्छेद प्रमितिक्रिया में अव्यवहित करण न होने के कारण किया है, वहाँ ज्ञानात्मक संशय और विपर्यय का विसंवादी होने से तथा निर्विकल्पज्ञान का संव्यवहारानुपयोगी होने के कारण निरास किया है। इसी संव्यवहारानुपयोगी पद से सुपुष्ट चैतन्य के समान निर्विकल्पक-दर्शन भी प्रमाणकोटि से बहिर्भूत है इसकी सूचना मिलती है।

प्रमाण के भेद—तत्त्वार्थसूत्र के 'तत्प्रमाणे' इस सूत्र को लक्ष्य में रखकर ही अकलंक ने प्रमाण के दो मूल भेद किए हैं। यद्यपि उन्हें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष के कई अवान्तर भेद मानना पड़े हैं। इसीलिए उनने 'प्रमाणे इति संग्रहः' पद देकर उस भेद के आधारभूत सूत्र की सूचना दी है। वे दो भेद हैं—एक प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष। तत्त्वार्थसूत्र में मति (इन्द्रियान्द्रियप्रत्यक्ष), स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क), अभिनिवोध (अनुमान) इन ज्ञानों को मति से अनर्थान्तर अर्थात् मतिज्ञानरूप बताया है। मतिज्ञान का परोक्षत्व भी वहीं स्वीकृत है। अतः उक्तज्ञान जिनमें इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष भी शामिल है आग-

मिकपरम्परा में स्पष्टरूपसे परोक्ष हैं। पर लोकव्यवहार तथा दर्शनान्तरों में इन्द्रिया-
न्द्रियज्ञान प्रत्यक्षरूपसे ही प्रसिद्ध तथा व्यवहृत होते हैं। यद्यपि अकलंकदेव के पहिले
आ० सिद्धसेन दिवाकर ने अपने न्यायावतार में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द इन तीन
प्रमाणों का कथन किया है, पर प्रमाणों की व्यावर्तक संख्या अभी तक अनिश्चितसी ही
रही है। अकलंकदेव ने सूत्रकार की परम्परा की रक्षा करते हुए लिखा है कि—मति, स्मृति,
संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ज्ञान शब्दयोजना से पहिले मतिज्ञान तथा शब्दयोजना के
अनन्तर श्रुतज्ञान कहे जाँय। श्रुतज्ञान परोक्ष कहा जाय। मतिज्ञान में अन्तर्भूत
मति—इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष को लोकव्यवहार में प्रत्यक्षरूपसे प्रसिद्ध होने के कारण
तथा वैशद्यांश का सद्भाव होने से संव्यवहारप्रत्यक्ष कहा जाय। प्रत्यक्ष के इन्द्रियप्रत्यक्ष,
अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष ये तीन मूलभेद हों।

इस वक्तव्य का यह फलितार्थ हुआ कि प्रत्यक्ष के दो भेद—१ सांव्यवहारिक,
२ मुख्य। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के दो भेद— १ इन्द्रियप्रत्यक्ष, २ अनिन्द्रियप्रत्यक्ष।
इन्द्रियप्रत्यक्ष—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणादिज्ञान। अनिन्द्रियप्रत्यक्ष—शब्दयोजना से
पहिले की अवस्थावाले स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान। इस तरह अकलंकदेव
ने प्रमाण के भेद किए जो निर्विवाद रूप से उत्तरकालीन ग्रन्थकारों द्वारा माने गए। हाँ,
इसमें जो स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान को शब्दयोजना के पहिले
अनिन्द्रियप्रत्यक्ष कहा है उसे किसी भी अन्य आचार्य ने स्वीकार नहीं किया। उन्हें सर्वांश
में अर्थात् शब्दयोजना के पूर्व और पश्चात् दोनों अवस्थाओं में परोक्ष ही कहा है। यही
कारण है कि आचार्य प्रभाचन्द्र ने लघीयस्त्रय की 'ज्ञानमाद्यं' कारिका का यह अर्थ
किया है कि—'मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान शब्दयोजना के पहिले तथा
शब्दयोजना के बाद दोनों अवस्थाओं में श्रुत हैं अर्थात् परोक्ष हैं।'

यद्यपि जिनभद्रगणिकमाश्रमण ने अपने विशेषावश्यकभाष्य में प्रत्यक्ष के दो
भेद करके इन्द्रियानिन्द्रियजप्रत्यक्ष को संव्यवहारप्रत्यक्ष कहा है, पर उन्होंने स्मृति
आदि ज्ञानों के विषय में कुछ खास नहीं लिखा। इन्द्रियप्रत्यक्ष को संव्यवहारप्रत्यक्ष
मान लेने से लोकप्रसिद्धि का निर्वाह तथा दर्शनान्तरप्रसिद्धि का समन्वय भी हो गया और
सूत्रकार का अभिप्राय भी सुरक्षित रह गया।

प्रत्यक्ष—सिद्धसेनदिवाकर ने प्रत्यक्ष का—'अपरोक्ष रूप से अर्थ को जानने
वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है' यह परोक्षलक्षणाश्रित लक्षण किया है। यद्यपि विशद
ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने की परम्परा बौद्धों में स्पष्ट है, फिर भी प्रत्यक्ष के लक्षण में अकलंक के
द्वारा विशद पद के साथ ही साथ प्रयुक्त साकार और अंजसा पद खास महत्त्व रखते हैं।
बौद्ध निर्विकल्पज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। यह निर्विकल्पकज्ञान जैनपरम्परा में
प्रसिद्ध-इन्द्रिय और पदार्थ के योग्यदेशावस्थितिरूप सन्निकर्ष के बाद उत्पन्न होने वाले,

तथा सत्तात्मक महासामान्य का आलोचन करने वाले अनाकार दर्शन के समान है । अकलंकदेव की दृष्टि में जब निर्विकल्पकदर्शन प्रमाणकोटि से ही बहिर्भूत है तब उसे प्रत्यक्ष तो कहा ही नहीं जा सकता । इसी बात की सूचना के लिए उन्होंने प्रत्यक्ष के लक्षण में साकारपद रखा, जो निराकारदर्शन तथा बौद्धसम्मत निर्विकल्पकप्रत्यक्ष का निराकरण कर निश्चयात्मक विशद ज्ञान को ही प्रत्यक्षकोटि में रखता है । बौद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के वाद होनेवाले 'नीलमिदम्' इत्यादि प्रत्यक्षज विकल्पों को भी संव्यवहार से प्रमाण मान लेते हैं । इसका मूल यह है कि—प्रत्यक्ष के विषयभूत दृश्य-स्वलक्षण में विकल्प के विषयभूत विकल्प्य-सामान्य का आरोपरूप एकत्वाध्यवसाय करके प्रवृत्ति करने पर स्वलक्षण ही प्राप्त होता है । अतः विकल्पज्ञान संव्यवहार से विशद है । इसका निराकरण करने के लिए अकलंकदेव ने 'अञ्जसा' पद का उपादान करके सूचित किया कि विकल्पज्ञान संव्यवहार से नहीं किन्तु अंजसा—परमार्थरूपसे विशद है ।

अनुमान आदि ज्ञानों से अधिक विशेषप्रतिभास का नाम वैशद्य है । जिस तरह अनुमान आदि ज्ञान अपनी उत्पत्ति में लिंगज्ञान आदि ज्ञानान्तर की अपेक्षा करते हैं उस तरह प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्ति में किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं रखता, यही अनुमानादि से प्रत्यक्ष में अतिरेक-अधिकता है ।

अकलंकदेव ने इतरवादिसम्मत प्रत्यक्षलक्षणों का निराकरण इस प्रकार किया है—

बौद्ध—जिसमें शब्दसंसर्ग की योग्यता नहीं है ऐसे निर्विकल्पकज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं सविकल्पज्ञान को नहीं, क्योंकि विकल्पज्ञान अर्थ के अभाव में भी उत्पन्न होता है । निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा यद्यपि अर्थ में रहने वाले क्षणिकत्वादि सभी धर्मों का अनुभव हो जाता है, पर वह नीलादि अंशों में 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्पज्ञान के द्वारा व्यवहारसाधक होता है, तथा क्षणिकत्वादि अंशों में यथासंभव अनुमानादि विकल्पों द्वारा । अतः निर्विकल्पक 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्पों का उत्पादक होने से तथा अर्थ-स्वलक्षण से उत्पन्न होने के कारण प्रमाण है । विकल्पज्ञान अस्पष्ट है; क्योंकि वह परमार्थसत् स्वलक्षण से उत्पन्न नहीं होता । सर्वप्रथम अर्थ से निर्विकल्प ही उत्पन्न होता है । निर्विकल्पक में असाधारण क्षणिक परमाणुओं का प्रतिभास होता है । उस निर्विकल्पक अवस्था में कोई भी विकल्प अनुभव में नहीं आता । विकल्पज्ञान कल्पितसामान्य को विषय करने के कारण तथा निर्विकल्पक के द्वारा गृहीत अर्थ को ग्रहण करने के कारण प्रत्यक्षाभास है ।

✓ अकलंकदेव इसका निराकरण इस तरह करते हैं—अर्थक्रियार्थी पुरुष प्रमाण का अन्वेषण करते हैं । जब व्यवहार में साक्षात् अर्थक्रियासाधकता सविकल्पज्ञान में ही है तब क्यों न उसे ही प्रमाण माना जाय ? निर्विकल्पक में प्रमाणाता लाने को आखिर आपको सविकल्पज्ञान तो मानना ही पड़ता है । यदि निर्विकल्प के द्वारा गृहीत नीलाद्यंश को विषय करने

से विकल्पज्ञान अप्रमाण है; तब तो अनुमान भी प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत क्षणिकत्वादि को विषय करने के कारण प्रमाण नहीं हो सकेगा। निर्विकल्प से जिस प्रकार नीलाद्यंशों में 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्प उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार क्षणिकत्वादि अंशों में भी 'क्षणिकमिदम्' इत्यादि विकल्पज्ञान उत्पन्न होना चाहिए। अतः व्यवहारसाधक सविकल्पज्ञान ही प्रत्यक्ष कहा जाने योग्य है। विकल्पज्ञान ही विशदरूप से हर एक प्राणी के अनुभव में आता है, जब कि निर्विकल्पज्ञान अनुभवसिद्ध नहीं है। प्रत्यक्ष से तो स्थिर स्थूल अर्थ ही अनुभव में आते हैं, अतः क्षणिक परमाणु का प्रतिभास कहना प्रत्यक्षविरुद्ध है। निर्विकल्पक को स्पष्ट होने से तथा सविकल्प को अस्पष्ट होने से विषयभेद मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि एक ही वृक्ष दूरवर्ती पुरुष को अस्पष्ट तथा समीपवर्ती को स्पष्ट दीखता है। आद्य-प्रत्यक्षकाल में भी कल्पनाएँ बराबर उत्पन्न तथा विनष्ट तो होती ही रहती हैं, भले ही वे अनुपलक्षित रहे। निर्विकल्प से सविकल्पक की उत्पत्ति मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि यदि अशब्द निर्विकल्पक से सशब्द विकल्पज्ञान उत्पन्न हो; तो शब्दशून्य अर्थ से ही विकल्प की उत्पत्ति मानने में क्या बाधा है? अतः मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्तादि यावद्विकल्पज्ञान संवादी होने से प्रमाण हैं। जहाँ ये विसंवादी हों वहाँ इन्हे अप्रमाण कह सकते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में अर्थक्रियास्थिति-अर्थात् अर्थक्रियासाधकत्व रूप अविश्ववाद का लक्षण भी नहीं पाया जाता, अतः उसे प्रमाण कैसे कह सकते हैं? शब्दसंसृष्ट ज्ञान को विकल्प मानकर अप्रमाण कहने से शास्त्रोपदेश से क्षणिकत्वादि की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

मानसप्रत्यक्ष निरास—बौद्ध इन्द्रियज्ञान के अनन्तर उत्पन्न होने वाले विशद ज्ञान को, जो कि उसी इन्द्रियज्ञान के द्वारा ग्राह्य अर्थ के अनन्तरभावी द्वितीयक्षण को जानता है, मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। अकलंकदेव कहते हैं कि—एक ही निश्चयात्मक अर्थसाक्षात्कारी ज्ञान अनुभव में आता है। आपके द्वारा बताए गए मानस प्रत्यक्ष का तो प्रतिभास ही नहीं होता। 'नीलमिदम्' यह विकल्पज्ञान भी मानसप्रत्यक्ष का असाधक है; क्योंकि ऐसा विकल्पज्ञान तो इन्द्रियप्रत्यक्ष से ही उत्पन्न हो सकता है, इसके लिए मानसप्रत्यक्ष मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। बड़ी और गरम जलेबी खाते समय जितनी इन्द्रिय-बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं उतने ही तदनन्तरभावी अर्थ को विषय करनेवाले मानस प्रत्यक्ष मानना होंगें; क्योंकि वाद में उतने ही प्रकार के विकल्पज्ञान उत्पन्न होते हैं। इस तरह अनेक मानसप्रत्यक्ष मानने पर सन्तानभेद हो जाने के कारण 'जो मैं खाने वाला हूँ वही मैं सूँघ रहा हूँ' यह प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा। यदि समस्त रूपादि को विषय करने वाला एक ही मानसप्रत्यक्ष माना जाय; तब तो उसीसे रूपादि का परिज्ञान भी हो ही जायगा, फिर इन्द्रियबुद्धियाँ किस लिए स्वीकार की जायें? धर्मोत्तर ने मानसप्रत्यक्ष को आगम-प्रसिद्ध कहा है। अकलंक ने उसकी भी समालोचना की है कि—जब वह मात्र आगमप्रसिद्ध ही है; तब उसके लक्षण का परीक्षण ही निरर्थक है।

स्वसंवेदनप्रत्यक्ष खण्डन—यदि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है तब तो स्वाप तथा मूर्च्छादि अवस्थाओं में ऐसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को मानने में क्या बाधा है ? सुषुप्ताद्यवस्थाओं में अनुभवसिद्ध ज्ञान का निषेध तो किया ही नहीं जा सकता । यदि उक्त अवस्थाओं में ज्ञान का अभाव हो तो उस समय योगियों को चतुःसत्यविषयक भावनाओं का भी विच्छेद मानना पड़ेगा ।

बौद्धसम्मत विकल्प के लक्षण का निरास—बौद्ध ‘अभिलापवती प्रतीतिः कल्पना’ अर्थात् जो ज्ञान शब्दसंसर्ग के योग्य हो उस ज्ञान को कल्पना या विकल्पज्ञान कहते हैं । अकलंकदेव ने उनके इस लक्षण का खण्डन करते हुए लिखा है कि—यदि शब्द के द्वारा कहे जाने लायक ज्ञान का नाम कल्पना है तथा बिना शब्दसंश्रय के कोई भी विकल्पज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता; तब शब्द तथा शब्दांशों के स्मरणात्मक विकल्प के लिए तद्वाचक अन्य शब्दों का प्रयोग मानना होगा, उन अन्यशब्दों के स्मरण के लिए भी तद्वाचक अन्यशब्द स्वीकार करना होंगे, इस तरह दूसरे दूसरे शब्दों की कल्पना करने से अनवस्था नाम का दूषण होगा । अतः जब विकल्पज्ञान ही सिद्ध नहीं हो पाता; तब विकल्पज्ञानरूप साधक के अभाव में निर्विकल्पक भी असिद्ध ही रह जायगा और निर्विकल्पक तथा सविकल्पक रूप प्रमाणद्वय के अभाव में सकल प्रमेय का भी साधक प्रमाण न होने से अभाव ही प्राप्त होगा । यदि शब्द तथा शब्दांशों का स्मरणात्मक विकल्प तद्वाचक शब्दप्रयोग के बिना ही हो जाय; तब तो विकल्प का अभिलापवत्त्व लक्षण अव्याप्त हो जायगा । और जिस तरह शब्द तथा शब्दांशों का स्मरणात्मक विकल्प तद्वाचक अन्य शब्द के प्रयोग के बिना ही हो जाता है । उसी तरह ‘नीलमिदम्’ इत्यादि विकल्प भी शब्दप्रयोग की योग्यता के बिना ही हो जाँयगे, तथा चक्षुरादिवुद्धियाँ शब्दप्रयोग के बिना ही नीलपीतादि पदार्थों का निश्चय करने के कारण स्वतः व्यवसायात्मक सिद्ध हो जाँयगीं । अतः विकल्प का अभिलापवत्त्व लक्षण दूषित है । विकल्प का निर्दोष लक्षण है—समारोपविरोधीग्रहण या निश्चयात्मकत्व ।

सांख्य—श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्तियों को प्रत्यक्षप्रमाण मानते हैं । अकलंक देव कहते हैं कि—श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्तियाँ तो तैमिरिक रोगी को होने वाले द्विचन्द्रज्ञान तथा अन्य संशयादि ज्ञानों में भी प्रयोजक होती हैं, पर वे सभी ज्ञान प्रमाण तो नहीं हैं ।

नैयायिक—इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं । इसे भी अकलंकदेव ने सर्वज्ञ के ज्ञान में अव्याप्त बताते हुए लिखा है कि—त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावत् पदार्थों को विषय करने वाला सर्वज्ञ का ज्ञान प्रतिनियतशक्तिवाली इन्द्रियों से तो उत्पन्न नहीं हो सकता, पर प्रत्यक्ष तो अवश्य है । अतः सन्निकर्ष अव्याप्त है ।

सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष—चार प्रकार का है—१ अवग्रह, २ ईहा, ३ अवाय, ४ धारणा । प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति का साधारण क्रम यह है कि—सर्वप्रथम इन्द्रिय और पदार्थ

का योग्यदेशस्थितिरूप सम्बन्ध (सन्निकर्ष), ततः सामान्यावलोकन (निर्विकल्पक), ततः अवग्रह (सविकल्पक ज्ञान), ततः ईहा (विशेष जिज्ञासा), ततः अवाय (विशेष निश्चय), अन्त में धारणा (संस्कार) ।

सामान्यावलोकन से धारणापर्यन्त ज्ञान चाहे एक ही मत्युपयोगरूप माने जाय या पृथक् पृथक् उपयोगरूप, दोनों अवस्थाओं में अनुस्यूत आत्मा की सत्ता तो मानना ही होगी, अन्यथा 'जो मैं देखने वाला हूँ, वही मैं अवग्रह तथा ईहादि ज्ञानवाला हूँ, वही मैं धारणा करता हूँ' यह अनुभवसिद्ध प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा । इसी दृष्टि से अकलंकदेव ने दर्शन की अवग्रहरूप परिणति, अवग्रह की ईहारूप, ईहा की अवायरूप तथा अवाय की धारणारूप परिणति स्वीकार की है । अन्वित आत्मदृष्टिसे अभेद होने पर भी इन ज्ञानों में पर्याय की दृष्टिसे तो भेद है ही ।

ईहा और धारणा की ज्ञानात्मकता—वैशेषिक ईहा को प्रयत्न नाम का पृथक् गुण तथा धारणा को भावनासंस्कार नामक पृथक् गुण मानते हैं । अकलंकदेव ने इन्हें एक चैतन्यात्मक उपयोग की अवस्था होने के कारण ज्ञानात्मक ही कहा है, ज्ञान से पृथक् स्वतन्त्र गुणरूप नहीं माना है ।

अवग्रहादि का परस्पर प्रमाण-फलभाव—ज्ञान के साधकतम अंश को प्रमाण तथा प्रमित्यंश को फल कहते हैं । प्रकृत ज्ञानों में अवग्रह ईहा के प्रति साधकतम होने से प्रमाण है, ईहा प्रमारूप होने से उसका फल है । इसी तरह ईहा की प्रमाणाता में अवाय फल है तथा अवाय को प्रमाण मानने पर धारणा फलरूप होती है । तात्पर्य यह कि—पूर्वपूर्वज्ञान साधकतम होने से प्रमाण हैं तथा उत्तरोत्तरज्ञान प्रमितिरूप होने से फलरूप हैं । प्रमाणफलभाव का ऐसा ही क्रम वैशेषिकादि अन्य दर्शनों में भी पाया जाता है ।

मुख्य प्रत्यक्ष—इन्द्रिय और मन की अपेक्षा के बिना होने वाले, अतीन्द्रिय, व्यवसायात्मक, विशद, सत्य, अव्यवहित, अलौकिक, अशेष पदार्थों को विषय करने वाले, अक्रम ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं । वह सकल और विकल के भेद से दो प्रकार का है । सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञान है । अधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान अमुक पदार्थों को विषय करने के कारण विकलप्रत्यक्ष हैं ।

सर्वज्ञत्व विचार—प्राचीनकाल में भारतवर्ष की परम्परा के अनुसार सर्वज्ञता का सम्बन्ध भी मोक्ष के ही साथ था । मुमुक्षुओं में विचारणीय विषय तो यह था कि—मोक्ष के मार्ग का किसने साक्षात्कार किया है ? इसी मोक्षमार्ग को धर्म शब्दसे कहते हैं । अतः 'धर्म का साक्षात्कार हो सकता है या नहीं ?' इस विषय में विवाद था । एक पक्ष का, जिसके अनुगामी शबर, कुमारिल आदि मीमांसक हैं, कहना था कि—धर्म जैसी अतीन्द्रिय वस्तु को हम लोग प्रत्यक्ष से नहीं जान सकते, उसमें तो वेद का ही निर्वाध अधिकार है । धर्म की परिभाषा भी 'चोदनालक्षणोऽर्थः धर्मः' करके धर्म में चोदना-वेद

को ही प्रमाण कहा है। ऐसी धर्मज्ञता में वेद को ही अन्तिम प्रमाण मानने के कारण उन्हें पुरुष में अतीन्द्रियार्थविषयक ज्ञान का अभाव मानना पड़ा। उन्होंने पुरुषों में राग द्वेष अज्ञान आदि दोषों की शंका होने से अतीन्द्रियार्थप्रतिपादक वेद को पुरुषकृत न मानकर उसे अपौरुषेय स्वीकार किया। इस अपौरुषेयत्व की मान्यता से ही पुरुष में सर्वज्ञता का अर्थात् प्रत्यक्ष के द्वारा होनेवाली धर्मज्ञता का निषेध हुआ। कुमारिल इस विषय में स्पष्ट लिखते हैं कि—सर्वज्ञत्व के निषेध से हमारा तात्पर्य केवल धर्मज्ञत्व के निषेध से है। धर्म के सिवाय यदि कोई पुरुष संसार के समस्त अर्थों को जानना चाहता है, खुशी से जाने, हमें कोई आपत्ति नहीं है। पर धर्म का ज्ञान वेद के द्वारा ही होगा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं। इस तरह धर्म को वेद के द्वारा तथा धर्मातिरिक्त अन्य पदार्थों को यथासंभव अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा जानकर कोई पुरुष यदि टोटल में सर्वज्ञ बनता है, तब भी हमें कोई आपत्ति नहीं है।

दूसरा पक्ष बौद्धों का है। ये बुद्ध को धर्म-चतुरार्यसत्य का साक्षात्कार मानते हैं। इनका कहना है कि बुद्ध ने अपने निरास्रव शुद्धज्ञान के द्वारा दुःख, समुदय-दुःख के कारण, निरोध-मोक्ष, मार्ग-मोक्षोपाय इस चतुरार्यसत्यरूप धर्म का प्रत्यक्ष से ही स्पष्ट साक्षात्कार किया है। अतः धर्म के विषय में बुद्ध ही प्रमाण हैं। वे करुणा करके कपायज्वाला से झुलसे हुए संसारिजीवों के उद्धार की भावना से उपदेश देते हैं। इस मत के समर्थक धर्मकीर्ति ने लिखा है कि—हम 'संसार के समस्त पदार्थों का कोई पुरुष साक्षात्कार करता है कि नहीं' इस निरर्थक बात के भगड़े में नहीं पड़ना चाहते। हम तो यह जानना चाहते हैं कि—उसने इष्टतत्त्व-धर्म को जाना है कि नहीं? मोक्षमार्ग में अनुपयोगी संसार के कीड़े मकोड़ों आदि की संख्या के परिज्ञान का भला मोक्षमार्ग से क्या सम्बन्ध है? धर्मकीर्ति सर्वज्ञता का सिद्धान्ततः विरोध नहीं करके उसे निरर्थक अवश्य बतलाते हैं। वे सर्वज्ञता के समर्थकों से कहते हैं कि—भाई, मीमांसकों के सामने सर्वज्ञता—त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती समस्तपदार्थों का प्रत्यक्ष से ज्ञान—पर जोर क्यों देते हो? असली विवाद तो धर्मज्ञता में है कि धर्म के विषय में धर्म के साक्षात्कर्त्ता को प्रमाण माना जाय या वेद को? उस धर्ममार्ग के साक्षात्कार के लिए धर्मकीर्ति ने आत्मा-ज्ञानप्रवाह से दोषों का अत्यन्तोच्छेद माना और उसके साधन नैरात्म्यभावना आदि बताए हैं। तात्पर्य यह कि—जहाँ कुमारिल ने प्रत्यक्ष से धर्मज्ञता का निषेध करके धर्म के विषय में वेद का ही अव्याहत अधिकार सिद्ध किया है; वहाँ धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष से ही धर्म-मोक्षमार्ग का साक्षात्कार मानकर प्रत्यक्ष के द्वारा होनेवाली धर्मज्ञता का जोरों से समर्थन किया है।

धर्मकीर्ति के टीकाकार प्रज्ञाकरगुप्त ने सुगत को धर्मज्ञ के साथ ही साथ सर्वज्ञ-त्रिकालवर्ती यावत् पदार्थों का ज्ञाता भी सिद्ध किया है। और लिखा है कि—सुगत की तरह अन्य योगी भी सर्वज्ञ हो सकते हैं यदि वे अपनी साधक अवस्था में रागादिविनिर्मुक्ति की

तरह सर्वज्ञता के लिए भी यत्न करे। जिनने वीतरागता प्राप्त कर ली है वे चाहें तो थोड़े से प्रयत्न से ही सर्वज्ञ बन सकते हैं। शान्तरक्षित भी इसी तरह धर्मज्ञता साधन के साथ ही साथ सर्वज्ञता सिद्ध करते हैं और इस सर्वज्ञता को वे शक्तिरूप से सभी वीतरागों में मानते हैं। प्रत्येक वीतराग जब चाहे तब जिस किसी भी वस्तु को अनायास ही जान सकते हैं।

योग तथा वैशेषिक के सिद्धान्त में यह सर्वज्ञता अणिमा आदि ऋद्धियों की तरह एक विभूति है जो सभी वीतरागों के लिए अवश्य प्राप्तव्य नहीं है। हाँ, जो इसकी साधना करेगा उसे यह प्राप्त हो सकती है।

जैन तार्किकों ने प्रारम्भ से ही त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावज्ज्ञेयों के प्रत्यक्षदर्शन रूप अर्थ में सर्वज्ञता मानी है और उसका समर्थन भी किया है। यद्यपि तर्कयुग के पहिले 'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ'—जो एक आत्मा को जानता है वह सर्व पदार्थों को जानता है इत्यादि वाक्य जो सर्वज्ञता के मुख्य साधक नहीं हैं, पाए जाते हैं; पर तर्कयुग में इनका बैसा चाहिए वैसा उपयोग नहीं हुआ। समन्तभद्र आदि आचार्यों ने सूक्ष्म, अन्तरित तथा दूरवर्ती पदार्थों का प्रत्यक्षत्व अनुमेयत्व हेतु से सिद्ध किया है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, जब दोष और आवरण का समूल क्षय हो जायगा तब ज्ञान अनायास ही अपने पूर्णरूप में प्रकट होकर सम्पूर्ण अर्थ का साक्षात्कार करेगा। बौद्धों की तरह किसी भी जैनतर्कग्रन्थ में धर्मज्ञता और सर्वज्ञता का विभाजन कर उनमें गौण-मुख्य-भाव नहीं बताया गया है। सभी जैनतार्किकों ने एकस्वरसे त्रिलोकत्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों के पूर्णपरिज्ञान अर्थ में सर्वज्ञता का समर्थन किया है। धर्मज्ञता तो उक्त पूर्ण-सर्वज्ञता के गर्भ में ही निहित मान ली गई है। ✓

अकलंकदेव ने सर्वज्ञता तथा मुख्यप्रत्यक्ष के समर्थन के साथ ही साथ धर्मकीर्ति के उन विचारों का खूब समालोचन किया है जिनमें बुद्ध को करुणावान्, शास्ता, तायि, तथा चातुरार्यसत्य का उपदेष्टा बताया है। साथ ही सर्वज्ञाभाव के विशिष्ट समर्थक कुमारिल की युक्तियों का खंडन किया है। वे लिखते हैं कि—आत्मा में सर्वपदार्थों के जानने की पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्था में मल-ज्ञानावरण से आवृत होने के कारण उसका पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता पर जब चैतन्य के प्रतिबन्धक कर्म का पूर्ण क्षय हो जाता है, तब उस अप्राप्यकारी ज्ञान को समस्त अर्थों को जानने में क्या बाधा है? यदि अतीन्द्रियपदार्थों का ज्ञान न हो सके तो ज्योतिर्ग्रहों की ग्रहण आदि भविष्यदृशाओं का जो अनागत होने से अतीन्द्रिय हैं, उपदेश कैसे होगा? ज्योतिर्ज्ञानोपदेश यथार्थ देखा जाता है, अतः यह मानना ही चाहिए कि उसका यथार्थ उपदेश साक्षाद्द्रष्टा माने बिना नहीं हो सकता। जैसे सत्यस्वप्नदर्शन इन्द्रियादि की सहायता के बिना ही भाविराज्यलाभादि का यथार्थ स्पष्ट ज्ञान कराता है तथा विशद् है उसी तरह सर्वज्ञ का ज्ञान भी भाविपदार्थों में संवादक तथा स्पष्ट है। जैसे प्रश्न या ईक्षणिकादिविद्या अतीन्द्रिय पदार्थों का स्पष्ट भान करा देती है

उसी तरह अतीन्द्रियज्ञान स्पष्ट भासक होता है। इस तरह साधक प्रमाणों को बताकर उन्होंने जो एक खास हेतु का प्रयोग किया है, वह है—‘सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणत्व’

अर्थात् किसी भी वस्तु की सत्ता सिद्ध करने के लिए सबसे बड़ा प्रमाण यही हो सकता है कि उसकी सत्ता में कोई बाधक प्रमाण नहीं मिले। जैसे ‘मैं सुखी हूँ’ यहाँ सुख का साधक प्रमाण यही है कि—मेरे सुखी होने में कोई बाधक प्रमाण नहीं है। चूँकि सर्वज्ञ की सत्ता में कोई भी बाधक प्रमाण नहीं है, अतः उसकी निर्वाध सत्ता होनी चाहिए। इस हेतु के समर्थनार्थ उन्होंने विरोधियों के द्वारा कल्पित बाधकों का निराकरण इस प्रकार किया है—

प्र०—‘अर्हन्त सर्वज्ञ नहीं हैं, क्योंकि वह वक्ता है, पुरुष है, जैसे कोई भी गली में घूमने वाला साधारण मनुष्य’ यह अनुमान बाधक है।

उ०—वक्तृत्व और सर्वज्ञत्व का कोई विरोध नहीं है, वक्ता भी हो सकता है और सर्वज्ञ भी। ज्ञान की बढ़ती में वचनों का हास नहीं होता।

प्र०—वक्तृत्व विवक्षा से सम्बन्ध रखता है, अतः इच्छारहित निर्मोही सर्वज्ञ में वचनों की संभावना ही कैसे है? शब्दोच्चारण की इच्छा तो मोह की पर्याय है।

उ०—विवक्षा के साथ वक्तृत्व का कोई अविनाभाव नहीं है। मन्दबुद्धि शास्त्रविवक्षा रखते हैं, पर शास्त्र का व्याख्यान नहीं कर सकते। सुषुप्तादि अवस्थाओं में वचन देखे जाते हैं पर विवक्षा नहीं है। अतः वचनप्रवृत्ति में चैतन्य तथा इन्द्रियों की पटुता कारण है। लेकिन उनका सर्वज्ञता के साथ कोई विरोध नहीं है। अथवा, वचन विवक्षाहेतुक मान भी लिए जायँ पर सत्य और हितकारक वचन की प्रवृत्ति कराने वाली विवक्षा दोषवाली कैसे हो सकती है? इसी तरह निर्दोष वीतराग पुरुषत्व सर्वज्ञता के साथ कोई विरोध नहीं रखता। अतः इन व्यभिचारी हेतुओं से साध्यसिद्धि नहीं हो सकती; अन्यथा ‘जैमिनि को यथार्थ वेदज्ञान नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है एवं पुरुष है’ इस अनुमान से जैमिनि की वेदार्थज्ञता का भी निषेध भलीभाँति किया जा सकता है।

प्र०—आजकल हमें किसी भी प्रमाण से सर्वज्ञ उपलब्ध नहीं होता, अतः अनुपलम्भ होने से उसका अभाव ही मानना चाहिए।

उ०—पूर्वोक्त अनुमानों से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है, अतः अनुपलम्भ तो नहीं कहा जा सकता। यह अनुपलम्भ आपको है, या संसार के समस्त जीवों को? आपको तो इस समय हमारे चित्त में आने वाले विचारों की भी अनुपलब्धि है पर इससे उनका अभाव तो सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः स्वोपलम्भ अनैकान्तिक है। ‘सबको सर्वज्ञका अनुपलम्भ है’ यह बात तो सबके ज्ञानों का ज्ञान होने पर ही सिद्ध हो सकती है। और यदि किसी पुरुष को समस्त प्राणियों के ज्ञान का ज्ञान हो सके; तब तो वही पुरुष सर्वज्ञ हो जायगा। यदि समस्तजीवों के ज्ञान का ज्ञान नहीं हो सके; तब तो ‘सबको सर्वज्ञ का अनुपलम्भ है’ यह बात असिद्ध ही रह जायगी।

प्र०—‘सर्वज्ञता आगमोक्तपदार्थों का यथार्थज्ञान एवं अभ्यास से होगी तथा आगम सर्वज्ञ के द्वारा कहा जायगा’ इस तरह सर्वज्ञ और आगम दोनों ही अन्योन्याश्रित—एक दूसरे के आश्रित होने से असिद्ध हैं ।

उ०—सर्वज्ञ आगम का कारक है । प्रकृत सर्वज्ञ का ज्ञान पूर्वसर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगम के अर्थ के आचरण से उत्पन्न होता है, पूर्व आगम तत्पूर्वसर्वज्ञ के द्वारा कहा गया है । इस तरह बीजाङ्कुर की तरह सर्वज्ञ और आगम की परंपरा अनादि मानी जाती है । अनादिपरम्परा में इतरेतराश्रय दोष का विचार अव्यवहार्य है ।

प्र०—जब आजकल पुरुष प्रायः रागादि दोष से दूषित तथा अज्ञानी देखे जाते हैं, तब अतीतकाल में भी किसी अतीन्द्रियार्थद्रष्टा की संभावना नहीं की जा सकती और न भविष्यतकाल में ही ? क्योंकि पुरुषजाति की शक्तियाँ तीनों कालों में प्रायः समान ही रहती हैं; वे अपनी अमुक मर्यादा नहीं लाँघ सकतीं ।

उ०—यदि पुरुषातिशय को हम नहीं जान सकते तो इससे उसका अभाव नहीं होता । अन्यथा आजकल कोई वेद का पूर्णज्ञ नहीं देखा जाता अतः अतीतकाल में जैमिनि को भी उसका यथार्थ ज्ञान नहीं था यह कहना चाहिये । बुद्धि में तारतम्य होने से उसके प्रकर्ष की संभावना तो है ही । जैसे मलिन सुवर्ण अग्नि के ताप से क्रमशः पूर्ण निर्मल हो जाता है, उसी तरह सम्यग्दर्शनादि के अभ्यास से आत्मा भी पूर्णरूपसे निर्मल हो सकता है ।

प्र०—जब सर्वज्ञ रागी आत्मा के राग तथा दुःखी के दुःख का साक्षात्कार करता है तब तो वह स्वयं रागी तथा दुःखी हो जायगा ।

उ०—दुःख या राग को जाननेमात्रसे कोई दुःखी या रागी नहीं होता । राग तो आत्मा का स्वयं तद्रूप से परिणामन करने पर होता है । क्या कोई श्रोत्रियब्राह्मण मदिरा के रस का ज्ञान करनेमात्रसे मद्यपायी कहा जा सकता है ? राग के कारण मोहनीय आदि कर्म सर्वज्ञ से अत्यन्त उच्छिन्न हो गए हैं, अतः वे राग या दुःख को जाननेमात्रसे रागी या दुःखी नहीं हो सकते ।

प्र०—जब सर्वज्ञ के साधक और बाधक दोनों प्रकार के प्रमाण नहीं मिलते, तो उसकी सत्ता संदिग्ध ही कहना चाहिए ।

उ०—साधक प्रमाण पहिले बता आए हैं तथा बाधकों का परिहार भी किया जा चुका है तब संदेह क्यों हो ? सर्वज्ञ के अभाव का साधन तो सर्वज्ञ हुए बिना किया ही नहीं जा सकता । जब हम त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावत्पुरुषों का असर्वज्ञरूप में दर्शन कर सकेंगे तभी असर्वज्ञता सिद्ध की जा सकती है । पर ऐसी असर्वज्ञता सिद्ध करनेवाला व्यक्ति स्वयं अनायास ही सर्वज्ञ बन जायगा ।

धर्मकीर्त्ति ने बुद्ध को करुणावान् तथा हेयोपादेय तत्त्व का उपदेष्टा कहा है । अकलंक कहते हैं कि—जब आप समस्तधर्मों के आधारभूत आत्मा को ही नहीं मानते तब किस पर

करुणा की जायगी तथा कौन करुणा करेगा ? कौन उसका अनुष्ठान करेगा ? ज्ञानक्षणा तो परस्पर भिन्न हैं, अतः भावना किसी अन्यज्ञानक्षण को होगी तो मुक्ति किसी दूसरे ज्ञानक्षणा को । दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग ये चार आर्यसत्य तो तब ठीक हो सकते हैं जब दुःखादि के अनुभव करनेवाले आत्मा को स्वीकार किया जाय । इस तरह जीव जिसे संसार होता है तथा जो मुक्त होता है, अजीव जिसके सम्बन्ध से दुःख होता है, इन दो आधारभूत तत्त्वों को माने बिना तत्त्वसंख्या की पूर्णता नहीं हो सकती । दुःख को जैन लोग बन्ध तथा समुदय को आश्रय शब्द से कहते हैं । निरोध को मोक्ष तथा मार्ग को संवर और निर्जरा शब्द से कहते हैं । अतः चार आर्यसत्य के साथ जीव और अजीव इन दो मूल तत्त्वों को मानना ही चाहिये । जीव और अजीव इन दो मूल तत्त्वों के अनादिकालीन सम्बन्ध से ही दुःख आदि की सृष्टि होती है । बुद्ध ने हिंसा का भी उपदेश दिया है अतः मालूम होता है कि वे यथार्थदर्शी नहीं थे । इत्यादि । सद् आत्मा को हेय कहना, निरोध को जो असद्रूप है उपादेय कहना, उसके कारणों का उपदेश देना तथा असत् की प्राप्ति के लिए यत्न करना ये सब बातें उनकी असर्वज्ञता का दिग्दर्शन कराने के लिए पर्याप्त हैं । अकलंक के द्वारा बुद्ध के प्रति किए गए अकरुणावत्त्व आदि आक्षेपों के लिए उस समय की साम्प्रदायिक परिस्थिति ही जवाबदेह है, क्योंकि कुमारिल और धर्मकीर्ति आदि ने जैनो के ऊपर भी ऐसे ही कल्पित आक्षेप किए हैं ।

परोक्ष—अकलङ्कदेव ने तत्त्वार्थसूत्रकार के द्वारा निर्दिष्ट परोक्षज्ञानों में मतिज्ञान मति स्मृत्यादि ज्ञानों को नामयोजना के पहिले सांख्यवहारिकप्रत्यक्ष कहकर नाम योजना होने पर उन्हीं ज्ञानों को श्रुतव्यपदेश दिया है और श्रुत को अस्पष्ट होने से परोक्ष कहा है । अर्थात् परोक्षज्ञान के स्मृति, मंज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध तथा श्रुत-आगम ये पाँच भेद हुए । अकलंकदेव ने राजवार्त्तिक में अनुमान आदि ज्ञानों को स्वप्रतिपत्तिकाल में (नामयोजना से पहिले) अनक्षरश्रुत तथा परप्रतिपत्तिकाल में अक्षरश्रुत कहा है । लघीयस्त्रय में मति (इन्द्रियानिन्द्रियजप्रत्यक्ष) को नामयोजना के पहिले मतिज्ञान एवं सांख्यवहारिकप्रत्यक्ष तथा शब्द-योजना के बाद उसे ही श्रुत कहना उनके समन्वय करने के उत्कट यत्न की ओर ध्यान खींचता है, और इससे यह भी मालूम होता है कि लघीयस्त्रय बनाते समय वे अपनी योजना को दृढ़ नहीं कर सके थे; क्योंकि उनने लघीयस्त्रय में मति स्मृति आदि को अवस्थाविशेष में मतिज्ञान लिखने पर भी न्यायविनिश्चय में स्मरणादि ज्ञानों के ऐकान्तिक श्रुतत्व-परोक्षत्व का विधान किया है ।

स्मृति—स्मरण को कोई वादी गृहीतग्राही होने से तथा कोई अर्थ से उत्पन्न न होने के कारण अप्रमाण कहते आए हैं । पर अकलंकदेव कहते हैं कि—यद्यपि स्मरण गृहीतग्राही है फिर भी अविशंवादी होने से प्रमाण ही होना चाहिये । वह अविशंवादी प्रत्यभिज्ञान का जनक भी है । स्मृति समारोप का व्यवच्छेद करने वाली है, अतः उसे प्रमाण मानने में कोई विरोध नहीं होना चाहिए ।

प्रत्यभिज्ञान—दर्शन और स्मरण से उत्पन्न होनेवाले, एकत्व सादृश्य वैसदृश्य प्रतियोगि तथा दूरत्वादिरूपसे संकलन करनेवाले ज्ञान का नाम प्रत्यभिज्ञान है। प्रत्यभिज्ञान यद्यपि स्मरण और प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है फिर भी इन दोनों के द्वारा अगृहीत पूर्वोत्तरपर्यायवर्ती एकत्व को विषय करने के कारण प्रमाण है। अविस्मृतिवत् भी प्रत्यभिज्ञान में पाया जाता है जो प्रमाणाता का खास प्रयोजक है।

तर्क—प्रत्यक्ष—साध्यसाधनसद्भावज्ञान और अनुपलम्भ—साध्याभाव-साधनाभावज्ञान से उत्पन्न होनेवाला सर्वोपसंहाररूपसे साध्यसाधन के सम्बन्ध को ग्रहण करनेवाला ज्ञान तर्क है। संक्षेप में अविनाभावरूप व्याप्ति को ग्रहण करनेवाला ज्ञान तर्क कहलाता है। जितना भी धूम है वह कालत्रय तथा त्रिलोक में अग्नि से ही उत्पन्न होता है, अग्नि के अभाव में कहींभी कभीभी नहीं हो सकता ऐसा सर्वोपसंहारी अविनाभाव प्रत्यक्षादि किर्मी भी प्रमाण से गृहीत नहीं होता। अतः अगृहीतग्राही तथा अविस्मृतिवत् तर्क को प्रमाणभूत मानना ही चाहिये। सन्निहितपदार्थ को विषय करनेवाला अविचारक प्रत्यक्ष इतने विस्तृत क्षेत्रवाले अविनाभाव को नहीं जान सकता। भले ही वह एक अमुकस्थान में साध्यसाधन के सम्बन्ध को जान सके, पर अविचारक होने से उसकी साध्यसाधनसम्बन्धविषयक विचार में सामर्थ्य ही नहीं है। अनुमान तो व्याप्तिग्रहण के बाद ही उत्पन्न होता है, अतः प्रकृत अनुमान स्वयं अपनी व्याप्ति के ग्रहण करने का प्रयत्न अन्योन्याश्रयदोष आने के कारण नहीं कर सकता; क्योंकि जब तक व्याप्ति गृहीत न हो जाय तब तक अनुमानोत्पत्ति नहीं हो सकती और जब तक अनुमान उत्पन्न न हो जाय तब तक व्याप्ति का ग्रहण असंभव है। प्रकृत अनुमान की व्याप्ति किसी दूसरे अनुमान के द्वारा ग्रहण करने पर तो अनवस्था दूषण स्पष्ट ही है। इस तरह तर्क को स्वतन्त्र प्रमाण मानना ही उचित है।

जिनमें अविनाभाव नहीं है उनमें अविनाभाव की सिद्धि करनेवाला ज्ञान कुतर्क है। जेने विवक्षा से वचन का अविनाभाव बतलाना; क्योंकि विवक्षा के अभाव में भी सुषुप्तादि अवस्था में वचनप्रयोग देखा जाता है। शास्त्रविवक्षा रहने पर भी मन्दबुद्धियों के शास्त्रव्याख्यानरूप वचन नहीं देखे जाते।

अनुमान—अविनाभावी साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। नैयायिक अनुमिति के कारण को अनुमान कहते हैं। उनके मत से परामर्शज्ञान अनुमान-रूप होता है। 'धूम अग्नि ने व्याप्त है तथा वह धूम पर्वत में है' इस एकज्ञान को परामर्शज्ञान कहते हैं। बौद्ध त्रिरूपपद्मि से अनुमेय के ज्ञान को अनुमान मानते हैं।

साधन का स्वरूप तथा अविनाभावग्रहणप्रकार—साध्य के साथ जिसकी प्रत्यक्षानुपपत्ति-अविनाभाव निश्चित हो उसे साधन कहते हैं। अविनाभाव (विना-साध्य के अभाव में अ-नहीं भाव-होना) साध्य के अभाव में साधन के न होने को कहते हैं।

यह अविनाभाव प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से उत्पन्न होनेवाले तर्क नाम के प्रमाण के द्वारा गृहीत होता है। बौद्ध पक्षधर्मत्वादि त्रिरूपवाले साधन को सत्साधन कहते हैं। वे सामान्य से अविनाभाव को ही साधन का स्वरूप मानते हैं। त्रिरूप तो अविनाभाव के परिचायक मात्र हैं। वे तादात्म्य और तदुत्पत्ति इन दो सम्बन्धों से अविनाभाव का ग्रहण मानते हैं। उनके मत से हेतु के तीन भेद हैं—१ स्वभावहेतु, २ कार्यहेतु, ३ अनुपलब्धिहेतु। स्वभाव और कार्यहेतु विधिसाधक हैं तथा अनुपलब्धिहेतु निषेधसाधक। स्वभावहेतु में तादात्म्यसम्बन्ध, कार्यहेतु में तदुत्पत्तिसम्बन्ध तथा अनुपलब्धिहेतु में यथासंभव दोनों सम्बन्ध अविनाभाव के प्रयोजक होते हैं।

अकलंकदेव इसका निरास करते हैं कि—जहाँ तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध से हेतु में गमकत्व देखा जाता है वहाँ अविनाभाव तो रहता ही है, भले ही वह अविनाभाव, तादात्म्य तथा तदुत्पत्तिप्रयुक्त हो, पर बहुतसे ऐसे भी हेतु हैं जिनका साध्य के साथ तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं है फिर भी अविनाभाव के कारण वे नियत साध्य का ज्ञान कराते हैं। जैसे कृतिकोदय से भविष्यत् शकटोदय का अनुमान। यहां कृतिकोदय का शकटोदय के साथ न तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति ही। हेतुओं के तीन भेद मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि के सिवाय कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतु भी स्वनियतसाध्य का अनुमान कराते हैं।

कारणहेतु—वृक्ष से छाया का ज्ञान, चन्द्रमा से जल में पड़नेवाले उसीके प्रतिबिम्ब का अवाधित अनुमान होता है। यहाँ वृक्ष या चन्द्र न तो छाया या जलप्रतिबिम्बित चन्द्र के कार्य हैं और न स्वभाव ही। हाँ, निमित्तकारण अवश्य हैं। अतः कारणलिङ्ग से भी कार्य का अनुमान मानना चाहिये। जिस कारण की सामर्थ्य अप्रतिबद्ध हो तथा जिसमें अन्य कारणों की विकलता न हो वह कारण अवश्य ही कार्योपादक होता है।

पूर्वचरहेतु—कृतिका नक्षत्र का उदय देखकर एक मुहूर्त के बाद रोहिणी नक्षत्र के उदय का अनुमान देखा जाता है। अब विचार कीजिए कि—कृतिका का उदय जिससे रोहिणी के उदय का अविश्वसनीय अनुमान होता है, किस हेतु में शामिल किया जाय ? कृतिकोदय तथा रोहिण्युदय में कालभेद होने से तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः स्वभावहेतु में अन्तर्भाव नहीं होगा। तथा एक दूसरे के प्रति कार्यकारणभाव नहीं है अतः कार्य या कारणहेतु में उसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। अतः पूर्वचरहेतु अतिरिक्त ही मानना चाहिए। इसी तरह आज सूर्योदय देखकर कल सूर्योदय होगा, चन्द्रग्रहण होगा इत्यादि भविष्यद्विषयों का अनुमान अमुक अविनाभावी पूर्वचर हेतुओं से होता है।

उत्तरचरहेतु—कृतिका का उदय देखकर एक मुहूर्त पहिले भरणी नक्षत्र का उदय हो चुका यह अनुमान होता है। यह उत्तरचरहेतु पूर्वोक्त किसी हेतु में अन्तर्भूत नहीं होता।

सहचर हेतु—चन्द्रमा के इस भाग को देखकर उसके उस भाग का अनुमान, तराजू के एक पलड़े को नीचा देख कर दूसरे पलड़े के ऊँचे होने का अनुमान, रस चखकर रूप का अनुमान, तथा सास्त्रा देखकर गौ का अनुमान देखा जाता है। यहाँ रसादि सहचर हेतु हैं; क्योंकि इनका अपने साध्यों के साथ तादात्म्य और तदुत्पत्ति आदि कोई सम्बन्ध नहीं होने से ये कार्य आदि हेतुओं में अन्तर्भूत नहीं हैं। हाँ, अविनाभाव मात्र होने से ये हेतु गमक होते हैं।

अनुपलब्धि—बौद्ध दृश्यानुपलब्धि से ही अभाव की सिद्धि मानते हैं। दृश्य से उनका तात्पर्य ऐसी वस्तु से है कि—जो वस्तु सूक्ष्म अन्तरित या दूरवर्त्ती न हो तथा जो प्रत्यक्ष का विषय हो सकती हो। ऐसी वस्तु उपलब्धि के समस्त कारण मिलने पर भी यदि उपलब्ध न हो तो उसका अभाव समझना चाहिए। सूक्ष्मादि पदार्थों में हम लोगों के प्रत्यक्ष आदि की निवृत्ति होने पर भी उनका अभाव तो नहीं होता। प्रमाण से प्रमेय का सद्भाव जाना जा सकता है पर प्रमाण की अप्रवृत्ति से प्रमेय का अभाव नहीं माना जा सकता। अतः विप्रकृष्ट पदार्थों में अनुपलब्धि संशयहेतु होने से अभाव की साधिका नहीं हो सकती।

अकलंकदेव इसका निरास करते हुए लिखते हैं कि—दृश्यत्व का अर्थ प्रत्यक्षविषयत्व ही न होना चाहिए किन्तु प्रमाणविषयत्व करना चाहिए। इससे यह तात्पर्य होगा कि—जो वस्तु जिस प्रमाण का विषय होकर यदि उसी प्रमाण से उपलब्ध न हो तो उसका अभाव सिद्ध होगा। देखो—मृत शरीर में स्वभाव से अतीन्द्रिय परचैतन्य का अभाव भी हम लोग सिद्ध करते हैं। यहाँ परचैतन्य में प्रत्यक्षविषयत्वरूप दृश्यत्व तो नहीं है; क्योंकि परचैतन्य हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता। वचन उष्णताविशेष या आकारविशेष आदि के द्वारा उसका अनुमान किया जाता है, अतः उन्हीं वचनादि के अभावसे चैतन्य का अभाव सिद्ध होना चाहिए। अदृश्यानुपलब्धि यदि संशय हेतु मानी जाय तो अपनी अदृश्य आत्मा की सत्ता भी कैसे सिद्ध हो सकेगी? आत्मादि अदृश्य पदार्थ अनुमान के विषय हैं; यदि हम उनकी अनुमान से उपलब्धि न कर सके तब उनका अभाव सिद्ध कर सकते हैं। हाँ, जिन पिशाचादि पदार्थों को हम किसी भी प्रमाण से नहीं जान सकते उनका अभाव हम अनुपलब्धि से नहीं कर सकेंगे। तात्पर्य यह कि—जिस वस्तु को हम जिन जिन प्रमाणों से जानते हैं उस वस्तु का उन उन प्रमाणों की निवृत्ति से अभाव सिद्ध होगा।

अकलङ्क कृत हेतु के भेद—अकलंकदेव ने सद्भाव साधक ६ उपलब्धियों का वर्णन किया है—

- १ स्वभावोपलब्धि—आत्मा है, उपलब्ध होने से।
- २ स्वभावकार्योपलब्धि—आत्मा थी, स्मरण होने से।
- ३ स्वभावकारणोपलब्धि—आत्मा होगी, सत् होने से।

- ४ सहचरोपलब्धि—आत्मा है, स्पर्शविशेष (शरीर में उष्णता विशेष) पाया जाने से ।
 ५ सहचरकार्योपलब्धि—कायव्यापार हो रहा है, वचनप्रवृत्ति होने से ।
 ६ सहचरकारणोपलब्धि—आत्मा सप्रदेशी है, सावयवशरीर के प्रमाण होने से ।
 असम्बन्धहारसाधन के लिए ६ अनुपलब्धियाँ बताई हैं—

- १ स्वभावानुपलब्धि—क्षणक्षयैकान्त नहीं है, अनुपलब्ध होने से ।
 २ कार्यानुपलब्धि—क्षणक्षयैकान्त नहीं है, उसका कार्य नहीं पाया जाता ।
 ३ कारणानुपलब्धि—क्षणक्षयैकान्त नहीं है, उसका कारण नहीं पाया जाता ।
 ४ स्वभावसहचरानुपलब्धि—आत्मा नहीं है, रूपविशेष (शरीर में आकारविशेष) नहीं पाया जाता ।

५ सहचरकार्यानुपलब्धि—आत्मा नहीं है, व्यापार, आकारविशेष तथा वचनविशेष की अनुपलब्धि होने से ।

६ सहचरकारणानुपलब्धि—आत्मा नहीं है, उसके द्वारा आहार ग्रहण करना नहीं देखा जाता । सजीव शरीर ही स्वयं आहार ग्रहण करता है ।

सम्बन्धहार के निषेध के लिए ३ उपलब्धियाँ बताई हैं—

- १ स्वभावविरुद्धोपलब्धि—पदार्थ नित्य नहीं है, परिणामी होने से ।
 २ कार्यविरुद्धोपलब्धि—लक्षणविज्ञान प्रमाण नहीं है, विसंवादी होने से । (?)
 ३ कारणविरुद्धोपलब्धि—इस व्यक्ति को परीक्षा का फल प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि इसने अभवैकान्त का ग्रहण किया है ।

इस तरह सद्भावसाधक ६ उपलब्धियाँ तथा अभवसाधक ६ अनुपलब्धियों को कण्ठोक्त कहकर इनके और अन्य अनुपलब्धियों के भेदप्रभेदों का इन्हीं में अन्तर्भाव किया है । साथ ही यह भी बताया है कि—धर्मकीर्ति के कथनानुसार अनुपलब्धियाँ केवल अभव साधक ही नहीं हैं, किन्तु भावसाधक भी होती हैं । इसी संकेत के अनुसार माणिक्यनन्दि, विद्यानन्द तथा वादिदेवसूरि ने उपलब्धि और अनुपलब्धि दोनों को उभयसाधक मानकर उनके अनेकों भेदप्रभेद किए हैं ।

त्रैरूप्य निरास—त्रौद्ध हेतु के तीन रूप मानता है । प्रत्येक सत्य हेतु में निम्न त्रिरूपता अवश्य ही पाई जानी चाहिए, अन्यथा वह सद्धेतु नहीं हो सकता । १ पक्षधर्मत्व—हेतु का पक्ष में रहना । २ सपक्षसत्त्व—हेतु का समस्त सपक्षों में या कुछ सपक्षों में रहना । ३ विपक्षासत्त्व—हेतु का विपक्ष में विलकुल नहीं पाया जाना । अकलंकदेव इन्हीं से तीसरे विपक्षासत्त्व रूप को ही सद्धेतुत्व का नियामक मानते हैं । उनकी दृष्टि से हेतु का पक्ष में रहना तथा सपक्षसत्त्व कोई आवश्यक नहीं है । वे लिखते हैं कि—‘शकटोदय होगा, कृतिकोदय होने से’ ‘भरणी का उदय हो चुका, कृतिका का उदय होने से’ इन अनुमानों में कृतिकोदय हेतु पक्षभूत शकट तथा भरणि में नहीं पाया जाता । इसी

तरह 'अद्वैतवादी के प्रमाण हैं, अन्यथा इष्टसाधन और अनिष्टदूषण नहीं हो सकेंगे।' इस स्थल में जब इस अनुमान के पहिले अद्वैतवादियों के यहाँ प्रमाण नामक धर्मी की सत्ता ही सिद्ध नहीं है तब पक्षधर्मत्व कैसे बन सकता है ? पर उक्त हेतुओं की स्वसाध्य के साथ अन्यथाऽनुपपत्ति (अन्यथा-साध्य के अभाव में-विपक्ष में अनुपपत्ति-असत्त्व) देखी जाती है, अतः वे सद्धेतु हैं ।

धर्मकीर्ति के टीकाकार कर्णकगोमि ने शकटोदयादि का अनुमान कराने वाले कृतिकोदयादि वैयधिकरण हेतुओं में काल या आकाश को धर्मी बनाकर पक्षधर्मत्व घटाने की युक्ति का उपयोग किया है । अकलंकदेव ने इसका भी निराकरण करते हुए कहा है कि—यदि काल आदि को धर्मी बनाकर कृतिकोदय में पक्षधर्मत्व घटाया जायगा तब तो पृथिवीरूप पक्ष की अपेक्षा से महानसगतधूमहेतु से समुद्र में भी अग्नि सिद्ध करने में हेतु अपक्षधर्म नहीं होगा ।

सपक्षसत्त्व को अनावश्यक बताते हुए अकलंकदेव लिखते हैं कि—पक्ष में साध्य और साधन की व्याप्तिरूप अन्तर्व्याप्ति के रहने पर ही हेतु सर्वत्र गमक होता है । पक्ष से बाहिर—सपक्ष में व्याप्ति ग्रहण करने रूप बहिर्व्याप्ति से कोई लाभ नहीं । क्योंकि अन्तर्व्याप्ति के असिद्ध रहने पर बहिर्व्याप्ति तो असाधक ही है । जहाँ अन्तर्व्याप्ति गृहीत है वहाँ बहिर्व्याप्ति के ग्रहण करने पर भी कुछ खास लाभ नहीं है । अतः बहिर्व्याप्ति का प्रयोजक सपक्षसत्त्वरूप भी अनावश्यक है । इस तरह अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का व्यावर्त्तिक रूप मानते हुए अकलंकदेव ने स्पष्ट लिखा है कि—जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ त्रिरूपता मानने से क्या लाभ ? जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ त्रिरूपता मानकर भी गमकता नहीं आ सकती । 'अन्यथानुपपन्नत्वं' यह कारिका तत्त्वसंग्रहकार के उल्लेखानुसार पात्रस्वामि की मालूम होती है । यही कारिका अकलंक ने न्यायविनिश्चय के त्रिलक्षण-खण्डनप्रकरण में लिखी है ।

हेत्वाभास—नैयायिक हेतु के पाँच रूप मानते हैं, अतः वे एक एक रूप के अभाव में असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम ये पाँच हेत्वाभास मानते हैं । बौद्ध ने हेतु को त्रिरूप माना है, अतः उनके मत से पक्षधर्मत्व के अभाव से असिद्ध हेत्वाभास, सपक्षसत्त्व के अभाव से विरुद्ध हेत्वाभास तथा विपक्षासत्त्व के अभाव से अनैकान्तिक हेत्वाभास, इस तरह तीन हेत्वाभास होते हैं । अकलंकदेव ने जब अन्यथानुपपन्नत्व को ही हेतु का एकमात्र नियामक रूप माना है तब स्वभावातः इनके मत से अन्यथानुपपन्नत्व के अभाव में एक ही हेत्वाभास माना जायगा, जिसे उन्होंने खयं लिखा है कि—वस्तुतः एक ही असिद्ध हेत्वाभास है । अन्यथानुपपत्ति का अभाव कई प्रकार से होता है अतः विरुद्ध, असिद्ध, सन्दिग्ध और अकिञ्चित्कर के भेद से चार हेत्वाभास भी हो सकते हैं । इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

१ असिद्ध—सर्वथाव्ययात्—सर्वथा पक्ष में न पाया जानेवाला, अथवा सर्वथा जिसका साध्य से अविनाभाव न हो । जैसे शब्द अनित्य है चाक्षुष होने से ।

२ विरुद्ध—अन्यथाभावात्—साध्याभाव में पाया जानेवाला, जैसे सब क्षणिक हैं, सत् होने से । सत्त्वहेतु सर्वथाक्षणिकत्व के विपक्षभूत कथञ्चित्क्षणिकत्व में पाया जाता है ।

३ अनैकान्तिक—विपक्ष में भी पाया जाने वाला । जैसे सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त वक्तृत्वादिहेतु । यह निश्चितानैकान्तिक, सन्दिग्धनैकान्तिक आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है ।

४ अकिञ्चित्कर—सिद्ध साध्य में प्रयुक्त हेतु । अन्यथानुपपत्ति से रहित जितने त्रिलक्षण हेतु हैं उन सब को भी अकिञ्चित्कर समझना चाहिए ।

दिग्नागाचार्य ने विरुद्धाव्यभिचारी नाम का भी एक हेत्वाभास माना है । परस्पर विरोधी दो हेतुओं का एक धर्मी में प्रयोग होने पर प्रथम हेतु विरुद्धाव्यभिचारी हो जाता है । यह संशयहेतु होने से हेत्वाभास है । धर्मकीर्ति ने इसे हेत्वाभास नहीं माना है । वे लिखते हैं कि—प्रमाणसिद्धत्रैरूप्यवाले हेतु के प्रयोग होने पर विरोधी हेतु को अवसर ही नहीं मिल सकता । अतः इसकी आगमाश्रितहेतु के विषय में प्रवृत्ति मानकर आचार्य के वचन की संगति लगा लेनी चाहिए; क्योंकि शास्त्र अतीन्द्रियार्थविषय में प्रवृत्ति करता है । शास्त्रकार एक ही वस्तु को परस्पर विरोधी रूप से कहते हैं, अतः आगमाश्रित हेतुओं में ही यह संभव हो सकता है । अकलंकदेव ने इस हेत्वाभास का विरुद्धहेत्वाभास में अन्तर्भाव किया है । जो हेतु विरुद्ध का अव्यभिचारी-विपक्ष में भी रहने वाला होगा वह विरुद्ध हेत्वाभास की ही सीमा में आयगा ।

अर्चटकृत हेतुविन्दुविवरण में एक पङ्कलक्षण हेतु माननेवाले मत का कथन है । पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षादव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व, असत्प्रतिपक्षत्व और ज्ञातत्व ये छह लक्षण हैं । इनमें ज्ञातत्व नाम के रूप का निर्देश होने से इस वादी के मत से 'अज्ञात' नाम का भी हेत्वाभास फलित होता है । अकलंकदेव ने इस 'अज्ञात' हेत्वाभास का अकिञ्चित्कर हेत्वाभास में अन्तर्भाव किया है । नैयायिकोक्त पाँच हेत्वाभासों में कालात्ययापदिष्ट का अकिञ्चित्कर हेत्वाभास में, तथा प्रकरणसम का जो दिग्नाग के विरुद्धाव्यभिचारी जैसा है, विरुद्धहेत्वाभास में अन्तर्भाव समझना चाहिए । इस तरह अकलंकदेव ने सामान्य रूप से एक हेत्वाभास कह कर भी विशेषरूपसे असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर इन चार हेत्वाभासों का कथन किया है ।

अकलंकदेव का अभिप्राय अकिञ्चित्कर को स्वतन्त्र हेत्वाभास मानने के विषय में सुदृढ़ नहीं मालूम होता । क्योंकि वे लिखते हैं कि—सामान्य से एक असिद्ध हेत्वाभास है । वही विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध के भेद से अनेक प्रकार का है । ये विरुद्धादि अकिञ्चित्कर के विस्तार हैं । फिर लिखते हैं कि—अन्यथानुपपत्तिरहित जितने त्रिलक्षण

हैं उन्हें अकिञ्चित्कर कहना चाहिए। इससे मालूम होता है कि वे सामान्य से हेत्वाभासों की अकिञ्चित्कर या असिद्ध संज्ञा रखते थे। इसके स्वतन्त्र हेत्वाभास होने पर उनका भार नहीं था। यही कारण है कि आ० माणिक्यनन्दि ने अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के लक्षण और भेद कर चुकने पर भी लिखा है कि—इस अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का विचार हेत्वाभास के लक्षणकाल में ही करना चाहिए। शास्त्रार्थ के समय तो इसका कार्य पक्षदोष से ही किया जा सकता है। आचार्य विद्यानन्द ने भी सामान्य से एक हेत्वाभास कह कर असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक को उसीका रूपान्तर माना है। उनने भी अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के ऊपर भार नहीं दिया। वादिदेवसूरि आदि उत्तरकालीन आचार्यों ने असिद्धादि तीन ही हेत्वाभास गिनाए हैं।

साध्य—आ० दिग्नाग ने पक्ष के लक्षण में ईप्सित तथा प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध ये दो विशेषण दिए हैं। धर्मकीर्ति ईप्सित की जगह इष्ट तथा प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध के स्थान में प्रत्याक्षाद्यनिराकृत शब्द का प्रयोग करते हैं। अकलंकदेव ने अपने साध्य के लक्षण में शक्य (अवाधित) अभिप्रेत (इष्ट) और अप्रसिद्ध इन तीन विशेषणों का प्रयोग किया है। असिद्ध विशेषण तो 'साध्य' शब्द के अर्थ से ही फलित होता है। साध्य का अर्थ है—सिद्ध करने योग्य, अर्थात् असिद्ध। शक्य और अभिप्रेत विशेषण बौद्धाचार्यों के द्वारा किए गए साध्य के लक्षण से आए हैं। साध्य का यह लक्षण निर्विवादरूप से माणिक्यनन्दि आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत है। सिद्ध, अनिष्ट तथा वाधित को साध्याभास कहा है।

दृष्टान्त—जहाँ साध्य और साधन के सम्बन्ध का ज्ञान होता है उस प्रदेश का नाम दृष्टान्त है। साध्यविकल तथा साधनविकलादिक दृष्टान्ताभास हैं। इस तरह दृष्टान्त और दृष्टान्ताभास का लक्षण करने पर भी अकलंकदेव ने दृष्टान्त को अनुमान का अवयव स्वीकार नहीं किया। उनने लिखा है कि—सभी अनुमानों में दृष्टान्त होना ही चाहिए ऐसा नियम नहीं है, दृष्टान्त के बिना भी साध्य की सिद्धि देखी जाती है, जैसे बौद्ध के मत से समस्त पदार्थों को क्षणिकत्व सिद्ध करने में सत्त्व हेतु के प्रयोग में कोई दृष्टान्त नहीं है। अतः दृष्टान्त अनुमान का नियत अवयव नहीं है। इसीलिए उत्तरकालीन कुमारनन्दि आदि आचार्यों ने प्रतिज्ञा और हेतु इन दो को ही अनुमान का अवयव माना है। हाँ, मन्दबुद्धि शिष्यों की दृष्टि से दृष्टान्त, उपनय तथा निगमनादि भी उपयोगी हो सकते हैं।

धर्मी—बौद्ध अनुमान का विषय कल्पित सामान्य मानते हैं, क्षणिक स्वलक्षण नहीं। आ० दिग्नाग ने कहा है कि—समस्त अनुमान-अनुमेयव्यवहार बुद्धिकल्पित धर्मधर्मिन्याय से चलता है, किसी धर्मी की वास्तविक सत्ता नहीं है। अकलंकदेव कहते हैं कि—जिस तरह प्रत्यक्ष परपदार्थ तथा स्वरूप को विषय करता है उसी तरह अनुमान भी वस्तुभूत अर्थ को ही विषय करता है। हाँ, यह हो सकता है कि प्रत्यक्ष उस वस्तु को स्फुट तथा विशेषाकार रूप से ग्रहण करे और अनुमान उसे अस्फुट एवं सामान्याकार

रूप से। पर इतने मात्र से एक वस्तुविषयक और दूसरा अवस्तु को विषय करनेवाला नहीं कहा जा सकता। जिस विकल्पज्ञान से आप धर्मधर्मिभाव की कल्पना करते हैं, वह विकल्पज्ञान निर्विकल्पक से तो सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि निर्विकल्पक—निश्चयशून्यज्ञान से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। विकल्पान्तर से सिद्धि मानने में अनवस्था दूषण आता है। अतः विकल्प को स्व और अर्थ दोनों ही अंशों में प्रमाण मानना चाहिए। जब विकल्प अर्थाश में प्रमाण हो जायगा; तब ही उसके द्वारा विषय किए गए धर्मी आदि भी सत्य एवं परमार्थ सिद्ध होंगे। यदि धर्मी ही मिथ्या है; तब तो उसमें रहने वाले साध्य-साधन भी मिथ्या एवं कल्पित ठहरेगे। इस तरह परम्परा से भी अनुमान के द्वारा अर्थ की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। अतः धर्मी को प्रमाणसिद्ध मानना चाहिए केवल विकल्पसिद्ध नहीं। अकलंकोत्तरवर्ती आ० माणिक्यनन्दि ने इसी आशय से परीक्षामुखसूत्र में धर्मी के तीन भेद किए हैं—१ प्रमाणसिद्ध, २ विकल्पसिद्ध, ३ उभयसिद्ध।

अनुमान के भेद—न्यायसूत्र में अनुमान के तीन भेद किए हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। सांख्यतत्त्वकौमुदी में अनुमान के दो भेद पाए जाते हैं—एक वीत और दूसरा अवीत। वीत अनुमान के दो भेद—१ पूर्ववत्, २ सामान्यतोदृष्ट। सांख्य के इन भेदों की परम्परा वस्तुतः प्राचीन है। वैशेषिक ने अनुमान के कार्यलिंगज, कारणलिंगज, संयोगिलिंगज, विरोधिलिंगज और समवायिलिंगज, इस तरह पाँच भेद किए हैं। अकलंकदेव तो सामान्यरूप से एक ही अन्यथानुपपत्तिलिंगज अनुमान मानते हैं। वे इन अपूर्ण भेदों की परिगणना को महत्त्व नहीं देते।

• **वाद**—नैयायिक कथा के तीन भेद मानते हैं—१ वाद, २ जल्प, ३ वितण्डा। वीतरागकथा का नाम वाद है तथा विजिगीषुकथा का नाम जल्प और वितण्डा है। पक्ष-प्रतिपक्ष तो दोनों कथाओं में ग्रहण किए ही जाते हैं। हाँ, इतना अन्तर है कि—वाद में स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण प्रमाण और तर्क के द्वारा होते हैं, जब कि जल्प और वितण्डा में छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असदुत्तरों से भी किए जा सकते हैं। नैयायिक ने छलादि के प्रयोग को असदुत्तर माना है और साधारण अवस्था में उनके प्रयोग का निषेध भी किया है। वाद का प्रयोजन तत्त्वनिर्णय है। जल्प और वितण्डा का प्रयोजन है तत्त्वसंरक्षण, जो छलजातिरूप असदुपायों से भी किया जा सकता है। जैसे खेत की रक्षा के लिए काटों की बारी लगाई जाती है उसी तरह तत्त्वसंरक्षण के लिए काटे के समान छलादि के प्रयोग का अवलम्बन अमुक अवस्था में ठीक है। आ० धर्मकीर्ति ने अपने वादन्याय में छलादि के प्रयोग को विलकुल अन्याय्य बताया है। उसी तरह अकलंकदेव अहिंसा की दृष्टि से किसी भी हालत में छलादि रूप असदुत्तर के प्रयोग को उचित नहीं समझते। छलादि को अन्याय्य मान लेने से जल्प और वाद में कोई भेद ही नहीं रह जाता।

अतः वे वाद को ही एक मात्र कथा रूप से स्वीकार करते हैं। उनने वाद का संक्षेप में 'समर्थवचन को वाद कहते हैं' यह लक्षण करके कहा है कि वादि-प्रतिवादियों का मध्यस्थों के सामने स्वपक्षसाधन-परपक्षदूषणवचन को वाद कहना चाहिए। इस तरह वाद और जल्प को एक मान लेने पर वे यथेच्छ कहीं वाद शब्द का प्रयोग करते हैं तो कहीं जल्प शब्द का। वितण्डा को जिसमें वादी अपना पक्षस्थापन नहीं करके मात्र प्रतिवादी के पक्ष का खण्डन ही खण्डन करता है, वादाभास कहकर त्याज्य बताया है।

✓ **जयपराजयव्यवस्था**—नैयायिक ने इसके लिए प्रतिज्ञाहानि आदि २२ निग्रहस्थान माने हैं। जिनमें बताया है कि यदि कोई वादी अपनी प्रतिज्ञा की हानि कर दे, दूसरा हेतु बोल दे, असम्बद्ध पद-वाक्य या वर्ण बोले, इस तरह बोले जिससे तीन बार कहने पर भी प्रतिवादी और परिपद न समझ पावे, हेतुदृष्टान्तादि का क्रम भंग हो जाय, अवयव न्यून कहे जायँ, अधिक अवयव कहे जायँ, पुनरुक्त हो, प्रतिवादी वादीकेद्वारा कहे गए पक्ष का अनुवाद न कर सके, उत्तर न दे सके, वादी के द्वारा दिए गए दूषण को अर्धस्वीकार कर खंडन करे, निग्रहार्ह के लिए निग्रहस्थान उद्भावन न कर सके, अनिग्रहार्ह को निग्रहस्थान बता देवे, सिद्धान्तविरुद्ध बोल जावे, हेत्वाभासों का प्रयोग करे तो निग्रहस्थान अर्थात् पराजय होगा। सामान्य से नैयायिकों ने विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति को निग्रहस्थान माना है। विप्रतिपत्ति—विरुद्ध या असम्बद्ध कहना। अप्रतिपत्ति—पक्षस्थापन नहीं करना, स्थापित का प्रतिपेध नहीं करना तथा प्रतिपिद्ध का उद्धार नहीं करना। प्रतिज्ञाहान्यादि २२ तो इन्हीं दोनों के ही विशेष प्रकार हैं।

धर्मकीर्ति ने इनका खंडन करते हुए लिखा है कि—जयपराजयव्यवस्था को इस तरह गुटाले में नहीं रखा जा सकता। किसी भी सच्चे साधनवादी का मात्र इसलिए निग्रह होना कि वह कुछ अधिक बोल गया या अमुक कायदे का पालन नहीं कर सका, सत्य और अहिंसा की दृष्टि से उचित नहीं है। अतः वादी और प्रतिवादी के लिए क्रमशः असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन, ये दो ही निग्रहस्थान मानना चाहिये। वादी का कर्त्तव्य है कि वह सच्चा और पूर्ण साधन बोले। प्रतिवादी का कार्य है कि वह यथार्थ दोषों का उद्भावन करे। यदि वादी सच्चा साधन नहीं बोलता या जो साधन के अंग नहीं हैं ऐसे वचन कहता है तो उसका असाधनाङ्गवचन होने से पराजय होना चाहिए। प्रतिवादी यदि यथार्थ दोषों का उद्भावन न कर सके या जो दोष नहीं हैं उनका उद्भावन करे तो उसका पराजय होना चाहिए। इस तरह सामान्यलक्षण करने पर भी धर्मकीर्ति फिर उसी घपले में पड़ गए। उन्होंने असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावन के विविध व्याख्यान करके कहा है कि अन्वय या व्यतिरेक दृष्टान्त में से केवल एक दृष्टान्त से ही जब साध्यकी सिद्धि संभव है तो दोनों दृष्टान्तों का प्रयोग करना असाधनाङ्गवचन होगा। त्रिरूपवचन ही साधनाङ्ग है, उसका कथन न करना असाधनाङ्ग है। प्रतिज्ञा निगमनादि साधन के अंग नहीं हैं, उनका कथन असाध-

नाङ्ग है। यह सब लिखकर अन्त में उनने यह भी सूचन किया है कि—स्वपक्षसिद्धि और परपक्षनिराकरण जयलाभ के लिए आवश्यक है।

अकलंकदेव आसाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावन के भगड़े को भी पसन्द नहीं करते। किसको साधनाङ्ग माना जाय किसको नहीं, किसको दोष माना जाय किसको नहीं यह निर्णय स्वयं एक शास्त्रार्थ का विषय हो जाता है। अतः स्वपक्षसिद्धि से ही जय-व्यवस्था माननी चाहिए। स्वपक्षसिद्धि करनेवाला यदि कुछ अधिक बोल जाय तो कुछ हानि नहीं। प्रतिवादी यदि विरुद्ध हेत्वाभास का उद्भावन करता है तो फिर उसे स्वतन्त्र रूप से पक्षसिद्धि की भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वादी के हेतु को विरुद्ध कहने से प्रतिवादी का पक्ष तो स्वतः सिद्ध हो जाता है। हाँ, असिद्ध आदि हेत्वाभासों के उद्भावन करने पर प्रतिवादी को अपना पक्ष भी सिद्ध करना चाहिए। स्वपक्षसिद्धि नहीं करनेवाला शास्त्रार्थ के नियमों के अनुसार चलने पर भी जय का भागी नहीं हो सकता।

जाति—मिथ्या उत्तरो को जाति कहते हैं। जैसे धर्मकीर्ति का अनेकान्त के रहस्य को न समझकर यह कहना कि—“यदि सभी वस्तुएँ द्रव्यदृष्टिसे एक हैं तो द्रव्यदृष्टि से तो दही और ऊँट भी एक हो गया। अतः दही खानेवाला ऊँट को भी क्यों नहीं खाता?” साधर्म्यादिसम जातियों को अकलंकदेव कोई खास महात्त्व नहीं देते और न उनकी आवश्यकता ही समझते हैं। आ० दिग्नाग की तरह अकलंकदेवने भी असदुत्तरों को अनन्त कहकर जातियों की २४ संख्या भी अपूर्ण सूचित की है।

श्रुत—समस्त एकान्त प्रवादों के अगोचर, प्रमाणसिद्ध, परमात्मा के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन श्रुत है। श्रुत द्वीप, देश, नदी आदि व्यवहित अर्थों में प्रमाण है। हेतुवादरूप आगम युक्तिसिद्ध है। उसमें प्रमाणता होने से शेष अहेतुवाद आगम भी उसी तरह प्रमाण है। आगम की प्रमाणता का प्रयोजक आसोक्तत्व नाम का गुण होता है।

शब्द का अर्थवाचकत्व—बौद्ध शब्द का वाच्य अर्थ नहीं मानते। वे कहते हैं कि शब्द की प्रवृत्ति संकेत से होती है। स्वलक्षण क्षणक्षयी तथा अनन्त हैं। जब अनन्त स्वलक्षणों का ग्रहण भी संभव नहीं है तब संकेत कैसे ग्रहण किया जायगा? ग्रहण करने पर भी व्यवहार काल तक उसकी अनुवृत्ति न होने से व्यवहार कैसे होगा? शब्द अतीतानागतकालीन अर्थों में भी प्रयुक्त होते हैं, पर वे अर्थ विद्यमान तो नहीं हैं। अतः शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध हो तो शब्दबुद्धि का प्रतिभास इन्द्रियबुद्धि की तरह स्पष्ट होना चाहिए। शब्दबुद्धि में यदि अर्थ कारण नहीं है: तब वह उसका विषय कैसे हो सकेगा? क्योंकि जो ज्ञान में कारण नहीं है वह ज्ञान का विषय भी नहीं हो सकता। यदि अर्थ शब्दज्ञान में कारण हो; तो फिर कोई भी शब्द विसंवादी या अप्रमाण नहीं होगा, तथा अतीतानागत अर्थों में शब्द की प्रवृत्ति ही रुक जायगी। संकेत भी शब्द और अर्थ उभय का ज्ञान होने पर ही हो

सकता है। एक प्रत्यक्ष से तो उभय का ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि श्रावणप्रत्यक्ष अर्थ को विषय नहीं करता तथा चान्तुपादिप्रत्यक्ष शब्द को विषय नहीं करते। स्मृति तो निर्विषय एवं गृहीतग्राही होने से प्रमाण ही नहीं है। इसलिए शब्द अर्थ का वाचक न होकर विवक्षा का सूचन करता है। शब्द का वाच्य अर्थ न होकर कल्पित-बुद्धिप्रतिविम्बित अन्यापोहरूप सामान्य है। इस लिए शब्द से होनेवाले ज्ञान में सत्यार्थता का कोई नियम नहीं है।

अकलंकदेव इसका समालोचन करते हुए कहते हैं कि—पदार्थ में कुछ धर्म सदृश तथा कुछ धर्म विसदृश होते हैं। सदृश धर्मों की अपेक्षा से शब्द का अर्थ में संकेत होता है। जिस शब्द में संकेत ग्रहण किया जाता है भले ही वह व्यवहारकाल तक नहीं पहुँचे पर तत्सदृश दूसरे शब्द से अर्थबोध होने में क्या बाधा है? एक घटशब्द का एक घट अर्थ में संकेत ग्रहण करने के बाद तत्सदृश यावद् घटों में तत्सदृश यावद् घट-शब्दों की प्रवृत्ति होती है। केवल सामान्य में संकेत नहीं होता; क्योंकि केवल सामान्य में संकेत ग्रहण करने से विशेष में प्रवृत्ति रूप फल नहीं हो सकेगा। न केवल विशेष में; अनन्त विशेषों में संकेतग्रहण की शक्ति अस्मदादि पामर जनो में नहीं है। अतः सामान्य-विशेषात्मक—सदृशधर्मविशिष्ट शब्द और अर्थव्यक्ति में संकेतग्रहण किया जाता है। संकेत ग्रहण के अनन्तर शब्दार्थ का स्मरण करके व्यवहार होता है। जिस प्रकार प्रत्यक्षबुद्धि अतीतार्थ को जान कर भी प्रमाण है उसी तरह स्मृति भी प्रमाण ही है। प्रत्यक्षबुद्धि में अर्थ कारण है, अतः वह एक क्षण पहिले रहता है ज्ञानकाल में नहीं। ज्ञानकाल में तो वह क्षणिक होने से नष्ट हो जाता है। जब अविस्वादिप्रयुक्त प्रमाणता स्मृति में है ही, तब शब्द सुनकर स्मृति के द्वारा अर्थबोध करके तथा अर्थ देखकर स्मृति के द्वारा तद्वाचक शब्द का स्मरण करके व्यवहार अच्छी तरह चलता ही है। यह अवश्य है कि—सामान्य-विशेषात्मक अर्थ को विषय करने पर भी अक्षज्ञान स्पष्ट तथा शब्दज्ञान अस्पष्ट होता है। जैसे एक ही वृक्ष को विषय करनेवाला दूरवर्ती पुरुष का ज्ञान अस्पष्ट तथा समीपवर्ती का स्पष्ट होता है। स्पष्टता और अस्पष्टता विषयभेदप्रयुक्त नहीं हैं, किंतु आवरणक्षयोप-शमादिसामग्रीप्रयुक्त हैं। जिस प्रकार अविनाभावसम्बन्ध से अर्थ का बोध करानेवाला अनुमान अस्पष्ट होकर भी अविस्वादी होने से प्रमाण है उसी तरह वाच्यवाचकसम्बन्ध से अर्थ का ज्ञान करानेवाला शब्दबोध भी ही प्रमाण होना चाहिए। यदि शब्द वाह्यार्थ में प्रमाण न हो; तब बौद्ध स्वयं शब्दों से श्रष्ट नदी, देश, पर्वतादि का अविस्वादि ज्ञान कैसे करते हैं? यदि कोई एकाध शब्द अर्थ की गैरमोजूदगी में प्रयुक्त होने से व्यभिचारी देखा गया तो मात्र इतने से सभी शब्दों को व्यभिचारी या अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। जैसे प्रत्यक्ष या अनुमान कहीं कहीं भ्रान्त देखे जाने पर भी अभ्रान्त या अव्यभिचारि विशेषणों से युक्त होकर प्रमाण है उसी तरह आभ्रान्त शब्द को वाह्यार्थ में प्रमाण मानना चाहिए। यदि हेतुवादरूप शब्द के द्वारा अर्थ का निश्चय न हो; तो

साधन और साधनाभास की व्यवस्था कैसे होगी ? इसी तरह आस के वचन के द्वारा अर्थबोध न हो तो आस और अनास की व्यवस्था कैसे की जायगी ? यदि पुरुषों के अभिप्रायों में विचित्रता होने के कारण शब्द अर्थव्यभिचारी करार दिए जाँयँ; तो सुगत की सर्वज्ञता या सर्वशास्तृता में कैसे विश्वास किया जा सकेगा ? वहाँ भी अभिप्रायवैचित्र्य की शंका उठ सकती है । यदि अर्थव्यभिचार देखा जाने के कारण शब्द अर्थ में प्रमाण नहीं है; तो विवक्षा का भी तो व्यभिचार देखा जाता है, अन्य शब्द की विवक्षा में अन्य शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है । इस तरह तो शिंशपात्व हेतु वृक्षाविसंवादी होने पर कहीं कहीं शिंशपा की लता की संभावना से, अग्नि इन्धन से पैदा होती है पर कहीं मणि आदि से उत्पन्न होने के कारण सभी स्वभावहेतु तथा कार्यहेतु व्यभिचारी हो जाँयँगे । अतः जैसे यहां सुविवेचित व्याप्य और कार्य, व्यापक और कारण का उल्लंघन नहीं कर सकते उसी तरह सुविवेचित शब्द अर्थ का व्यभिचारी नहीं हो सकता । अतः अविश्वसंवादि श्रुत को अर्थ में प्रमाण मानना चाहिये । शब्द का विवक्षा के साथ कोई अविनाभाव नहीं है; क्योंकि शब्द, वर्ण या पद कहीं अवाञ्छित अर्थ को भी कहते हैं तथा कहीं वाञ्छित को भी नहीं कहते । यदि शब्द विवक्षामात्र के वाचक हों तो शब्दों में सत्यत्व और मिथ्यात्व की व्यवस्था न हो सकेगी; क्योंकि दोनों ही प्रकार के शब्द अपनी अपनी विवक्षा का अनुमान कराते हैं । शब्द में सत्यत्वव्यवस्था अर्थप्राप्ति के कारण होती है । विवक्षा रहते हुए भी मन्दबुद्धि शास्त्रव्याख्यानरूप शब्द का प्रयोग नहीं कर पाते तथा सुषुप्तादि अवस्था में इच्छा के न रहने पर भी शब्दप्रयोग देखा जाता है । अतः शब्दों में सत्यासत्यत्वव्यवस्था के लिए उन्हें अर्थ का वाचक मानना ही होगा ।

श्रुत के भेद—श्रुत के तीन भेद हैं—१ प्रत्यक्षनिमित्तक, २ अनुमाननिमित्तक, ३ आगमनिमित्तक । प्रत्यक्षनिमित्तक—परोपदेश की सहायता लेकर प्रत्यक्ष से होनेवाला । अनुमाननिमित्तक—परोपदेश के बिना केवल अनुमान से होनेवाला । आगमनिमित्तक—मात्र परोपदेश से होनेवाला । जैनतर्कवार्तिककार ने परोपदेशज तथा लिंगनिमित्तक रूपसे द्विविध श्रुत स्वीकार करके अकलंक के इस मत की समालोचना की है ।

शब्द का स्वरूप—शब्द पुद्गल की पर्याय है । वह स्कन्ध रूप है, जैसे छाया और आतप । शब्द मीमांसकों की तरह नित्य नहीं हो सकता । शब्द यदि नित्य और व्यापक हो तो व्यञ्जक वायुओं से एक जगह उसकी अभिव्यक्ति होने पर सभी जगह सभी वर्णों की अभिव्यक्ति होने से कोलाहल मच जायगा । संकेत के लिए भी शब्द को नित्य मानना आवश्यक नहीं है; क्योंकि अनित्य होने पर भी सदृशशब्द में संकेत होकर व्यवहार हो सकता है । 'स एवायं शब्दः' यह प्रत्यभिज्ञान शब्द के नित्य होने के कारण नहीं होता किंतु तत्सदृश शब्द में एकत्वाध्यवसाय करने के कारण होता है । अतः यह एकत्वप्रत्यभिज्ञान भ्रान्त है । यदि इस तरह भ्रान्त प्रत्यभिज्ञान से वस्तुओं में एकत्व सिद्ध हो; तो विजली

आदि पदार्थ भी नित्य सिद्ध हो जाँयेंगे। शब्द की उपादानभूत शब्दवर्गणाएँ इतनी सूक्ष्म हैं कि उनकी प्रत्यक्ष से उपलब्धि नहीं हो सकती। इसी तरह शब्द की उत्तर-पर्याय भी सूक्ष्म होने से अनुपलब्ध रहती हैं। क्रम से उच्चरित शब्दों में ही पद, वाक्य आदि संज्ञाएँ होती हैं। यद्यपि शब्द सभी दिशाओं में उत्पन्न होते हैं पर उनमें से जो शब्द श्रोत्र के साथ सन्निकृष्ट होते हैं वही श्रोत्र के द्वारा सुने जाते हैं, अन्य नहीं। श्रोत्र को प्राप्यकारी कहकर अकलंकदेव ने बौद्ध के 'श्रोत्र को भी चक्षुरिन्द्रिय की तरह अप्राप्यकारी मानने के' सिद्धान्त का खण्डन किया है। इस तरह शब्द तात्वादि के संयोग से उत्पन्न होता है और वह श्रावणमध्यस्वभाव है। इसीमें इच्छानुसार संकेत करने से अर्थबोध होता है।

वेदापौरुषेयत्व विचार—मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं। उनका कहना है कि धर्म में वेदवाक्य ही प्रमाण हो सकते हैं। चूँकि प्रत्यक्ष से अतीन्द्रिय पुण्यपापादि पदार्थों के ज्ञान की संभावना नहीं है, अतः अतीन्द्रिय धर्मादि का प्रतिपादक वेद किसी पुरुष की कृति नहीं हो सकता। आज तक उसके कर्त्ता का स्मरण भी तो नहीं है। यदि कर्त्ता होता तो अवश्य ही उसका स्मरण होना चाहिए था। अतः वेद अपौरुषेय तथा अनादि है। अकलंकदेव ने श्रुत को परमात्मप्रतिपादित बताते हुए कहा है कि—जब आत्मा ज्ञानरूप है तथा उसके प्रतिबन्धक कर्म हट सकते हैं, तब उसे अतीन्द्रियादि पदार्थों के जानने में क्या बाधा है? यदि ज्ञान में अतिशय असम्भव ही हो; तो जैमिनि आदि को वेदार्थ का पूर्ण परिज्ञान कैसे संभव होगा? सर्वत्र प्रमाणता कारणगुणों के ही आधीन देखी जाती है। शब्द में प्रमाणता का लानेवाला वक्ता का गुण है। यदि वेद अपौरुषेय है; तब तो उसकी प्रमाणता ही सन्दिग्ध रहेगी। जब अतीन्द्रियदर्शी एक भी पुरुष नहीं है; तब वेद का यथार्थ ज्ञान कैसे हो सकता है? परम्परा तो मिथ्यार्थ की भी चल सकती है। यदि समस्तार्थज्ञान में शंका की जाती है; तब चंचल-इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों में कैसे विश्वास किया जा सकता है? यदि अपौरुषेय वेद अपने अर्थ का स्वतः विवरण करे; तब तो वेद के अंगभूत आयुर्वेद आदि के परिज्ञानार्थ मनुष्यों का पठन-पाठनरूप प्रयत्न निष्फल ही हो जायगा। अतः सामग्री के गुण-दोष से ही प्रमाणता और अप्रमाणता का सम्बन्ध मानना चाहिए। शब्द की प्रमाणता के लिए वक्ता का सम्यग्ज्ञान ही एकमात्र अंकुश हो सकता है। जब वेद का कोई अतीन्द्रियार्थद्रष्टा नियामक नहीं है; तब उसके अर्थ में अन्ध-परम्परा ही हुई। आज तक अनादि काल बीत चुका, ऐसा अनाप्त वेद नष्ट क्यों नहीं हुआ? अनादि मानने से या कर्त्ता का स्मरण न होने से ही तो कोई प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि लोक में बहुतसे ऐसे म्लेच्छादिव्यवहार या गाली गलौज आदि पाए जाते हैं, जिनके कर्त्ता का आज तक किसी को स्मरण नहीं है, पर इतने मात्रसे वे प्रमाण तो नहीं माने जा सकते। इसलिए वेद के अर्थ में यथार्थता का नियामक अती-

न्द्रियार्थदर्शी पुरुषविशेष ही मानना चाहिए। कर्त्ता का अस्मरणरूप हेतु जीर्ण खंडहर कुआ आदि चीजों से, जिनके कर्त्ता का किसी को स्मरण नहीं है, अनैकान्तिक है। अतः सर्वज्ञप्रतिपादित आगम को ही अतीन्द्रियधर्म आदि में भी प्रमाण मानना चाहिए। सर्वज्ञ के माने बिना वेद की प्रतिष्ठा भी नहीं हो सकती; क्योंकि अपौरुषेय वेद का व्याख्याता यदि रागी, द्वेषी और अज्ञानी पुरुष होगा तो उसके द्वारा किया गया व्याख्यान प्रमाण-कोटि में नहीं आ सकेगा। व्याख्याभेद होने पर अन्तिम निर्णय तो धर्मादि के साक्षात्कर्त्ता का ही माना जा सकता है।

परपरिकल्पित प्रमाणान्तर्भाव—नैयायिक प्रसिद्ध अर्थ के सादृश्य से साध्य के साधन को—संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान को उपमान कहते हैं। जैसे किसी नागरिक ने यह सुना कि 'गौ के सदृश गवय होता है'। वह जंगल में गया। वहाँ गवय को देखकर उसमें गोसादृश्य का ज्ञान करके गवयसंज्ञा का सम्बन्ध जोड़ता है और गवयशब्द का व्यवहार करता है। इसी संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धज्ञान को उपमान प्रमाण कहते हैं। अकलंकदेव इस ज्ञान का यथासंभव अनुमान तथा प्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भाव करते हुए कहते हैं कि—यदि प्रसिद्धार्थ का सादृश्य अविनाभावी रूपसे निर्णीत है तब तो वह लिंगात्मक हो जायगा और उससे उत्पन्न होने-वाला ज्ञान अनुमान कहलायगा। यदि अविनाभाव निर्णीत नहीं है; तो दर्शन और स्मरण-पूर्वक सादृश्यात्मक संकलन होने के कारण यह सादृश्यप्रत्यभिज्ञान में ही अन्तर्भूत होगा। सादृश्यप्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भूत होने पर भी यदि इस ज्ञान को स्वतन्त्ररूपसे उपमान नामक प्रमाण मानोगे; तो भैस को देखकर 'यह गवय नहीं है' या 'यह गौ से विलक्षण है' इस विलक्षणज्ञान को किस प्रमाणरूप मानोगे? 'शाखादिवाला वृक्ष होता है' इस शब्द को सुनकर वैसे ही शाखादिमान् अर्थ को देखकर 'वृक्षोऽयम्' इस ज्ञान को किस नाम से पुकारोगे? इसी तरह 'यह इससे पूर्व में है, यह इससे पश्चिम में है,' 'यह छोटा है, यह बड़ा है,' 'यह दूर है, यह पास है,' 'यह ऊँचा है, यह नीचा है,' 'ये दो हैं, यह एक है' इत्यादि सभी ज्ञान उपमान से पृथक् प्रमाण मानने होंगे; क्योंकि उक्त ज्ञानों में प्रसिद्धार्थसादृश्य की तो गन्ध भी नहीं है। अतः जिनमें दर्शन और स्मरण कारण हो उन सभी संकलनरूप ज्ञानों को प्रत्यभिज्ञान कहना चाहिये, भले ही वह संकलन सादृश्य वैसदृश्य या एकत्वादि किसी भी विषयक क्यों न हो। उक्त सभी ज्ञान हितप्राप्ति, अहितपरिहार तथा उपेक्षाज्ञानरूप फल के उत्पादक होने से अप्रमाण तो कहे ही नहीं जा सकते।

मीमांसक जिस साधन का साध्य के साथ अविनाभाव पहिले किसी सपक्ष में गृहीत नहीं है उस साधन से तत्काल में ही अविनाभाव ग्रहण करके होनेवाले साध्यज्ञान को अर्थापत्ति कहते हैं। इससे शक्ति आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का भी ज्ञान किया जाता है। अकलंकदेव ने अर्थापत्ति को अनुमान में अन्तर्भूत किया है; क्योंकि अविनाभावी एक अर्थ से दूसरे अर्थ का ज्ञान अनुमान तथा अर्थापत्ति दोनों में समान है। सपक्ष में व्याप्ति

का गृहीत होना या न होना प्रमाणान्तरता का प्रयोजक नहीं हो सकता । संभव नामका प्रमाण यदि अविनाभावप्रयुक्त है; तो उसका अनुमान में अन्तर्भाव होगा । यदि अविनाभावप्रयुक्त नहीं है; तब तो वह प्रमाण ही नहीं हो सकता । ऐतिह्य नामका प्रमाण यदि आसोपदेशमूलक है, तो आगमनामक प्रमाण में अन्तर्भूत होगा । यदि आसमूलत्व सन्दिग्ध है; तो वह प्रमाणकोटि में नहीं आ सकता । अभाव नामका प्रमाण यथा-संभव प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञान तथा अनुमानादि प्रमाणों में अन्तर्भूत समझना चाहिए । इस तरह परपरिकल्पित प्रमाणों का अन्तर्भाव होने पर प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही मूल प्रमाण हो सकते हैं ।

प्रमाणाभास—अविसंवादि ज्ञान प्रमाण है, अतः विसंवादि ज्ञान प्रमाणाभास होगा । यहाँ अकलंकदेव की एक दृष्टि विशेषरूपसे विचारणीय है । वे किसी ज्ञान को सर्वथा विसंवादि नहीं कहते । वे कहते हैं कि—जो ज्ञान जिस अंश में अविसंवादि हो वह उस अंश में प्रमाण तथा विसंवादि-अंश में अप्रमाण होगा । हम किसी भी ज्ञान को एकान्त से प्रमाणाभास नहीं कह सकते । जैसे तिमिररोगी का द्विचन्द्रज्ञान चन्द्रांश में अविसंवादी है तथा द्वित्वसंख्या में विसंवादी है, अतः इसे चन्द्रांश में प्रत्यक्ष तथा द्वित्वांश में प्रत्याक्षाभास कहना चाहिए । इस तरह प्रमाण और प्रमाणाभास की संकीर्ण स्थिति रहने पर भी जहाँ अविसंवाद की प्रकर्षता हो वहाँ प्रमाण व्यपदेश तथा विसंवाद के प्रकर्ष में प्रमाणाभास व्यपदेश करना चाहिए । जैसे कस्तूरी में रूप, रस आदि सभी गुण मौजूद हैं, पर गन्ध की प्रकर्षता होने के कारण उसमें 'गन्धद्रव्य' व्यपदेश होता है ।

ज्ञान के कारणों का विचार—बौद्ध के मत से चार प्रत्ययो से चित्त और चैत्तो की उत्पत्ति होती है—१ समनन्तरप्रत्यय, २ अधिपतिप्रत्यय, ३ आलम्बनप्रत्यय, ४ सहकारि-प्रत्यय । ज्ञान की उत्पत्ति में पूर्वज्ञान समनन्तरकारण होता है, चक्षुरादि इन्द्रियाँ अधिपति-प्रत्यय होती हैं, पदार्थ आलम्बनप्रत्यय तथा आलोक आदि अन्य कारण सहकारिप्रत्यय होते हैं । इस तरह बौद्ध की दृष्टि से ज्ञान के प्रति अर्थ तथा आलोक दोनों ही कारण हैं । उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि—'नाकारणं विषयः' अर्थात् जो ज्ञान का कारण नहीं होगा वह ज्ञान का विषय भी नहीं होगा । नैयायिकादि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को ज्ञान में कारण मानते हैं अतः उनके मत से सन्निकर्ष-घटकतया अर्थ भी ज्ञान का कारण है ही ।

अर्थकारणतानिरास—ज्ञान अर्थ का कार्य नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञान तो मात्र इतना ही जानता है कि 'यह अमुक अर्थ है' । वह यह नहीं जानता कि 'मैं इस अर्थ से उत्पन्न हुआ हूँ' । यदि ज्ञान यह जानने लगे कि 'मैं इस अर्थ से पैदा हुआ हूँ'; तब तो विवाद को स्थान ही नहीं रहता । जब उत्पन्न ज्ञान अर्थ के परिच्छेद में व्यापार करता है तब वह अपने अन्य इन्द्रियादि उत्पादक कारणों की सूचना स्वयं ही करता है; क्योंकि यदि ज्ञान उसी अर्थ से उत्पन्न हो जिसे वह जानता है, तब तो वह उस अर्थ को जान ही

नहीं सकेगा; क्योंकि अर्थकाल में तो ज्ञान उत्पन्न है तथा ज्ञानकाल में अर्थ विनष्ट हो चुका है। यदि ज्ञान अपने कारणों को जाने; तो उसे इन्द्रियादिक को भी जानना चाहिए। ज्ञान का अर्थ के साथ अन्वय और व्यतिरेक न होने से भी उनमें कारण-कार्यभाव नहीं हो सकता। संशयज्ञान अर्थ के अभाव में भी हो जाता है। संशयज्ञानस्थल में स्थाणु-पुरुपरूप दो अर्थ तो विद्यमान नहीं हैं। अर्थ या तो स्थाणुरूप होगा या पुरुपरूप। व्यभिचार—अन्यथा प्रतिभास बुद्धिगत धर्म है। जब मिथ्याज्ञान में इन्द्रियगत—तिमिरादि, विषयगत—आशुभ्रमणादि, बाह्य—नौका में यात्रा करना आदि तथा आत्मगत—वातपित्तादिजन्य क्षोभ आदि दोष कारण होते हैं; तब तो अर्थ की हेतुता अपने ही आप व्यर्थ हो जाती है। मिथ्याज्ञान यदि इन्द्रियों की दुष्टता से होता है; तो सत्यज्ञान में भी इन्द्रियगत निर्दोषता ही कारण होगी। अतः इन्द्रिय और मन को ही ज्ञान में कारण मानना चाहिए। अर्थ तो ज्ञान का विषय ही हो सकता है, कारण नहीं।

अन्य कारणों से उत्पन्न बुद्धि के द्वारा सन्निकर्ष का निश्चय होता है, सन्निकर्ष से बुद्धि का निश्चय तो नहीं देखा जाता। सन्निकर्षप्रविष्ट अर्थ के साथ ज्ञान का कार्य-कारणभाव तब निश्चित हो सकेगा; जब सन्निकर्षप्रविष्ट आत्मा, मन, इन्द्रिय आदि किसी एक ज्ञान के विषय हों। पर आत्मा, मन और इन्द्रियाँ तो अतीन्द्रिय हैं, अतः पदार्थ के साथ होनेवाला इनका सन्निकर्ष भी अतीन्द्रिय होगा और जब वह विद्यमान रहते हुए भी अप्रत्यक्ष है, तब उसे ज्ञान की उत्पत्ति में कारण कैसे माना जाय ? ज्ञान अर्थ को तो जानता है, पर अर्थ में रहनेवाली स्व-कारणता को नहीं जानता। ज्ञान जब अतीत और अनागत पदार्थों को जो ज्ञानकाल में अविद्यमान हैं, जानता है; तब तो अर्थ की ज्ञान के प्रति कारणता अपने आप निःसार सिद्ध हो जाती है। देखो—कामलादि रोगवाले को शुक्लशंख में अविद्यमान पीलेपन का ज्ञान होता है। मरणोन्मुख व्यक्ति को अर्थ के रहने पर भी ज्ञान नहीं होता या विपरीतज्ञान होता है।

क्षणिक अर्थ तो ज्ञान के प्रति कारण हो ही नहीं सकता; क्योंकि जब वह क्षणिक होने से कार्यकाल तक नहीं पहुँचता तब उसे कारण कैसे कहा जाय ? अर्थ के होने पर उसके काल में ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ तथा अर्थ के अभाव में ही ज्ञान उत्पन्न हुआ तब ज्ञान अर्थ का कार्य कैसे माना जाय ? कार्य और कारण एक साथ तो रह ही नहीं सकते। यह कहना भी ठीक नहीं है कि—“यद्यपि अर्थ नष्ट हो चुका है पर वह अपना आकार ज्ञान में समर्पित कर चुकने के कारण ग्राह्य होता है। पदार्थ में यही ग्राह्यता है कि—वह ज्ञान को उत्पन्न कर उसमें अपना आकार अर्पण करे।” क्योंकि ज्ञान अमूर्त है वह मूर्त अर्थ के प्रतिविम्ब को धारण नहीं कर सकता। मूर्त दर्पणादि में ही मूर्त मुखादि का प्रतिविम्ब आता है, अमूर्त में मूर्त का नहीं। यदि पदार्थ से उत्पन्न होने के कारण ज्ञान में विषयप्रतिनियम हो; तो जब इन्द्रिय आदि से भी घटज्ञान उत्पन्न होता है तब उसे घट की तरह इन्द्रिय आदि

को भी विषय करना चाहिये । तदाकारता से विषयप्रतिनियम मानने पर एक अर्थ का ज्ञान करने पर उसी आकारवाले यावत् समान अर्थों का परिज्ञान होना चाहिए । तदुत्पत्ति और तदाकारता मिलकर यदि विषयनियामक हों; तो घटज्ञान से उत्पन्न द्वितीय घटज्ञान को, जिसमें पूर्वज्ञान का आकार है तथा जो पूर्वज्ञान से उत्पन्न भी हुआ है, अपने उपादान-भूत पूर्वज्ञान को जानना चाहिये । पर बौद्धों के सिद्धान्तानुसार 'ज्ञानं ज्ञानस्य न न्याय-मकम्'—ज्ञान ज्ञान का नियामक नहीं होता । तदध्यवसाय (अनुकूल विकल्प का उत्पन्न होना) से भी वस्तु का प्रतिनियम नहीं होता; क्योंकि शुक्लशंख में होनेवाले पीताकारज्ञान से उत्पन्न द्वितीयज्ञान में तदध्यवसाय देखा जाता है पर नियामकता नहीं है । अतः अपने अपने कारणों से उत्पन्न होनेवाले अर्थ और ज्ञान में परिच्छेद्य-परिच्छेदकभाव—विषय-विषयिभाव होता है । जैसे दीपक अपने तैलादि कारणों से प्रज्वलित होकर मिट्टी आदि से उत्पन्न होनेवाले घटादि को प्रकाशित करता है, उसीतरह इन्द्रिय तथा मन आदि कारणों से उत्पन्न ज्ञान अपने कारणों से उत्पन्न अर्थ को जानेगा । जैसे 'देवदत्त काठ को छेदता है' यहाँ अपने अपने कारणों से उत्पन्न देवदत्त तथा काष्ठ में कर्तृ-कर्मभाव है उसी तरह स्व-स्वकारणों से समुत्पन्न ज्ञेय और ज्ञान में ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव होता है । जैसे खदान से निकली हुई मलयुक्त मणि अनेक शाण आदि कारणों से तरतम-न्यूनाधिकरूपसे निर्मल एवं स्वच्छ होती है उसी तरह कर्मयुक्त आत्मा का ज्ञान अपनी विशुद्धि के अनुसार तरतमरूपसे प्रकाशमान होता है, और अपनी क्षयोपशमरूप योग्यता के अनुसार पदार्थों को जानता है । अतः अर्थ को ज्ञान में कारण नहीं माना जा सकता ।

आलोककारणतानिरास—आलोकज्ञान का विषय आलोक होता है, अतः वह ज्ञान का कारण नहीं हो सकता । जो ज्ञान का विषय होता है वह ज्ञान का कारण नहीं होता जैसे अन्धकार । आलोक का ज्ञान के साथ अन्वय-व्यतिरेक न होने से भी वह ज्ञान का कारण नहीं कहा जा सकता । यदि आलोक ज्ञान का कारण हो तो उसके अभाव में ज्ञान नहीं होना चाहिये, पर अन्धकार का ज्ञान आलोक के अभाव में ही होता है । नक्तञ्चर-रात्रिचारी उल्लू आदि को आलोक के अभाव में ही ज्ञान होता है तथा उसके सद्भाव में नहीं । 'आलोक के अभाव में अन्धकार की तरह अन्य पदार्थ क्यों नहीं दिखते' इस शंका का उत्तर यह है कि—अन्धकार अन्य पदार्थों का निरोध करनेवाला है, अतः आलोक के अभाव में निरोध करनेवाला अन्धकार तो दिखता है पर उससे निरुद्ध अन्य पदार्थ नहीं । जैसे एक महाघट के नीचे दो चार छोटे घट रखे हों, तो महाघट के दिखने पर भी उसके नीचे रखे हुए छोटे घट नहीं दिखते । अन्धकार ज्ञान का विषय है अतः वह ज्ञान का आवरण भी नहीं माना जा सकता । ज्ञान का आवरण तो ज्ञानावरण कर्म ही हो सकता है । इसीके क्षयोपशम की तरतमता से ज्ञान के विकास में तारतम्य होता है । अतः आलोक के साथ ज्ञानका अन्वय-व्यतिरेक न होने से आलोक भी ज्ञान का

कारण नहीं हो सकता । अथालोककारणताविषयक अकलंक के इन विचारों का उत्तर-कालीन माणिक्यनन्दि आदि आचार्यों ने प्रायः उन्हींके ही शब्दों में अनुसरण किया है ।

प्रमाण का फल—प्रशस्तपादभाष्य तथा न्यायभाष्यादि में हान, उपादान एवं उपेक्षाबुद्धि को प्रमाण का फल कहा है । समन्तभद्र पूज्यपाद आदि ने अज्ञाननिवृत्ति का भी प्रमाण के अभिन्न फलरूपसे प्ररूपण किया है । अकलंकदेव अज्ञाननिवृत्ति के विधिपरकरूप-तत्त्वनिर्णय का तथा हान, उपादान, उपेक्षाबुद्धि के साथ ही परनिःश्रेयस का भी प्रमाण के फलरूपसे कथन करते हैं । केवलज्ञान वीतराग योगियों के होता है अतः उनमें रागद्वेष-जन्य हानोपादान का संभव ही नहीं है, इसलिये केवलज्ञान का फल अज्ञाननिवृत्ति और उपेक्षाबुद्धि है । इनमें अज्ञाननिवृत्ति प्रमाण का साक्षात् फल है, शेष परम्परा से ।

§ २. प्रमेयनिरूपण—

प्रमाण का विषय—यद्यपि अकलंकदेव ने प्रमाण के विषय का निरूपण करते समय लघ्वीयस्वयं में द्रव्यपर्यायात्मक अर्थ को ही प्रमेय बताया है, पर न्यायविनिश्चय में उन्होंने द्रव्य-पर्याय के साथ ही साथ सामान्य और विशेष ये दो पद भी प्रयुक्त किए हैं । वस्तु में दो प्रकार का अस्तित्व है—१ स्वरूपास्तित्व, २ सादृश्यास्तित्व । एक द्रव्य की पर्यायों को दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्य से असङ्कीर्ण रखने वाला स्वरूपास्तित्व है । जैसे एक शावलेय गौ की हरएक अवस्था में 'शावलेय शावलेय' व्यवहार करानेवाला तत्-शावलेयत्व । इससे एक शावलेय गौव्यक्ति की पर्यायें अन्य सजातीय शावलेयादि गौव्यक्तियों से तथा विजातीय अश्वादिव्यक्तियों से अपनी पृथक् सत्ता रखती हैं । इसी को जैन द्रव्य, ध्रौव्य, अन्वय, ऊर्ध्वतासामान्य आदि शब्दों से व्यवहृत करते हैं । मालूम तो ऐसा होता है कि बौद्धों ने सन्तानशब्द का प्रयोग ठीक इसी अर्थ में किया है । इसी स्वरूपास्तित्व को विषय करनेवाला 'यह वही है' यह एकत्वप्रत्यभिज्ञान होता है । अपनी भिन्न भिन्न सत्ता रखनेवाले पदार्थों में अनुगतव्यवहार करानेवाला सादृश्यास्तित्व है । जैसे भिन्न भिन्न गौव्यक्तियों में 'गौ गौ' इस अनुगतव्यवहार को करानेवाला साधारण गोत्व । इसे तिर्यक् सामान्य कहते हैं । गौत्वादि जातियाँ सदृशपरिणाम रूप ही हैं, नित्य एक तथा निरंश नहीं हैं । एक द्रव्य की पूर्वोत्तर पर्यायों में व्यावृत्तप्रत्यय पर्यायरूप विशेष के निमित्त से होता है । भिन्न सत्ता रखने वाले दो द्रव्यों में विलक्षणप्रत्यय व्यतिरेकरूप विशेष (द्रव्यगतभेद) से होता है । इस तरह दो प्रकार के सामान्य तथा दो प्रकार के विशेष से युक्त वस्तु प्रमाण का विषय होती है । ऐसी ही वस्तु सत् है । सत् का लक्षण है—उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यसे युक्त होना । सत् को ही द्रव्य कहते हैं । उत्पाद और व्यय पर्याय की दृष्टि से हैं जब कि ध्रौव्य गुण की दृष्टि से । अतः द्रव्य का गुण-पर्यायवत्त्व लक्षण भी किया गया है ।

द्रव्य एक अखण्ड तत्त्व है। वह संयुक्त या रासायनिक मिश्रण से तैयार न होकर मौलिक है। उसमें भेदव्यवहार करने के लिए देश, देशांश तथा गुण, गुणांश की कल्पना की जाती है। ज्ञान अखण्डद्रव्य को ग्रहण भले ही कर ले, पर उसका व्यवहार तो एक एक धर्म के द्वारा ही होता है। इन व्यवहारार्थ कल्पित धर्मों को गुण शब्दसे कहते हैं। वैशेषिकों की तरह गुण कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। द्रव्य के सहभावी अंश गुण कहलाते हैं, तथा क्रम से होने वाले परिणामन पर्याय कहलाते हैं। इस तरह अखण्ड मौलिक तत्त्व की दृष्टि से वस्तु नित्य होकर भी क्रमिक परिणामन की अपेक्षा से अनित्य है। नित्य का तात्पर्य इतना ही है कि—वस्तु प्रतिक्षण परिणामन करते हुए भी अपने स्वरूपास्तित्व को नहीं छोड़ सकती। कितना भी विलक्षण परिणामन क्यों न हो जीव कभी भी पुद्गलरूप नहीं हो सकता। इस असांकर्य का नियामक ही द्रव्यांश है। साध्य के अपरिणामी कूटस्थ नित्य पुरुष की तरह नित्यता यहाँ विवक्षित नहीं है और न बौद्ध की तरह सर्वथा अनित्यता ही; जिससे वस्तु सर्वथा अपरिणामी तथा पूर्वक्षण और उत्तरक्षण सर्वथा अनन्वित रह जाते हैं।

ध्रौव्य और सन्तान—यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि—जिस प्रकार जैन एक द्रव्यांश मानते हैं उसी तरह बौद्ध सन्तान मानते हैं। प्रत्येक परमाणु प्रतिक्षण अपनी अर्थपर्याय रूपसे परिणामन करता है, उसमें ऐसा कोई भी स्थायी अंश नहीं बचता जो द्वितीय क्षण में पर्याय के रूप में न बदलता हो। यदि यह माना जाय कि उसका कोई एक अंश विलकुल अपरिवर्तनशील रहता है और कुछ अंश सर्वथा परिवर्तनशील; तब तो नित्य तथा क्षणिक दोनों पक्षों में दिए जाने वाले दोष ऐसी वस्तु में आँयगे। कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध मानने के कारण पर्यायो के परिवर्तित होने पर भी अपरिवर्तिष्णु कोई अंश हो ही नहीं सकता। अन्यथा उस अपरिवर्तिष्णु अंश से तादात्म्य रखने के कारण शेष अंश भी अपरिवर्तनशील ही होंगे। इस तरह कोई एक ही मार्ग पकड़ना होगा—या तो वस्तु विलकुल नित्य मानी जाय या विलकुल परिवर्तनशील—चेतन भी अचेतनरूपसे परिणामन करनेवाली। इन दोनों अन्तिम सीमाओं के मध्य का ही वह मार्ग है जिसे हम द्रव्य कहते हैं। जो न विलकुल अपरिवर्तनशील है और न इतना विलक्षण परिवर्तन करनेवाला जिससे अचेतन भी अपनी अचेतनत्व की सीमा को लँघकर चेतन बन जाए, या दूसरे अचेतन द्रव्यरूप हो जाय। अथवा एक चेतन दूसरे सजातीय चेतनरूप या विजातीय अचेतनरूप हो जाय। उसकी सीधे शब्दों में यही परिभाषा हो सकती है कि किसी एक द्रव्य के प्रतिक्षण में परिणामन करने पर भी जिसके कारण उसका दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्यरूपसे परिणामन नहीं होता, उस स्वरूपास्तित्व का ही नाम द्रव्य, ध्रौव्य या गुण है। बौद्ध के द्वारा माने गए सन्तान का भी यही कार्य है कि—वह नियत पूर्वक्षण का नियत उत्तरक्षण के साथ ही कार्य-कारणभाव बनाता है क्षणान्तर से नहीं। तात्पर्य यह कि इस सन्तान के कारण एक चेतनक्षण अपनी उत्तर चेतनक्षणपर्याय का ही कारण होगा, विजातीय अचेतनक्षण का

और सजातीय चेतनान्तरक्षण का नहीं। इस तरह तात्त्विक दृष्टि से द्रव्य या सन्तान के कार्य या उपयोग में कोई अन्तर नहीं है। हाँ, अन्तर है तो केवल उसके शाब्दिक स्वरूप-निरूपण में। बौद्ध उस सन्तान को काल्पनिक कहते हैं, जब कि जैन उस द्रव्यांश को पर्याय क्षण की तरह वास्तविक कहते हैं। सदा कूटस्थ अविकारी नित्य अर्थ में तो जैन भी उसे वस्तु नहीं कहते। सन्तान को समझाने के लिए बौद्धों ने यह दृष्टान्त दिया है कि—जैसे दस आदमी एक लाइन में खड़े हैं पर उनमें पंक्ति जैसी कोई एक अनुस्यूत वस्तु नहीं है, उसी तरह क्रमिक पर्यायों में कूटस्थ नित्य कोई द्रव्यांश नहीं है। पर इस दृष्टान्त की स्थिति से द्रव्य की स्थिति कुछ विलक्षण प्रकार की है। यद्यपि यहाँ दश भिन्नसत्ताक पुरुषों में पंक्ति नाम की कोई स्थायी वस्तु नहीं है फिर भी पंक्ति का व्यवहार हो जाता है। पर एक द्रव्य की क्रमिक पर्यायों दूसरे द्रव्य की पर्यायों से किसी स्वरूपास्तित्वरूप तात्त्विक अंश के माने बिना असंक्रान्त नहीं रह सकती। यहाँ एक पुरुष चाहे तो इस पंक्ति से निकलकर दूसरी पंक्ति में शामिल हो सकता है। पर कोई भी पर्याय चाहने पर भी दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्य की पर्याय से संक्रान्त नहीं हो सकती और अपने द्रव्य में भी अपना क्रम छोड़कर न आगे जा सकती है और न पीछे। अतः द्रव्यांश मात्र पंक्ति एवं सेना आदि की तरह बुद्धिकल्पित नहीं है किन्तु क्षण की तरह सत्य है। इस तरह द्रव्यपर्यायात्मक—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक वस्तु अर्थक्रियाकारी है, सर्वथा क्षणिक तथा सर्वथा नित्य वस्तु अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकती।

बौद्ध सत् का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व करते हैं। अर्थक्रिया दो प्रकार से होती है—१ क्रम से, २ युगपदरूप से। उनका कहना है कि नित्य वस्तु न क्रम से ही अर्थक्रिया कर सकती है और न युगपत्। अतः अर्थक्रियाकारित्व रूप सत्त्व के अभाव में वह असत् ही सिद्ध होती है। नित्य वस्तु सदा एकरूप रहती है, अतः जब वह समर्थ होने से सभी कार्यों को युगपत् उत्पन्न कर देगी, तब कार्यों में भेद नहीं हो सकेगा; क्योंकि कार्यों में भेद कारण के भेद से होता है। जब कारण एक एवं अपरिवर्तनशील है तब कार्यभेद का वहाँ अवसर ही नहीं है। यदि वह युगपत् अर्थक्रिया करे; तो सभी कार्य एक ही क्षण में उत्पन्न हो जाँयेंगे, तब दूसरे क्षण में नित्य अकिञ्चित्कर ठहरेगा। इस तरह क्रमयुगपद से अर्थक्रिया का विरोध होने से नित्य असत् है।

अकलंकदेव कहते हैं कि—यदि नित्य में अर्थक्रिया नहीं बनती तो सर्वथा क्षणिक में भी तो उसके बनने की गुंजाइश नहीं है। क्षणिकवस्तु एकक्षण तक ही ठहरती है, अतः जो जिस देश तथा जिस काल में है वह उसी देश तथा काल में नष्ट हो जाती है। इसलिये जब वह देशान्तर या कालान्तर तक किसी भी रूप में नहीं जाती तब देशकृत या कालकृत क्रम उसमें नहीं आ सकता, अतः उसमें क्रमसे अर्थक्रिया नहीं बनेगी। निरंश होने से उसमें एक साथ अनेकस्वभाव तो रहेंगे ही नहीं; अतः युगपत् भी अनेक कार्य

कैसे हो सकते हैं ? एक स्वभाव से तो एक ही कार्य हो सकेगा । कारण में नाना शक्तियाँ माने बिना कार्यों में नानात्व नहीं आ सकता । इस तरह सर्वथा क्षणिक तथा नित्य दोनों वस्तुओं में अर्थक्रिया नहीं हो सकती । अर्थक्रिया तो उभयात्मक—नित्यानित्यात्मक वस्तु में ही संभव है । क्षणिक में अन्वित रूप नहीं है तथा नित्य में उत्पाद और व्यय नहीं है । उभयात्मक वस्तु में ही क्रम, योगपद्य तथा अनेक शक्तियाँ संभव हैं ।

अर्थनिरूपण के प्रसंग में अकलंक ने विभ्रमवाद, संवेदनाद्वैतवाद, परमाणुरूप-अर्थवाद, अवयव से भिन्न अवयवविवाद, अन्यापोहात्मक सामान्यवाद, नित्यैकसर्वगत-सामान्य-वाद, प्रसङ्ग से भूतचैतन्यवाद आदि का समालोचन किया है । जिसका सार यह है—

विभ्रमवाद निरास—स्वप्नादि विभ्रम की तरह समस्त ज्ञान विभ्रम हैं । जिस प्रकार स्वप्न में या जादू के खेल में अथवा मृगतृष्णा में अनेकों पदार्थ सत्यरूप से प्रतिभासित तो होते हैं, पर उनकी वहाँ कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, मात्र प्रतिभास ही प्रतिभास होता है, उसी तरह घट-पटादि ज्ञानों के विषयभूत घट-पटादि अर्थ भी अपनी पारमार्थिक सत्ता नहीं रखते । अनादिकालीन विकल्पवासना के विचित्र परिपाक से ही अनेकानेक अर्थ प्रतिभासित होते हैं । वस्तुतः वे सब विभ्रमरूप ही हैं । इनके मत से किसी भी अर्थ और ज्ञानकी सत्ता नहीं है, जितना ग्राह्य-ग्राहकाकार है वह सब भ्रान्त है । इसका खंडन करते हुए अकलंकदेव ने लिखा है कि—‘स्वप्नादि विभ्रम की तरह समस्त ज्ञान विभ्रम रूप हैं’ इस वाक्य का अर्थ विभ्रम रूप है, कि सत्य ? यदि उक्त वाक्य का अर्थ विभ्रम—मिथ्या है; तब तो सभी अर्थों की सत्ता अविभ्रम-सत्य सिद्ध हो जायगी । यदि उक्त वाक्य का अर्थ सत्य है; तो समस्त वस्तुएँ विभ्रमात्मक कहाँ हुईं ? कम से कम उक्त वाक्य का अर्थ तो स्वरूप सत् हुआ । इसी तरह अन्य वस्तुएँ भी स्वरूप सत् सिद्ध होंगी ।

संवेदनाद्वैतवाद निरासन—ज्ञानाद्वैतवादी मात्र ज्ञान की ही वास्तविक सत्ता मानते हैं बाह्यार्थ की नहीं । ज्ञान ही अनादिकालीन विकल्पवासना के कारण अनेकाकार अर्थरूप से प्रतिभासित होता है । जैसे इन्द्रजाल गन्धर्वनगर आदि में अविद्यमान भी आकार प्रतिभासित होते हैं उसी तरह ज्ञान से भिन्न घटादि पदार्थ अपनी प्रातिभासिकी सत्ता रखते हैं पारमार्थिकी नहीं । इसी अभिन्नज्ञान में प्रमाण-प्रमेय आदि भेद कल्पित होते हैं, अतः यह ग्राह्य-ग्राहकरूप से प्रतिभासित होता है ।

इसकी समालोचना करते हुए अकलंकदेव लिखते हैं कि—तथोक्त अद्वयज्ञान स्वतः प्रतिभासित होता है, या परतः ? यदि स्वतः प्रतिभासित हो; तब तो विवाद ही नहीं होना चाहिए । आपकी तरह ब्रह्मवादी भी अपने ब्रह्म का भी स्वतः प्रतिभास ही तो कहते हैं । परतः प्रतिभास तो पर के बिना नहीं हो सकता । पर को स्वीकार करने पर द्वैतप्रसंग होगा । इन्द्रजालदृष्ट पदार्थ तथा बाह्यसत् पदार्थों में इतना मोटा भेद है कि उसमें स्त्रियाँ तथा ढोर चरानेवाले ग्वाले आदि मूढ़जन भी भ्रान्त नहीं हो सकते । वे बाह्यसत्य पदार्थों को

प्राप्तकर अपनी आकाँक्षाएँ शान्तकर सन्तोष का अनुभव करते हैं जब कि इन्द्रजालदृष्ट पदार्थों से कोई अर्थक्रिया या सन्तोषानुभव नहीं होता । वे तो प्रतिभासकाल में ही असत् मालूम होते हैं । अद्वयज्ञानवादियों को प्रतिभास की सामग्री—प्रतिपत्ता, प्रमाण, विचार आदि तो मानना ही चाहिए, अन्यथा प्रतिभास कैसे हो सकेगा ? अद्वयज्ञान में अर्थ-अनर्थ, तत्त्व-अतत्त्व आदि की व्यवस्था न होने से तद्ग्राही ज्ञानों में प्रमाणता या अप्रमाणता भी निश्चित नहीं की जा सकेगी । पर्वतादि बाह्य पदार्थों को विकल्पवासनाप्रसूत कहने से उनमें मूर्तत्व, स्थूलत्व, सप्रतिष्ठत्व आदि धर्म कैसे संभव हो सकते हैं ? यदि विपादि पदार्थ बाह्यसत् नहीं हैं केवल ज्ञानरूप ही हैं; तब उनके खाने से मृत्यु आदि कैसे हो जाते हैं ? विप के ज्ञानमात्र से तो मृत्यु नहीं देखी जाती । प्रतिपाद्यरूप आत्मान्तर की सत्ता माने बिना शास्त्रोपदेश आदि का क्या उपयोग होगा ? जब परप्रतिपत्ति के उपायभूत वचन ही नहीं हैं; तब परप्रतिपादन कैसे संभव है ? इसी तरह ग्राह्य-ग्राहकभाव, बाध्य-बाधकभाव आदि अद्वैत के बाधक हैं । अद्वयसिद्धि के लिए साध्य-साधनभाव तो आप को मानना ही चाहिए; अन्यथा सहोपलम्भनियम आदि हेतुओं से अद्वयसिद्धि कैसे करोगे ? सहोपलम्भनियम—अर्थ और ज्ञान दोनों एक साथ उपलब्ध होते हैं अतः अर्थ और ज्ञान अभिन्न हैं, जैसे द्विचन्द्रज्ञान में प्रतिभासित होनेवाले दो चन्द्र वस्तुतः पृथक् सत्ता नहीं रखते, किन्तु एक ही हैं ।’ यह अनुमान भी संवेदनाद्वैत की सिद्धि करने में असमर्थ है । यतः सहोपलम्भ हेतु विरुद्ध है—‘शिष्य के साथ गुरु आया’ इस प्रयोग में सहोपलम्भनियम भेद होने पर ही देखा गया है । ज्ञान अन्तरंग में चेतनाकारतया तथा अर्थ बाह्य देश में जडरूप से देखा जाता है अतः उनका सहोपलम्भनियम असिद्ध है । बाह्यसत् एकचन्द्र के स्वीकार किए बिना द्विचन्द्र दृष्टान्त भी नहीं बन सकता । सहोपलम्भनियम का भेद के साथ कोई विरोध नहीं होने के कारण वह अनैकान्तिक भी है ।

ज्ञानाद्वैतवादी बाह्यपदार्थ के अस्तित्व में निम्न बाधक उपस्थित करते हैं कि—एक परमाणु अन्यपरमाणुओं से एकदेश से संयोग करेगा, या सर्वात्मना ? एकदेश से संयोग मानने पर छह परमाणुओं से संयोग करनेवाले परमाणु के छह देश हो जाँयगे । सर्वात्मना संयोग मानने पर परमाणुओं का पिण्ड एकपरमाणुरूप हो जायगा । इसी तरह अवयवी अपने अवयवों में एकदेश से रहेगा, या सर्वात्मना ? एकदेश से रहने पर अवयवी के उतने ही देश मानने होंगे जितने कि अवयव हैं । सर्वात्मना प्रत्येक अवयव में रहने पर जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी हो जाँयगे । अवयवी यदि निरंश है, तो रक्ताक्त, चलाचल, आदि विरुद्धधर्मों का अध्यास होने से उसमें भेद हो जायगा । इत्यादि ।

अकलंकदेव ने इनका समाधान संक्षेप में यह किया है कि—जिस तरह एक ज्ञान अपने ग्राह्य, ग्राहक और संविदाकार से तादात्म्य रखकर भी एक रहता है, उसी तरह अवयवी अपने अवयवों में कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध से रहने पर भी एक ही रहेगा । अवयवों से सर्वथा

भिन्न अवयवी तो जैन भी नहीं मानते। परमाणुओं में परस्पर स्निग्धता और रुद्धता के कारण एक ऐसा विलक्षण सम्बन्ध होता है जिससे स्कन्ध बनता है। अतः ज्ञान के अतिरिक्त बाह्यपदार्थ की सत्ता मानना ही चाहिए; क्योंकि संसार के समस्त व्यवहार बाह्यसत् पदार्थों से चलते हैं, केवल ज्ञानमात्र से नहीं।

परमाणुसंचयवाद निरास—सौत्रान्तिक ज्ञान से अतिरिक्त बाह्यार्थ मानते हैं, पर वे बाह्यार्थ को स्थिर, स्थूलरूप नहीं मानकर क्षणिक परमाणुरूप मानते हैं। परमाणुओं का पुंज ही अत्यन्त आसन्न होने के कारण स्थूलरूप से मालूम होता है। जैसे पृथक् स्थित अनेक वृक्ष दूर से एक स्थूलरूप में प्रतिभासित होते हैं। अकलंकदेव इसका खंडन करते हुए लिखते हैं कि—जब प्रत्येक परमाणु अतीन्द्रिय है और वह अपने परमाणुत्व को छोड़कर स्कन्ध अवस्था में नहीं आता तब उनका समुदाय प्रत्यक्ष का विषय कैसे हो सकेगा? अतीन्द्रिय वस्तुओं का समुदाय भी अपनी अतीन्द्रियता-सूक्ष्मता छोड़कर स्थूलता धारण किए बिना इन्द्रियगम्य नहीं हो सकता।

भिन्नअवयविवाद निरास—नैयायिक अवयवी को अवयवों से भिन्न मानकर भी उसकी अवयवों में समवायसम्बन्ध से वृत्ति मानते हैं। वे अवयवी को निरंश एवं नित्य स्वीकार करते हैं। अकलंकदेव कहते हैं कि—अवयवों से भिन्न कोई अवयवी प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं होता। 'वृक्ष में शाखाएँ हैं' यह प्रतिभास तो होता है पर 'शाखाओं में वृक्ष है' यह एक निराली ही कल्पना है। यदि अवयवी अतिरिक्त हो; तो एक एक छटाक वजन वाले चार अवयवों से बने हुए स्कन्ध में अवयवों के चार छटाक वजन के अतिरिक्त कुछ अवयवी का भी वजन आना चाहिए। अवयव तथा अवयवी का रूप भी पृथक् पृथक् दिखना चाहिए। निरंश अवयवी के एक देश को रँगने पर पूरा अवयवी रंगा जाना चाहिए। उसके एक देश में क्रिया होने पर समस्त अवयवी में क्रिया होना चाहिए। उसके एक देश का आवरण होने पर पूरे अवयवी को आवृत हो जाना चाहिए। इस तरह विरुद्ध धर्मों का अध्यास होने से उसमें एकत्व नहीं रह सकता। अतः अवयवों से सर्वथा भिन्न अवयवी किसी भी तरह प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। इसलिए प्रतीति के अनुसार अवयवों से कथञ्चिद्भिन्न—अवयवरूप ही अवयवी मानना चाहिए।

इस तरह गुण-पर्यायवाला, उत्पाद-व्यय-वैव्यात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय होता है। गुण सहभावी तथा पर्याय क्रमभावी होते हैं। जैसे मेदज्ञान से वस्तु के उत्पाद और व्यय की प्रतीति होती है उसी तरह अमेदज्ञान से स्थिति भी प्रतिभासित होती ही है। जिस प्रकार सर्प अपनी सीढ़ी, टेढ़ी, उत्फण, विफण आदि अवस्थाओं में अनुस्यूत एक सत् है उसी तरह उत्पन्न और विलीन होनेवाली पर्यायों में द्रव्य अनुगत रहता है। अभिन्न प्रतिभास होने से वस्तु एक है। विरुद्ध धर्मों का अध्यास होने से अनेक है। वस्तु अमुक स्थूल अंश से प्रत्यक्ष होने पर भी अपनी सूक्ष्मपर्यायों की अपेक्षा से अप्रत्यक्ष रहती है। वस्तु के धौव्य अंश के

कारण ही 'स एवायम्' यह प्रत्यभिज्ञान होता है। उपादानोपादेयभाव भी ध्रौव्यांश के मानने पर ही बन सकता है। वस्तु जिस रूप से उत्तरपर्याय में अन्वित होगी उसी रूप से उसमें उपादानता का निश्चय होता है। यद्यपि शब्दादि का उपादान तथा आगे होनेवाला उपादेयभूत कार्य प्रत्यक्षगोचर नहीं है, तथापि उसकी मध्यक्षणवर्ती सत्ता ही उसके उपादान का तथा आगे होनेवाले उपादेयरूप कार्य का अनुमान कराती है; क्योंकि उपादान के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती तथा मध्यक्षण यदि आगे कोई कार्य न करेगा; तो वह अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में अवस्तु ही हो जायगा। अतः द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय हो सकती है।

सामान्य—नैयायिक-वैशेषिक नित्य, एक, सर्वगत सामान्य मानते हैं, जो स्वतन्त्र पदार्थ होकर भी द्रव्य, गुण और कर्म में समवायसम्बन्ध से रहता है। मीमांसक ऐसे ही सामान्य का व्यक्ति से तादात्म्य मानते हैं। बौद्ध सामान्य को वस्तुभूत न मानकर उसे अतद्व्यावृत्ति या अन्यापोहरूप स्वीकार करते हैं। जैन सदृश परिणामन को सामान्य कहते हैं। वे उसे अनेकानुगत न कहकर व्यक्तिस्वरूप मानते हैं। वह व्यक्ति की तरह अनित्य तथा असर्वगत है। अकलंकदेव ने सामान्य का स्वरूप वर्णन करते हुए इतरमतों की आलोचना इस प्रकार की है—

नित्य-सामान्यनिरास—नित्य, एक, निरंश सामान्य यदि सर्वगत है; तो उसे प्रत्येक व्यक्ति में खंडशः रहना होगा; क्योंकि एक ही वस्तु अनेक जगह युगपत् सर्वात्मना नहीं रह सकती। नित्य निरंश सामान्य जिस समय एक व्यक्ति में प्रकट होता है; उसी समय उसे सर्वत्र-व्यक्ति के अन्तराल में भी प्रकट होना चाहिये। अन्यथा व्यक्त और अव्यक्तरूप से स्वरूपभेद होने पर अनित्यत्व एवं साशत्व्य का प्रसंग होगा। जिस तरह सामान्य, विशेष और समवाय भिन्न सत्ता के समवाय के बिना भी स्वतःसत् हैं उसी तरह द्रव्य, गुण और कर्म भी स्वतःसत् होकर 'सत् सत्' ऐसा अनुगत व्यवहार भी करा सकते हैं। अतः द्रव्यादि के स्वरूप से अतिरिक्त सामान्य न मानकर सदृशपरिणामरूप ही सामान्य मानना चाहिए।

अन्यापोह निरास—बौद्ध सामान्य को अन्यापोहरूप मानते हैं। इनके मत से कोई भी एक वस्तु अनेक आधारों में वृत्ति ही नहीं रख सकती, अतः अनेक आधारों में वृत्ति रखनेवाला सामान्य असत् है। सामान्य अनुगत व्यवहार के लिए माना जाता है। उनका कहना है कि—हमलोगो को परस्पर विभिन्न वस्तुओं के देखने के बाद जो बुद्धि में अभेद का भान होता है, उसी बुद्धि में प्रतिबिम्बित अभेद का नाम सामान्य है। वह बुद्धि-प्रतिबिम्बित अभेद भी कोई विध्यात्मक धर्म नहीं है, किन्तु अतद्व्यावृत्तिरूप है। जिन व्यक्तियों में अमनुष्यव्यावृत्ति पाई जाती है उनमें 'मनुष्य मनुष्य' व्यवहार किया जाता है। जैसे चन्द्र, आलोक और रूप आदि पदार्थ परस्पर में अत्यन्त भिन्न होकर भी अरूपज्ञानजननव्या-

वृत्ति होने के कारण रूपज्ञानजनकरूप से समान व्यवहार में कारण हो जाते हैं, उसी तरह परस्पर में अत्यन्त भिन्न मनुष्यव्यक्तियाँ भी अमनुष्यव्यावृत्ति के कारण 'मनुष्य मनुष्य' ऐसा समान व्यवहार कर सकेगी। इसी तरह अतन्कार्य-कारणव्यावृत्ति से अनुगत व्यवहार होता है। प्रकृत मनुष्यव्यक्तियाँ मनुष्य के कारणों से उत्पन्न हुई हैं तथा मनुष्य के कार्यों को करती हैं, अतः उनमें अमनुष्यकारणव्यावृत्ति तथा अमनुष्यकार्यव्यावृत्ति पाई जाती है, इसीसे उनमें किसी वस्तुभूत सामान्य के बिना भी सदृश व्यवहार हो जाता है।

अकलंकदेव इसका खंडन करते हैं कि—सदृशपरिणामरूप विध्यात्मक सामान्य के माने बिना अपोह का नियम ही नहीं हो सकता। जब एक शावलेय गौव्यक्ति दूसरी बाहुलेय गौव्यक्ति से उतनी ही भिन्न है जितनी कि एक अश्वव्यक्ति से, तब क्या कारण है कि अगो-व्यावृत्ति शावलेय और बाहुलेय में ही 'गौ गौ' ऐसा अनुगत व्यवहार कराती है अश्व में नहीं? अतः यह मानना होगा कि शावलेय गौ बाहुलेय गौ से उतनी भिन्न नहीं है जितनी अश्व से, अर्थात् शावलेय और बाहुलेय में कोई ऐसा सादृश्य है जो अश्व में नहीं पाया जाता। इसलिए सदृश परिणाम ही समान व्यवहार का नियामक हो सकता है। यह तो हम प्रत्यक्ष से ही देखते हैं कि—कोई वस्तु किसी से समान है तथा किसी से विलक्षण। बुद्धि समानधर्मों की अपेक्षा से अनुगत व्यवहार कराती है, तथा विलक्षण धर्मों की अपेक्षा से विसदृश व्यवहार। पर वह समानधर्म विध्यात्मक है निपेधात्मक नहीं। बौद्ध जब स्वयं अपरापरक्षणों में सादृश्य के कारण ही एकत्व का भान मानते हैं, शुक्तिका और चाँदी में सादृश्य के कारण ही भ्रमोत्पत्ति स्वीकार करते हैं; तब अनुगत व्यवहार के लिए अतद्व्यावृत्ति जैसी निपेधमुखी कल्पना से क्या लाभ? क्योंकि उसका निर्वाह भी आखिर सदृश-परिणामके ही आधीन आ पड़ता है। बुद्धि में अभेद का प्रतिविम्ब वस्तुगत सदृश धर्म के माने बिना यथार्थता नहीं पा सकता। अतः सदृशपरिणामरूप ही सामान्य मानना चाहिए। इस तरह अकलंकदेव ने सदृशपरिणामरूप तिर्यक्सामान्य, एकद्रव्यरूप ऊर्ध्वतासामान्य, भिन्नद्रव्यों में विलक्षण व्यवहार का प्रयोजक विशेष, और एक द्रव्य की दो पर्यायों में भेद व्यवहार करानेवाले पर्याय इन द्रव्य, पर्याय, सामान्य और विशेष चार पदों का उपादान करके प्रमाण के विषयभूत पदार्थ की सम्पूर्णता का प्रतिपादन किया है।

भूतचैतन्यवाद निरास—चार्वाक का सिद्धान्त है कि—जीव कोई स्वतन्त्र मौलिक तत्त्व नहीं है किन्तु पृथिवी, जल, अग्नि और वायु के अमुक प्रमाण में विलक्षण रासायनिक मिश्रण से ही उन्हीं पृथिव्यादि में चैतन्यशक्ति आविर्भूत हो जाती है। इसी ज्ञान-शक्तिविशिष्ट भूत-शरीर में जीव व्यवहार होता है। जिस प्रकार कोदो, महुआ आदि में जलादि का मिश्रण होने से मदिरा तैयार हो जाती है उसी तरह जीव एक रासायनिक मिश्रण से बना हुआ संयुक्त-द्रव्य है स्वतन्त्र अखण्ड मूल-द्रव्य नहीं है। उस मिश्रण में से अमुक तत्वों की कमी होने पर जीवनीशक्ति के नष्ट होने पर मृत्यु हो जाती है। अतः

जीव गर्भ से लेकर मृत्यु पर्यन्त ही रहता है, परलोक तक जानेवाला नहीं है। उसकी शरीर के साथ ही साथ क्या शरीर के पहिले ही इतिश्री हो जाती है, शरीर तो मृत्यु के बाद भी पड़ा रहता है। “जलबुद्बुदवज्जीवाः, मदशक्तिवद्विज्ञानम्”—जल के बुद्बुदों की तरह जीव तथा महुआ आदि में मादकशक्ति की तरह ज्ञान उत्पन्न होता है—ये उनके मूल सिद्धान्तसूत्र हैं।

अकलंकदेव इसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—यदि आत्मा-जीव स्वतन्त्र मूल-तत्त्व न हो तो संसार और मोक्ष किसे होगा? शरीरावस्था को प्राप्त पृथिव्यादि भूत तो इस लोक में ही भस्मीभूत हो जाते हैं, परलोक तक कौन जायगा? परलोक का अभाव तो नहीं किया जा सकता; क्योंकि आज भी बहुत लोग जातिस्मरण होने से अपने पूर्वभव की तथ्यस्थिति का आंखोंदेखा हाल वर्णन करते हुए देखे जाते हैं। यक्ष, राक्षस, भूत पिशाचादि पर्यायो में पहुँचे हुए व्यक्ति अपनी वर्तमान तथा अतीतकालीन पूर्वपर्याय का समस्त वृत्तान्त सुनाते हैं। जन्म लेते ही नवजातशिशु को माँ के दूध पीने की अभिलाषा होती है। यह अभिलाषा पूर्वानुभाव के विना नहीं हो सकती; क्योंकि अभिलाषा पूर्वदृष्ट पदार्थकी सुखसाधनता का स्मरण करके होती है। अतः पूर्वानुभव का स्थान परलोक मानना चाहिये। “गर्भ में माँ के द्वारा उपभुक्त भोजनादि से बने हुए अमुक विलक्षण रसविशेष के ग्रहण करने से नवजातशिशु को जन्म लेते ही दुग्धपान की ओर प्रवृत्ति होती है” यह कल्पना नितान्त युक्तिविरुद्ध है; क्योंकि गर्भ में रसविशेष के ग्रहण करने से ही यदि अभिलाषा होती है तो गर्भ में एक साथ रहनेवाले, एक साथ ही रसविशेष को ग्रहण करनेवाले युगल पुत्रों में परस्पर प्रत्यभिज्ञान एवं अभिलाषा होनी चाहिए, एक के द्वारा अनुभूत वस्तु का दूसरे को स्मरण होना चाहिए! प्रत्येक पृथिवी आदि भूत में तो चैतन्यशक्ति का आविर्भाव नहीं देखा जाता अतः समस्तभूतों के अमुक मिश्रण में ही जब एक विलक्षण अतीन्द्रिय स्वभावसिद्ध शक्ति माननी पड़ती है तब ऐसे विलक्षणशक्तिशाली अतीन्द्रिय आत्मतत्त्व के मानने में ही क्या बाधा है? ज्ञान प्राणयुक्त शरीर का भी धर्म नहीं हो सकता; क्योंकि अन्वकार में शरीर का प्रत्यक्ष न होने पर भी ‘अहं ज्ञानवान्’ इस प्रकार से ज्ञान का अन्तःमानसप्रत्यक्ष होता है। यदि ज्ञानरूपसे शरीर का ग्रहण होता; तो कदाचित् ज्ञान शरीर का धर्म माना जाता। दूसरा व्यक्ति अपने नेत्रों से हमारे शरीर का ज्ञान कर लेता है पर शरीर के रूपादि की तरह वह हमारे ज्ञान का ज्ञान नहीं कर सकता। शरीर में विकार होने पर भी बुद्धि में विकार नहीं देखा जाता, शरीर की पुष्टि या कमजोरी में ज्ञान की पुष्टि या कमजोरी नहीं देखी जाती, शरीर के अतिशय बलवान् होने के साथ ही साथ बुद्धिबल बढ़ता हुआ नहीं देखा जाता, इत्यादि कारणों से यह सुनिश्चित है कि—ज्ञान शरीर का गुण नहीं है। ज्ञान, सुख आदि इन्द्रियों के भी धर्म नहीं हो सकते; क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों की अनुपयुक्त दशा में मन से ही ‘मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ’ यह मानस प्रत्यक्ष अनुभव में

आता है। चक्षुरादि इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो जाने पर भी मानस स्मरणज्ञान देखा जाता है। अतः जीवनशक्ति या ज्ञानशक्ति भूतों का गुण या पर्याय नहीं हो सकती, वह तो आत्मा की ही पर्याय है। यह जीव ज्ञान-दर्शनादि उपयोगवाला है। सुषुप्तादि अवस्थाओं में भी इसका ज्ञान नष्ट नहीं होता। अकलंकदेव ने 'सुषुप्तादौ बुद्धः' इस पद का उपादान करके प्रज्ञाकरगुप्त आदि के 'सुषुप्तावस्था में ज्ञान नष्ट या तिरोहित हो जाता है' इस सिद्धान्त का खंडन किया है। यह आत्मा प्राणादि को धारण करके जीता है इसलिए जीव कहलाता है। जीव स्वयं अपने कर्मों का कर्त्ता तथा भोक्ता है। वही रागादि-भावों से कर्मबन्धन करता है तथा वीतरागपरिणामों से कर्मबन्धन तोड़कर मुक्त हो जाता है। यह न तो सर्वव्यापी है और न वटबीज की तरह अणुरूप ही; किन्तु अपने उपात्त-शरीर के परिमाणानुसार मध्यम-परिमाणवाला है। कर्मसम्बन्ध के कारण प्रदेशों के संकोच-विस्तार होने से छोटे बड़े शरीर के परिमाण होता रहता है।

गुण—इसी प्रसंग में गुण और गुणी के सर्वथा भेद का खण्डन करते हुए लिखा है कि—अर्थ अनेक धर्मात्मक है। उसका अखण्डरूप से ग्रहण करना कदाचित् संभव भी है, पर कथन या व्यवहार तो उसके किसी खास रूप-धर्म से ही होता है। इसी व्यवहारार्थ भेदरूपसे विवक्षित धर्म को गुण कहते हैं। गुण द्रव्य का ही परिणामन है, वह स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। चूँकि गुण पदार्थ के धर्म हैं अतः ये स्वयं निर्गुण-गुणशून्य होते हैं। यदि गुण स्वतन्त्र पदार्थ माना जाय और वह भी द्रव्य से सर्वथा भिन्न; तो 'अमुकगुण-ज्ञान अमुकगुणी-आत्मा में ही रहता है पृथिव्यादि में नहीं' इसका नियामक कौन होगा? इसका नियामक तो यही है कि—ज्ञान का आत्मा से ही कथञ्चित्तादात्म्य है अतः वह आत्मा में ही रहता है पृथिव्यादि में नहीं। वैशेषिक के मत में 'एक गन्ध, दो रूप' आदि प्रयोग नहीं हो सकेंगे; क्योंकि गन्ध, रूप तथा संख्या आदि सभी गुण हैं, और गुण स्वयं निर्गुण होते हैं। यदि आश्रयभूत द्रव्य की संख्या का एकार्थसमवाय सम्बन्ध के कारण रूपादि में उपचार करके 'एक गन्ध' इस प्रयोग का निर्वाह किया जायगा; 'तो एक द्रव्य में रूपादि बहुत गुण हैं' यह प्रयोग असंभव हो जायगा; क्योंकि रूपादि बहुत गुणों के आश्रयभूत द्रव्य में तो एकत्वसंख्या है बहुत्व-संख्या नहीं। अतः गुण को स्वतन्त्र पदार्थ न मानकर द्रव्य का ही धर्म मानना चाहिए। धर्म अपने आश्रयभूत धर्मी की अपेक्षा से धर्म होने पर भी अपने में रहने-वाले अन्य धर्मों की अपेक्षा से धर्मी भी हो जाता है। जैसे रूपगुण आश्रयभूत घट की अपेक्षा से यद्यपि धर्म है पर अपने में पाये जानेवाले एकत्व, प्रमेयत्व आदि धर्मों की अपेक्षा धर्मी है। अतः जैन सिद्धान्त में धर्म-धर्मिभाव के अनियत होने के कारण 'एक गन्ध, दो रूप' आदि प्रयोग बड़ी आसानी से बन जाते हैं। इति।

§ ३. नयनिरूपण—

जैनदृष्टि का आधार और स्थान—भारतीय संस्कृति मुख्यतः दो भागों में बाँटी जा सकती है—एक वैदिक संस्कृति और दूसरी उसके मुकाबिले में खड़ी हुई श्रमणसंस्कृति । वैदिकसंस्कृति के आधारभूत वेद को प्रमाण माननेवाले न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा तथा औपनिषद् आदि दर्शन हैं । श्रमणसंस्कृति के शिलाधार वेदकी प्रमाणता का विरोध करनेवाले बौद्ध और जैनदर्शन हैं । वैदिकदर्शन तथा वैदिकसंस्कृति के प्राण-प्रतिष्ठान में विचारों की प्रधानता है । श्रवणसंस्कृति एवं अवैदिक दर्शनो की उद्भूति आचारशोधन के प्रामुख्य से हुई है । सभी दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है, और गौण या मुख्यरूपसे तत्त्वज्ञान को मोक्ष का साधन भी सबने माना ही है । वैदिक संस्कृति तथा वैदिकदर्शनो की प्राणप्रतिष्ठा, संवर्द्धन एवं प्रौढीकरण में बुद्धिजीवी ब्राह्मणवर्ग ने पुरतैनी प्रयत्न किया है जो आजतक न्यूनाधिक रूप में चालू है । यही कारण है कि वैदिकदर्शन का कोपागार, उनकी सूक्ष्मता, तलस्पर्शिता, भावग्राहिता एवं पराकाष्ठा को प्राप्त कल्पनाओं का कोटिक्रम अपनी सानी कम रखता है । परम्परागत-बुद्धिजीवित्व-शाली ब्राह्मणवर्ग ने अपनी सारी शक्ति कल्पनाजाल का विकास करके वेदप्रामाण्य के समर्थन में लगाई और वैदिकक्रियाकाण्डो के द्वारा गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त के जीवन के प्रत्येकक्षण को इतना ओतप्रोत कर दिया जिससे मुकाबिले में खड़ी होनेवाली बौद्ध और जैनसंस्कृति भी पीछे जाकर इन क्रियाकाण्डों से अंशतः पराभूत हो गई ।

श्रमणसंस्कृति वैदिक क्रियाकाण्ड, खासकर धर्म के नाम पर होने वाले अजामेध, अश्वमेध, नरमेध आदि हिंसाकाण्ड का तात्त्विक एवं क्रियात्मक विरोध करने के लिए उद्भूत हुई, और उसने इस क्षेत्र में पर्याप्त सफलता भी पाई । श्रमणसंस्कृति का आधार पूर्णरूपसे अहिंसा रही है । अहिंसा का वास्तविक रूप तो सचमुच आचारगत ही है । अहिंसा का विचार तो वैदिकदर्शनों ने भी काफी किया है पर विशिष्ट अपवादो के साथ । श्रवणसंस्कृति अहिंसा का सक्रिय रूप थी । इस अहिंसा की साधना तथा पूर्णता के लिए ही इसमें तत्त्वज्ञान का उपयोग हुआ, जब कि वैदिक संस्कृति में तत्त्वज्ञान साध्यरूपमें रहा है ।

बौद्धदृष्टि—बुद्ध अहिंसा की साधना के लिए प्रारम्भ में छह वर्ष तक कठोर तपस्या करते हैं । जब उनका भावुक चित्त तपस्या की उग्रता से ऊब जाता है, तब वे विचार करते हैं कि—इतनी दीर्घतपस्या के बाद भी मुझे बोधिलाभ क्यों नहीं हुआ ? यहीं उनकी तीक्ष्णदृष्टि 'मध्यम प्रतिपदा' को पकड़ लेती है । वे निश्चय करते हैं कि—यदि एक ओर वैदिकी हिंसा तथा विषय भोग आदिके द्वारा शरीर के पोषण का बोलवाला है तो इस ओर भी अव्यवहार्य अहिंसा तथा भीषण कायक्लेशके द्वारा होनेवाला शरीर का शोषण हृदय की

न करके उस पर ऐकान्तिक प्रहार कर पारस्परिक मनोमालिन्य-हिंसा को ही उत्तेजन दिया । इससे वैदिक संस्कृति तथा बौद्ध संस्कृति के बीच एक ऐसी अभेद्य दीवार खड़ी हो गई जिसने केवल दर्शनिक क्षेत्र में ही नहीं किन्तु राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में भी दोनों को सदा के लिए आत्यन्तिक विभक्त कर दिया । इसके फलस्वरूप प्राणों की बाजी लगाकर अनेकों शास्त्रार्थ हुए तथा राजनैतिक जीवन में इस कालकूट ने प्रवेश कर अनेकों राजवंशों का सत्यानाश किया । उत्तरकाल में बौद्धाचार्यों ने मन्त्र-तन्त्रों की साधना इसी हिंसा के उत्तेजन के लिए की और आखिर इसी हिंसाज्वाला से भारतवर्ष में बौद्धों का अस्तित्व खाक में मिल गया । यदि मध्यमा प्रतिपद् ने इस दार्शनिक क्षेत्र में भी अपना पुनीत प्रकाश फैलाया होता तो आज उसकी अहिंसक किरणों से दर्शनशास्त्र का कुछ दूसरा ही रूप हुआ होता, और भारतवर्ष का मध्यकालीन इतिहास सचमुच स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने लायक होता ।

जैनदृष्टि—भग० महावीर अत्यन्त कठिन तपस्या करनेवाले तपःशूर थे । इन्होंने अपनी उग्र तपस्या से कैवल्य प्राप्त किया । ये इतने दृढ़तपस्वी तथा काष्ठसहिष्णु व्यक्ति थे कि इन्हें बुद्ध की तरह अपनी व्यक्तिगत तपस्या में मृदुता लाने के लिए मध्यममार्ग के उपयोग की आवश्यकता ही नहीं हुई । इनकी साधना कायिक अहिंसा के सूक्ष्म-पालन के साथ ही साथ वाचनिक और खासकर मानस अहिंसा की पूर्णता की दिशा में थी । भग० महावीर पितृचेतस्क व्यक्ति थे, अतः इनका आचार के नियमों में अत्यन्त दृढ़ एवं अनुशासनप्रिय होना स्वाभाविक था । पर संघ में तो पंचमेल व्यक्ति दीक्षित होते थे । सभी तो उग्रमार्ग के द्वारा साधना करने में समर्थ नहीं हो सकते थे अतः इन्होंने अपनी अनेकान्तदृष्टि से आचार के दर्जे निश्चित कर चतुर्विधसंघ का निर्माण किया । और प्रत्येक कक्षा के योग्य आचार के नियम स्थिर कर उनके पालन कराने में ढिलाई नहीं की । भग० महावीर की अनेकान्तदृष्टि ने इस तरह आचार के क्षेत्र में सुदृढ़ संघनिर्माण करके तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में भी अपना पुनीत प्रकाश फैलाया ।

अनेकान्तदृष्टि का आधार—भग० महावीर ने बुद्ध की तरह आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों के स्वरूपनिरूपण में मौन धारण नहीं किया; किन्तु उस समय के प्रचलित वादों का समन्वय करनेवाला वस्तुस्वरूपस्पर्शी उत्तर दिया कि—आत्मा है भी, नहीं भी, नित्य भी, अनित्य भी, आदि । यह अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन उनकी मानसी अहिंसा का प्रतिफल है । अन्यथा वे बुद्ध की तरह इस चर्चा को अनुपयोगी कह सकते थे । कायिक अहिंसा के लिए जिस तरह व्यक्तिगत सम्यगाचार आवश्यक है, उसी तरह वाचनिक और खासकर मानस अहिंसा के लिए अनेकान्तदृष्टि विशेषरूप से उपासनीय है । जब तक दो विभिन्न विचारों का अनेकान्तदृष्टि से वस्तुस्थिति के आधार पर समीकरण न होगा तब तक हृदय में उनका अन्तर्द्वन्द्व चलता ही रहेगा, और उन विचारों के प्रयोजकों के प्रति

राग-द्वेष का भाव जाग्रत हुए बिना न रहेगा । इस मानस अहिंसा के बिना केवल बाह्य अहिंसा याचितकमंडनरूप ही है । यह तो और भी कठिन है कि—‘किसी वस्तु के विषय में दो मनुष्य दो विरुद्ध धारणाएँ रखते हों, और उनका अपने अपने ढँग से समर्थन ही नहीं उसकी सिद्धि के लिए वादविवाद भी करते हों, फिर भी वे एक दूसरे के प्रति समता-भाव-मानस अहिंसा रख सकें।’ भग० महावीर ने इसी मानसशुद्धि के लिए, अनिर्वचनीय अखण्ड अनन्तधर्मा वस्तु के एक एक अंश को ग्रहण करके भी पूर्णता का अभिमान करने के कारण विरुद्धरूप से भासमान अनेक दृष्टियों का समन्वय करनेवाली, विचारों का वास्तविक समझौता करानेवाली, पुण्यरूपा अनेकान्तदृष्टि को सामने रखा । जिससे एक वादी इतर-वादियों की दृष्टि का तत्त्व समझ कर उसका उचित अंश तक आदर करे, उसके विचारों के प्रति सहिष्णुता का परिचय दे, और राग-द्वेषविहीन हो शान्त चित्त से वस्तु के पूर्णस्वरूप तक पहुँचने की दिशा में प्रयत्न करे । समाजरचना या संघनिर्माण में तो इस तत्त्व की खास आवश्यकता थी । संघ में तो विभिन्न सम्प्रदाय एवं विचारों के चित्र विचित्र व्यक्ति दीक्षित होते थे । उनका समीकरण इस यथार्थदृष्टि के बिना कर सकना अत्यन्त कठिन था, और समन्वय किए बिना उनके चित्त की स्थिरता संभव ही नहीं थी । ऊपरी एकीकरण से तो कभी भी विस्फोट हो सकता था और इस तरह अनेकों संघ छिन्न-भिन्न हुए भी ।

अनेकान्तदृष्टि के मूल में यह तत्त्व है कि—वस्तु स्वरूपतः अनिर्वचनीय है, अनन्त-धर्मों का एक अखण्ड पिण्ड है । वचन उसके पूर्ण स्वरूप की ओर इशारा तो कर सकते हैं, पर उसे पूर्णरूप से कह नहीं सकते । लिहाजा एक ही वस्तु को विभिन्न व्यक्ति अपने अपने दृष्टिकोणों से देखते हैं तथा उनका निरूपण करते हैं । इस लिए यदि विरोध भासित हो सकता है तो एक एक अंश को ग्रहण करके भी अपने में पूर्णता का अभिमान करनेवाली दृष्टियों में ही । जब हम एक अंश को जाननेवाली अपनी दृष्टि में पूर्णता का अभिमान कर बैठेंगे तो सहज ही द्वितीय अंश को जानकर भी पूर्णताभिमानिनी दूसरी दृष्टि उससे टकराएगी । यदि अनेकान्तदृष्टि से हमें यह मालूम हो जाय कि—ये सब दृष्टियाँ वस्तु के एक एक धर्मों को ग्रहण करनेवाली हैं, इनमें पूर्णता का अभिमान मिथ्या है तब स्वरसतः द्वितीय दृष्टि को, जो अभी तक विरुद्ध भासित होती थी, उचित स्थान एवं आदर मिल जायगा । इसी को आचार्यों ने शास्त्रीय शब्दों में कहा है कि—‘एकान्त वस्तुगत धर्म नहीं हैं, किन्तु बुद्धिगत हैं । अतः बुद्धि के शुद्ध होते ही एकान्त का नामोनिशान भी नहीं रहेगा ।’ इसी समन्वयात्मक दृष्टि से होनेवाला वचनव्यवहार स्याद्वाद कहलाता है । यह अनेकान्त-ग्राहिणी दृष्टि प्रमाण कही जाती है । जो दृष्टि वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करके भी इतरधर्मग्राहिणी दृष्टियों का प्रतिक्षेप नहीं करके उन्हें उचित स्थान दे वह नय कहलाती है । इस तरह मानस अहिंसा के कार्य-कारणभूत अनेकान्त-दृष्टि के निर्वाह एवं विस्तार के लिए स्याद्वाद, नयवाद, सप्तभंगी आदि विविध रूपों में

उत्तरकालीन आचार्यों ने खूब लिखा। उन्होंने उदारता पूर्वक यहाँ तक लिखा है कि—‘समस्त मिथ्यैकान्तों का समूह ही अनेकान्त है, समस्त पाखण्डों के समुदाय अनेकान्त की जय हो।’ यद्यपि पातञ्जलदर्शन, भास्करीयवेदान्त, भाट्ट आदि दर्शनों में भी इस समन्वयदृष्टि का उपयोग हुआ है; पर स्याद्वाद के ऊपर ही संख्यावद्ध शास्त्रों की रचना जैनाचार्यों ने ही की है। उत्तरकालीन जैनाचार्यों ने यद्यपि भग० महावीर की उसी पुनीत अनेकान्तदृष्टि के अनुसार ही शास्त्ररचना की है; पर वह मध्यस्थभाव अंशतः परपक्ष-खंडन में बदल गया। यद्यपि यह अवश्यक था कि—प्रत्येक एकान्त में दोष दिखाकर अनेकान्त की सिद्धि की जाय, फिर भी उसका सूक्ष्म पर्यवेक्षण हमें इस नतीजे पर पहुँचाता है कि भग० महावीर की वह मानस अहिंसा ठीक-शत-प्रतिशत उसीरूपमें तो नहीं ही रही।

विचार विकास की चरमरेखा—भारतीय दर्शनशास्त्रों में अनेकान्त दृष्टि के आधार से वस्तु के स्वरूप के प्ररूपक जैनदर्शन को हम विचारविकास की चरमरेखा कह सकते हैं। चरमरेखा से मेरा तात्पर्य यह है कि—दो विरुद्ध वादों में तब तक शुष्कतर्कजन्य कल्पनाओं का विस्तार होता जायगा जब तक कि उनका कोई वस्तुस्पर्शी हल-समाधान न हो जाय। जब अनेकान्तदृष्टि उनमें सामञ्जस्य स्थापित कर देगी तब झगड़ा किस बात का और शुष्क तर्कजाल किस लिए? तात्पर्य यह है कि जब तक वस्तुस्थिति स्पष्ट नहीं होती तब तक विवाद बराबर बढ़ता ही जाता है। जब वह वस्तु अनेकान्तदृष्टि से अत्यन्त स्पष्ट हो जायगी तब वादों का स्रोत अपने आप सूख जायगा।

स्वतःसिद्ध न्यायाधीश—इसलिए हम अनेकान्त दृष्टि को न्यायाधीश के पद पर अनायास ही बैठा सकते हैं। यह दृष्टि न्यायाधीश की तरह उभयपक्ष को समुचितरूप से समझकर भी अपक्षपातिनी है। यह मौजूदा यावत् विरोधी वादरूपी मुद्दे-मुदाहलो का फैसला करनेवाली है। यह हो सकता है कि—कदाचित् इस दृष्टि के उचित उपयोग न होने से किसी फैसले में अपील को अवसर मिल सके। पर इसके समुचित उपयोग से होने-वाले फैसले में अपील की कोई गुँजाइश नहीं रहती। उदाहरणार्थ—देवदत्त और यज्ञदत्त मामा-फुआ के भाई हैं। रामचन्द्र देवदत्त का पिता है तथा यज्ञदत्त का मामा। यज्ञदत्त और देवदत्त दोनों ही बड़े बुद्धिशाली लड़के हैं। देवदत्त जब रामचन्द्र को पिता कहता है तब यज्ञदत्त देवदत्त से लड़ता है और कहता है कि—रामचन्द्र तो मामा है तू उसे पिता क्यों कहता है? इसी तरह देवदत्त भी यज्ञदत्त से कहता है कि—वाह! रामचन्द्र तो पिता है उसे मामा नहीं कह सकते। दोनों शास्त्रार्थ करने बैठ जाते हैं। यज्ञदत्त कहता है कि—देखो, रामचन्द्र मामा हैं, क्योंकि वे हमारी माँ के भाई हैं, हमारे बड़ेभाई भी उसे मामा ही तो कहते हैं आदि। देवदत्त कहता है—वाह! रामचन्द्र तो पिता है, क्योंकि उसके भाई हमारे चाचा होते हैं, हमारी माँ उसे स्वामी कहती है आदि। इतना ही नहीं, दोनों में इसके फलस्वरूप हाथापाई हो जाती है। एक दूसरे का कट्टर शत्रु बन जाता है।

अनेकान्तदृष्टिवाला रामचन्द्र पास के कमरे से अपने होनहार लड़कों की कल्पनाशक्ति एवं बुद्धिपटुता से प्रसन्न होकर भी उसके फलस्वरूप होनेवाली हिंसा-मारपीट से खिन्न हो जाता है। वह उन दोनों की गलती समझ जाता है और उन्हें बुलाकर धीरे से समझाता है—वेटा देवदत्त, यह ठीक है कि मैं तुम्हारा पिता हूँ, पर केवल तुम्हारा पिता ही तो नहीं हूँ, इसका मामा भी तो हूँ। इसी तरह यज्ञदत्त को समझाता है कि—वेटा यज्ञदत्त, तुम भी ठीक कहते हो, मैं तुम्हारा तो मामा ही हूँ, पर यज्ञदत्त का पिता भी तो हूँ। यह सुनते ही दोनों भाइयों की दृष्टि खुल जाती है। वे झगड़ना छोड़कर आपस में बड़े हेलमेल से रहने लगते हैं। इस तरह हम समझ सकते हैं कि—एक एक धर्म के समर्थन में वस्त्वंश को लेकर घर्षों गई दलीले तब तक बराबर चालू रहेंगी और एक दूसरे का खंडन ही नहीं किन्तु उससे होनेवाले रागद्वेष—हिंसा की परम्परा बराबर चलेगी जब तक कि अनेकान्त-दृष्टि उनकी चरमरेखा बनाकर समन्वय न कर देगी। इसके बाद तो मस्तिष्क के व्यायामस्वरूप दलीलों का दलदल अपने आप सूख जायगा।

प्रत्येक पक्षके वकीलों द्वारा अपने पक्षसमर्थन के लिए सङ्कलित दलीलों की फाइल की तरह न्यायाधीश का फैसला भले ही आकार में बड़ा न हो; पर उसमें वस्तुस्पर्श, व्यावहारिकता एवं सूक्ष्मता के साथ ही साथ निष्पक्षपातिता अवश्य ही रहती है। उसी तरह एकान्तके समर्थन में प्रयुक्त दलीलों के भण्डारभूत एकान्तवादी दर्शनों की तरह जैनदर्शन में कल्पनाओं का चरम विकास न हो और न उसका परिमाण ही अधिक हो; पर उसकी वस्तुस्पर्शिता, व्यावहारिकता, तटस्थवृत्ति एवं अहिंसाधारता में तो सन्देह किया ही नहीं जा सकता। हो सकता है कि उत्तरकाल में मध्यकालीन आचार्यों द्वारा अंशतः परपक्ष-खंडन में पड़ने के कारण उस मध्यस्थता का उसरूप में निर्वाह न हुआ हो; पर वह दृष्टि उनके पास सदा जाग्रत रही, और उसीके श्रेयःप्रकाश में उन्होंने परपक्ष को भी नय-दृष्टि से उचित स्थान दिया। जिस तरह न्यायाधीश के फैसले के उपक्रम में उभयपक्षीय वकीलोंकी दलीलों के बलाबल की जाँच में एक दूसरे की दलीलों का यथासंभव उपयोग होकर अन्त में उनके निःसार भाग की समालोचनापूर्वक व्यवहार्य फैसला होता है। उसी तरह जैनदर्शन में एक एकान्त के खण्डनार्थ या उसके बलाबल की जाँच के लिए द्वितीय एकान्तवादी की दलीलों का पर्याप्त उपयोग देखा जाता है। अन्त में उनकी समालोचना होकर उनका समन्वयात्मक फैसला दिया गया है। एकान्तवादी दर्शनों के समन्वयात्मक फैसले की ये मिसले ही जैनदर्शनशास्त्र हैं।

बात यह है कि—भग० महावीर कार्यशील अहिंसक व्यक्ति थे। वे वादी नहीं थे किन्तु सन्त थे। उन्हें वाद की अपेक्षा कार्य-सदाचरण अधिक पसन्द था, और जब तक हवाई बातों से कार्योपयोगी व्यवहार्य मार्ग न निकाला जाय तब तक कार्य होना ही कठिन था। मानस-अहिंसा के संवर्द्धन, परिपोषण के लिए अनेकान्तदृष्टिरूपी संजीवनी की आवश्य-

कता थी। वे बुद्धिजीवी या कल्पनालोक में विचरण करनेवाले नहीं थे। उन्हें तो सर्वाङ्गीण अहिंसाप्रचार का सुलभ रास्ता निकाल कर जगत् को शान्ति का सहज सन्देश देना था। उन्हें मस्तिष्क के शुष्क कल्पनात्मक व्यायाम की अपेक्षा हृदय से निकली हुई व्यवहार्य अहिंसा की छोटी सी आवाज ही अधिक कारगर मालूम होती थी। यह ठीक है कि—बुद्धिजीवीवर्ग जिसका आचरण से विशिष्ट सम्पर्क न हो, बैठेठाले अनेकान्तकल्पना जाल से ग्रन्थ गूँथा करे और यही कारण है कि—बुद्धिजीवीवर्ग द्वारा वैदिक दर्शनों का पर्याप्त प्रसार हुआ। पर कार्यक्षेत्र में तो केवल कल्पनाओं से ही निर्वाह नहीं हो सकता था; वहाँ तो व्यवहार्य मार्ग निकाले बिना चारा ही नहीं था। भग० महावीर ने अनेकान्तदृष्टि रूप, जिसे हम जैनदर्शन की जान कहते हैं, एक वह व्यवहार्यमार्ग निकाला जिसके समुचित उपयोग से मानसिक, वाचिक तथा कायिक अहिंसा पूर्णरूपसे पाली जा सकती है। इस तरह भग० महावीर की यह अहिंसास्वरूपा अनेकान्तदृष्टि ही जैनदर्शन के भव्य प्रासाद का मध्यस्तम्भ है। इसीसे जैनदर्शन की प्राणप्रतिष्ठा है। भारतीय दर्शनशास्त्र सचमुच इस अतुलसत्य को पाये बिना अपूर्ण रहता। जैनदर्शन ने इस अनेकान्तदृष्टि के आधार से बनी हुए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थराशि देकर भारतीय दर्शनशास्त्र के कोषागार में अपनी ठोस और पर्याप्त पूँजी जमा की है। पूर्वकालीन युगप्रधान समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि दार्शनिकों ने इसी दृष्टि के समर्थनद्वारा सत्-असत्, नित्यत्वानित्यत्व, भेदाभेद, पुण्य-पापप्रकार, अद्वैत-द्वैत, भाग्य-पुरुषार्थ, आदि विविध वादों में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित किया। मध्यकालीन अकलंक, हरिभद्र आदि तार्किकों ने अंशतः परपक्ष का खण्डन करके भी उसी दृष्टि को प्रौढ़ किया। इसी दृष्टि के विविध प्रकार से उपयोग के लिए सप्तभंगी, नय, निक्षेप आदि का निरूपण हुआ। इस तरह भग० महावीर ने अपनी अहिंसा की पूर्णसाधना के लिए अनेकान्तदृष्टि का अविर्भाव करके जगत् को वह ध्रुववीजमन्त्र दिया जिसका समुचित उपयोग संसार को पूर्ण सुख-शान्ति का लाभ करा सकता है।

नय—जब भग० महावीर ने मानस अहिंसा की पूर्णता के लिए अनेकान्तदृष्टि का सिद्धान्त निकाला, तब उसको कार्यरूप में परिणत करने के लिए कुछ तफसीली बातें सोचना आवश्यक हो गया कि कैसे इस दृष्टि से प्रचलित वादों का उचित समीकरण हो ? इस अनेकान्तदृष्टि की कामयाबी के लिए किए गए मोटे मोटे नियमों का नाम नय है। साधारणतया विचार-व्यवहार तीन प्रकार के होते हैं—१ ज्ञानाश्रयी, २ अर्थाश्रयी, ३ शब्दाश्रयी। कोई व्यक्ति ज्ञान की सीमा में ही अपने विचारों को दौड़ाता है उसे अर्थ की स्थिति की कोई परवाह ही नहीं रहती। ऐसे मनसूवा बंधनेवाले, हवाई किले बनानेवाले, शेखचिल्ली की तरह विचारों की धुन में ही मस्त रहनेवाले लोग अपने विचारों को ज्ञान ही ज्ञान—कल्पनाक्षेत्र में ही दौड़ाते रहते हैं। दूसरे प्रकार के लोग अर्थानुसारी विचार करते हैं। अर्थ में एकओर एक, नित्य और व्यापिरूपसे चरम अभेद की कल्पना की

जा सकती है, तो दूसरी ओर क्षणिकत्व, परमाणुत्व और निरंशत्व की दृष्टिसे अन्तिम भेद की कल्पना । तीसरी कल्पना इन दोनों चरम कोटियों के मध्य की है । पहिली प्रकार की कोटि में सर्वथा अभेद-एकत्व स्वीकार करने वाले औपनिषद् अद्वैतवादी हैं, तो दूसरी ओर वस्तु की सूक्ष्मतम वर्तमानक्षणवर्ती अर्थपर्याय के ऊपर दृष्टि रखनेवाले क्षणिक, निरंश परमाणुवादी बौद्ध हैं । तीसरी कोटि में पदार्थ को नानारूप से व्यवहार में लानेवाले नैयायिक, वैशेषिक आदि हैं । तीसरे प्रकार के व्यक्ति हैं भाषाशास्त्री, जिन्हें शब्दों के बाल की खाल खींचने में ही मजा आता है । ये लोग एक अर्थ की हर एक हालत में विभिन्न शब्द के प्रयोग को मानते हैं । इनका तात्पर्य है कि—भिन्नकालवाचक, भिन्न कारकों में निष्पन्न, भिन्न वचनवाले, भिन्नपर्यायवाचक, भिन्नक्रियावाचक शब्द एक अर्थ को नहीं कह सकते । शब्दभेद से अर्थ भेद होना ही चाहिए । उपर्युक्त ज्ञान, अर्थ और शब्द का आश्रय लेकर होनेवाले विचारों के समन्वय के लिए किए गए स्थूल मूल नियमों को नय कहते हैं ।

इनमें ज्ञानाश्रित व्यवहार का संकल्प-विचारमात्र को ग्रहण करनेवाले नैगमनय में समावेश हुआ । अर्थाश्रित अभेदव्यवहार का, जो “आत्मैवेदं सर्वम्, एकस्मिन् वा विज्ञाते सर्वं विज्ञातम्” आदि उपनिषद्वाक्यों से प्रकट होता है, संग्रहनय में अन्तर्भाव किया गया । इसके आगे तथा एकपरमाणु की वर्तमानकालीन एक अर्थपर्याय से पहिले होनेवाले यावद् मध्यवर्ती भेदों का जिनमें न्याय वैशेषिकादि दर्शन शामिल हैं, व्यवहारनय में समावेश किया । अर्थ की आखिरी देशकोटि परमाणुरूपता तथा कालकोटि क्षणमात्रस्थायिता को ग्रहण करनेवाली बौद्धदृष्टि ऋजुसूत्रनय में शामिल हुई । यहाँ तक अर्थ को सामने रखकर भेदाभेद कल्पित हुए हैं । अब शब्दशास्त्रियों का नम्बर आया । काल, कारक, संख्या तथा धातुके साथ लगने वाले भिन्न भिन्न उपसर्ग आदि की दृष्टि से प्रयुक्त होनेवाले शब्दों के वाच्य अर्थ भिन्न भिन्न हैं, इस कालकारकादिवाचक शब्दभेद से अर्थभेद ग्रहण करनेवाली दृष्टि का शब्दनय में समावेश हुआ । एक ही साधन में निष्पन्न तथा एककालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं । इन पर्यायवाची शब्दों से भी अर्थभेद माननेवाली समभिरूढनय की दृष्टि है । एवम्भूतनय कहता है कि जिस समय जो अर्थ जिस क्रिया में परिणत हो उसी समय उसमें तत्क्रिया से निष्पन्न शब्द का प्रयोग होना चाहिए । इसकी दृष्टि से सभी शब्द क्रिया से निष्पन्न हैं । गुणवाचक शुक्ल शब्द भी शुचिभवनरूप क्रिया से, जातिवाचक अश्वशब्द आशुगमनरूप क्रिया से, क्रियावाचक चलति शब्द चलने रूप क्रिया से, नामवाचक यदृच्छा शब्द देवदत्त आदि भी ‘देवने इसको दिया’ इस क्रिया से निष्पन्न हुए हैं । इस तरह ज्ञान, अर्थ और शब्दरूप से होनेवाले यावद्व्यवहारों का समन्वय इन नयों में किया गया है । पर यह समन्वय एक खास शर्त पर हुआ है । वह शर्त यह है कि—कोई भी दृष्टि अपनी प्रतिपक्षी दृष्टि का निराकरण नहीं कर सकेगी । इतना हो सकता है

कि एक-अभेद अंश की मुख्यता होने पर दूसरी-भेददृष्टि गौण हो जाय। यही सापेक्ष-भाव नय का प्राण है। इस सापेक्षता के अभाव में नयदृष्टि सुनयरूप न रहकर दुर्नय बन जाती है। “सापेक्षो नयः, निरपेक्षो दुर्नयः” यह स्पष्ट ही कहा है।

इस संक्षिप्त कथन में यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो दो प्रकार की दृष्टियाँ ही मुख्यरूप से कार्य करती हैं—एक अभेददृष्टि और दूसरी भेददृष्टि। इन दृष्टियों का आधार चाहे ज्ञान हो या अर्थ अथवा शब्द, पर कल्पना अभेद या भेद दो ही रूप से की जा सकती है। उस कल्पना का प्रकार चाहे कालिक, दैशिक या स्वारूपिक कुछ भी क्यों न हो। इन दो मूल आधारों को द्रव्यनय और पर्यायनय नाम से व्यवहृत किया है। देश, काल तथा आकार जिस किसी भी रूप से अभेद ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है तथा भेदग्राही पर्यायार्थिक नय है। इन्हे मूलनय कहते हैं; क्योंकि समस्त विचारों का मूल आधार यही दो नय होते हैं। नैगमादि नय तो इन्हीं की शाखा-प्रशाखाएँ हैं। द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक, निश्चय-व्यवहार, शुद्धनय-अशुद्धनय आदि शब्द इन्हीं के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

चूँकि नैगमनय संकल्पमात्रग्राही है, तथा संकल्प या तो अर्थ के अभेद अंश को विषय करता है या भेद अंश को। इसीलिये अभेदसंकल्पी नैगम का संग्रहनय में तथा भेदसंकल्पी नैगम का व्यवहारनय में अन्तर्भाव करके आचार्य सिद्धसेन ने नैगमनय को स्वतन्त्र नय नहीं माना है। इनके मत से संग्रहादि छह ही नय हैं।

अकलंकदेव ने नैगमनय को अर्थनय मानकर ऋजुसूत्र पर्यन्त चार नयों का अर्थ-नयरूप से तथा शब्द आदि तीन नयों का शब्दनयरूप से विभाग किया है। नय तथा दुर्नय का निम्न लक्षण समझना चाहिए—भेदाभेदात्मक, उत्पादव्ययध्रौव्यरूप, समान्यविशेषात्मक पदार्थ अखण्डरूपसे प्रमाण का विषय होता है। उसके किसी एक धर्म को मुख्य तथा इतरधर्मों को गौरारूपसे विषय करनेवाला ज्ञाता का अभिप्राय नय कहलाता है। जब वही अभिप्राय इतरधर्मों को गौरा नहीं करके उनका निरास करने लगता है तब वह दुर्नय कहलाता है। तात्पर्य यह कि—प्रमाण में अनेकधर्मवाली पूर्ण वस्तु विषय होती है, नय में एक धर्म मुख्यरूपसे विषय होकर भी इतरधर्मों के प्रति उपेक्षा-गौराता रहती है, जब कि दुर्नय इतरधर्मों का ऐकान्तिक निरास कर देता है।

नैगम-नैगमाभास—यद्यपि अकलंकदेव ने राजवार्तिक में सर्वार्थसिद्धि के अनुसार नैगमनय का ‘सङ्कल्पमात्रग्राही’ यह ज्ञानाश्रितव्यवहार का समन्वय करनेवाला लक्षण किया है, पर लघीयस्त्रय में वे नैगमनय को अर्थ की परिधि में लाकर उसका यह लक्षण करते हैं—“गुण-गुणी या धर्म-धर्मी में किसी एक को गौरा तथा दूसरे को मुख्यता से ग्रहण करनेवाला नैगमनय है। जैसे जीव के स्वरूपनिरूपण में ज्ञानादिगुण गौरा होते हैं तथा ज्ञानादिगुणों के वर्णन में जीव।” गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान् तथा

सामान्य-विशेष में सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि—गुण गुणी से अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखता और न गुणों की उपेक्षा करके गुणी ही अपना अस्तित्व रख सकता है। अतः इनमें कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही समुचित है। इसी तरह अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान्, तथा सामान्य-विशेष में भी कथञ्चित्तादात्म्य ही सम्बन्ध है। यदि गुण आदि गुणी आदि से विलकुल भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ हों; तो उनमें नियत सम्बन्ध न होने के कारण गुण-गुण्यादिभाव नहीं बन सकेगा। अवयवी यदि अवयवों से सर्वथा पृथक् है; तो उसकी अपने अवयवों में वृत्ति-सम्बन्ध मानने में अनेकों दूषण आते हैं। यथा—अवयवी अपने प्रत्येक अवयवों में यदि पूर्णरूप से रहता है; तो जितने अवयव हैं उतने ही स्वतन्त्र अवयवी सिद्ध होंगे। यदि एकदेश से रहेगा; तो जितने अवयव हैं अवयवी के उतने ही देश मानना होंगे, उन देशों में भी वह 'सर्वात्मना रहेगा या एक देश से' इत्यादि विकल्प होने से अनवस्था दूषण आता है।

सत्तासामान्य का अपनी व्यक्तियों से सर्वथा भेद मानने पर, सत्तासम्बन्ध से पहिले द्रव्य, गुण और कर्म व्यक्तियों को सत् माना जाय, या असत्? यदि वे असत् हैं; तो उनमें सत्तासम्बन्ध नहीं हो सकता। सत्ता सर्वथा असत् खरविपाणादि में तो नहीं रहती। यदि वे सत् हैं; तो जिस प्रकार स्वरूपसत् द्रव्यादि में सत्तासम्बन्ध मानते हो उसी तरह स्वरूपसत् सामान्यादि में भी सत्तासम्बन्ध स्वीकार करना चाहिये। अथवा जिस प्रकार सामान्यादि स्वरूपसत् हैं उनमें किसी अन्य सत्ता के सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है, उसी तरह द्रव्य, गुण, कर्म को भी स्वरूपसत् ही मानना चाहिए। स्वरूपसत् में अतिरिक्त सत्ता का समवाय मानना तो विलकुल ही निरर्थक है। इसी तरह गोत्वादि जातियों को शाबले-यादि व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न मानने में अनेकों दूषण आते हैं। यथा—जब एक गौ उत्पन्न हुई; तब उसमें गोत्व कहाँ से आयगा? उत्पन्न होने के पहिले गोत्व उस देश में तो नहीं रह सकता; क्योंकि गोत्वसामान्य गोविशेष में ही रहता है गोशून्य देश में नहीं। निष्क्रिय होने से गोत्व अन्य देश से आ नहीं सकता। यदि अन्य देश से आवे भी, तो पूर्वपिण्ड को एकदेश से छोड़ेगा या विलकुल ही छोड़ देगा? निरंश होने के कारण एकदेश से पूर्वपिण्ड को छोड़ना युक्तिसंगत नहीं है। यदि गोत्व पूर्णरूप से पूर्व गोपिण्ड को छोड़कर नूतन गौ में आता है; तब तो पूर्वपिण्ड अगौ-गोत्वशून्य हो जायगा, उसमें गोव्यवहार नहीं हो सकेगा। यदि गोत्व-सामान्य सर्वगत है; तो गोव्यक्तियों की तरह अश्वादिव्यक्तियों में भी गोव्यवहार होना चाहिए।

अवयव और अवयवी के सम्बन्ध में एक बड़ी विचित्र बात यह है कि—संसार तो यह मानता है कि पट में तन्तु, वृक्ष में शाखा तथा गौ में सींग रहते हैं, पर 'तन्तुओं में पट, शाखाओं में वृक्ष तथा सींग में गौ' का मानना तो सचमुच एक अलौकिक ही बात है। अतः गुण आदि का गुणी आदि से कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही युक्तिसंगत है। कथञ्चित्तादात्म्य का तात्पर्य यह है कि—गुण आदि गुणी आदि रूप ही हैं उनसे भिन्न नहीं हैं।

जो ज्ञानस्वरूप नहीं है वह ज्ञान के समवाय से भी कैसे 'ज्ञ' बन सकता है? यदि अज्ञ वस्तु भी ज्ञान के समवाय से 'ज्ञ' हो जाय; तो समवाय स्वयं 'ज्ञ' बन जायगा; क्योंकि समवाय आत्मा में ज्ञान का सम्बन्ध तभी करा सकता है जब वह स्वयं ज्ञान और आत्मा से सम्बन्ध रखे। कोई भी सम्बन्ध अपने सम्बन्धियों से असम्बद्ध रहकर सम्बन्धबुद्धि नहीं करा सकता। अतः यह मानना ही चाहिये कि—ज्ञानपर्यायवाली वस्तु ही ज्ञान के सम्बन्ध को पा सकती है। अतः वैशेषिक का गुण आदि का गुणी आदि से निरपेक्ष—सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है।

इसी तरह सांख्य का ज्ञान सुखादि को आत्मा से भिन्न मानना नैगमाभास है। वह मानता है कि—सत्त्वरजस्तमोरूप-त्रिगुणात्मक प्रकृति के ही सुख-ज्ञानादिक धर्म हैं, वे उसी में आविर्भूत तथा तिरोहित होते हैं। इसी प्रकृति के संसर्ग से पुरुष में ज्ञानादि की प्रतीति होती है। प्रकृति इस ज्ञानसुखादिरूप व्यक्त-कार्य की दृष्टि से दृश्य है तथा अपने कारणरूप-अव्यक्तस्वरूप से अदृश्य है। पुरुष चेतनरूप तथा कूटस्थ—अपरिणामी नित्य है। इस तरह वह चैतन्य से बुद्धि को भिन्न समझकर उसे पुरुष से भी भिन्न मानता है। उसका यह ज्ञान और आत्मा का सर्वथा भेद मानना भी नैगमाभास है; क्योंकि चैतन्य तथा ज्ञान में कोई भेद नहीं है। बुद्धि, उपलब्धि, चैतन्य, ज्ञान आदि सभी पर्यायवाची शब्द हैं। यदि चैतन्य पुरुष का धर्म हो सकता है; तो ज्ञान को भी उसीका ही धर्म होना चाहिये। प्रकृति की तरह पुरुष भी ज्ञानादिरूप से दृश्य होता है। 'सुख ज्ञानादिक सर्वथा अनित्य हैं, चैतन्य सर्वथा नित्य है' यह भी प्रमाणसिद्ध नहीं है; क्योंकि पर्यायदृष्टि से उनमें अनित्यता रहने पर भी चैतन्यसामान्य की अपेक्षा नित्यता भी है। इस तरह वैशेषिक का गुण-गुण्यादि में सर्वथा भेद मानना तथा सांख्य का पुरुष से बुद्ध्यादि का भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि इनमें अभेद अंश का निराकरण ही हो गया है।

संग्रह-संग्रहाभास—समस्त पदार्थों को अभेदरूपसे ग्रहण करनेवाला नय संग्रह-नय है। यह परसंग्रह तथा अपरसंग्रह के भेद से दो प्रकार का है। परसंग्रह में सत् रूप से समस्त पदार्थों का संग्रह किया जाता है, तथा अपरसंग्रह में द्रव्यरूपसे समस्त द्रव्यों का, गुणरूपसे समस्त गुणों का, गोत्वरूपसे समस्त गौओं का आदि। यह अपरसंग्रह तब तक चलता है जब तक कि भेद अपनी चरम कोटि तक नहीं पहुँच जाता। अर्थात् जब व्यवहारनय भेद करते करते ऋजुसूत्र नय के विषयभूत एक वर्तमान कालीन अर्थपर्याय तक पहुँचता है तब अपरसंग्रह की मर्यादा समाप्त हो जाती है। अपरसंग्रह और व्यवहारनय का क्षेत्र तो समान है पर दृष्टि में भेद है। जब अपरसंग्रह में तद्गत अभेदांश के द्वारा संग्रह की दृष्टि है तब व्यवहारनय में भेद की ही प्रधानता है। परसंग्रहनय की दृष्टि में सद्रूप से सभी पदार्थ एक हैं उनमें कोई भेद नहीं है। जीव अजीव आदि सभी सद्रूप से अभिन्न हैं। जिस प्रकार एक चित्रज्ञान अपने नीलादि अनेक आकारों में व्याप्त है उसी तरह सन्मात्रतत्त्व सभी पदार्थों में व्याप्त है, जीव अजीव आदि सब उसी के भेद

हैं। कोई भी ज्ञान सन्मात्र द्रव्य को बिना जाने भेदों को नहीं जान सकता। कोई भी भेद सन्मात्र से बाहिर अर्थात् असत् नहीं है। प्रत्यक्ष चाहे चेतन सुखादि में प्रवृत्ति करे या बाह्य नीलादि अचेतन पदार्थों में, वह सद्रूप से अभेदांश को विषय करता ही है। संग्रहनय की इस अभेददृष्टि से सीधी टक्कर लेनेवाली बौद्ध की भेद दृष्टि है। जिसमें अभेद को कल्पनात्मक कहकर वस्तु में कोई स्थान ही नहीं दिया गया है। इस सर्वथा भेददृष्टि के कारण ही बौद्ध अवयवी, स्थूल, नित्य आदि अभेददृष्टि के विषयभूत पदार्थों की सत्ता ही नहीं मानते। नित्यांश कालिक-अभेद के आधार पर स्थिर है; क्योंकि जब वही एक वस्तु त्रिकालानुयायी होगी तभी वह नित्य कही जा सकती है। अवयवी तथा स्थूलांश दैशिक-अभेद के आधार से माने जाते जाते हैं; जब एक वस्तु अनेक अवयवों में कथञ्चित्तादात्म्यरूपसे व्याप्ति रखे तभी अवयवी व्यपदेश पा सकती है। स्थूलता में भी अनेकप्रदेशव्यापित्वरूप दैशिक अभेददृष्टि ही अपेक्षणीय होती है।

अकलङ्कदेव कहते हैं कि—बौद्ध सर्वथा भेदात्मक खलक्षण का जैसा वर्णन करते हैं वैसा सर्वथा क्षणिक पदार्थ न तो किसी ज्ञान का विषय ही हो सकता है और न कोई अर्थक्रिया ही कर सकता है। जिस प्रकार एक क्षणिक ज्ञान अनेक आकारों में युगपद् व्याप्त रहता है उसी तरह एकद्रव्य को अपनी क्रम से होनेवाली पर्यायों में व्याप्त होने में क्या बाधा है? इसी अनादिनिधन द्रव्य की अपेक्षा से वस्तुओं में अभेदांश की प्रतीति होती है। क्षणिक पदार्थ में कार्य-कारणभाव सिद्ध न होने के कारण अर्थक्रिया की तो बात ही नहीं करनी चाहिये। ‘कारण के होने पर कार्य होता है’ यह नियम तो पदार्थ को एकक्षणस्थायी माननेवालों के मत में स्वप्न की ही चीज है; क्योंकि एक क्षणस्थायी पदार्थ के सत्ताक्षण में ही यदि कार्य की सत्ता स्वीकार की जाय; तब तो कारण और कार्य एकक्षणवर्ती हो जाँयगे और इस तरह वे कार्य-कारणभाव को असंभव बना देगे। यदि कारणभूत प्रथमक्षण कार्यभूत द्वितीयक्षण तक ठहरे तब तो क्षणभँगवाद कहाँ रहा? क्योंकि कारणक्षण की सत्ता कम से कम दो क्षण मानना पड़ी। इस तरह कार्यकारणभाव के अभाव से जब क्षणिक पदार्थ में अर्थक्रिया ही नहीं बनती तब उसकी सत्ता की आशा करना मृगतृष्णा जैसी ही है। और जब वह सत् ही सिद्ध नहीं होता तब प्रमाण का विषय कैसे माना जाय? जिस तरह बौद्धमत में कारण अपने देश में रहकर भी भिन्नदेशवर्ती कार्य को व्यवस्थितरूप से उत्पन्न कर सकता है उसी तरह जब अभिन्न नित्य पदार्थ भी अपने समय में रहकर कार्य को कार्यकाल में ही उत्पन्न कर सकता है, तब अभेद को असत् क्यों माना जाय? जिस तरह चित्रज्ञान अपने आकारों में, गुणी गुणों में तथा अवयवी अपने अवयवों में व्याप्त रहता है उसी तरह द्रव्य अपनी क्रमिक पर्यायों को भी व्याप्त कर सकता है। द्रव्यदृष्टि से पर्यायों में कोई भेद नहीं है। इसी तरह सन्मात्र की दृष्टि से समस्त पदार्थ अभिन्न हैं। इस तरह अभेददृष्टि से पदार्थों

का संग्रह करनेवाला संग्रहनय है। इस नय की दृष्टि से कह सकते हैं कि—विश्व एक है, अद्वैत है; क्योंकि सन्मात्रतत्त्व सर्वत्र व्याप्त है। यह ध्यान रहे कि—इस नय में शुद्ध सन्मात्र विषय होने पर भी भेद का निराकरण नहीं है, भेद गौण अवश्य हो जाता है। यद्यपि अद्वयब्रह्मवाद भी सन्मात्रतत्त्व को विषय करता है पर वह भेद का निराकरण करने के कारण संग्रहाभास है। नय सापेक्ष—प्रतिपक्षी धर्मकी अपेक्षा रखनेवाला, तथा दुर्नय निरपेक्ष—परपक्ष का निराकरण करनेवाला होता है।

व्यवहार-व्यवहाराभास—संग्रहनय के द्वारा गृहीत अर्थ में विधिपूर्वक अविश्ववादी-वस्तुस्थितिमूलक भेद करनेवाला व्यवहार नय है। यह व्यवहारनय लोकप्रसिद्ध व्यवहार का अविरोधी होता है। लोकव्यवहारविरुद्ध, वस्तुस्थिति की अपेक्षा न करनेवाली भेद-कल्पना व्यवहाराभास है। लोकव्यवहार अर्थ, शब्द तथा ज्ञानरूप से चलता है। जैसे जीवव्यवहार जीव अर्थ, जीवशब्द तथा जीवविषयक ज्ञान इन तीनों प्रकारों से हो सकता है। 'वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यवाली है, द्रव्य गुणपर्यायवाला है, जीव चैतन्यरूप है' इत्यादि वाक्य प्रमाण से अविरोधी होने के कारण तथा लोकव्यवहार में अविश्ववादी होने से प्रमाण है, एवं पूर्वापर के अविरोधी होने से ये सद्यवहार के विषय हैं। प्रमाणविरुद्ध कल्पनाएँ व्यवहाराभास हैं; जैसे सौत्रान्तिक का जड़ या चेतन सभी पदार्थों को क्षणिक, निरंश, परमाणुरूप मानना, योगाचार का क्षणिक अविभागी विज्ञानाद्वैत मानना, तथा माध्यमिक का सर्वशून्यता स्वीकार करना। ये सब व्यवहाराभास प्रमाणविरोधी तथा लोकव्यवहार में विसंवादक होते हैं। जो भेदव्यवहार अभेद की अपेक्षा रखेगा वही व्यवहारनय की परिधि में आयगा, तथा जो अभेद का निराकरण करेगा वह दुर्व्यवहार—व्यवहाराभास कहलायगा।

ऋजुसूत्र-तदाभास—ऋजुसूत्र नय पदार्थ की एक क्षणरूप शुद्ध वर्तमानकालवर्ती अर्थपर्याय को विषय करनेवाला है। इसकी दृष्टि में अभेद कोई वास्तविक नहीं है। चित्र-ज्ञान भी एक न होकर अनेक ज्ञानों का समुदायमात्र है। इस तरह समस्त जगत् एक दूसरे से विलकुल भिन्न है, एक पर्याय दूसरी पर्याय से भिन्न है। यह भेद इतना सूक्ष्म है कि स्थूलदृष्टिवाले लोगो को मालूम नहीं होता। जैसे परस्पर में विभिन्न भी वृक्ष दूर से सघन तथा एकाकार रूपसे प्रतिभासित होते हैं, ठीक इसी तरह अभेद एक प्रातिभासिक वस्तु है। इस नय की दृष्टि में एक या नित्य कोई वस्तु ही नहीं है; क्योंकि भेद और अभेद का परस्पर में विरोध है। इस तरह यह ऋजुसूत्र नय यद्यपि भेद को मुख्यरूप से विषय करता है पर वह अभेद का प्रतिक्षेप नहीं करता। यदि अभेद का प्रतिक्षेप कर दे तो बौद्धाभिमत क्षणिकतत्त्व की तरह ऋजुसूत्राभास हो जायगा। सापेक्ष ही नय होता है। निरपेक्ष तो दुर्नय कहलाता है। जिस प्रकार भेद का प्रतिभास होने से वस्तु में भेद की व्यवस्था है उसी तरह जब अभेद का भी प्रतिभास होता है तो उसकी भी व्यवस्था होनी ही चाहिए। भेद और अभेद दोनों ही सापेक्ष हैं। एक का लोप करने से दूसरे का लोप होना अवश्यम्भावी है।

शब्द—काल, कारक, लिंग तथा संख्या के भेद से शब्दभेद द्वारा भिन्न अर्थों को ग्रहण करनेवाला शब्दनय है। शब्दनय के अभिप्राय से अतीत अनागत एवं वर्तमान-कालीन क्रियाओं के साथ प्रयुक्त होनेवाला एक ही देवदत्त भिन्न हो जाता है। 'करोति क्रियते' आदि कर्तृ-कर्मसाधन में प्रयुक्त भी देवदत्त भिन्न भिन्न है। 'देवदत्त देवदत्ता' आदि लिंगभेद से प्रयोग में आनेवाला देवदत्त भी एक नहीं है। एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन में प्रयुक्त देवदत्त भी पृथक् पृथक् है। इसकी दृष्टि से भिन्नकालीन, भिन्न-कारकनिष्पन्न, भिन्नलिङ्गक एवं भिन्नसंख्याक शब्द एक अर्थ के वाचक नहीं हो सकते। शब्दभेद से अर्थभेद होना ही चाहिए। वर्तना-परिणामन करनेवाला तथा स्वतः परिणामनशील द्रव्यों के परिणामन में सहायक होनेवाला काल द्रव्य है। इसके भूत, भविष्यत् और वर्तमान, ये तीन भेद हैं। केवल द्रव्य, केवल शक्ति, तथा अनपेक्ष्य द्रव्य और शक्ति को कारक नहीं कहते; किन्तु शक्तिविशिष्ट द्रव्य को कारक कहते हैं। लिंग चिह्न को कहते हैं। जो गर्भ धारण कर सके वह स्त्री, जो पुत्रादि की उत्पादक सामर्थ्य रखे वह पुरुष, तथा जिसमें ये दोनों सामर्थ्य न हों वह नपुंसक कहा जाता है। कालादि के ये लक्षण अनेकान्तात्मक अर्थ में ही बन सकते हैं। एक ही वस्तु विभिन्न सामग्री के मिलने पर षट्कारकरूप से परिणामन कर सकती है। कालादिभेद से एक द्रव्य की नाना पर्याये हो सकती हैं। एकरूप—सर्वथा नित्य या अनित्य वस्तु में ऐसा परिणामन नहीं हो सकता; क्योंकि—सर्वथा नित्य में उत्पाद और व्यय तथा सर्वथा क्षणिक में स्थैर्य नहीं है। इस तरह कारकव्यवस्था न होने से विभिन्न कारकों में निष्पन्न स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग आदि की व्यवस्था भी एकान्त पक्ष में नहीं हो सकती। इस तरह कालादि के भेद से अर्थभेद मानकर शब्द नय उनमें विभिन्न शब्दों का प्रयोग मानता है। कालादि भेद से शब्दभेद होने पर भी अर्थभेद नहीं मानना शब्दनयाभास है।

समभिरूढ—एक कालवाचक, एक लिङ्गक तथा एक संख्याक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। समभिरूढ नय उन प्रत्येक पर्यायवाची शब्दों के द्वारा अर्थ में भेद मनता है। इस नय के अभिप्राय से एक लिंगवाले इन्द्र, शक्र तथा पुरन्दर इन तीन शब्दों में प्रवृत्ति-निमित्त की विभिन्नता होने से विभिन्नार्थवाचकता है। शक्रशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त शासन-क्रिया, इन्द्रशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त इन्दनक्रिया तथा पुरन्दरशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त पूर्दारण-क्रिया है। अतः तीनों शब्द विभिन्न अवस्थाओं के वाचक हैं। शब्दनय में एकलिंगवाले पर्यायवाची शब्दों में अर्थभेद नहीं था, पर समभिरूढ नय में विभिन्न प्रवृत्तिनिमित्त होने से एकलिङ्गक पर्यायवाची शब्दों में भी अर्थभेद होना अनिवार्य है। पर्यायवाची शब्दों की दृष्टि से अर्थ में भेद नहीं मानना समभिरूढाभास है।

एवम्भूतनय—क्रिया के भेद से भी अर्थभेद माननेवाला एवम्भूतनय है। यह नय क्रियाकाल में ही तत्क्रियानिमित्तक शब्द के प्रयोग को साधु मानता है। जब इन्द्र इन्दन-

क्रिया कर रहा हो उसी समय उसे इन्द्र कह सकते हैं दूसरे समय में नहीं । समभिरूढ नय उस समय क्रिया हो या न हो, पर अतीत अनागत क्रिया या उस क्रिया की योग्यता होने के कारण तच्छब्द का प्रयोग मान लेता है । पर एवम्भूत नय क्रिया की मौजूदगी में ही तत्क्रिया से निष्पन्न शब्द के प्रयोग को साधु मानता है । इस नय की दृष्टि से जब कार्य कर रहा है तभी कारक कहा जायगा, कार्य न करने की अवस्था में कारक नहीं कहा जा सकता । क्रियाभेद होने पर भी अर्थ को अभिन्न मानना एवम्भूताभास है ।

इन नयों में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं अल्पविषयता है । नैगमनय संकल्पग्राही होने से सत् असत् दोनों को विषय करता था इसलिए सन्मात्रग्राही संग्रह नय उससे सूक्ष्म एवं अल्प-विषयक होता है । सन्मात्रग्राही संग्रह नय से सद्विशेषग्राही व्यवहार अल्पविषयक एवं सूक्ष्म हुआ । त्रिकालवर्ती सद्विशेषग्राही व्यवहारनय से वर्तमानकालीन सद्विशेष-अर्थपर्यायग्राही ऋजुसूत्र सूक्ष्म है । शब्दभेद होने पर भी अभिन्नार्थग्राही ऋजुसूत्र से कालादिभेद से शब्द-भेद मानकर भिन्न अर्थ को ग्रहण करनेवाला शब्दनय सूक्ष्म है । पर्यायभेद होने पर भी अभिन्न अर्थ को ग्रहण करनेवाले शब्दनय से पर्यायवाची शब्दों के भेद से अर्थभेदग्राही समभिरूढ अल्पविषयक एवं सूक्ष्मतर हुआ । क्रियाभेद से अर्थभेद नहीं माननेवाले सम-भिरूढ से क्रियाभेद होने पर अर्थभेदग्राही एवम्भूत परमसूक्ष्म एवं अत्यल्पविषयक होता है ।

§ ४. निक्षेपनिरूपण-

निक्षेप—अखण्ड एवं अनिर्वचनीय वस्तु को व्यवहार में लाने के लिए उसमें भेद कल्पना करने को निक्षेप कहते हैं । व्यवहार ज्ञान, शब्द तथा अर्थरूप से तीन प्रकार का होता है । शब्दात्मक व्यवहार के लिए ही वस्तु का देवदत्त आदि नाम रखा जाता है । अतः शब्दव्यवहार के निर्वाह के लिए नाम निक्षेप की सार्थकता है । ज्ञानात्मक-व्यवहार के लिए स्थापना निक्षेप तथा अर्थात्मक व्यवहार के लिए द्रव्य और भाव निक्षेप सार्थक हैं । शब्द का प्रयोग जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि निमित्तों की अपेक्षा से होता है । जाति, द्रव्य, गुण आदि निमित्तों की अपेक्षा न करके इच्छानुसार संज्ञा रखने को नामनिक्षेप कहते हैं । जैसे किसी बालक की गजराज संज्ञा मात्र इच्छानुसार ही की गई है, उसमें गजत्व-जाति, गज के गुण, गजकी क्रिया आदि की अपेक्षा नहीं है । जिसका नामकरण हो चुका है उसकी उसी आकारवाली प्रतिमा या चित्र में स्थापना करना सद्भाव या तदाकार स्थापना कहलाती है । तथा भिन्न आकारवाली वस्तु में स्थापना करना असद्भाव या अतदाकार स्थापना कहलाती है, जैसे शतरंज के मुहरों में घोड़े आदि की स्थापना । भविष्यत्कालीन राजपर्याय की योग्यता के कारण या बीती हुई राजपर्याय का निमित्त लेकर वर्तमान में किसी को राजा कहना द्रव्य निक्षेप है । तत्पर्यायप्राप्त वस्तु में तत्-व्यवहार को भावनिक्षेप कहते हैं, जैसे वर्तमान राजपर्यायवाले राजा को ही राजा कहना ।

अप्रस्तुत अर्थ का निराकरण, प्रस्तुत अर्थ का प्ररूपण एवं संशयविनाशन के लिए निक्षेप की सार्थकता है। अव्युत्पन्न श्रोता की अपेक्षा अप्रस्तुत का निराकरण करने के लिए, व्युत्पन्न की अपेक्षा यदि वह संशयित है तो संशयविनाश के लिए और यदि विपर्यस्त है तो प्रस्तुत अर्थ के प्ररूपण के लिए निक्षेप की सार्थकता है।

§ ५. सप्तभङ्गीनिरूपण—

सप्तभङ्गी—प्रश्न के अनुसार वस्तु में प्रमाणाविरोधी विधि-प्रतिषेध की कल्पना को सप्तभङ्गी कहते हैं। विचार करके देखा जाय तो सप्तभङ्गी में मूल भंग तो तीन ही हैं, बाकी भंग संयोगज हैं। आगम ग्रन्थों में 'सिय अत्थि, सिय णत्थि, सिय अवत्तव्वा' रूप से तीन ही भंगों का निर्देश है। सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में हमें सात भंगों के दर्शन होते हैं। अनेकान्तदृष्टि का उद्देश परस्पर विरोधी धर्मों का समन्वय करना है। वस्तुतः विरोध तो दो में ही होता है जैसे नित्यत्व का अनित्यत्व से, भेद का अभेद से इत्यादि। अतः पहिले तो परस्पर विरोधी दो धर्मों के समन्वय करने की ही बात उठती है। ऐसे अनेक विरोधी युगल वस्तु में रह सकते हैं अतः वस्तु अनेकान्तात्मक एवं अनन्तधर्मा कही जाती है। अवक्तव्य धर्म तो वस्तु की वास्तविक स्थिति बतानेवाला है कि वस्तु का अखण्ड-आत्मरूप शब्दों का विषय नहीं हो सकता। कोई ज्ञानी अनिर्वचनीय, अखण्ड वस्तु को कहना चाहता है, वह पहिले उसका अस्तिरूपसे वर्णन करता है पर वस्तु के पूर्ण वर्णन करने में असमर्थ होने पर नास्तिरूपसे वर्णन करता है। पर इससमय भी वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता की सीमा तक नहीं पहुँच पाता। लिहाजा कोशिश करने पर भी अन्त में उसे अवक्तव्य कहता है। शब्द में वस्तुतः इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह समग्रवस्तु का पूर्णरूपसे प्रतिपादन करे। इसी अनिर्वचनीय तत्त्व का उपनिषदों में 'अस्ति अस्ति' रूपसे तथा 'नेति नेति' रूपसे भी वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है। पर वर्णन करने वाला अपनी तथा शब्द की असामर्थ्य पर खीज उठता है और अन्त में वरवस कह उठता है कि—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'—जिसके वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति वचन तथा मन भी नहीं कर सकते अतः वे भी उससे निवृत्त हो जाते हैं, ऐसा है वह वचन तथा मनका अगोचर अखण्ड, अनिर्वचनीय, अनन्तधर्मा वस्तुतत्त्व। इसी स्थिति के अनुसार अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य ये तीन ही मूल भंग हो सकते हैं। आगे के भंग तो वस्तुतः कोई स्वतन्त्र भंग नहीं हैं। कार्मिक भंगजाल की तरह द्विसंयोगीरूप से तृतीय, पञ्चम तथा षष्ठ भंग का आविर्भाव हुआ तथा सप्तभंग का त्रिसंयोगी के रूप में। तीन मूल भंगों के अपुनरुक्त भंग सात ही हो सकते हैं। कहीं कहीं अवक्तव्य भंग का नंबर तीसरा है और कहीं उभय भंग का। वस्तुतः अवक्तव्य मूल भंग है। अतः उसीका नंबर तीसरा होना चाहिये।

प्रथम भंग में स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से वस्तु का अस्तित्व विवक्षित होता है। द्वितीय भंग में परद्रव्य क्षेत्र काल भाव से नास्तित्व की विवक्षा होती है। यदि वस्तु में स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से अस्तित्व न माना जाय तो वस्तु निःस्वरूप हो जायगी। और यदि पर का नास्तित्व न माना जाय तो वस्तु सांकर्य हो जायगा; क्योंकि घट में पटका नास्तित्व न रहने के कारण घट और पट एक हो जाना अनिवार्य ही है। यद्यपि आपाततः यह मालूम होता है कि स्वसत्त्व ही परासत्त्व है; पर विचार करने से मालूम हो जाता है कि ये दोनों एक दूसरे से फलित न होकर स्वतन्त्र धर्म हैं; क्योंकि इनकी प्रवृत्ति की अपेक्षाएँ भिन्न भिन्न हैं तथा कार्य भी भिन्न हैं।

जब हम युगपद् अनन्तधर्मवाली वस्तु को कहना चाहते हैं तो ऐसा कोई शब्द नहीं मिलता जो ऐसी वस्तु के सभी धर्मों का या विवक्षित दो धर्मों का युगपत् प्रधान भाव से कथन कर सके। अतः कहने की अशक्ति होने के कारण वस्तु अवक्तव्य है। वस्तुतः पदार्थ स्वरूप से ही अनिर्वचनीय है और पदार्थ की उसी स्वरूपनिष्ठ अनिर्वच्यता का द्योतन यह अवक्तव्य नाम का तीसरा भंग करता है। संकेत के बल पर ऐसे किसी शब्द की कल्पना तो की ही जा सकती है जो दो धर्मों का भी एकरससे कथन कर सकता हो। अतः यह भङ्ग वस्तु के मौलिक वचनातीत पूर्णरूप का द्योतन करता है।

चौथा अस्ति-नास्ति भंग—दोनों धर्मों की क्रम से विवक्षा होने पर बनता है। क्रम से यहाँ कालिकक्रम ही समझना चाहिये। अर्थात् प्रथम समय में अस्ति की विवक्षा तथा दूसरे समय में नास्ति की विवक्षा हो और दोनों समयों की विवक्षा को मोटी दृष्टि से देखने पर इस तृतीय भंग का उदय होता है। और यह क्रम से अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मों का प्रधानरूप से कथन करता है।

पाँचवाँ अस्ति-अवक्तव्य भंग—अस्तित्व और अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा में, अर्थात् प्रथम समय में अस्तित्व की विवक्षा तथा दूसरे समय में अवक्तव्य की विवक्षा होने पर तथा दोनों समय की विवक्षाओं पर स्थूल दृष्टि से विचार करने पर अस्ति-अवक्तव्य भंग माना जाता है। यह क्रम से अस्तित्व और अवक्तव्यत्व का प्रधानभाव से कथन करता है।

छठवाँ नास्ति-अवक्तव्य भंग—नास्तित्व और अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा में, अर्थात् प्रथम समय में नास्तित्व की विवक्षा तथा दूसरे समय में अवक्तव्य की विवक्षा होने पर तथा दोनों समयों की विवक्षाओं पर व्यापकदृष्टि रखने पर नास्ति-अवक्तव्य भंग की प्रवृत्ति होती है। यह क्रम से नास्तित्व और अवक्तव्यत्व का प्रधानभाव से कथन करता है।

सातवाँ अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यभंग—अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा में, अर्थात् प्रथम समय में अस्तित्व की विवक्षा, दूसरे समय में नास्तित्व की विवक्षा से अस्तिनास्ति भंग बना, इसीके अनन्तर तृतीय समय में अवक्तव्य की विवक्षा होने पर तथा तीनों समयों की विवक्षाओं पर स्थूल दृष्टि से विचार करने पर अस्ति नास्ति-

अवक्तव्य भंग की सृष्टि होती है। यह क्रम से अस्तित्व, नास्तित्व तथा अवक्तव्यत्व धर्मों का प्रधानरूप से कथन करता है।

यहाँ यह बात खास ध्यान देने योग्य है कि—प्रत्येक भंग में अपने धर्म की मुख्यता रहती है तथा शेष धर्मों की गौणता। इसी मुख्य-गौणभाव के सूचनार्थ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'स्यात्' का अर्थ है कथञ्चित्, अर्थात् अमुक अपेक्षा से वस्तु इस रूप है। इससे दूसरे धर्मों का निषेध नहीं किया जाता। प्रत्येक भंग की स्थिति सापेक्ष है और इसी सापेक्षता का सूचक 'स्यात्' शब्द होता है। सापेक्षता के इस सिद्धान्त को नहीं समझने वालों के लिए प्रत्येक भंग के साथ स्यात् शब्द के प्रयोग का नियम है; क्योंकि स्यात् शब्दके प्रयोग किए बिना उन्हें सन्देह हो सकता है। पर यदि वक्ता या श्रोता कुशल है तब इसके प्रयोग का नियम नहीं है; क्योंकि बिना प्रयोग के ही वे स्याच्छब्द के सापेक्षत्व अर्थ को बुद्धिगत कर सकते हैं। अथवा स्पष्टता के लिए इसका प्रयोग होना ही चाहिए। जैसे 'अहम् अस्मि' इन दो पदों में से किसी एक का प्रयोग करने से दूसरे का मतलब निकल आता है, पर स्पष्टता के लिए दोनों का प्रयोग किया जाता है। संसार में समझदारों की अपेक्षा कमसमझ या नासमझों की संख्या औसत दर्जे अधिक रहती आई है। अतः सर्वत्र स्यात् शब्द का प्रयोग करना ही राजमार्ग है।

स्यादस्ति-अवक्तव्य आदि तीन भंग परमत की अपेक्षा भी इस तरह लगाये जाते हैं कि—अद्वैतवादियों का सन्मात्र तत्त्व अस्ति होकर भी अवक्तव्य है, क्योंकि केवल सामान्य में वचन की प्रवृत्ति नहीं होती। बौद्धों का अन्यापोह नास्तिरूप होकर भी अवक्तव्य है; क्योंकि शब्द के द्वारा मात्र अन्य का अपोह करने से किसी विधिरूप वस्तु का बोध नहीं हो सकेगा। वैशेषिक के स्वतन्त्र सामान्य और विशेष अस्ति-नास्ति रूप—सामान्य-विशेष रूप होकर भी अवक्तव्य—शब्द के वाच्य नहीं हो सकते; क्योंकि दोनों को स्वतन्त्र मानने से उनमें सामान्य-विशेषभाव नहीं हो सकेगा। सर्वथा भिन्न सामान्य और विशेष में शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती और न वैसी हालत में कोई अर्थक्रिया ही हो सकती है।

सकलादेश-विकलादेश—इन भंगों का प्रयोग दो दृष्टियों से होता है—१ सकलादेशदृष्टि, जिसे स्याद्वादशब्द से भी व्यवहृत किया गया है और यही प्रमाणरूप होती है। २ विकलादेशदृष्टि, इसे नय शब्द से कहते हैं। एक धर्म के द्वारा समस्त वस्तु को अखण्डरूप से ग्रहण करनेवाला सकलादेश है तथा उसी धर्म को प्रधान तथा शेष धर्मों को गौण करनेवाला विकलादेश है। स्याद्वाद अनेकान्तात्मक अर्थ को ग्रहण करता है, जैसे 'जीवः' कहने से ज्ञानदर्शनादि असाधारण गुणवाले, सत्त्व-प्रमेयत्वादि साधारण स्वभाववाले तथा अमूर्तत्व-असंख्यातप्रदेशित्व आदि साधारणासाधारण-धर्मशाली जीव का समग्र भाव से ग्रहण हो जाता है। इसमें सभी धर्म एकरूप से गृहीत होते हैं अतः यहाँ गौण-मुख्यविवक्षा अन्तर्लीन हो जाती है।

विकलादेश—नय एक धर्म का मुख्यतया कथन करता है। जैसे ‘ज्ञो जीवः’ कहने से जीव के ज्ञानगुण का मुख्यतया बोध होगा तथा शेषधर्म गौणरूप से उसीके गर्भ में प्रतिभासित होंगे। एक धर्म का मुख्यतया बोध कराने के कारण ही यह वाक्य विकलादेश या नय कहा जाता जाता है। नय में भी स्यात् पद का प्रयोग किया जाता है और वह इसलिए कि—शेषधर्मों की गौणता उसमें सूचित होती रहे, उनका निराकरण न हो जाय। इसीलिए स्यात्पदलाञ्छित नय सम्यक् नय कहलाता है। ‘स्याज्जीव एव’ यह वाक्य अनन्तधर्मात्मक जीव का अखण्डभाव से बोध कराता है, अतः यह सकलादेशवाक्य है। ‘स्यादस्त्येव जीवः’ इस वाक्य में जीव के अस्तित्व धर्म का मुख्यतया कथन होता है अतः यह विकलादेशात्मक नयवाक्य है। तात्पर्य यह कि सकलादेश में धर्मिवाचक शब्दके साथ एवकार का प्रयोग होता है और विकलादेश में धर्मवाचक शब्द के साथ।

अकलंकदेव ने राजवार्तिक में दोनों वाक्यों का ‘स्यादस्त्येव जीवः’ यही उदाहरण दिया है और उनकी सकल-विकलादेशता समझाते हुए लिखा है कि—जहाँ अस्ति शब्द के द्वारा सारी वस्तु समग्रभाव से पकड़ ली जाय वहाँ सकलादेश, तथा जहाँ अस्ति के द्वारा अस्तित्वधर्ममुख्यक एवं शेषानन्तधर्मगौणक वस्तु कही जाय वह विकलादेश समझना चाहिए। इस तरह दोनों वाक्यों में यद्यपि समग्र वस्तु गृहीत हुई पर सकलादेश में सभी धर्म मुख्यरूप से गृहीत हुए हैं जब कि विकलादेश में एक ही धर्म मुख्यरूप से गृहीत हुआ है। यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि—‘जब सकलादेश का प्रत्येक भंग समग्र वस्तु का ग्रहण करता है तब सकलादेश के सातों भंगों में परस्पर भेद क्या हुआ?’ इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि सभी धर्मों में पूरी वस्तु गृहीत होती है सही, पर स्यादस्ति भंग में अस्तित्व धर्म के द्वारा तथा स्यान्नास्ति भंग में नास्तित्व धर्म के द्वारा। उनमें मुख्य-गौणभाव भी इतना ही है कि—जहाँ अस्ति शब्द का प्रयोग है वहाँ मात्र ‘अस्ति’ इस शाब्दिक प्रयोग ही की मुख्यता है धर्म की नहीं। शेषधर्मों की गौणता का तात्पर्य है उनका शाब्दिक अप्रयोग।

इस तरह अकलंकदेव ने सातों ही भंगों को सकलादेश तथा विकलादेश कहा है। सिद्धसेनगणि आदि अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य इन तीन भंगों को एकधर्मवाली वस्तु को ग्रहण करने के कारण विकलादेश तथा शेष भंगों को अनेकधर्मवाली वस्तु ग्रहण करने के कारण सकलादेश कहते हैं।

मलयगिरि आचार्य की दृष्टि से सब ही नय मिथ्यारूप हैं। इनका कहना है कि—यदि नयवाक्य में स्यात् शब्द का प्रयोग किया जायगा तो वे स्याच्छब्द के द्वारा सूचित अनन्तधर्मों के ग्राहक हो जाने के कारण प्रमाणरूप ही हो जायेंगे। अतः प्रमाणवाक्य में ही स्याच्छब्द का प्रयोग उनके मत से ठीक है नय वाक्य में नहीं। इसी आशय से उन्होंने अकलंक के मत की समालोचना की है। उपा० यशोविजयजी ने इसका समाधान करते हुए लिखा है कि—मात्र स्यात् पद के प्रयोग से ही नयवाक्य में प्रामाण्यता नहीं

आ सकती; क्योंकि प्रमाण में तो अनन्तधर्मों का मुख्यतया ग्रहण होता है जब कि सुनय में स्याच्छब्द-सूचित वाकी धर्म गौण रहते हैं आदि। अतः समन्तभद्र सिद्धसेन आदि द्वारा उपज्ञात यही व्यवस्था ठीक है कि—सापेक्ष नय सम्यक्, तथा निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं।

संशयादि दूषण—अनेकात्मक वस्तु में संशयादि दूषणों के शिकार जैन ही नहीं बने किन्तु इतर लोग भी हुए हैं। जैन की तरह पातञ्जलमहाभाष्य में वस्तु को उत्पादादिधर्मशाली कहा है। व्यासभाष्य में परिणाम का लक्षण करते हुए स्पष्ट लिखा है कि—‘अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः’ अर्थात् स्थिर द्रव्य की एक अवस्था का नाश होना तथा दूसरी का उत्पन्न होना ही परिणाम है। इसी भाष्य में ‘सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य’ प्रयोग करके अर्थ की सामान्यविशेषात्मकता भी द्योतित की है। भट्टकुमारिल ने मीमांसारलोकवार्तिक में अर्थ की सामान्यविशेषात्मकता तथा भेदाभेदात्मकता का इतर-दूषणों का परिहार करके प्रबल समर्थन किया है। उन्होंने समन्तभद्र की “घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्” (आप्तमी० का० ५६) जैसी—
“वर्धमानकभंगेन रुचकः क्रियते यदा । तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।” इत्यादि कारिकाएँ लिखकर बहुत स्पष्ट-रूप से वस्तु के त्रयात्मकत्व का समर्थन किया है। भास्कराचार्य ने भास्करभाष्य में ब्रह्म से अवस्थाओं का भेदाभेद समर्थन बहुत विस्तार से किया है। कुमारिलानुयायी पार्थसारथिमिश्र भी अवयव-अवयवी, धर्मधर्मि आदि में कथञ्चित् भेदाभेद का समर्थन करते हैं। सांख्य के मत से प्रधान एक होते हुए भी त्रिगुणात्मक, नित्य होकर भी अनित्य, अव्यक्त होकर भी व्यक्त आदि रूप से परिणामी नित्य माना गया है। व्यासभाष्य में ‘त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्’ लिखकर वस्तु की नित्या-नित्यात्मकता द्योतित की है। इस संक्षिप्त यादी से इतना ध्यान में आजाता है कि जैन की तरह कुमारिलादि मीमांसक तथा सांख्य भेदाभेदवादी एवं नित्यानित्यवादी थे।

दूषण उद्भावित करनेवालों में हम सबसे प्राचीन वादरायण आचार्य को कह सकते हैं। उन्होंने ब्रह्मसूत्र में ‘नैकस्मिन्नसंभवात्’—एक में अनेकता असंभव है—लिखकर सामान्यरूप से एकानेकवादियों का खंडन किया है। उपलब्ध बौद्ध ग्रन्थों में धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक में सांख्य के भेदाभेद में विरोध उद्भावन करके ‘एतेनैव यदहीकाः’ आदि लिखते हैं। तात्पर्य यह कि धर्मकीर्ति का मुख्य आक्षेप सांख्य के ऊपर है तथा उन्हीं दोषों का उपसंहार जैनका खंडन करते हुए किया गया है। धर्मकीर्ति के टीकाकार कर्णकगोमि जहाँ भी भेदाभेदात्मकता का खंडन करते हैं वहाँ ‘एतेन जैनजैमिनीयैः यदुक्तम्’ आदि शब्द लिखकर जैन और जैमिनि के ऊपर एक ही साथ प्रहार करते हैं। एक स्थान पर तो ‘तदुक्तं जैनजैमिनीयैः’ लिखकर समन्तभद्र की आप्तमीमांसा का ‘सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे’ यह कारिकांश उद्धृत किया है। एक जगह दिगम्बर का

खडन करते हुए 'तदाह' करके समन्तभद्र की 'घटमौलिसुवर्णार्थी, पयोव्रतो न दध्यत्ति, न सामान्यात्मनोदेति' इन तीन कारिकाओं के बीच में कुमारिल की "न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् । स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ॥" यह कारिका भी उद्धृत की है । इससे मालूम होता है कि बौद्ध ग्रन्थकारों का प्रहार भेदाभेदात्मक अंश में सांख्य के साथ ही साथ जैन और जैमिनि पर समानरूप से होता था । उनका जैन के नाम से कुमारिल की कारिका को उद्धृत करना तथा समन्तभद्र की कारिका के ऊपर जैन के साथ जैमिनि का भी प्रयोग करना इस बात को स्पष्ट बतलाता है कि उनकी दृष्टि में जैन और जैमिनि में भेदाभेदात्मक माननेवालों के रूप से भेद नहीं था । तत्त्व-संग्रहकार ने तो 'विप्रनिर्ग्रन्थकापिलैः' लिखकर इस बात को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है ।

संशयादि आठ दूषण अभी तक किसी ग्रन्थ में एक साथ नहीं देखे गए हैं । शांकरभाष्य में विरोध और संशय इन दो दूषणों का स्पष्ट उल्लेख है, तत्त्वसंग्रह में सांकर्य दूषण भी दिया गया है । बाकी प्रमाणवार्त्तिक आदि में मुख्यरूप से विरोध दूषण ही दिया गया है । वस्तुतः समस्त दूषणों का मूल आधार तो विरोध ही है । हाँ, स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ७३८) में नैयायिक की एक कारिका 'तदुक्तम्' करके उद्धृत की है—

“सशयविरोधवैयधिकरण्यसंकरमथोभयं दोषः । अनवस्था व्यतिकरमपि जैनमते सप्त दोषाः स्युः ॥”

इस कारिका में एक साथ सात दूषण गिनाए गए हैं । आठ दूषणों का परिहार भी सर्वप्रथम अकलंक ने ही किया है । उन्होंने लिखा है कि—जैसे मेचकरत्न एक होकर भी अनेक विरोधी रँगों को युगपत् धारण करता है, उसी तरह प्रत्येक वस्तु विरोधी अनेक धर्मों को धारण कर सकती है । इसी मेचकरत्न के दृष्टान्त से संशयादि दोषों का परिहार भी किया है । सामान्य-विशेष का दृष्टान्त भी इसी प्रसंग में दिया है—जैसे पृथिवीत्व जाति पृथिवीव्यक्तियों में अनुगत होने से सामान्यरूप होकर भी जलादि से व्यावर्तक होने के कारण विशेषात्मक है और इस तरह परस्पर विरोधी सामान्य-विशेष उभय रूपों को धारण करती है, उसी तरह समस्त पदार्थ एक होकर भी अनेकात्मक हो सकते हैं । प्रमाणसिद्ध वस्तु में विरोधादि दोषों को कोई स्थान ही नहीं है । जिस प्रकार एक वृक्ष अवयवविशेष में चलात्मक तथा अवयवविशेष की दृष्टि से अचलात्मक होता है, एक ही घड़ा एकदेशेन लालरँग का तथा दूसरे देश में अन्य रँग का, एकदेशेन ढँका हुआ तथा अन्यदेश से अनावृत, एकदेशेन नष्ट तथा दूसरे देश से अनष्ट रह सकता है, उसी तरह एक वस्तु भी अनेकधर्मवाली हो सकती है । इति ।

अकलंकग्रन्थत्रयस्य विषयानुक्रमः ।

§ १. लघीयस्त्रयस्य विषयानुक्रमः

मंगलश्लोकः	१. ३.	पूर्वोत्तरचरहेत्वो समर्थनम्	५. २३.
कण्टकशुद्धिः	१. ६.	अदृश्यानुपलब्धेरपि गमकत्वम्	६. ५.
प्रत्यक्षस्य लक्षणम्	१. १२.	स्थूलस्यैकस्यैव दर्शनं न तु क्षणभगादेः	६. १०.
मुख्यसंव्यवहारतया द्विधा विभागः	१. १२.	निरक्षतत्त्वसाधक प्रत्यक्ष स्वभावहेतुः	
परोक्षस्य लक्षणम्	१. १३.	कार्यहेतुश्च न संभवति	६. १७.
सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्य निरस्य		विकल्पबुद्धिर्न स्वतः सिद्धयति नापि परतः	६. २६.
ज्ञानस्यैव प्रामाण्यसमर्थनम्	१. १४.	उपमानस्य प्रत्यभिज्ञान एवान्तर्भावः	७. ६.
वैशद्यावैशद्ययोर्लक्षणम्	२. ६.	उपमानस्य पृथक् प्रमाणत्वे आपेक्षिकस्य	
साव्यवहारिकस्य लक्षणम्	२. ८.	प्रतियोगिकस्य च प्रत्यभिज्ञानस्य	
मुख्यप्रत्यक्षस्य लक्षणम्	२. ८.	पृथक् प्रमाणत्वप्रसङ्गः स्यात्	७. १४.
मुख्यप्रत्यक्षस्य सिद्धिः	२. ९.	तैमिरादिकं द्विचन्द्रादिज्ञानं कथञ्चिदेव	
मुख्यप्रत्यक्षविषयकसंशयस्य निरसनम्	२. १३.	प्रमाणाभासं न सर्वथा	८. ८.
अवग्रहस्य लक्षणम्	३. १९, २१.	सविकल्पकज्ञानमपि प्रत्यक्षात्मकमेव	८. १६.
ईहायाः लक्षणम्	२. २०, २५.	निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षाभम्	८. २०.
अवायस्य लक्षणम्	२. २०, २६.	विशदेतरविकल्पयोर्न विषयभेदैकान्तः	८. २१.
विषयस्य स्वरूपम्	२. २१.	कल्पना अपि प्रतिसंविदितोत्पत्ति-	
द्रव्येन्द्रियस्य लक्षणम्	२. २२.	व्ययात्मका एव	९. १.
भावेन्द्रियस्य स्वरूपम्	२. २२.	अतः प्रत्यक्षपरोक्षयोः व्यवहारा-	
लब्धीन्द्रियस्य लक्षणम्	२. २३.	विसवादात् प्रामाण्यम्	९. ७.
उपयोगस्य लक्षणम्	२. २३.	श्रुतज्ञानं द्वीपान्तरादिवहिरर्थेषु प्रमाण	
सन्मात्रदर्शनमेव अवग्रहरूपतया परिणमति	२. २४.	न वक्त्रभिप्रायमात्रे	९. १२. ✓
धारणायाः लक्षणम्	२. २८, ३. १.	क्वचिद्व्यभिचारान्न श्रुतज्ञानस्य	
ईहाधारणयोरपि ज्ञानात्मकत्वम्	३. १.	अप्रमाणतैकान्तः	९. १९. ✓
बृह्वादिरूपेण अष्टचत्वारिंशद्विभागः	३. ५.	आप्तोक्तिहेतुवादयोः बहिरर्थाविनिश्चये	
पूर्वपूर्वस्य प्रमाणत्वमुत्तरोत्तरस्य फलत्वम्	३. ६.	सत्येतरव्यवस्थाभावः	९. २८. ✓
प्रमाणफलयोः क्रमभेदेऽपि तादात्म्यम-		चित्राभिप्रायतया वाचोऽर्थव्यभिचारित्वे	
भिन्नविषयत्वञ्च	३. १८.	अग्निशिंशपादावपि व्यभिचार स्यात्	१०. ७. ✓
अर्थस्य द्रव्यपर्यायात्मकत्वम्	३. २३.	नयदुर्नययोर्लक्षणम्	१०. २३.
नित्यक्षणिकपक्षयोः क्रमाक्रमाभ्याम् अर्थ-		जातुरभिप्रायस्य नयत्वम्	१०. २६.
क्रियानिरसनम्	४. ३.	द्रव्याधिकपर्यायाधिकतया विभागः	१०. २६.
अभेदपक्षेऽपि विक्रियाविक्रिययोः न विरोधः	४. ९.	द्रव्याधिकस्य व्युत्पत्ति	११. १.
चित्रज्ञानादिदृष्टान्तेन तत्त्वस्य उत्पादव्यय-		जीवाजीवादयः सदन्तर्लीना	११. ५.
ध्रौव्यात्मकत्व द्रव्यपर्यायात्मकत्वञ्च	४. १४.	सग्रहस्य शुद्धद्रव्यविषयत्वम्	११. १०.
परोक्षस्य स्मृत्यादिरूपेण विभागः	४. २३.	प्रत्यक्षस्य बहिरन्तश्च सद्द्रव्यग्राहकता	११. १८.
प्रत्यक्षादिना व्युत्पत्तिग्रहणासंभवत्वात्		एकक्षणिकज्ञानदृष्टान्तेन द्रव्यस्य सदसदा-	
तद्ग्राही तर्क प्रमाणम्	५. ६.	त्मकत्वप्रसाधनम्	११. २४.
अनुमानस्य लक्षणम्	५. १४.	कथञ्चित् क्षणिक एव अर्थक्रिया	१२. ५.
अनुमानस्य फलं हानादिवुद्ध्यः	५. १५.	क्षणभंगे न कार्यकारणभावसिद्धिः	१२. ६.
कार्यस्वभावातिरिक्तस्य छायादे कारणभूतस्य		अक्षणिकेऽपि अर्थक्रिया न विरुद्धा	१२. २३.
छायादेः अतिरिक्तहेतुत्वसमर्थनम्	५. १७.	क्षणिकस्वलक्षणदृष्टान्तेन अक्षणिक-	
जलचन्द्रादीना कार्यस्वभावातिरिक्तहेतुत्वम्	५. २०.	स्यापि कार्यकारिताप्रसाधनम्	१२. २४.

विज्ञान-गुण-अवयवविदूषणान्तेन द्रव्यस्य	
क्रमाक्रमवर्तिपर्यायव्यापकत्वसाधनम्	१२. २९.
सग्रहः सन्मात्रं विषयीकरोति	१३. ४.
ब्रह्मवाद सग्रहाभासः	१३. ५.
नैगमस्य लक्षणम्	१३. १०.
नैगमाभासस्य लक्षणम्	१३. ११.
गुणगुण्यादीना न भेदैकान्तः	१३. १४.
सत्तातद्वता भेदैकान्तनिरासः	१३. १९.
भिन्नसत्तासमवायात् न सदसतो	
सद्व्यवहार	१३. २१
प्रामाण्य व्यवहारात्	१४. १.
शुद्धमशुद्धं द्रव्य पर्याय वा व्यवस्थापयता	
प्रमाण मृग्यम्	१४. ३.
साख्याभिमततत्त्वस्वरूपस्य नैगमाभासता	१४. ७.
गुणानां परम रूपमित्यादिकारिकाया	
खण्डनम्	१४. ९
स्वयमज्ञस्य न ज्ञानसमवायात् ज्ञत्वम्	१४. १२.
व्यवहारनयस्य स्वरूपम्	१४. १७.
व्यवहाराभासस्य स्वरूपम्	१४. १८.
व्यवहार अर्थभिधानप्रत्ययात्मक	१४. १९
अविसवादस्य लक्षणम्	१४. २१
ऋजुसूत्रनयस्य स्वरूपम्	१४. २८.
सापेक्षस्य नयत्वम् निरपेक्षस्य दुर्नयत्वम्	१५. ३
शब्दनयस्य लक्षणम्	१५. ७.
अभिरूढनयस्य स्वरूपम्	१५. ८
इत्यम्भूतनयस्य लक्षणम्	१५. ८.
कालकारकलिगभेदादर्थभेद	१५. १०.
एवम्भूतस्य लक्षणम्	१५. ११.
कुर्वत एव कारकत्वम्	१५. ११.
विज्ञानस्य अनागतविषयत्वम्	१५. १४
स्मृते प्रामाण्यप्रदर्शनम्	१५. १८.
प्रतिभासभेदेऽपि एकार्थविषयत्वमविरुद्धम्	१५. २५.
अक्षज्ञानवत् शब्दार्थज्ञानमपि अविसवादि	१६. ३.
अस्पष्टमपि शब्दज्ञानानुमानवत् प्रमाणम्	१६. ४.
एकान्ते कालस्य वर्त्तनालक्षणत्वासंभव	१६. १५.
एकान्ते पटकारक्यसंभव	१६. १७.
स्त्रीपुनपुसकशब्दानां व्युत्पत्तिः	१६. १८
इन्द्रशक्रपुरुन्दरशब्दानां व्युत्पत्ति	१६. २०.
एकस्यापि अनेकसामग्रीसन्निपातात्	
पटकारकीकल्पना	१६. २६.
नयदुर्नययोर्लक्षणम्	१७. २.
प्रमाणस्य लक्षणम्	१७. ३.
तर्कस्य प्रामाण्यप्रदर्शनम्	१७. ७
स्मरणप्रत्यभिज्ञानुमानादीनां प्रामाण्य-	
प्रदर्शनम्	१७. ९.
अन्तिममंगलम्	१७. १२

इति प्रमाणनयप्रवेशः ।

मंगलाचरणम्, प्रमाणनयनिक्षेपनिरु-

पणप्रतिज्ञा च	१८. ५.
प्रमाणस्य स्वरूपम्	१८. ८.
न्यासस्य स्वरूपम्	१८. ८.
नयस्य स्वरूपम्	१८. ९.
अचेतनस्य न प्रामाण्यम्	१८. १०.
ज्ञानस्य नार्थजन्यता अपि तु	
इन्द्रियानिन्द्रियजत्वम्	१८. १२.
ज्ञान स्वस्य अर्थकार्यता न वेत्ति	१८. १७.
अन्वयव्यतिरेकाभावात् नार्थः कारणम्	१८. २४.
अर्थस्य कारणत्वे संगयाद्यनुत्पत्तिप्रमग	१८. २५.
अत इन्द्रियमनसी कारणम् अर्थो विषयः	१९. १.
सन्निकर्षोऽपि न प्रमाणम्	१९. ५.
आलोकस्य न कारणता परिच्छेद्यत्वात्	१९. ११.
आलोकाभावेऽपि तमोज्ञानं भवति	१९. १५.
नावरण तिमिरादि परिच्छेद्यत्वात्	१९. २०.
क्षयोपशमतारतम्येन ज्ञानस्य अभिव्यक्तिः	१९. २४.
‘नाकारण विषय’ इत्यस्य निरासः	१९. २७.
नार्थादय कारण विज्ञानस्य	२०. ४.
तज्जन्म-ताद्रूप्य-तद्व्यवसितीना न	
प्रामाण्यहेतुता	२०. ६.
नार्थजन्यं ज्ञानम्	२०. ८.
नार्थसारूप्यभृज्ज्ञानम्	२०. ९.
ज्ञान स्वहेतूत्थमेव परिच्छेदात्मकम्	२०. १६.
व्यवसायात्मक ज्ञानमेव आत्मार्य-	
ग्राहकत्वात् प्रमाणम्	२०. २३.
निर्विकल्पस्य न प्रामाण्यं नापि	
विकल्पजनकता	२०. २५.
प्रत्यक्षपरोक्षतया द्विधा प्रमाणम्	२१. ४.
प्रादेशिकप्रत्यक्षस्य स्वरूपम्	२१. ६.
अनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य स्वरूपम्	२१. ७
अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य स्वरूपम्	२१. ८.
सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वात्	
अतीन्द्रियप्रत्यक्षसिद्धि	२१. ९.
श्रुत परोक्ष प्रमाणम्	२१. ९.
अर्थापत्त्यादीनां परोक्षेऽन्तर्भावः	२१. १०.
श्रुतस्य स्याद्वाद-नयसंज्ञितौ द्वौ उपयोगौ	२१. १४.
सकलादेशः स्याद्वादः	२१. १५.
विकलादेशो नय	२१. १५.
स्याद्वादस्य निरूपणम्	२१. १६.
स्याद्वादस्य प्रमाणत्वम्	२१. १९.
साकल्यमनन्तधर्मात्मिकता	२१. २०
वैकल्यमेकान्तः	२१. २१.
नयः सम्यगेकान्तरूप	२१. २५.
‘स्याज्जीव एव’ इत्यत्र अनेकान्तविषयः	
स्याच्छब्दः	२१. २५.
‘स्यादस्त्येव जीवः’ इत्यत्र एकान्त-	
विषयः स्याच्छब्दः	२१. २६.
अप्रयुक्तोऽपि स्यात्कारः अर्थादेव प्रतीयते	२२. १.

विधिविनिषेधानुवादातिदेशादिवाक्येषु		शकटोदयादीनां भविष्यद्विषयकत्वनिर्णयेन	
स्याद्वाद विना न प्रस्तुतार्थसिद्धिः	२२. ५.	'बुद्धेरकारणं विषयः' इत्यस्य निरासः	२५. १.
वर्णपदवाक्यानामर्थवाचकत्वम्	२२. १०.	शब्दज्ञान विवक्षाव्यतिरिक्तार्थग्राहि	२५. ५.
शब्दस्य वक्त्रभिप्रायवाचित्वनिरासः	२२. १५.	कालस्य लक्षणम्	२५. ६.
अभिप्रेतव्यभिचारित्वमपि शब्दस्य	२२. १६.	कारकस्य लक्षणम्	२५. ७.
नैगमादयो नयाः श्रुतभेदाः	२२. २४.	लिंगस्य लक्षणम्	२५. ७.
नया द्रव्यपर्यायिमूलाः	२२. २५.	पर्यायभेदादप्यर्थभेदः	२५. ८.
नहि मतिभेदानयाः	२२. २८.	क्रियाभेदादर्थभेदः	२५. १०.
नापि मनोमतिभेदाः नयाः	२३. १.	वर्णपदवाक्यव्युत्पादकं शास्त्रमवितथम्	२५. ११.
मूलनयी द्रव्यपर्यायार्थिकौ	२३. २.	निरपेक्षत्व-सापेक्षत्वयोर्लक्षणम्	२५. १४.
द्रव्यभेकान्वयात्मकम्	२३. २.	श्रुतादर्थमधिगम्य नयैः परीक्ष्य निक्षेपैः न्यस्य	
तदतत्परिणामित्वादेकत्वम्	२३. ३.	अनुयोगैः अनुयुज्य सम्यग्दर्शनादित्रयं	
सदृशपरिणामात्मकत्वादन्यथ	२३. ३.	प्राप्य मोक्षप्राप्तिः	२५. १८.
पर्यायः पृथक्त्वं व्यतिरेकश्च	२३. ८.	श्रुतमनादि सादि च	२५. २६.
पृथक्त्वस्य स्वरूपम्	२३. ८.	प्रमाणस्य स्वरूपम्	२५. २६.
व्यतिरेकस्य स्वरूपम्	२३. ९.	नयस्य स्वरूपम्	२५. २६.
व्यवहार-निश्चयपर्याययोः स्वरूपम्	२३. १०.	न्यासस्य स्वरूपम्	२५. २९.
न नैगमस्य प्रमाणता	२३. १८.	नामस्थापनाद्रव्यभावरूपेण चतुर्धा निक्षेप.	२५. २९.
नैगमस्य स्वरूपम्	२३. २१.	नामनिक्षेपस्य लक्षणं तदनेकत्वञ्च	२६. १.
नैगमाभासस्य स्वरूपम्	२३. २१, २४.	स्थापनाया लक्षणम्	२६. २.
धर्मधर्मिणो गुणप्रधानभावेन विवक्षा नैगमे	२३. २६.	द्रव्यनिक्षेपस्य लक्षणम्	२६. ३.
संग्रहादौ एकविवक्षा	२३. २६.	भावनिक्षेपस्य लक्षणम्	२६. ३.
संग्रहनयस्य स्वरूपम्	२४. १, ३.	निक्षेपस्य फलम्	२६. ४.
ब्रह्मवादाः संग्रहाभासः	२४. २, ३.	मोक्षसुखस्य स्वरूपम् तत्प्राप्त्युपायाश्च	२६. ७.
व्यवहारनय-तदाभासयोः स्वरूपम्	२४. ६.	नैयायिकादिकल्पितमोक्षस्य निरासः	२६. १०.
ऋजुसूत्र-तदाभासयोः स्वरूपम्	२४. १५.	शरीरादिकं न जानावरणादिरूपम्	२६. ११.
नैगमादयश्चत्वारोऽर्थनयाः	२४. २३.	शास्त्राध्ययनस्य फलम्	२६. १४.
शब्दादयस्त्रयोऽर्थनयाः	२४. २४.	जिनेश्वरपदप्राप्त्युपायः	२६. २२.
शब्दनयस्य स्वरूपम्	२४. २५.		
अभिरूढनयस्य स्वरूपम्	२४. २६.	इति प्रवचनप्रवेशः ।	

§ २. न्यायविनिश्चयस्य विषयानुक्रमः

मंगलश्लोकः	२९. १.	असिद्धादर्थपरिच्छेदान्न ज्ञानस्य सिद्धिः	३१. १८.
न्यायविनिश्चयकरणप्रतिज्ञा	२९. २.	ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादनिरासः	३२. १९.
प्रत्यक्षलक्षणम्	२९. ३.	अचेतनज्ञानवादनिरासः	३२. २५.
इन्द्रियप्रत्यक्षस्य लक्षणम्	२९. ४.	प्रतिबिम्बवादनिरसनम्	३२. २६.
एकस्मिन् विषये समक्षेतरसम्प्लवः	३०. ५.	साकारज्ञानवादनिरासः	३३. २८.
न अभिलापवत्त्व विकल्पस्य लक्षणम्	३०. ७.	अतीतस्य न आकारार्पकता	३३. ३२.
चक्षुरादिवुद्धीना व्यवसायात्मकत्वम्	३०. ८.	अतः स्वहेतोरेव बुद्धेः प्रकाशनियमो न	
अर्थज्ञाने सत एव नीलादिस्थूलरूपस्य		प्रतिबिम्बत्व	३३. ३३.
प्रतिभासः	३०. ९, १०.	आत्मा सत्यासत्यज्ञानाभ्यां वहिरर्थमेव	
परोक्षज्ञानवादनिरासः	३१. ११.	यथार्थेतरतया अवलोकते	३४. ३७.
ज्ञानस्य स्वसवेदनसिद्धिः	३१. १३.	विषयज्ञानतज्ज्ञानविवेकोऽपि शक्तिनियमादेव	३४. ३८.
सुखादयः स्वसवेद्याः	३१. १५.	अर्थज्ञानस्मृतौ अर्थस्मरणे ज्योतिर्मनस्का-	
विषयेन्द्रियविज्ञानमनस्कारादयो लिंगाः न		रादिभिः अतिप्रसगस्य परिहारः	३४. ३९.
अस्वसविदितज्ञानस्यानुमापकाः	३१. १७.	परिच्छेदशक्तिनियमादेव विषयप्रति-	
		नियमो नाकारादिधारितया	३४. ३९.

आत्मा तत्कालेऽविद्यमानोऽपि	
तद्वस्तु प्रत्येतुमलम्	३५. ४१
प्रत्यभिज्ञानाद्यतीतानुमितिदर्शनादपि	
असदर्थज्ञानसम्भवः	३५. ४४.
भ्रान्तौ स्वप्ने वा सत एव केश-कामिन्यादेः	
प्रतिभास इति शंकाया निरासः	३६. ४६.
स्वप्ने अन्तःशरीरवर्तितया कामिन्यादे सत्त्व	
न बहिरवस्थिततया इति प्रज्ञाकरा-	
शकाया निरास	३६. ४७.
अद्वयवादनिरासः	३६. ५०.
विभ्रमवादनिरास	३६. ५१.
संविदद्वैतवादनिरास.	३७. ५६.
असदर्थविषयत्वेऽपि सर्वज्ञानाना यत्रार्थक्रिया-	
प्राप्त्या परितोष तदेव तत्त्वसिद्धिनिबन्धनं	
यथा मणिप्रभायाम मणिज्ञानम्	
इत्याशंकानिरासः	३८. ६१
स्वाशमात्रावलम्बित्वे विकल्पाना न ततो	
व्यवहारसिद्धिः	३८. ६४.
विचारसाफल्यमिच्छद्भिः विकल्पः अर्थ-	
क्रियाकारिवहिरर्थविषयकोऽभ्युगन्तव्यः	३८. ६५.
सन्तानान्तरविकल्पस्य बहिरर्थविषयत्वमन्त-	
रेण न तत्सिद्धिः	३८. ६५.
बहिः सदेव विषं मरणप्रयोजकं न तु	
विषज्ञानम्	३९. ६९.
वितथाकारविज्ञप्तिमात्रवादनिरासः	४०. ७५.
संवेदनाद्वैतप्रक्रियया ब्रह्माद्वैतसिद्धि-	
प्रसञ्जनम्	४०. ७६.
विज्ञानवादनिरासः	४०. ७८.
सन्तानान्तरविकल्पस्य बहिरर्थविषयत्व-	
प्रसाधनम्	४१. ८२.
सहोपलम्भनियमादर्थज्ञानयोरभेदस्य	
निराकरणम्	४१. ८३.
कल्पिताद्वैतोर्न साध्यसिद्धिः. अतो हेतु.	
बहिर्विषयकोऽभ्युपेयः	४१. ८४.
रक्तावस्थादिविरुद्धधर्मप्रसञ्जनेन बौद्धस्य	
अवयविनिरासागका	४१. ८७.
तदाशकापरिहारपुरस्सर बहिरर्थसिद्धिः	४२. ८८
चित्रज्ञानदृष्टान्तेन अनेकान्तसिद्धिमुपहसतो	
बौद्धस्य परिहासः.	४२. ९०.
विभ्रमादिवादपरिहार-अनेकात्मकार्य-	
सिद्धयोरुपसंहारः.	४२. ९१.
चित्रज्ञानवादनिरासः	४२. ९२.
वासनाभेदात् बहिरर्थादिभेदकल्पनानिरासः	४२. ९६.
सन्निवेशादिभिर्बुद्धिमत्पूर्वकत्व साधयन्त	
नैयायिक प्रतिक्षिपता बौद्धाना तद्दृष्टा-	
न्तेनैव बाह्यार्थसिद्धिप्रदर्शनम्	४३. ९८
परमाणुरूपं बहिरर्थं मन्यमानाना सौत्रा-	
न्तिकानां प्रतिक्षेपः	४३. १०२.
अवयवव्यतिरिक्तावयवविवादिनां	
योगाना प्रतिक्षेपः	४३. १०२.

अवयवावयविनोः समवायवृत्तेः खंडनम्	४३. १०३.
‘वृक्षे शाखा’ इति प्रतीतिबलात् तयोस्ता-	
दात्म्यमेव न समवायः	४४. १०४.
परमाण्वतिरिक्त-अवयवविस्वीकारे गौरवा-	
धिक्यादयोऽनेके दोषाः	४४. १०५.
केवलम् भेदकल्पनयैव अवयव-अवयवि-	
इत्यादिभेदव्यवहारो न तु वस्तुतः	४४. ११०.
द्रव्यस्य लक्षणम्	४४. १११.
गुणपर्याययोर्लक्षणम्	४४. १११.
गुणपर्याययोः भेददर्शनम्	४५. ११२.
द्रव्यस्य लक्षण व्युत्पत्तिश्च	४५. ११३.
भेदज्ञानात् प्रादुर्भावात्पययोः अभेद-	
ज्ञानाच्च स्थितेः सिद्धिः	४५. ११४.
सतो लक्षणम्	४५. ११५.
पूर्वात्तरपर्याययोः तादात्म्यम्	४५. ११६.
सकल वस्तु प्रत्यक्षतः एव उत्पादादित्र-	
यात्मकप्रतीयते	४५. ११६.
सर्पदृष्टान्तेनापि त्रयात्मकत्वम्	४५. ११७.
सामान्यविशेषयोः स्वरूपम्	४५. ११८.
सहक्रमविवर्तितस्वगुणै एक स्वलक्षणम्	४५. ११८.
परिणामस्य लक्षणम्	४६. १२१.
वस्तुन. परिणामलक्षणत्व एकानेका-	
त्मकत्वञ्च	४६. १२१.
एकत्र अनेकधर्मसद्भावे न कोऽपि	
विरोधः	४६. १२२.
अन्वयव्यतिरेकयोर्लक्षणम्	
प्रत्यक्षेतराभ्यामेव भेदाभेदप्रकल्पनम्	४६. १२४.
उत्पादादित्रयात्मकत्वसमर्थनम्	४६. १२४.
भिन्नाभिन्नात्मकत्वसमर्थनम्	४६. १२६.
प्रत्यक्षपरोक्षात्मकत्वसमर्थनम्	४७. १२८.
सन्तानसमुदायादयोऽपि क्रमाक्रमानेका-	
न्त एव सुघटाः	४७. १२९.
प्रत्यभिज्ञानस्य स्मरणप्रत्यक्षाभ्यामति-	
रिक्तत्वप्रदर्शनम्	४७. १३१.
शब्दादावपि प्रत्यभिज्ञान सुघटम्	४७. १३२.
शब्दादावदृष्टमपि उपादान सिद्धयति	४७. १३३.
व्यावृत्तिभेदाद् भेदकल्पनाया निरासः	४८. १३५.
बौद्धाना विपरीतकल्पनाया निदर्शनम्	४८. १३६.
न प्रत्यक्षतः अत्यासन्नासंसृष्टपरमाणूना	
प्रतिभासः	४८. १४०.
अतः द्रव्यपर्याययोर्न अत्यन्ताभेदभेदौ	४८. १४१.
न निरशसामान्यस्य अनेकत्र समवाया-	
दिसम्बन्धात् वृत्ति	४८. १४३.
विजातीयव्यावृत्त्यात्मकसामान्यस्य	
निरासः	४९. १४४.
विभिन्ना सामान्यविशेषादयो न सन्ति	
अत उभयात्मक तत्त्वम्	४९. १४५.
न स्थूलादिकं सवृत्त्या कल्प्यम्	४९. १४७.
निरंशे वस्तुनि सर्वात्मतया ग्रहणप्रसंगः	४९. १४७.

वस्तु दृश्येतरात्मकम्, अत 'दृष्टस्य भावस्य दृष्टः सकलो गुण' इति धर्मकीर्तिमतस्य प्रतिक्षेप	४९ १४९.
'कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्' इति लक्षणस्य निरासः	४९. १५०.
अनेकान्तात्मनो वस्तुन उपसंहारः वैशेषिकादिकल्पितस्य नित्यसर्वगत- निरससामान्यस्य निरास	४९. १५०.
सामान्यविशेषात्मकवस्तुन उपसंहार	५०. १५१.
बौद्धपरिकल्पितनिर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य निरासः	५०. १५३.
विकल्पजननादपि न निर्विकल्पस्य प्रामाण्यम्	५०. १५५.
बौद्धपरिकल्पितमानसप्रत्यक्षस्य निरास	५०. १५६.
शान्तभद्रकल्पितमानसप्रत्यक्षलक्षणस्य निरास	५०. १५७.
अनेकमनसा क्रमाक्रमोत्पत्तौ प्रति- सन्ध्यभावप्रदर्शनम्	५१. १५८.
धर्मोत्तरकल्पितमानसप्रत्यक्षलक्षणस्य प्रतिक्षेपः	५१. १५९.
स्वसवेदनप्रत्यक्षनिराकरणम्	५१. १६२.
योगिप्रत्यक्षस्य खण्डनम्	५१. १६३.
साख्यकल्पितश्रोत्रादिवृत्तिरूप- प्रत्यक्षस्य निरासः	५१. १६४.
नैयायिककल्पितसन्निकर्षात्मक- प्रत्यक्षस्य निरास	५१. १६५.
नैयायिकस्य काश्चित् विरुद्धेष्टयः	५२. १६६.
अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य लक्षणम्	५२. १६७.
बौद्धमते तत्त्वोपदेशस्य संभावनैव नास्ति	५२. १६८.

इति प्रथमः प्रत्यक्षप्रस्तावः ।

अनुमानस्य लक्षणम्	५२. १७०.
प्रत्यक्षवदनुमानमपि बहिःसदर्थविषयम्	५२. १७१.
साध्यस्य लक्षणम्	५३. १७२.
साध्याभासस्य लक्षणम्	५३. १७३.
सत्तासाधने असिद्धादिदोषत्रयस्य परिहारः	५३. १७४.
भावधर्मत्वे असिद्धत्वस्य परिहारः	५३. १७५.
अपक्षधर्मोऽपि हेतुः	५३. १७६.
सौत्रान्तिकं प्रति सत्तासाधनम्	५४. १७७.
अदृश्यस्यापि सत्ता सिद्धयति	५४. १७८.
अस्पष्टावभासित्वेऽपि प्रमाणमनुमानं प्रत्यक्षवत्	५४. १८२.
अनुमानमपि स्वलक्षणविषयमेव वस्तुष्वेव प्रतिबन्धपरिज्ञानात् अनुमा- नस्य साफल्यम्	५४. १८३.
सत्तासामान्यस्य विशेषात् कथञ्चिद्- भेदाभेदौ	५४. १८४.
सामान्यस्य कथञ्चित्सम्बन्धासम्बन्धौ	५४. १८५.
नैयायिककल्पिते सामान्ये दोषप्रदर्शनम्	५४. १८६.

सदृशपरिणामलक्षणसामान्यादेव अनुगतप्रत्ययादिक संभवेत्	५५. १८८.
सर्वथा भेदाभेदपक्षयो नानेकोपाधिसंभव	५५. १८९.
उपाधितद्वतो कथञ्चिद्भेदाभेदौ	५५. १९०.
निरवयववस्तुवादे सकलग्रहणप्रसंगः	५५. १९१.
विशेषाणामानन्त्यात् न तत्र सम्बन्धग्रहण- संभवो यतोऽनुमानम्	५५. १९२.
सौगतस्य अन्यापोहात्मकसामान्येऽपि न सम्बन्धग्रहः	५५. १९३.
अपोहे दोषप्रदर्शनम्	५६. १९४.
वासनाजन्यविकल्पतोऽपि न अपोहप्रति- पत्तिः संभाव्या	५६. १९५.
सदृशासदृशात्मकं सत्	५६. १९७.
सदृशपरिणामात्मके सामान्य एव सकेतग्रहात् शब्दव्यवहार	५६. १९८.
वस्तुनः सदृशासदृशात्मकत्वसमर्थनम्	५६. २००.
सादृश्याभावे विभ्रमज्ञानस्याहेतु- कत्वापत्तिः	५७. २०३.
वस्तुनो भेदाभेदात्मकत्वस्योपसंहारः	५७. २०४.
अभेदशब्देन सदृशपरिणाम एव गृह्यते	५७. २०६.
शब्दस्य अर्थासम्पत्तिर्वै सर्वं शब्दज्ञान प्रमाण स्यात्	५८. २०७.
विवक्षावाचकत्वे शब्दस्य सत्यासत्य- विभागाभावः	५८. २०८.
अर्थ एव सकेतो न ज्ञानाकारेण	५८. २०९.
स्वमतेन सकेतप्रवृत्तिप्रकारः	५८. २१०.
भेद-सामान्य-तद्वत्सु न सकेतः	५८. २११.
एकत्व-सादृश्यनिबन्धनः सकेतः	५८. २१२.
सकेतितस्य शब्दस्य प्रवृत्तिप्रकारः	५८. २१४.
मेचकादिवत् एकत्रापि अनेकधर्म- सद्भावे न विरोधः	५९. २१५.
सामान्याभावेऽपि सदृशपरिणामात् तन्निमित्तकः व्यवहारः सुघटः	५९. २१६.
सदृशपरिणामस्यानेकत्वेऽपि सकेतवशा- देकरूपतया व्यवहारः	५९. २१८.
द्विधा प्रत्यभिज्ञा, एकत्वनिबन्धना सादृश्यनिबन्धना च	५९. २१९.
प्रधानास्तित्वसाधने हेत्वभाव एव सुपुष्पावस्थायामपि उपयोगात्मक एव आत्मा विद्यते	५९. २२२.
आत्मैव कर्मणा कर्ता तत्फलस्य च भोक्ता संसारी मुक्तश्च	६०. २२३.
भूतचैतन्यवादिनिरासः	६०. २२५.
जननये गुणव्यवहारप्रकारः	६०. २२७.
गुणगुणिनीः भेदाभेदात्मकत्वम्	६०. २२८.
न शरीरगुणः चैतन्यम्	६१. २२९.
वैशेषिकनिरूपितस्य पृथक् गुणपदार्थस्य निरासः	६१. २३०.
आकारभेदादपि न गुणिनः पृथग्गुणाः	६१. २३३.

गुणगुणिनोः वास्तवस्यैकत्वस्याभावे पृथक्त्वमप्युपचरितं स्यात् ज्ञानस्य जीवच्छरीरधर्मत्वमपि न संभवति	६१. २३४.
देहज्ञानयोः गुणगुणिभावनिरास भवस्य लक्षणम्	६२. २३५.
कायो न चैतन्यस्य कारणमात्रम् नापि कायः परिणामिकारणम्	६२. २३७.
ससारवैचित्र्यं कर्मवैचित्र्यात् इन्द्रियाणां सह प्रत्येकं वा न चैतन्यकारणता	६२. २४१.
जातिस्मरणादिहेतुभ्यः पृथगात्मसिद्धिः 'गर्भगतरसविशेषादभिलाषादयः' इति मतस्य निरासः	६२. २४२.
रागादिदर्शनादपि पृथगात्मसद्भाव बुद्धेः पुरुषधर्मत्वे चार्वाकेण उद्भाविताया दोषाणां परिहारः	६२. २४६.
बौद्धसम्मतज्ञानप्रवाहस्य आत्मत्वनिरासः बौद्धमते कार्यकारणप्रवाहात्मकः ज्ञानसन्तान एव न संभवति	६२. २४८.
अन्वयिद्रव्याभावे सन्तानकल्पनाप्य- संभाव्या एव	६४. २५१.
कार्यकारणयोः सर्वथा भेदनिरासः साधनस्य लक्षणम्	६४. २५४.
साधनाभासस्य लक्षणम् चलाचलादिविरुद्धधर्माध्याससंभवादाने- कान्तात्मक तत्त्वम्	६४. २५७.
समवायादपि न चलादिव्यपदेशसंभवः अनेकान्तात्मकतत्त्वाभावे सकल- व्यवहाराद्यभावः	६५. २५८.
अचेतनस्यापि स्कन्धात्मन एव सप्रदेशस्य दर्शनम् न निरंशस्य	६५. २६२.
चित्रज्ञानदृष्टान्तेन स्कन्धस्य सिद्धिः स्कन्धापेक्षया एकत्वेऽपि भागानां दर्शनादर्शनस्थितिर्न विरुद्धा	६५. २६४.
स्कन्धस्य तादात्म्यमेव सम्बन्धः स्कन्धः रूपादिगुणानामभेद एव न तु रूपादिभ्यो भिन्न इति	६५. २६७.
स्कन्धस्यैकत्वेऽपि एकेन्द्रियेण तद्ग्रहणे नेन्द्रियान्तरस्य वैकल्यम् प्रमेयत्वं हेतुः अनेकान्तात्मकवस्तुसत्त्व- साधन एव साधुः	६६. २६९.
अभावोऽपि प्रमेयम् भावान्तरमेव प्रभावः न तु तुच्छरूपः अग्निदृष्टान्तेन भावस्यैव अभावात्म- कत्वप्रदर्शनम्	६६. २७१.
प्रमेयत्वस्य गमकत्वे अविनाभाव एव निवृत्तवन्तम्	६६. २७२.
सत्त्व हेतुः परिणामप्रसाधकम् संवृत्तिसिद्धमपि सत्त्वं क्षणिके न संभवति	६६. २७३.

अनेकान्तात्मनि तु सत्त्व प्रतीतिसिद्धम् निराशपरमाणुरूपस्य अवयविरूपस्य वा अर्थस्य न प्रमाणतः प्रतीतिः	७०. २९७.
यद्यपि अनेकान्तात्माऽर्थः समर्थः तथापि अपेक्षातः सहकारिकारणापेक्षा भवति	७०. २९८.
परिणामाभावे कारणादुत्पत्तिर्दुष्टा अन्यानपेक्षत्वं हेतुः न विनाशप्रसाध- कमपि तु परिणामप्रसाधकम्	७०. २९९.
भेदाभेदात्मनोऽर्थस्य स्वस्वरूपतया प्रमाणतः लोकतश्च प्रतीतिः	७०. ३०१.
सत्त्व हेतुः न क्षणिकत्वादिप्रसाधकम् अन्यथानुपपत्तिविरहात्	७०. ३०२.
स्थूलाद्याकारो नारोपितः किन्तु वास्तवः 'अणवः क्षणिकात्मानः स्पष्टावभासिनः' इति बौद्धमतस्योपहासः	७१. ३०३.
विकल्पबुद्धौ यत्प्रतिभाति स्थूलादिरूप तदेव वस्तुस्वरूपम्	७१. ३०४.
ज्ञानस्य स्वपरनिर्णयात्मकत्वेऽपि न प्रतिक्षणपरिणामादेः साकार्यम्	७१. ३०५.
अप्रत्यक्षाणामपि क्षणपरिणामादीनां प्रमाणान्तरेण प्रतिभासः	७१. ३१०.
ज्ञानं स्वरूपवत् परमपि प्रकाशयति चित्रज्ञानस्यापि क्षणिकस्य अप्रतिभासनात्	७१. ३११.
जीव अनावृतः सन् सर्वार्थग्राही भवति जीवे न सदृशापरापरोत्पत्तेः प्रत्यभिज्ञानम् अपि तु एकत्वात्	७२. ३१३.
त्रैरूप्यखड्गनपुरस्सरम् अन्यथानुपपत्ति- रूपस्यैकलक्षणस्य उपसंहारः	७२. ३१४.
अनुमानान् हेतुसम्बन्धप्रतिपत्तिः अनलधूमाद्योः वास्तव एव कार्यकारण- भावः	७२. ३१५.
अन्यथानुपपत्तिः प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां प्रतीयते	७२. ३१७.
व्याप्यव्यापकभावादिसम्बन्धावगतिः तर्काख्यप्रमाणात्	७३. ३१९.
तर्कस्य प्रामाण्यसमर्थनम् तर्कस्य श्रुतज्ञानेऽन्तर्भावः	७३. ३२०.
श्रुतज्ञानस्य बहुभेदत्वसमर्थनम् अनुपलम्भहेतोः समर्थनम्	७३. ३२१.
दृश्यानुपलम्भस्य अन्यथानुपपत्तिवलादेव गमकत्वम्	७३. ३२२.
अनुपलब्धेः प्रपञ्चः तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि तुलोन्ना-	७३. ३२३.
मरसादीनां हेतुत्वसमर्थनम् 'पात्रकेसरिस्वामिनापि हेतोः त्रैविध्यनियमः प्रतिपिद्धः' इति प्रदर्शनम्	७४. ३२४.
पूर्वचरहेतोः समर्थनम् हेत्वाभासविवेचनम्	७४. ३२५.
सत्त्वादयो न क्षणिके नित्ये वा गमका अपि तु परिणामे एव	७४. ३२६.

अन्वयस्य लक्षणम्	७६. ३४६.
क्षणिकत्वसाधनाय प्रयुक्ताः सत्त्व-कृत- कत्वादयो हेतवो विरुद्धाः	७६. ३४८.
सर्वज्ञाभावसाधने वचनादयोऽनैकान्तिकाः	७६. ३४९.
त्रैरूप्याद् गमकत्वे तु वचनादीना सद्धेतुता स्यात्	७७. ३४९.
व्यापकविरुद्धोपलब्ध्यादिनापि तद्वाधा अतो वचनादयोऽन्यथानुपपत्तिर्वैकल्यादेव अगमकाः	७७. ३५३.
विवक्षामन्तरेणापि वचनप्रवृत्तिः भवति	७७. ३५४.
विज्ञानहेतुकमेव वचनं न विवक्षाहेतुकम्	७७. ३५६.
सत्यामपि विवक्षाया सत्यहितवचन- विवक्षा निर्दोषैव	७७. ३५६.
सर्वज्ञवक्तृवचनानां यथार्थत्व पुरुषत्वादीनामपि सर्वज्ञत्वेन न विरोधः, अतस्तेऽपि सर्वज्ञाभावसाधने अनैकान्तिका एव	७८. ३५८.
संसारिणां तु ज्ञानावरणवशान्न सर्वप्रकाशसामर्थ्यम्	७८. ३६१.
परदुःखपरिज्ञानेऽपि न सर्वज्ञस्य दुःखित्वम्	७८. ३६४.
असिद्धहेत्वाभासविवेचनम्	७८. ३६५.
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धाकिञ्चित्करादिभेदैः बहुधा असिद्धहेत्वाभासः	७९. ३६५.
क्षणिकत्वसाधने सत्त्वादिकमसिद्धम्	७९. ३६७.
शब्दस्य भेदाभेदात्मकत्वसमर्थनम्	७९. ३६८.
पुद्गलपरमाणूनां परिणामभूतः शब्दः	७९. ३६९.
अकिञ्चित्करहेत्वाभासविचारः	७९. ३७०.
दूषणाभास (जाति) लक्षणम्	७९. ३७१.
धमकीर्तिसमुद्भावितद्व्युष्टादेरेकत्व- प्रसङ्गस्य दूषणाभासता	७९. ३७२.
अतो भेदाभेदात्मनि न कश्चिद्दोषः	८०. ३७३.
साधर्म्यादिसमजातीनामकथने कारणम्	८०. ३७६.
जयेतरव्यवस्थाविचारः	८०. ३७७.
धमकीर्तिकल्पितनिग्रहस्थानस्य खण्डनम्	८०. ३७९.
दृष्टान्ताभासस्य विवेचनम्	८०. ३८०.
दृष्टान्तं विनापि साध्यसिद्धिरतो न तदनुद्भावनं निग्रहस्थानम्	८०. ३८१.
वादस्य लक्षणम्	८१. ३८३.
निग्रहस्य स्वरूपम्	८१. ३८३.
वादस्य लक्षणम्	८१. ३८४.
शास्त्रान्तरं न निश्चयसनिवन्धनं किन्तु जैनशास्त्रमेव	८१. ३८६.
इति द्वितीयः अनुमानप्रस्तावः ।	
प्रवचनस्य स्वरूपम्	८१. ३८७.
पुरुषातिशये यदि सशयः कथं सुगतः सर्वज्ञत्वेनेष्टः ?	८२. ३८८.
सुगतादयः सदोपा एव	८२. ३९३.

सुगतस्य कृपापि न संभाव्या	८२. ३९३.
मिथ्याभावनातो न तत्त्वज्ञानसमुत्पत्तिः	८२. ३९४.
अनादिवासनापि न संभाव्या	८२. ३९५.
आत्मदर्शनस्य सुघटत्वान्न नैरात्म्यं साधु	८३. ३९६.
सुगतस्य करुणया स्थितिरपि न संभाव्या	८३. ३९७.
वास्तविकसन्तानस्य मोक्षकथने आत्मन एव स नामान्तरेण कथितः स्यात्	८३. ३९८.
वेदोऽपि न मोक्षप्रतिपादकः	८३. ४००.
सार्वजन्यज्ञाने सगर्भकान्त अक्षादौ चञ्चले कथमाश्वासः ?	८३. ४०१.
आगमः पौरुषेय एव	८४. ४०५.
सर्वज्ञाभावसाधने स्व-सर्वानुपलम्भौ असिद्धानैकान्तिकौ	८४. ४०६.
विप्रकृष्टार्थग्राहि ज्ञानमपि स्पष्टं भवति सत्यस्वप्नेक्षणिकादिज्ञानवत्	८४. ४०७.
आत्मनो ज्ञानस्वभावत्वेऽपि आवरणकर्म- वशान्न सर्वे सर्वदर्शिनः	८४. ४०८.
आवरणविगमे तु सर्वार्थसाक्षात्कारिता भवत्येव	८४. ४१०.
निरावरणस्य केवलिनो न पुनः कर्मबन्धः	८४. ४११.
सर्वज्ञज्ञानस्य आगमपूर्वकत्वेऽपि नान्योन्याश्रयः	८५. ४१२.
ज्योतिर्ग्राहादिगतीनां फलोपदेशकत्वादपि सर्वसाक्षात्कारित्वसिद्धिः	८५. ४१४.
अनुमेयत्वात् हेतोरपि सर्वज्ञसिद्धिः	८५. ४१५.
न ग्राहादिगतिफलोपदेशः तत्साक्षात्कारि- त्वमन्तरेण केवलं वेदात् संभाव्यः	८५. ४१६.
अनादिसम्प्रदायादेव वेदस्य यथार्थत्वनिर्णये अन्वपरम्परा, म्लेच्छादिव्यवहारस्य च यथार्थत्वप्रसङ्गः	८५. ४१७.
वेदस्य अनादित्वे दोषप्रदर्शनम्	८६. ४१८.
शब्दमात्रस्य नित्यत्वे दोषप्रदर्शनम्	८६. ४२२.
पुद्गलोपादानकत्वेऽपि शब्दस्य सूक्ष्मत्वान्न तदुपादानोपलब्धिः	८६. ४२५.
स एवायं शब्द इति प्रत्यभिज्ञानं सादृश्यात् न त्वेकत्वात्	८६. ४२५.
दर्शनस्य परार्थत्वादपि न नित्यः शब्दः	८७. ४२८.
शब्दस्य प्रामाण्यं न नित्यत्वात् किन्तु तदर्थवेदिपुरुषपूर्वकत्वात्	८७. ४२९.
सकेतो हि व्यवहारानुसारेण बहुधा	८७. ४३०.
शब्दस्य न स्वतः सर्वार्थयोग्यता	८७. ४३१.
संकेतानुसारेणैव अर्थप्रत्यायकत्वं शब्दस्य	८७. ४३२.
सौगतमते न वर्णपदवाक्यव्यपदेशंभवः	८८. ४३३.
जैनमते तु परिणामी शब्दः श्रोत्रगोचरः	८८. ४३४.
शब्दस्य अपौरुषेयत्वे दोषप्रदर्शनम्	८८. ४३६.
पौरुषेयोऽपि शब्दः सम्यग्ज्ञानाङ्कुशित एव सत्यार्थप्रतिपादकः	८८. ४३६.
सत्यस्य स्वरूपम्	८८. ४३७.
मोक्षमार्गविषयभूतानां जीवादितत्त्वानां स्वरूपनिरूपणम्	८८. ४३८.

आश्रवबन्धसंभवप्रकारः	८९. ४४२.	ज्योतिर्ज्ञानाद्युपदेशकत्वादपि	
तत्त्वज्ञानात् कर्मसवरनिर्जराप्रकारः	८९. ४४३.	सर्वज्ञत्वसिद्धिः	९२. ४६६.
दोषाणां स्वरूपम्	८९. ४४५.	शास्त्रप्रणयनं तद्विषयानुपदेशालिङ्गा-	
नैरात्म्यभावनातो न किञ्चित्फलम्	८९. ४४५.	नन्वव्यतिरेकाविसवादित्वविशेषण-	
नैरात्म्यभावनाया न मार्गत्व न च		विशिष्टमेव सर्वज्ञत्वप्रमाधकम्	९२. ४६७.
तत्र मैत्र्यादिसंभावना	८९. ४४६.	न सुगतादीनां शास्त्रप्रणेतृत्वम् ✓	९२. ४६८.
जैनमते तु सम्यग्दर्शनादिषु प्रमोदादेः		शास्त्रमपि सर्वज्ञपूर्वकतया	
संभवात्	८९. ४४७.	प्रमाणं न अपौरुषेयम्	९२. ४६८.
सुगतस्य न करुणादिसंभवः ✓	८९. ४४८.	प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण प्रमाणविभागः	९२. ४६९.
जैनमते मोक्षस्य स्वरूपम्	८९. ४४९.	स्मरणप्रामाण्यप्रदर्शनम्	९२. ४७०.
एकान्तनित्यत्वेऽपि न मोक्षस्य संभावना	८९. ४५०.	तर्कस्य प्रामाण्यसमर्थनम् ✓	९२. ४७१.
सप्तभंगिस्वरूपनिरूपणम्	९०. ४५१.	नैयायिकपरिकल्पितोपमानस्य लक्षणम्	९२. ४७२.
सप्तभंगानां क्रमनिरूपणम्	९०. ४५२.	यद्युपमानस्य पृथक् प्रामाण्यं तदा	
स्यात्पदप्रयोगसाफल्यप्रदर्शनम्	९०. ४५३.	अनेकधा प्रमाणानि स्युः	९३. ४७२.
प्रतीतार्थस्यापि स्यात्पदस्य प्रयोगः		स्मरणादिकं श्रुतज्ञानेऽन्तर्भूतम् ✓	९३. ४७३.
लोकव्यवहारानुसारेण कर्तव्यः	९०. ४५४.	सम्प्रदायाविच्छेदादागमस्य प्रामाण्यम्	९३. ४७४.
स्यात्कारार्थं मन्दमतीन् प्रति-		मतिज्ञानादीनां प्रत्यक्षपरोक्षतया	
स्यात्पदप्रयोगः सफल एव	९०. ४५६.	प्रविभागः	९३. ४७४.
स्याद्वादे शशयादिदोषप्रसंगपरिहारः	९१. ४५८.	मतिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं लोकव्यवहारापेक्षया	९३. ४७४.
जैनागम एव प्रमाणम् ✓	९१. ४६०.	स्याद्वादः प्रमाणम्	९३. ४७५.
सर्वज्ञत्वादिगुणाभावे न		प्रमाणस्य साक्षात्परम्परया च	
आगमप्रामाण्यसंभावना	९१. ४६२.	फलनिरूपणम्	९३. ४७६.
गुणाधीनमेव प्रवचनस्य प्रामाण्यम्	९१. ४६३.	नयानां विवरणं नयचक्रग्रन्थे द्रष्टव्यम्	९३. ४७७.
प्रवचनस्य प्रामाण्ये सर्वज्ञत्वसिद्धिः	९१. ४६४.	प्रवचनस्य प्रयोजनप्रदर्शनम्	९३. ४७८.
ज्ञस्वभावस्यात्मनो ज्ञानवरणपरिक्षये		केवलज्ञानार्थमेव स्याद्वाद उपास्य इति	
सार्वज्ञ्यं समुत्पद्यते	९१. ४६६.	केवलज्ञानस्वरूपनिरूपणम्	९४. ४७९.
		शासनाराधनायाः फलनिरूपणम्	९४. ४८०.

§ ३. प्रमाणसंग्रहस्य विषयानुक्रमः

मगलाचरणम्	९७. १.	प्रत्यक्षानुपलम्भतः तर्कसमुद्भूतिः	१००. ५.
प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण प्रमाणानां संग्रहः	९७. ४.	प्रत्यक्षानुमानाभ्यां न व्याप्तिग्रहः	१००. ९.
प्रत्यक्षस्य लक्षणम्	९७. ५.	उत्पत्तिमता न नित्यं निमित्तम्	१००. १७.
प्रत्यक्षस्य त्रिधा विभागः	९७. ५.	अवयविनो वृत्तिविकल्पादिदोष-	
श्रुतस्य प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तकतया		प्रदर्शनम्	१००. २६.
त्रैविध्यम्	९७. ६.	कुतर्कस्य लक्षणम् ✓	१०१. ३.
अर्थानुकारिणो ज्ञानस्य न प्रामाण्यम्	९७. ९.	विवक्षातो वाचोवृत्तिस्वीकारः कुतर्कः	१०१. ४.
चक्षुरादिज्ञानस्य सामान्यविशेषात्म-		विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तिः	
कार्यविषयत्वम्	९७. १८.	गुणदोषवती भवति	१०१. ७.
ज्ञानं सदर्थनियतम्	९८. ९.	शरीरमपि न गुणदोषकारणम्	१०१. ९.
प्रमाणस्य तत्त्वार्थनिर्णयः फलम्	९८. ९.	दोषावरणयोरपि न वाग्धेतुता	१०१. १०.
अतीन्द्रियज्ञानाभावे न प्रवचनस्य		परोक्षेऽपि अविनाभावसिद्धिः	१०१. १६.
प्रमाणता	९८. २५.	तर्कस्य प्रामाण्यप्रसाधनम् ✓	१०१. १९.
मुख्यप्रत्यक्षस्य लक्षणम्	९९. ११.	'नाप्रत्यक्षमनुमानव्यतिरिक्तं मानम्'	
अर्थसंवादात् स्मृतिः प्रमाणम्	९९. १५.	इत्यस्य खण्डनम् ✓	१०१. २४.
प्रत्यभिज्ञापि प्रमाणम्	९९. २०.	साध्यस्य लक्षणम्	१०२. १.
तर्कस्य लक्षणम्	१००. ५.	साध्याभासस्य लक्षणम्	१०२. २.

सदसदेकान्तयोः न साध्यत्वम्	१०२. ५.	सर्वथा नित्ये सत्त्वं हेतुविरुद्धः	१०७. २१.
साधनस्य लक्षणम्	१०२. ९.	विरुद्धस्य लक्षणम्	१०७. २३.
नित्यसर्वगतस्वभावसामान्यस्य न साध्यत्वम्	१०२. २०.	कौटस्थ्ये विक्रियाविरोधः	१०८. ४.
एकस्य चलाचलादिविरुद्धधर्माध्यासादनेकान्तात्मकता	१०२. २५.	अचलात्मनि प्राणादीनां सत्त्वं विरुद्धम्	१०८. १९.
सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि संगयादिदोषपरिहारः	१०३. ४.	अचलात्मनि सन्निवेशादि विरुद्धम्	१०८. २३.
अभावस्य प्रमेयत्वं भावस्य च अप्रमेयत्वं नास्ति	१०३. १९.	अचलात्मनि चक्षुरादीनां सत्त्वं विरुद्धम्	१०८. २७.
‘एकं चित्रम्’ इति धमकीर्त्तेः आक्षेपस्य परिहारः	१०३. २८.	अचलात्मनि शब्दादीनां सत्त्वं विरुद्धम्	१०८. ३०.
सति अविनाभावे त्रैरूप्यं निरर्थकम्	१०४. ३.	अचलात्मनि मुखादीनां सत्त्वं विरुद्धम्	१०९. १.
कृतिकोदयादिहेतूनां त्रैरूप्याभावेऽपि गमकत्वम्	१०४. ५.	सहोपलम्भनियमः विरुद्धः	१०९. ३.
कृतिकोदयादिपु न कालादीनां धर्मित्वम्	१०४. ५.	कर्तुरस्मरणादयः सन्दिग्धाः	१०९. ६.
सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादित्य स्यापि गमकत्वम्	१०४. ६.	अनैकान्तिकभेदा निश्चितसन्दिग्धादयः	१०९. १२.
विधौ साध्ये उपलब्धयः	१०४. १६.	वक्तृत्वादिति हेतुः अनैकान्तिकः	१०९. १३.
स्वभावोपलब्धिः	१०४. १९.	असिद्धहेत्वाभासनिरूपणम्	१०९. २१.
स्वभावकार्योपलब्धिः	१०४. २१.	सहोपलम्भस्य खण्डनम्	१०९. २५.
स्वभावकारणोपलब्धिः	१०४. २३.	स्वसर्वोपलम्भयोः अनैकान्तिकासिद्धत्वम्	११०. ३.
सहचरोपलब्धिः	१०४. २५.	अकिञ्चित्करहेत्वाभासनिरूपणम्	११०. ६.
सहचरकार्योपलब्धिः	१०४. २६.	अज्ञातस्य हेत्वाभासस्य निदर्शनम्	११०. ९.
सहचरकारणोपलब्धिः	१०४. २८.	सर्वथा नित्येऽर्थक्रियाऽभावसमर्थनम्	११०. १८.
असद्व्यवहाराय अनुपलब्धयः	१०५. १.	विरुद्धाव्यभिचारिणो विरुद्धेऽन्तर्भावः	१११. ५.
स्वभावानुपलब्धिः	१०५. २.	वादस्य लक्षणम्	१११. १५.
कार्यानुपलब्धिः	१०५. ४.	सर्पदृष्टान्तेन भावस्य परिणामित्वप्रसाधनम्	११२. ११.
कारणानुपलब्धिः	१०५. ५.	उत्पादादित्रयात्मकत्वसमर्थनम्	११२. १५.
स्वभावसहचरानुपलब्धिः	१०५. ८.	उत्पादादिपु विनाशादिसमर्थनम्	११३. ५.
सहचरकार्यानुपलब्धिः	१०५. ९.	जयपराजयव्यवस्था	११३. ६.
सहचरकारणानुपलब्धिः	१०५. ११.	जातेर्लक्षणम्	११३. २२.
सद्वृत्तिनिषेधाय विरुद्धोपलब्धयः	१०५. १६.	अचलात्मनि सत्त्वादयः सिद्धसेन-देवनन्दि-समन्तभद्रमतेन असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिकात्मकाः	११३. २१.
स्वभावविरुद्धोपलब्धिः	१०५. १७.	स्वपररूपेण भावाभावात्मकत्वम्	११४. ६.
कार्यविरुद्धोपलब्धिः	१०५. १९.	गुण्यादीनां जाड्यहेतुत्वम्	११४. २२.
कारणविरुद्धोपलब्धिः	१०५. २०.	प्रतिज्ञासाधनत्वादीनामलोकनिवन्धनत्वम्	११४. २६.
व्याप्यसिद्धिः व्यापकसाधिनी व्यापकानुपलब्धिः व्याप्याभावप्रसाधिका	१०५. २५.	निष्कलप्रत्यक्षत्वादिकस्य पशुत्वहेतुता	११४. २६.
स्वभावविरुद्धव्याप्तोपलब्धयोः व्यापकानुपलब्ध्यावन्तर्भावः	१०५. २७.	प्रेत्यभावादीनां विलोपे अलौकिकता	११४. २८.
स्वभावविरुद्धकार्यानुपलब्धयोः कार्यानुपलम्भेऽन्तर्भावः	१०५. १८.	तामसहेतुत्वम् आत्मविलोपस्य	११५. १.
अन्तर्व्यप्त्या हि गमकत्वं न बहिर्दर्शनादर्शनाम्याम्	१०६. ५.	प्राकृतहेतुत्वम् सस्कृतपदसाधुत्वविचारस्य	११५. ३.
सर्वत्र न दृष्टान्तस्यावश्यकता	१०६. १०.	प्रवचनस्य लक्षणम्	११६. ६.
सर्वथा विभुमवादो न युक्तः	१०६. २५.	पुरुषातिशयोऽज्येश्चेत् कथं तत्र सन्देहः	११६. १८.
अप्रत्यक्षोऽपि आत्मा सिद्धचित्ति सहचरहेतोः समर्थनम्	१०७. ११.	अपौरुषेय आसन्न निरर्थकम्	११७. २.
	१०७. १५.	सन्निकर्षान्न रूपज्ञानम्	११८. १.
		श्रोत्रं नाप्राप्यकारि	११८. १६.
		तत्त्वज्ञानचारित्र्ययोः मोक्षहेतुता	११९. १०.
		चेतनस्य कर्मवन्धसिद्धिः	११९. २०.
		दोषप्रभवः संसारः	११९. २८.
		मोहादिसम्बन्धादज्ञानादयः	१२०. २.
		पुद्गलद्रव्यमपि व्यावृत्त्यनुगमात्मकम्	१२१. १८.
		शरीरादिभ्यः चैतन्य पृथक्	१२१. २६.

सप्तभगीस्वरूपम्
 गवदार्थयोर्नित्य. सम्बन्धः
 सख्याकालकारकलिगतः शब्देषु भेदः
 आत्मजानादिभेदानामानन्त्यं
 नयचक्रतो ज्ञेयम्

१२२. १६. नैगमादिनयसप्तकस्य स्वरूपम्
 १२४ ७. प्रमाणनयनिक्षेपाणा स्वरूपम्
 १२४. २० ज्ञान प्रमाणं न गवदादि
 कपिलादिसिद्धान्तो नयः
 १२५. २७

१२६.
 १२७. २.
 १२७. ४.
 १२७. १७.



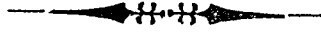
श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितम्
[अकलंकग्रन्थत्रयम्]

स्वोपज्ञविवृतिसहितम्
॥ लघीयस्त्रयम् ॥

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितम्

स्वोपज्ञविवृतिसहितम्

॥ लघीयस्त्रयम् ॥



प्रमाणप्रवेशे प्रथमः प्रत्यक्षपरिच्छेदः ।



[§ १. तत्र शास्त्रस्यादौ शास्त्रकारो निर्विघ्नेन शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलपन्नि-
ष्टदेवताविशेषं नमस्करोति—]

धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः ।
ऋषभादि-महावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥१॥

[§ २. स्वप्रमाणादिलक्षणवर्त्मनि कण्ठकशुद्ध्यर्थं निराकुर्वन्नाह—]

5

सन्तानेषु निरन्वयक्षणीकचित्तानामसत्स्वेव चेत्,
तत्त्वाहेतुफलात्मनां स्वपरसङ्कल्पेन बुद्धः स्वयम् ।
सत्त्वार्थव्यवतिष्ठते करुणया मिथ्याविकल्पात्मकः ,
स्यान्नित्यत्ववदेव तत्र समये नार्थक्रिया वस्तुनः ॥२॥

[§ ३. स्वमते प्रमाणादिलक्षणप्ररूपणार्थमिदमुपक्रमते.....अक्षुण्णसकलशास्त्रार्थ- 10
सङ्ग्रहसमर्थमादिश्लोकमाह—]

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः ।
परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति सङ्ग्रहः ॥३॥

सन्निकर्षादिरज्ञानस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् अर्थान्तरवत् । नैवै 'ज्ञानम्' इत्येव
प्रमाणम् अतिप्रसङ्गात्, संव्यवहारानुपयोगिनः संशयविपर्ययासकारणस्य अकि- 15

श्चित्करस्य च ज्ञानस्य भावाऽविरोधात् । § १) “नहि तत्त्वज्ञानमित्येव यथार्थनिर्णयसा-
धनम्” इत्यपरः; तेनापि तत्त्वनिर्णयं प्रति साधकतमस्य ज्ञानस्यैव प्रामाण्यं समर्थ्येत
वस्तुबलायाततदर्थान्तरस्यापि परम्परया तत्कारणतोपपत्तेः । तन्नाऽज्ञानस्य प्रमाणता
अन्यत्रोपचारात् । ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिनः प्रत्यक्षत्वम्, इतरस्य परोक्षता ॥३॥

5 [§ ४. के पुनर्बुद्धेर्वैशद्यावैशद्ये यदुपेतत्वेन प्रत्यक्षेतरयोर्भेदः स्यादिति चेदुच्यते—]

अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम् ।

तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम् ॥ ४ ॥

तत्र सांव्यवहारिकम् इन्द्रियाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षम् । मुख्यमतीन्द्रियज्ञानम् ।
तदस्ति सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् । यावज्ज्ञेयव्यापिज्ञान-
10 रहितसकलपुरुषपरिपत्परिज्ञानस्य तदन्तरेणानुपपत्तेः । तदभावतत्त्वज्ञो न कश्चिद-
नुपलब्धेः खपुष्पवत् । नवै जैमिनिरन्यो वा तदभावतत्त्वज्ञः सत्त्वपुरुषत्ववक्तृ-
त्वादेः रथ्यापुरुषवत् । पुरुषातिशयसम्भवे अतीन्द्रियार्थदर्शी किन्न स्यात् ?
अत्राऽनुपलम्भमप्रमाणयन् सर्वज्ञादिविशेषाभावे कुतः प्रमाणयेत् अभेदात् ? साधक-
वाधकप्रमाणाभावात् तत्र संशीतिः इत्यनेन प्रत्युक्ता; वाधकस्यैवाऽसम्भवात् ।
15 सर्वत्र बाधकाभावेतराभ्यां भावाभावव्यवहारसिद्धिः, तत्संशयादेव सन्देहः । तत
एवानुभवप्रामाण्यव्यवस्थापनात् इत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥ ४ ॥

[§ ५. ननु च इन्द्रियाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य वर्तमानमात्रपर्यवसितत्वेन हेयोपादेयाऽवि-
पयत्वात् कथं संव्यवहारनियुक्तत्वमित्यारेकायामाह—]

अक्षार्थयोगे सत्तालोकोऽर्थकारविकल्पधीः ।

20 अवग्रहो विशेषाकाङ्क्षेहाऽवायो विनिश्चयः ॥ ५ ॥

विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्यं ग्रहणम् अवग्रहः । विषयस्तावत् द्रव्यपर्या-
यात्मार्थः विषयिणो द्रव्य-भावेन्द्रियस्य । द्रव्येन्द्रियं पुद्गलात्मकम् । लब्ध्युप-
योगौ भावेन्द्रियम् । * अर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः । उपयोगः पुनरर्थग्रहणव्यापारः । *
अर्थग्रहणं योग्यतालक्षणम् । तदनन्तरभूतं सन्मात्रदर्शनं स्वविषयव्यवस्थापनविक-
25 ल्पमुत्तरपरिणामं प्रतिपद्यते अवग्रहः । पुनः अवगृहीतविशेषाकाङ्क्षणम् ईहा ।
तथेहितविशेषनिर्णयोऽवायः । कथञ्चिदभेदेऽपि परिणामविशेषाङ्गदः ॥ ५ ॥

[§ ६. अवायानन्तरं धारणामुक्त्वा चतुर्विधमतिज्ञानमुपसंहरन् कारिकार्थमाह—]

धारणा स्मृतिहेतुस्तन्मतिज्ञानं चतुर्विधम् ।

स्मृतिहेतुधारणा संस्कार इति यावत् । ईहा-धारणयोरपि ज्ञानात्मकत्वमुन्नेयं तदुपयोगविशेषात् ।

[§ ७. इदानीं स्वसंविदामपि ब्रह्मादिभेदमवग्रहादिकम् अवग्रहादीनाञ्च पूर्वपूर्वस्य प्रमाणत्वे फलत्वमुत्तरोत्तरस्य दर्शयन्नाह—]

ब्रह्माद्यवग्रहाद्यष्टचत्वारिंशत्स्वसंविदाम् ॥६॥

5

पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम् ।

परमार्थैकसंविद्येववेदकाकारयोः प्रमाणफलव्यवस्थायां क्षणभङ्गादेरपि प्रत्यक्षत्वं प्रसज्येत । ततः किम् ? गृहीतग्रहणात् संवृतिवत्तदनुमानं प्रमाणं न स्यात् । तदनयोः समारोपव्यवच्छेदाविशेषात् संवृतेरपि प्रमाणान्तरत्वं स्यात् । सर्वस्यैव निर्विकल्पकज्ञानस्य समारोपव्यवच्छेदाकाङ्क्षिणः प्रमाण्यं न स्यात् ततः संव्यवहाराभावात् । अर्थक्रियार्थी हि प्रमाणमप्रमाणं वाऽन्वेपते । रूपादिक्षणक्षयादिस्फुटप्रतिभासाविशेषात् खण्डशः प्रमाण्यं यदपेक्षं तदेव फलं युक्तम् । तच्च तत्स्तत्कृतो न भवति, भावे वा निर्णीतिः अखण्डशः कुतो न भवेत् ? बहुबहुविधक्षिप्रानिसृताऽनुक्तध्रुवेतरविकल्पानामवग्रहादेः स्वभावभेदान्न विरुद्ध्यते । प्रतिभासभेदेऽपि स्वभावभेदाभावकल्पनायां क्रमवृत्तिधर्माणामपि तथा भावात् कुतः क्रमः सुखदुःखादिभेदो वा परमार्थतः प्रतिष्ठापयेत् सहप्रतिभासवत् ? तदयमेकमनेकाकारं क्षणिकज्ञानं कुतश्चित्प्रत्यासत्तेः प्रतिभासभेदानामुपयन् क्रमवर्तिनामपि तथैकत्वं प्रतिपत्तुमर्हति हर्षविपादादीनाम्, अतोऽनेकान्तसिद्धिः । प्रमाणफलयोः क्रमभेदेऽपि तादात्म्यमभिन्नविषयत्वञ्च प्रत्येयम् ॥६॥

इति भट्टाकलङ्कविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रोदये (? लघीयस्त्रये) प्रमाणप्रवेशः (शे) प्रथमः परिच्छेदः ॥ 20



प्रमाणप्रवेशे द्वितीयः प्रमेयपरिच्छेदः ।



[§ ८. समीचीनश्च विषयः प्रमाणस्य यादृशो भवति तं दर्शयन् प्रकृतमर्थञ्चोपसंहरन्नाह—]

तद्रूपपर्यायात्मारथो बहिरन्तश्च तत्त्वतः ॥७॥

भेदाभेदैकान्तयोरनुपलब्धेः अर्थस्य सिद्धिरनेकान्तात् । नान्तर्बहिर्वा स्वल-

१ 'प्रमाण' नास्ति ई० । २-तस्तत्ततो इत्यपि पाठ न्यायकु० । ३ विरुद्धचेत् ज० । ४ क्रमभावेऽपि न्यायकु० । ५ इति प्रत्यक्षप्रतिपादकः प्रथमः परिच्छेदः सम्पूर्णः । ई० । ६ ज०, ई० प्रत्यो. सन्धिवाक्येषु क्वचित् न्यायकुमुदचन्द्रस्य न्यायकुमुदचन्द्रोदयस्य बोल्लेख लघीयस्त्रयव्याख्याभूतस्य प्रभाचन्द्रकृतन्यायकुमुदचन्द्रस्य भूमादेव जातः । -सम्पा० ।

क्षणं सामान्यलक्षणं वा परस्परानात्मकं प्रमेयं यथा मन्यते परैः; द्रव्यपर्यायात्म-
नोऽर्थस्य बुद्धौ प्रतिभासनात् । न केवलं साक्षात्करणमेकान्ते न संभवति; अपितु—

—अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः ।

क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता ॥८॥

- 5 'अर्थक्रियासमर्थं परमार्थसत्' अङ्गीकृत्य स्वपक्षे पुनरर्थक्रियां स्वयमेव निरा-
कुर्वन् कथमनुमत्तः ? स्वभूतिमात्रमर्थक्रियां विपक्षेऽपि कथं निरस्येत्, मिथ्याव्य-
वहारं वा ? संवित्तेरभेदेऽपि विषयाकारस्यैव विषयसाधनत्वं नाकारान्तरस्य । ततः—

[§ ६. तस्माद् विषयाकारस्य विषयसाधनत्वात्—]

नाभेदेऽपि विरुद्धयेत् विक्रिया विक्रियैव वा ।

- 10 परमार्थैकत्वेऽपि मिथ्याव्यवहारभेदात् ज्ञानस्यानेकार्थक्रियाकारिणः प्रति-
भासाः परमार्थासंवेदिनः तत्त्वं भेदाभेदात्मकं साधयन्ति ।

[§ १०. एवं तावत् सौत्रान्तिकमतमनेकान्तनान्तरीयकं प्रदर्श्य साम्प्रतं योगाचारमतं
तन्नान्तरीयकं प्रदर्शयन्नाह—]

मिथ्येतरात्मकं दृश्यादृश्यभेदेनरात्मकम् ॥९॥

- 15 चित्तं सदसदात्मैकं तत्त्वं साधयति स्वतः ।

चित्रनिर्भासिनः तत्त्वमविभागविज्ञानस्य दृश्यं यदि क्रमेणापि सदसदात्मकं
विवर्त्तेत ततः सिद्धं द्रव्यपर्यायात्मकम् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं वस्तुतत्त्वमन्तर्बहिश्च
प्रमेयम् । एकान्तस्यानुपलब्धेः तदनेकान्तात्माऽर्थः इति ॥९॥

इति श्रीभट्टाकलङ्कविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रोदये (? लघीयस्त्रये) परपरिकल्पितद्रव्यखण्डनमने-
कान्तनयेन द्रव्यव्यवस्थापनं नाम द्वितीयः परिच्छेदः ॥

20



प्रमाणप्रवेशे तृतीयः परोक्षपरिच्छेदः ।



[§ ११. अथेदानीं परोक्षप्रमाणप्ररूपणायाह—]

ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता वा (चा) भिनिर्वोधिकम् ॥१०॥

प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ।

१ 'अविक्रियैव वा' इत्यपि पाठः न्यायकु० । २-गज्ञान- न्यायकु० । ३ इति न्यायकुमुदचन्द्रे (?)

प्रमेयस्वरूपप्रतिपादकः द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः । ई० । ४-बोधकम् ई० । -बोधनम् मु० लघी० ।

अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा । स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्य-
वमर्शस्य । संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य । चिन्ता अभिनिबोधस्य अनुमानादेः । प्राक्
शब्दयोजनात् शेषं श्रुतज्ञानमनेकप्रभेदम् ॥१०॥

[§ १२. ननु व्याप्तिप्रतीत्यर्थं तर्कलक्षणप्रमाणाभ्युपगमोऽनुपपन्नः प्रत्यक्षतोऽनुमानतो
वा तस्याः प्रतीतिसिद्धेः इत्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह—]

5

अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित्सम्प्रतीयते ॥११॥

नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणान्तरमाञ्जसम् ।

नहि प्रत्यक्षं 'यावान् कश्चिद्धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं
नार्थान्तरस्य' इतीयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारक-
त्वात् । नाप्यनुमानान्तरम् ; सर्वत्राऽविशेषात् । नहि साकल्येन लिङ्गस्य लिङ्गिना
व्याप्तेरसिद्धौ क्वचित् किञ्चिदनुमानं नाम । § २) "तत्राप्रत्यक्षमनुमानव्यतिरिक्तं प्रमा-
णम्" इत्युक्तम् ; लिङ्गप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वात् ॥११॥

10

[§ १३. कीदृशं तदनुमानमित्याह—]

लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात् ॥१२॥

लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिवुद्धयः ।

15

नहि तादात्म्यतदुत्पत्ती ज्ञातुं शक्येते विनाऽन्यथानुपपत्तिवितर्केण, ताभ्यां
विनैव एकलक्षणसिद्धिः । नहि वृक्षादिः छायादेः स्वभावः कार्यं वा । नचात्र विसं-
वादोऽस्ति ॥१२॥

[§ १४. अत्रैवार्थे दृष्टान्तान्तरमाह—]

चन्द्रादेर्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथानुमा ॥१३॥

20

नहि जलचन्द्रादेः चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा ॥१३॥

[§ १५. अपरमपि कार्यादिभ्योऽर्थान्तरं हेतुमुपदर्शयति—]

भविष्यत्प्रतिपद्येत शकटं कृतिकोदयात् ।

श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति ॥१४॥

तदेतद्भविष्यद्विषयमविसंवादकं ज्ञानं प्रतिबन्धसङ्ख्यां प्रमाणसङ्ख्याञ्च प्रति- 25
रुणाद्धि ॥१४॥

[§ १६. अथेदानीम् 'दृश्यानुपलब्धिरेव गमिका नान्या संशयहेतुत्वात्' इति नियमं निराकुर्वन्नाह—]

अदृश्यपरचित्तादेरभावं लौकिका विदुः ।

तदाकारविकारादेरन्यथानुपपत्तिनः ॥१५॥

- 5 अदृश्यानुपलब्धेः संशयैकान्ते न केवलं परचित्ताभावो न सिद्ध्यति अपि तु स्वचित्तभावश्च; तदनंशतत्त्वस्य अदृश्यात्मकत्वात् । तथा च कुतः परमार्थसतः क्षणभङ्गासिद्धिः ? तद्विपरीतस्य अभेदलक्षणस्यैव स्यात् ॥१५॥

[§ १७ ननु चाभेदलक्षणतत्त्वस्य सविकल्पकप्रत्यक्षेण सर्वात्मना प्रतिपन्नत्वात् किं तत्र क्षणभङ्गाद्यनुमानेन ? इत्याशङ्कापनोदार्थमाह—]

- 10 वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्यक्षणभङ्गाद्यवीक्षणम् ।

स्वसंविद्धिपयाकारविवेकानुपलम्भवत् ॥१६॥

- स्थूलस्यैकस्य दृश्यात्मन एव पूर्वापरकोट्योरनुपलम्भात् अभावसिद्धेरनित्यत्वं बुद्धेरिव वेद्यवेदकाकारभेदस्य परमार्थसत्त्वम्, न पुनः परिमण्डलादेर्विज्ञानाऽनंश-
तत्त्ववत् । नापि क्षणिकपरिमण्डलादेरविभागज्ञानतत्त्वस्य वा जातुचित्स्वयमुपलब्धिः
15 तथैवाऽप्रतिभासनात् । तत्कथञ्चित् तत्स्वभावप्रतिभासे अनेकान्तसिद्धिः ॥१६॥

[§ १८. एवं परस्य अनुपलब्धिं निराकृत्य अधुना स्वभावादिहेतुं निराकुर्वन्नाह—]

अनंशं बहिरन्तश्च प्रत्यक्षं तदभासनात् ।

कस्तत्स्वभावो हेतुः स्यात् किं तत्कार्यं यतोऽनुमा ॥१७॥

- साक्षात्स्वभावमप्रदर्शयतो निरंशतत्त्वस्यानुमितौ स्वभावहेतोरसम्भवः स्वभा-
20 वविप्रकर्षात् । तत एव कार्यहेतोः; कार्यकारणयोः सर्वत्रानुपलब्धेः । न चात्र प्रत्य-
क्षानुपलम्भसाधनः प्रभवः कार्यव्यतिरेकोपलक्षिता वा कारणशक्तिः, तदङ्गीकरणं
प्रमाणान्तरमन्तरेणानुपपन्नम् । स्वयमुपलब्धस्य प्रागूर्ध्वं चानुपब्धेः कृतकत्वाद-
नित्यत्वं सिद्ध्येन्नान्यथा ॥१७॥

- [§ १९. यतो विकल्पबुद्धौ सिद्धायां तत्कल्पितोऽखिलोऽयं व्यवहारः स्यात्, न च
25 तत्सिद्धिः स्वतः परतो वा घटते इत्यावेदयति—]

धीर्विकल्पाविकल्पात्मा बहिरन्तश्च किं पुनः ।

निश्चयात्मा स्वतः सिद्ध्येत् परतोऽप्यनवस्थितेः ॥१८॥

सर्वविज्ञानानां स्वसंवेदनं प्रत्यक्षमविकल्पं यदि; निश्चयस्यापि कस्यचित्

स्वत एवाऽनिश्चयात् । निश्चयान्तरपरिकल्पनायामनवस्थानात् कुतः तत्संव्यवहार-
सिद्धिः ? ततः स्वार्थेऽपि कथञ्चिदभिलापसंसर्गयोग्यायोग्यविनिर्भासैकज्ञानं प्रति-
पत्तव्यं स्वरूपवत् ॥१८॥

[§ २०. एवं परं प्रति तर्कादिकं प्रमाणान्तरं प्रतिपाद्य इदानीमुपमानस्य प्रमाणान्तर-
त्वनियमं विधुरयन्नाह—]

5

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् ।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम् ॥१९॥

प्रसिद्धार्थसाधर्म्यमन्यथानुपपन्नत्वेन निर्णीतश्चेत् लिङ्गमेव, ततः प्रतिपत्तिर-
न्यथा न युज्यते । प्रत्यक्षेऽर्थे संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वे वृक्षोऽयमिति
ज्ञानं वृक्षदर्शिनः प्रमाणान्तरम् गवयोऽयमिति यथा गवयदर्शिनः, प्रसिद्धार्थसाध- 10
र्म्यात् साध्यसिद्धेरभावात् गौरिव गवयः इति श्रुत्वा गवयदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्ति-
वत् । प्रत्यक्षेषु इतरेषु तिर्यक्षु तस्यैव पुनरगवयनिश्चयः किन्नाम प्रमाणम् ? हानो-
पादानोपेक्षाप्रतिपत्तिर्फलं नाप्रमाणं भवितुमर्हति ॥१९॥

[§ २१ तथा अपरमपि परस्य अनिष्टं प्रमाणं दर्शयन्नाह—]

प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा सम्बन्धप्रतिपद्यतः ।
तत्प्रमाणं न चेत्सर्वमुपमानं कुतस्तथा ॥२०॥

15

आगमाहितसंस्कारस्य तदर्थदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः साकल्येन प्रमाणम-
प्रमाणं वा न पुनरुपमानमेव । यथा एतस्मात्पूर्वं पश्चिममुत्तरं दक्षिणं वा ग्रामधानकमे-
तन्नामकमित्याहितसंस्कारस्य पुनस्तदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः । कश्चायं निश्चयः
संज्ञासंज्ञिसम्प्रतिपत्तिसाधनमेव समक्षेऽर्थे प्रमाणान्तरं न पुनः सङ्ख्यादिप्रतिपत्ति- 20
साधनमिति ? ॥२०॥

[§ २२. एतदेव दर्शयन्नाह—]

इदमल्पं महद् दूरमासन्नं प्रांशु नेति वा ।
व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥२१॥

दृष्टेर्बर्थेषु परस्परव्यपेक्षालक्षणम् अल्पमहत्त्वादिज्ञानम् अधरोत्तरादिज्ञानं 25
द्वित्वादिसङ्ख्याज्ञानम् अन्यच्च प्रमाणम्, अविसम्बादकत्वात् उपमानवत् । अर्थाप-

चिरनुमानात् †प्रमाणान्तरं नवेति किन्नश्चिन्तया सर्वस्य परोक्षेऽन्तर्भावात्† । तत्स-
मज्जसं प्रत्यक्षं परोक्षं चेति द्वे एव प्रमाणे अन्यथा तत्सङ्ख्यानवस्थानात् ॥२१॥

इति श्रीमद्भट्टकलङ्कविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रोदये (? लघीयस्ये) परपरिकल्पितानु-
मानादिग्वण्डने स्वमतपूर्णीतप्रमाणद्वयव्यवस्थापने तृतीयः परिच्छेदः ॥



प्रमाणप्रवेशे चतुर्थः आगमपरिच्छेदः ।



[§ २३. अथ प्रमाणाभासत्वेन प्रसिद्धं विज्ञानं कथञ्चिदेव तदाभासं न सर्वथेति
प्रदर्शयन्नाह—]

प्रत्यक्षाभं कथञ्चित्स्यात् प्रमाणं तैमिरादिकम् ।

यद्यथैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् ॥२२॥

10 तिमिराद्युपलवज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकं प्रमाणम् यथा तत्सङ्ख्यादौ विसम्वा-
दकत्वादप्रमाणं प्रमाणेतरव्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात् । नहि ज्ञानं यदप्यनुकरोति
तत्र प्रमाणमेव समारोपव्यवच्छेदाकाङ्क्षात् । कथमन्यथा दृष्टे प्रमाणान्तरवृत्तिः
कृतस्य करणयोगात् ? तदेकान्तहानेः कथञ्चित्करणानिष्टेः । तदस्य विसंवादोप्य-
वस्तुनिर्भासात् चन्द्रादिवस्तुनिर्भासानाम् अविसम्वादकत्वात् ॥२२॥

15 [§ २४. साम्प्रतं कल्पनापदेन यत्परेण तदाभासमुक्तं तदपि प्रत्यक्षं साधयन्नाह—]

स्वसंवेद्यं विकल्पानां विशदार्थावभासनम् ।

संहताशेषचिन्तायां सविकल्पावभासनात् ॥२३॥

20 सर्वतः संहृत्य चिन्तां स्तिमितान्तरात्मना स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं संस्थानात्मकं
स्थूलात्मकमेकं सूक्ष्मानेकस्वभावं पश्यति न पुनः असाधारणैकान्तं स्वलक्षणम् ।
प्रतिसंहारव्युत्थितचिन्तास्य तथैवाऽस्मरणात् । तस्मादविशदमेव अविकल्पकं प्रत्य-
क्षाभम् । न विशदेतरविकल्पयोः विषयभेदैकान्तः प्रत्यासन्नेतरार्थप्रत्यक्षाणाम्
एकार्थवियपतोपपत्तेः ॥२३॥

[§ २५. न हीमाः कल्पना अप्रतिसंविदिता एवोदयन्ते व्ययन्ते च यतः सत्योऽप्यनु-
पलक्षिताः स्युरिति । तद्दूषयन्नाह—]

प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययाः सत्योपि कल्पनाः ।

प्रत्यक्षेषु न लक्ष्येरस्तत्स्वलक्षणभेदवत् ॥२४॥

सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् तद्विशेषादर्शिनोऽनवधारणम् असमीक्षिताभिधानम् ; सर्वथा तत्सादृश्यानिष्टेः । प्रतिसंहारैकान्तः संभवति न वेति चिन्त्यमेतत् । कथञ्च प्रत्यक्षबुद्धयः सर्वथाऽविकल्पाः पुनर्विकल्परन् ? ॥२४॥

5

[§ २६. ततः स्थितमर्थमुपदर्शयन्नाह—]

अक्षधीः स्मृतिसंज्ञाभिश्चिन्तयाऽऽभिनिबोधिकैः ।

व्यवहाराविसंवादस्तदाभासस्तनोऽन्यथा ॥२५॥

प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञोहानुमानादिभिः अविसंवादसिद्धेः अर्थेषु तत्प्रामाण्यम्, अन्यथा तदाभासव्यवस्था । तथैव श्रुतज्ञानतदाभासव्यवस्था ॥२५॥

10

[§ २७. ननु श्रुतज्ञान प्रमाणमेव न भवति तत्कथं तद्व्यवस्था इत्याशङ्क्याह—]

प्रमाणं श्रुतमर्थेषु सिद्धं द्वीपान्तरादिषु ।

अनाश्वासं न कुर्वीरन् क्वचित्तद्व्यभिचारतः ॥२६॥

श्रुतज्ञानं वक्त्रभिप्रायादर्थान्तरेऽपि प्रमाणम् । कथमन्यथा द्वीपदेशनदीपर्वतादिकमदृष्टस्वभावकार्यं दिग्विभागेन देशान्तरस्थं प्रतिपत्तुमर्हति निरारेकमविसंवादं च ॥२६॥

15

[§ २८. ननु चार्थाभावेऽपि श्रुतेः प्रायः प्रवृत्तिदर्शनान्न कचिदप्यसौ प्रमाणमित्याशङ्क्याह—]

प्रायः श्रुतेर्विसंवादात् प्रतिबन्धमपश्यताम् ।

सर्वत्र चेदनाश्वासः सोऽक्षलिङ्गधियां समः ॥२७॥

20

नहि इन्द्रियज्ञानम् अभ्रान्तमव्यभिचारीति वा विशेषणमन्तरेण प्रमाणम् अतिप्रसङ्गात् । तथाविशेषणे श्रुतज्ञाने कोऽपरितोषः ? यथा कृतिकादेः शकटादिज्ञानं स्वभावप्रतिबन्धमन्तरेण तथैवादृष्टप्रतिबन्धार्थाभिधानं ज्ञानमविसंवादकम् । नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । क्वचिद् व्यभिचारे साकल्येनाऽनाश्वासे वक्त्रभिप्रायेऽपि वाचः कथमनाश्वासो न स्यात् तत्रापि व्यभिचारसम्भवात् ? तथाऽनिच्छतः श्रुतिकल्पनादुदादेः उच्चारणात् ॥२७॥

25

[§ २९. किञ्च—]

आप्तोक्तेर्हेतुवादाच्च बहिरर्थाविनिश्चये ।

सत्येतरव्यवस्था का साधनेतरता कुतः ? ॥२८॥

नहि पुरुषार्थाभिसन्धयः सर्वे^१ अर्थान् व्यभिचरन्ति, अन्यथा वागर्थव्यभिचारैकान्तसम्भवात् । वाचोऽभिप्रायविसंवादे कुतस्तदनुमानम् ? सुगतेतरयोः आप्तेतरव्यवस्थां कुतश्चित् साधनासाधनाङ्गव्यवस्थां वा स्वयमुपजीवन् § ३) “वक्तुरभिप्रेत तु वाचः सूचयन्त्यविशेषेण नार्थतत्त्वमपि” इति कथमविवक्ष्यः ? ॥२८॥

5 [§ ३० अत्राह सौगतः—वक्तुरभिप्रायेऽपि यदि वचनस्य प्रामाण्यं नास्ति, माभूत्, किन्नष्टं प्रमाणद्वयवादिनः ? व्यवहारिजनानुरोधादेव तत्र तस्य प्रामाण्याभ्युपगमात् इत्याशङ्क्याह—]

पुंसश्चित्राभिसन्धेऽथेद् वागर्थव्यभिचारिणी ।

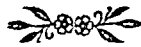
कार्यं दृष्टं विजातीयात् शक्यं कारणभेदि किम् ॥२९॥

10 श्रुतेर्वहुलं बहिरर्थाविसंवादेऽपि तदर्थप्रतिबन्धासिद्धेः वक्त्रभिप्रायानुविधायिन्याः सर्वत्र तदर्थानाश्वासः इति चेत् ; उक्तमत्र ‘तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां विनापि परोक्षार्थप्रतिपत्तेरविसंवादः’ इति । अपि च वृक्षोऽयं शिंशपात्वात् अग्निरत्र धूमादिति वा कथमाश्वासः कचिल्लताचूतादेरुपलब्धेः शिंशपायाः स्वयमवृक्षत्वेऽप्यविरोधात् ? काष्ठजन्मनो मण्यादिसामग्रीप्रभवस्य अग्निजन्मनः तदर्थान्तरजन्मनश्च साकल्येन अग्निस्वभावाविरोधे पुनः ‘अग्निजन्मैव धूमो नार्थान्तरजन्मा’ इति कुतोऽयं नियमः ?
15 यतः कार्यहेतोरव्यभिचारात् धूमादग्निरत्र इत्याश्वासः । कस्यचिदन्यथानुपपत्त्या परोक्षार्थप्रतिपत्तौ श्रुतज्ञानस्य स्वयमदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्तेः कचिदविसम्वादास्य अन्यथानुपपत्तेः सिद्धं प्रामाण्यमिति ॥२९॥

इति श्रीमद्भट्टकलङ्कविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे (? लघीयसूत्रे) परोक्तागमखण्डने

स्वप्रणीतागमस्थापने चतुर्थः परिच्छेदः ॥

20 एवमन्तर्भूतप्रत्यक्षादिपरिच्छेदचतुष्टयं प्रमाणप्रवेशं परिच्छेदं समाप्तं । न्यायकु० ।



२. द्वितीयो नयप्रवेशः ।



[§ ३१. अथ प्रमाणं परीक्ष्येदानीं नयपरीक्षार्थमुपक्रमते—]

भेदाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः ।

ये^२ तेऽपेक्षाजनपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते नयदुर्नयाः ॥३०॥

25 द्रव्यपर्यायात्मकमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् प्रमेयं वस्तुतत्त्वम्, तत्रैव कथञ्चित् प्रमाणतदाभासयोर्भेदात् । नयो ज्ञातुरभिप्रायः । स द्रव्यार्थिकः, पर्याया-

१ सर्वार्थान् ज० । २ कार्यदृष्टं ई० । ३ प्रमाणप्रवेश (शः) प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः । ई० ।

४ एते मु० लघी० ।

र्थिकश्च । द्रवति द्रोष्यति अर्दुद्रवत् इति द्रव्यम्, तदेवार्थोऽस्ति यस्य सो द्रव्या-
र्थिकः । सोऽभेदाश्रयः ॥३०॥

[§ ३२. ननु सकलभावानां देशकालाकारैरत्यन्तभेदात् नाभेदो नाम, अतः कथमसौ
अभेदाश्रयः स्यादित्यारेकापनोदार्थमाह—]

जीवाजीवप्रभेदा यदन्तर्लीनास्तदस्ति सत् ।

5

एकं यथा स्वनिर्भासि ज्ञानं जीवः स्वपर्ययैः ॥३१॥

यथैव ज्ञानस्य आत्मनिभा (निर्भा) सभेदा नैकत्वं बाधन्ते जीवस्य अजीवस्य
वा कस्यचित् स्वगुणपर्यायाः, तथैव सत्त्वस्य भेदा जीवाजीवादयः । तदेवम्—

[§ ३३. तस्मिन् सत्त्वे एवमुक्तप्रकारेण जीवाजीवात्मके स्थिते सति—]

शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति सद्ब्रह्मस्तदभेदतः ।

10

भेदानां नाऽसदात्मैकोप्यस्ति भेदो विरोधतः ॥३२॥

सर्वमेकं सदविशेषादिति सद्ब्रह्मः । सतां च स्वभावानां भावैकत्वाबाधनात् ।
नहि कश्चिदसदात्मा भेदोऽस्ति विप्रतिषेधात् । नहि किञ्चिज्ज्ञानं सद्रूपं द्रव्यमन-
वबुद्ध्य भेदं गृह्णाति नाम ॥३२॥

[§ ३४. अत्राह सौगतः—यदुक्तम्—‘यथा ज्ञानस्य आत्मनिर्भासभेदा नैकत्वं बाधन्ते’ इति; 15
तदयुक्तम्; निरंशैकज्ञानोपगमात् ‘’। पुरुषाद्वैतवाद्यपि आह—निस्तरङ्गं पुरुषमात्रं तत्त्वं
जीवाजीवप्रभेदः पुनरुपप्लवः, ततो ‘जीवस्याऽजीवस्य वा’ इत्याद्यप्ययुक्तमित्याशङ्क्याह—]

प्रत्यक्षं बहिरन्तश्च भेदाज्ञानं सदात्मना ।

द्रव्यं स्वलक्षणं शंसेद्भेदात्सामान्यलक्षणम् ॥३३॥

स्वार्थभेदानवबोधेऽपि भ्रान्तं ज्ञानं सर्वं सद्रूपेण प्रत्यक्षं द्रव्यं स्वलक्षणं 20
विद्यात्, अन्यथा भ्रान्तेरभावप्रसङ्गात् ॥३३॥

[§ ३५. ननु प्रतिक्षणविलक्षणज्ञानादिक्षणव्यतिरिक्तस्य जीवादिद्रव्यस्यासंभवात्कथं
‘द्रव्यं शंसेत्’ इत्याद्युक्तं शोभेत ? इत्याशङ्क्याह—]

सदसत्स्वार्थनिर्भासैः सहक्रमविवर्त्तिभिः ।

दृश्यादृश्यैर्विभात्येकं भेदैः स्वयमभेदकैः ॥३४॥

25

यथैकं क्षणिकं ज्ञानं सद्भिरसद्भिर्वा प्रतिभासभेदैः स्वयमभेदकैरिष्टं तथैकं द्रव्यं
सहक्रमभाविभिः स्वयमभेदकैः भेदैः दृश्यैरदृश्यैश्च अनादिनिधनमवगन्तव्यम् ।
बहिरिव ज्ञानपरमाणुसञ्चये पुनः अन्योन्यानात्मकत्वे सर्वथाऽसङ्गमव्यवस्थायामेक-
स्थूलनिर्भासविरोधात् ॥३४॥

[§ ३६. एवं प्रतिभासबलेन स्वपरमतविधिप्रतिषेधावभिधाय साम्प्रतमर्थक्रियाकारित्वबलेन तौ प्रतिपादयितुकामः प्रथमं क्षणिकैकान्ते अर्थक्रियां निराकुर्वन्नाह—]

लक्षणं क्षणिकैकान्ते नार्थस्यार्थक्रिया सति ।

कारणे कार्यभावश्चेत् कार्यकारणलक्षणम् ॥३५॥

5 सह क्रमेण वा अर्थक्रियाम् अक्षणिकस्य निराचिकीर्णः कथञ्चित्क्षणिके अर्थ-
क्रियां साधयेत्, अन्यथा तल्लक्षणं सत्त्वं ततो व्यावर्तेत । नच क्षणिकानामनिश्चया-
त्मनां भावानां प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः सिद्ध्येत् विप्रकृष्टाऽर्था-
न्तरवत् । 'यस्मिन् सत्येव यद्भावः तत्तस्य कार्यम् इतरत् कारणम्' इति लक्षणं
क्षणभङ्गे न सम्भवत्येव कार्यकारणयोः सहभावापत्तेः; अन्यथा क्षणभङ्गभङ्ग-
10 प्रसङ्गात् ॥३५॥

[§ ३७. ननु यस्मिन्निति सप्तमी कारणभावे कार्यभावं सूचयति, स च पूर्वमेव स्वसत्ताक्षणे
कारणे सति उत्तरक्षणे कार्यभावो न विरुध्यते, यथा गोषु दुह्यमानासु गतः दुग्धासु आगत इति ।
समसमयभावित्वे चानयोः कार्यकारणभावविरोधात् सव्येतरगोविपाणवत् इत्यारेकापनोदर्थमाह—]

कार्योत्पत्तिर्विरुद्धा चेत् स्वयं कारणसत्तया ।

15 युज्येत क्षणिकेऽर्थेऽर्थक्रियासम्भवसाधनम् ॥३६॥

नहि कार्योत्पत्तिः कारणस्याभावं प्रतीक्षते, यतः तदर्थक्रिया अक्षणिकत्वे विरु-
द्धेत । निष्कारणस्य अन्यानपेक्षया देशकालनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वथैव
भावानुषङ्गात् । तदयं भावाऽभावयोः कार्यकारणतां लक्षयेत् सर्वथा भावस्यैव
वा । स्वलक्षणस्य क्वचित् प्रत्यक्षानुपलम्भाऽसिद्धेः कुतः कार्यव्यतिरेकोपलक्षणं
20 कारणशक्तेः ? ॥३६॥

[§ ३८. कार्यस्य देशवत् कालेऽपि असत् एव कारणादेव उदयोपगमात्, कथमन्यथा
जाग्रद्विज्ञानात् प्रबोधः भाविमरणादेर्वा अरिष्टादिकमित्याशङ्क्याह—]

यथैकं भिन्नदेशार्थान् कुर्याद्वाप्नोति वा सकृत् ।

तथैकं भिन्नकालार्थान् कुर्याद्वाप्नोति वा क्रमात् ॥३७॥

25 यथा क्षणिकं स्वलक्षणं नानादिदेशभावीनि कार्याणि स्थानसङ्करव्यतिक-
रव्यतिरेकेण करोति तत्करणैकस्वभावत्वात् । नहि सामग्रीभेदात् कार्यभेदेऽपि
तत्कारणस्वभावभेदः । तथैकमक्षणिकं कारणं यद्यदोत्पित्सु कार्यं तत्तदैव करोति
तत्करणैकस्वभावत्वात् । सर्वदा कार्यकालानतिक्रमेण कारणसामर्थ्यात् तदात्मक-
मेकमेव इत्यविरुद्धम् । यथा विज्ञानं स्वनिर्भासभेदान् गुणी, गुणान् अवयवी अव-

यवान् व्याप्नोति सकृदपि तदात्मकत्वात् तथैव द्रव्यं स्वपर्यायभेदान् स्वयमभेद-
कत्वात्तेषां स्वभावानामिति । एवम्—

[§ ३९. तत्र परसङ्ग्रहं प्रदर्शयितुमाह—]

सङ्ग्रहः सर्वभेदैक्यमभिप्रैति सदात्मना ।

ब्रह्मवादस्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृतेः ॥३८॥

5

नहि कश्चिदसदात्मा भेदोऽस्ति विरोधात् । यद्यदात्मकं तत्तदेव यथा स्वनि-
र्भासभेदात्मकं ज्ञानम्, तस्मात्सदात्मनो भेदाः सन्मात्रमेव नान्यदिति सङ्ग्रहः तत्प्रा-
धान्यान्न तु भेदप्रतिक्षेपात् । स्वपर्यायभेदानपेक्षया तत्प्रतिरूपकत्वं ब्रह्मवादवत् ॥३८॥

[§ ४०. अधुना नैगमतदाभासप्ररूपणार्थमाह—]

अन्योन्यगुणभूतैकभेदाभेदप्ररूपणात् ।

10

नैगमोऽर्थान्तरत्वोक्तौ नैगमाभास इष्यते ॥३९॥

स्वलक्षणभेदाऽभेदयोरन्यतरस्य प्ररूपणायाम् इतरो गुणः स्यात् इति नैगमः ।
यथा जीवस्वरूपनिरूपणायां गुणाः सुखदुःखादयः, तत्प्ररूपणायां चात्मा । तद-
र्थान्तरताभिसन्धिः नैगमाभासः । कथम् ? गुणगुणिनाम् अवयवावयविनां क्रिया-
कारकाणां जातितद्भूताश्च मिथोऽर्थान्तरत्वे सर्वथा वृत्तिविरोधात् । एकमनेकत्र 15
वर्त्तमानं प्रत्येकं सर्वात्मना यदि स्यात् ; तदेकमित्येवं न स्यात् । यदि पुनः एकदे-
शेन वर्त्तेत ; तदेकदेशेष्वपि तथैव प्रसङ्गात् क्व किं वर्त्तेत ? ॥३९॥

[§ ४१. एवं गुणगुण्यादीनां भेदैकान्तं निराकृत्य सत्तातद्वतां त निराकर्तुमाह—]

स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तावत् सत्तया किं सदात्मनाम् ।

असदात्मसु नैषा स्यात् सर्वथाऽतिप्रसङ्गतः ॥४०॥

20

यथा सदर्थान्तराणि स्वतः सन्ति तथैव द्रव्यगुणकर्माण्येव सन्तु किं तत्र
सत्तासम्भावेन ? स्वतः सतां तद्वैयर्थ्यात्, असतां चातिप्रसङ्गात् । तदेवमवान्तर-
जातिष्वपि योज्यम् । गोत्वादेः सर्वगतत्वे तत्प्रत्ययसाङ्कर्यम्, अन्यथा निष्क्रियस्य
अर्थोत्पित्सुदेशमव्याप्नुवतः अनंशस्य अनेकत्र कदाचित्क्वर्चनमयुक्तम् । गुणगु-
ण्यादीनामन्योन्यात्मकत्वे न किञ्चिद्भिरुद्धमित्यलं प्रसङ्गेन । गुणानां वृत्तं चलं 25
सत्त्वरजस्तमसां सुखज्ञानादिकं चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमचलमित्येतदपि तादृगेव;
तदर्थान्तरताऽसिद्धेः, अतिप्रसङ्गाश्चैवं तदभेदे विरोधाभावात् । गुणानां दृश्यादृ-
श्यात्मकत्वे पुंसामेव तदात्मकत्वं युक्तं कृतं गुणकल्पनया ॥४०॥

[§ ४२. अधुना प्रमाणाभावात् तदाभासतां तयोर्दर्शयितुमाह—]

प्रामाण्यं व्यवहाराद्धि स न स्यात्तत्त्वतस्तयोः ।

मिथ्यैकान्ते विशेषो वा कः स्वपक्षविपक्षयोः ॥४१॥

शुद्धमशुद्धं वा द्रव्यं पर्यायं व्यस्तं समस्तं वा व्यवस्थापयता तत्साधनं
प्रमाणं मृग्यम्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । तत्प्रामाण्यं च व्यवहारेणैव, स च सङ्गहे
5 भेदाश्रयो मिथ्यैव । ततः सप्र (सः प्र) तिपक्षं कथमतिशयीत सत्येतरस्वरूपवत् ?
मिथ्यैकान्ताविशेषेऽपि तद्व्यवस्थापनमयुक्तम् ; तदुभयोपलब्धेरवितथात्मकत्वात्,
अन्यथा स्वमान्तरवत् तद्विसंवादान्न किञ्चित्प्रमाणम् । नैगमेऽपि चलं गुणप्र-
वृत्तं नित्यं चैतन्यमिति व्यवहाराऽसिद्धेः स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । नहि
§ ४) “गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।

10 यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायै(ये)व सुतुच्छकम् ॥”

इति प्रमाणमस्ति । समवायेन स्वावयवेषु अवयवी वर्त्तेत शृङ्गे गौः शाखायां
वृक्षः इति लोकव्यवहारमतिवर्त्तेत विपर्ययात् । स्वयमज्ञस्वभावात्मा ज्ञानसमवाये
कथमिव ज्ञः स्यात् ? नहि तथाऽपरिणतस्य तत्त्वम्, समवायस्यापि ज्ञत्वप्रसङ्गात् ।
नवै ज्ञानसमवायोऽस्ति समवायस्येति चेत् ; कथं स्वस्वभावरहितः सोऽस्ति, वर्त्तेत
15 वा समवायान्तराभावात् ? तदनवस्थानुपङ्गात् ॥४१॥

[§ ४३. इदानीं व्यवहारनयं दर्शयितुमाह—]

व्यवहाराविसंवादी नयः स्याद् दुर्नयोऽन्यथा ।

बहिरर्थोऽस्ति विज्ञप्तिमात्रं शून्यमितीदृशः ॥४२॥

प्रत्यक्षस्याऽपि प्रामाण्यं व्यवहारापेक्षम् । स पुनः अर्थाभिधानप्रत्यया-
20 त्मकः । कथम् ? उत्पादविगमप्रौढ्यलक्षणं सत्, गुणपर्ययवद्द्रव्यम्, जीवश्चैतन्य-
स्वभावः इति श्रुतेः । प्रमाणान्तराबाधनं पूर्वापराऽविरोधश्चाऽविसंवादः । तदपेक्षोऽयं
नयः । ततोऽन्यथा दुर्नयः । कथम् ? बहिरपि स्वलक्षणमर्थक्रियासमर्थ सदङ्गीकृत्य,
तत्प्रतिक्षेपेण विज्ञप्तिमात्रमन्तस्तत्त्वमिति प्रत्यवस्थाप्य, तदतिसूक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष-
माणं न परीक्षाक्षममिति स्वभावनैरात्म्यमसाध्यसाधनमाकुलं प्रलपन्न कचिद्व्यवतिष्ठेत
25 स्वपरविसंवादव्यसनीयेन प्रत्यक्षादिविरोधात् । तदन्यतमस्याभिमतत्वात् पुनरलं
शेषप्रलापेन ॥४२॥

[§ ४४. इदानीं ऋजुसूत्रनयं साभासं दर्शयन्नाह—]

ऋजुसूत्रस्य पर्यायः प्रधानं चित्रसंविदः ।

चेतनाणुसमूहत्वात् स्याद्भेदानुपलक्षणम् ॥४३॥

यथा वहिः परमाणवः सन्निविष्टाः स्थवीयांसमेवैकमाकारमभूतं दर्शयन्ति तथैव संवित्परमाणवोऽपि । तन्नैकमनेकरूपं तच्चमक्रमं यत् सक्रमं साधयेत्, भेदस्य अभेदविरोधात्, क्वचिन्नानात्वमेव अन्यथा न स्यात् । सापेक्षो नयः, निरपेक्षो दुर्नयः । प्रतिभासभेदात् स्वभावभेदं व्यवस्थापयन् तदभेदादभेदं प्रतिपत्तुमर्हत्येव विशेषाभावात् । तदन्यतरापायेऽर्थस्याऽनुपलब्धेः ॥४३॥

5

[§ ४५. अधुना शब्दसमभिरुद्धेत्यम्भूतान्नयान् कथयन्नाह—]

कालकारकलिङ्गानां भेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत् ।

अभिरुद्धस्तु पर्यायैरित्यम्भूतः क्रियाश्रयः ॥४४॥

कालभेदात्तावदभूत् भवति भविष्यति इति, कारकभेदात् करोति क्रियते इत्यादि, लिङ्गभेदात् देवदत्तो देवदत्ता इति, तथा पर्यायभेदात् इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति, तथैतौ शब्दसमभिरुद्धौ । क्रियाश्रयः एवम्भूतः । कुर्वत एव कारकत्वम्, यदा न करोति तदा कर्तृत्वस्यायोगात् । तत्कथं पुनः शब्दज्ञानं विवक्षाव्यतिरिक्तं वस्तु प्रत्येति ? कथं च न ? तदप्रतिबन्धात्; 'नहि बुद्धेरकारणं विषयः' इत्येतत् प्रतियूढम्; विज्ञानस्य अनागतविषयत्वनिर्णयेन ॥४४॥

10

[§ ४६. ननु शब्दाः सङ्केतितमेवार्थं प्राहुर्नान्यम् अतिप्रसङ्गात् । सङ्केतश्च नाविषयीकृतानां शब्दार्थानां युक्तो तन्निर्विषयताप्राप्तेः । तद्विषयीकरणञ्च नाध्यक्षेण; शब्दाध्यक्षस्य अभिधेये, तदध्यक्षस्य च अभिधानेऽप्रवृत्तेः । नापि स्मृत्या; तस्या निर्विषयत्वादित्याशङ्क्याह—]

15

अक्षबुद्धिरतीतार्थं वेत्ति चेन्न कुतः स्मृतिः ।

प्रतिभासभिदैकाऽर्थे दूरासन्नाक्षबुद्धिवत् ॥४५॥

क्षणिकाक्षज्ञानज्ञेययोः कार्यकारणत्वनियमे निर्विषयं प्रत्यक्षं तत्कारणस्य अतीतस्य तदनात्मकत्वात्, प्रागभावप्रध्वंसाभावयोः समनन्तरेतरविनाशयोश्च अभावाऽविशेषात् । तदुत्पत्तिसारूप्ययोरसम्भवात्, व्यभिचाराच्च किं कस्य ज्ञानमित्युक्तम् । यदि पुनः अतीतमर्थं प्रत्यक्षं कथञ्चिद्वेत्ति स्मृतिः कथन्न संविद्यात् ? साक्षादतदुत्पत्तेरताद्रूप्याच्च इति वैयात्यम्; व्यवहितोत्पत्तावपि तद्रूपानुकृतेर्दर्शनात् दृष्टार्थस्वप्नवत् । प्रत्यक्षस्मृत्योः प्रतिभासभेदान्नैकार्थत्वमनैकान्तिकम्; दूरासन्नैकार्थप्रत्यक्षयोः भिन्नप्रतिभासयोरपि तदेकार्थविषयत्वात् । दूराक्षार्थज्ञानं भ्रान्तेरप्रत्यक्षं प्रमाणान्तरं स्यात् । नहि ततोऽर्थं परिच्छिद्य प्रवृत्तौ विसंवादैकान्तः तदप्रमाणं यतः स्यात् । तदयं शब्दार्थो स्मृत्या सङ्कल्य सङ्केते पुनः शब्दप्रतिपत्तौ तदर्थं प्रत्येति । स्मृतिप्रत्यभिज्ञानादेरपि परमार्थविषयत्वात् । तदर्थाभावेऽपि प्रत्यक्षवत् शब्दार्थज्ञानं वस्तुन्यपि सङ्केतसम्भवात् ॥४५॥

25

30

[§ ४७. ननु यद्यर्थाभावेऽपि तज्ज्ञानं स्यात्तर्हि सर्वमेव शब्दज्ञानमप्रमाणं स्यात् । प्रयोगः—विवादास्पदीभूतं शब्दार्थज्ञानमप्रमाणं तत्त्वात् प्रकृतज्ञानवदित्याशङ्क्याह—]

अक्षंशब्दार्थविज्ञानमविसंवादनः समम् ।

अस्पष्टं शब्दविज्ञानं प्रमाणमनुमानवत् ॥४६॥

5 तदुत्पत्तिसारूप्यादिलक्षणव्यभिचारेऽपि आत्मना यदर्थपरिच्छेदलक्षणं ज्ञानं तत्तस्येति सम्बन्धात् । वागर्थज्ञानस्यापि स्वयमविसंवादात् प्रमाणत्वं समक्षवत् । विवक्षाव्यतिरेकेण वागर्थज्ञानं वस्तुतत्त्वं प्रत्यापयति अनुमानवत्, सम्बन्धनियमाभावात् । वाच्यवाचकलक्षणस्यापि सम्बन्धस्य बहिरर्थप्रतिपत्तिहेतुतोपलब्धेः ॥४६॥

10 [§ ४८. ननु कालादीनां ग्राहकप्रमाणाभावतोऽभावात् सतामप्यभेदात्, अन्यतः कालभेदात्तद्वेदे अनवस्था स्यात् । अर्थभेदात्तद्वेदे अन्योन्याश्रयः । ततोऽयुक्तमुक्तं 'कालकारक' इत्यादि ; इत्याशङ्क्याह—]

कालादिलक्षणं न्यक्षेणान्यत्रेक्ष्यं परीक्षितम् ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्थनिष्ठिनम् ॥४७॥

नहि एकान्ते वर्तनालक्षणं कालस्य सम्भवति । भूतभविष्यद्वर्तमानप्रभेदो यतः
15 स्यात्तदर्थक्रियानुपपत्तेः । न च द्रव्यं शक्तिः तदुभयं चेति कारकलक्षणम् ; शक्तिशक्तिमतोर्व्यतिरेकैकान्ते सम्बन्धाऽसिद्धिः, अनवस्थानुपपत्तात् । तदव्यतिरेकैकान्ते 'शक्तिः शक्तिमत' इति रिक्ता वाचोयुक्तिः । तन्न एकान्ते पट्टकारकी व्यवतिष्ठेत् । कुतः पुनः स्त्यायत्यस्यां गर्भः इति स्त्री, प्रसूते स्वान् पर्यायान् इति पुमान्, तदुर्भयात्यये नपुंसकम् इति शब्दार्थप्रत्ययानाम् अन्यतमस्यापि लिङ्गव्यवस्था ?
20 तथैकस्यार्थस्य इन्दनादिन्द्रः, शकनात् शक्रः, पुरं दारयतीति पुरन्दरः इति पर्यायभेदात् भिन्नार्थता तद्वाचिनां शब्दानां न सम्भवत्येव, व्यतिरेकेतरैकान्तयोः तत्र विरोधात् । तत एव क्रियाकारकयोस्तत्र असम्भवो विज्ञेयः । तदनेकान्तसिद्धिः विधिप्रतिषेधाभ्यां तदर्थभिधानात् । नाभावैकान्तः कुतः, तदभिधानलिङ्गाद्यसम्भवोपालम्भः स्याद्वादमनुवर्त्तत ? ॥४७॥

25 [§ ४९. यतश्चानेकान्तेन तदुपालम्भाभावः अतः—]

एकस्यानेकसामग्रीसन्निपातात् प्रतिक्षणम् ।

षट्कारकी प्रकल्प्येत तथा कालादिभेदतः ॥४८॥

१ अक्षात् शब्दार्थ— ई० । २-लक्षणं व्य-ई० । ३ तत्तथेति ज० । ४ प्रत्यापयति ई० । ५-निश्चितम् ज० । ६ चेति ई० । ७ शक्तिश- ई० । ८-भयाभावे नपुं-ई० । ९-न्तरयोः ज० । १० नर्चकान्तः ज० । ११ प्रकल्पेत् ज० ।

प्रतिक्षणं प्रत्यर्थं च नानासामग्रीसन्निपातात् पट्टारकीसम्भवेऽपि यथैकं
स्वलक्षणं स्वभावकार्यभेदानां तदभेदकत्वात् तथा कालादिभेदेऽपि । तत्प्रतिक्षेपो
दुर्नयः, तदपेक्षो नयः । स्वार्थप्राधान्येऽपि तद्गुणत्वात् । तदुभयात्मार्थज्ञानं प्रमाणम् ।

[§ ५०. ननु नयः सर्वोऽपि मानसो विकल्पः । विकल्पश्च निर्विषय एव तत्त्वात्
प्रधानादिविकल्पवत्, तत्कथं तेन कस्यचिदधिगमः स्यादित्याशङ्क्य 'विकल्पत्वात्' इत्यस्य 5
हेतोः तर्कादिना अनैकान्तिकत्वं दर्शयन्नाह—]

व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयैकत्र दृष्टिः,
साकल्येनैष तर्कोऽनधिगतविषयः तत्कृतार्थैकदेशे ।
प्रामाण्ये चानुमायाः स्मरणमधिगतार्थविसंवादि सर्वम्,
संज्ञानञ्च प्रमाणं समधिगतिरतः सप्तधाख्यैर्नयैः ॥४९॥ 10

[§ ५१. तैश्च तेषां समधिगतौ सत्यां यज्जातं तद्दर्शयति—]

सर्वज्ञाय निरस्तबाधकधिये स्याद्वादिने ते नम-
स्तात्प्रत्यक्षमलक्षयन् स्वमतमभ्यस्याप्यनेकान्तभाक् ।
तत्त्वं शक्यपरीक्षणं सकलविज्ञैकान्तवादी ततः,
प्रेक्षवानैकलङ्कमेति शरणं त्वामेव वीरं जिनम् ॥५०॥ 15

नयप्रवेशे पञ्चमः परिच्छेदः ।

इति प्रमाणनव (य) प्रवेशः समाप्तः ।

कृतिरियं सकलवादिचक्रचक्रवर्तिनो भगवतो भट्टाकलङ्कदेवस्येति ।



[मोहेनैव परोऽपि कर्मभिरिह प्रेत्याभिवन्धः पुनः,
भोक्ता कर्मफलस्य जातुचिदिति प्रभ्रष्टदृष्टिर्जनः ।
कस्माच्चित्रनपोभिरुद्यतमनाश्चैत्यादिकं वन्दते,
किं वा तत्र तपोऽस्ति केवलमिमे धूर्तैर्जडा वञ्चिताः ॥] 20

१ यथैकस्व-ज० । २-र्थे ज्ञा-ज० । ३-वानु-ज० । ४-थदिसं-मु० लघी० । ५-वागकल-
ङ्कयाति मु० लघी० । ६ एव प्रक्रान्तप्रत्यक्षादिपरिच्छेदपञ्चम नयप्रवेशो द्वितीयपरिच्छेदः समाप्तः ।
न्यायकु० । ७ ग्लोकोऽय ई०, ज० प्रत्यो प्रमाणनयप्रवेशसमाप्त्यनन्तरमुपलभ्यते । परं न्यायकुमु-
दचन्द्रकृता प्रभाचन्द्रेण लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्तिकृता अभयचन्द्रेण च अव्याख्यानत्वात्, अर्थदृष्ट्या
प्रकरणेन चासंगतत्वात् प्रथिप्त एवेति भाति ।-सम्पा० ।

३. तृतीयः प्रवचनप्रवेशः ।



[§ ५२. अथ प्रमाणनयस्वरूपं निरूप्य इदानीं प्रमाणविशेषस्य आगमस्य स्वरूपं प्रथम् निरूपयितुमुपक्रमते, तत्रानेकधा विप्रतिपत्तिसद्भावात् । तदादौ च शास्त्रस्य मध्यमङ्गलभूतम् इष्टदेवताविशेषगुणस्तोत्रमाह—]

प्रणिपत्य महावीरं स्याद्वादेक्षणसप्तकम् ।

प्रमाणयननिक्षेपानभिधास्ये यथागमम् ॥५१॥

[§ ५३. तत्र प्रमाणादीनां समासतो लक्षणं प्रतिपादयन्नाह—]

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते ।

नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥५२॥

10 ज्ञानं प्रमाणं कारणस्याप्यचेतनस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् असन्निकृष्टेन्द्रियार्थ-
वत् । विषमोऽयमुपन्यासः, असन्निकृष्टस्य तदकारणत्वादिति; नैतत्सारम्;
अर्थस्य तदकारणत्वात्, तस्य इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात्, अर्थस्य विषयत्वात् ।
नहि तत्परिच्छेद्योऽर्थः तत्कारणतामात्मसात्कुर्यात् प्रदीपस्येव घटादिः ॥५२॥

15 [§ ५४. किञ्च अर्थस्य ज्ञानं प्रति कारणत्वे सिद्धे अयं नियमः परिकल्प्येत, असिद्धे
वा ? न तावदसिद्धे अतिप्रसङ्गात् । अथ सिद्धे कुतः तत्सिद्धिः ? तत एव ज्ञानात्, अन्यतो
वा ? न तावत्तत एव; यतः—]

अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः ।

अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत् ॥५३॥

20 अर्थं परिच्छिन्दद् विज्ञानम् आत्मनः कारणान्तरमपरं सूचयत्येव । नहि ततः
स्वभावलाभं प्रति व्याप्रियमाणस्य तत्परिच्छिन्तिः अनुत्पन्नत्वात् । उत्पन्नस्यापि
न कारणे व्यापारः करणादिवत् । यदि कारणकार्यभावमात्मार्थयोर्विज्ञानं परिच्छि-
न्धात् न कश्चिद्विप्रतिपत्तुमर्हति कर्तृकरणकर्मसु ॥५३॥

[§ ५५. ...अन्वयव्यतिरेकौ अनुकरोति च ज्ञानमर्थस्येत्याशङ्क्याह—]

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत् कारणं विदः ।

25 संशयादिविदुत्पादः कौतस्कुत इतीक्ष्यताम् ? ॥५४॥

बुद्धेरेव व्यभिचारो नार्थस्य । कथमव्यभिचारिणोऽर्थस्य अन्वयव्यतिरेका-
वनुकुर्वती व्यभिचरेन्नाम ? ततः संशयादिज्ञानमहेतुकं स्यात् । तिमिराशुभ्रमण-
नौयानसङ्गोभादिहेतुत्वे कर्ममर्थः पुष्पातीति मृग्यम् ? सत्यज्ञानेऽपि तिमिराद्य-

कारि० ५५-५७]

भावस्य इन्द्रियमनोगतस्य कारणत्वात्, ततः सुभाषितम्- § ५) “इन्द्रियमनसी कारणं विज्ञानस्य अर्थो विषयः” इति ॥५४॥

[§ ५६. ननु चेन्द्रियार्थयोः सतोरपि सन्निकर्षव्यतिरेकेण बुद्धेरनुत्पत्तेः तस्मिन् सत्येव उत्पत्तेः तस्यैव तत्र साधकतमत्वोपपत्तेः नेन्द्रियमनसी तत्कारणम् । इत्याशङ्कापनोदार्थमाह-]

सन्निधेरिन्द्रियार्थानामन्वयव्यतिरेकयोः ।

कार्यकारणयोश्चापि बुद्धिरध्यवसायिनी ॥५५॥

सन्निकर्षादयः कारणान्तरादुत्पन्नया बुद्ध्याऽध्यवसाययन्ते न च तैर्बुद्धिः, प्रागनध्यवसायात्, अन्यथा कैमर्थक्याद् बुद्धेरन्वेषणम् ? आत्ममनइन्द्रियार्थानां कारणानामतीन्द्रियाणां सन्निकर्षो दुर्बोधः । कैथं तस्य विज्ञानोत्पत्तावङ्गीकरणमिति चिन्तयम् ? प्राग्विज्ञानोत्पत्तेरर्थमनवबुद्ध्यमानाः कारणमकारणं वा कथं ब्रूयुः ? उत्पन्नं हि विज्ञानमर्थस्य परिच्छेदकं न तत्कारणतायाः । आलोकोऽपि न कारणं परिच्छेद्यत्वादर्थवत् ॥५५॥

[§ ५७. ननु यद्यालोकः तदुत्पत्तेः कारणं न स्यात्तर्हि तदभावेऽपि रूपज्ञानोत्पत्तिः कुतो न स्यादित्याशङ्क्याह-]

तमो निरोधि वीक्षन्ते तमसा नावृतं परम् ।

कुड्यादिकं न कुड्यादितिरोहितमिवेक्षकाः ॥५६॥

नहि तमः चक्षुर्ज्ञानप्रतिषेधकम् ; तमोविज्ञानाभावप्रसङ्गात् । अन्यत्र विज्ञानाऽभावहेतुरिति चेत् ; आलोकोऽपि तमोविज्ञानाभावहेतुत्वात् तमोवदभावहेतुः स्यात् । अर्वाग्भागदर्शिनः परभागपरिच्छेदाऽभावात् तस्यापि ज्ञाननिरोधित्वं स्यात् तमोवत् । प्रत्यर्थमावरणविच्छेदापेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात् । नावरणं तिमिरादि परिच्छेद्यत्वादर्थवत् ॥५६॥

[§ ५८. ननु चात्मनो ज्ञानस्वभावतया सर्वत्र सर्वदा सर्वथा सर्वार्थग्रहणस्वभावत्वेन अशेषज्ञत्वप्रसङ्गान्न किञ्चिदावरणकल्पनया इत्याशङ्कापनोदार्थमाह-]

मलविद्धमणिव्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः ।

कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथाऽनेकप्रकारतः ॥५७॥

यथास्त्वं कर्मक्षयोपशमोपेक्षिणी करणमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्थदयः । § ६) “नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषयः” इति वालिशगी-

१-क्या बु-ज० । २ आत्मनो मनसा करणानामतीन्द्रियाणां ई० । ३ वाक्यमेतन्नास्ति ज० । ४-द्वयमना ज० । ५ ब्रूयुः कथं तरय विज्ञानोत्पत्तावङ्गीकरणमिति वित्यासाधि (?) ज्ञानोत्पत्तेरर्थमनवबुद्ध्यमानाः कारणमकारणं वा कथं ब्रूयुः ज० । ६ तत्कारणतया ई० । ७ विरोधि ज० । ८-ज्ञाने प्र-ज० । ९-नविरो-ई० । १०-स्वकर्म-ज० ।

तम्; तामसखगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनमावरणविच्छेदात्, तदविच्छेदात् आलोके सत्यपि संशयादिज्ञानसम्भवात् । काचाद्युपहतेन्द्रियाणां शङ्खादौ पीताद्या- कारज्ञानोत्पत्तेः, मुमूर्षाणां यथासम्भवमर्थे सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसङ्गावात् नार्थादयः कारणं ज्ञानरयेति स्थितम् ॥५७॥

5 [§ ५८. अत्रैव दूषणान्तरमाह—]

न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह ।

प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुनाम् ॥५८॥

नार्थः कारणं विज्ञानस्य कार्यकालमप्राप्य निवृत्तेः अतीततमवत् । न ज्ञानं तत्कार्यं तदभाव एव भावात् तद्भावे चाऽभावात् भविष्यत्तमवत् । नार्थसारूप्यभृ-
10 द्विज्ञानम् अमूर्त्तत्वात् । मूर्त्ता एव हि दर्पणादयः मूर्त्तमुखादिप्रतिविम्बधारिणो दृष्टाः, नामूर्त्तं मूर्त्तप्रतिविम्बभृत्, अमूर्त्तं च ज्ञानं मूर्त्तिधर्माभावात् । नहि ज्ञानेऽर्थोऽस्ति तदात्मको वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेत शब्दवत् । ततः तदध्यवसायो न स्यात् । कथमेतदविद्यमानं त्रितयं ज्ञानप्रामाण्यं प्रत्युपकारकं स्यात् अलक्ष-
णत्वेन ? ॥५८॥

15 [§ ६०. ननु ज्ञानस्य तदुत्पत्तित्रितयासम्भवे कथमर्थग्राहकत्वमतिप्रसङ्गादित्यारेकायामाह—]

स्वहेतुजनितोप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा ।

तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः ॥५९॥

अर्थज्ञानयोः स्वकारणादात्मलाभमासादयतोरेव परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावः नाऽल्लब्धात्मनोः कर्तृकर्मस्वभाववत् । ततस्तदुत्पत्तिमन्तरेणापि ग्राह्यग्राहकभाव-
20 सिद्धिः स्वभावतः स्यात्, अन्यथा व्यवस्थाभावप्रसङ्गात् ॥५९॥

[§ ६१. ननु सिद्धेऽपि स्वरूपतस्तद्भावे तत्फलं वक्तव्यम् । तच्च अधिगतिमात्रमित्येके, स्वरूपस्यैवाधिगतिरित्यन्ये, अर्थस्यैवेत्यपरे । इत्याशङ्क्याह—]

व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम् ।

ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते ॥६०॥

25 अनिर्णीतिफलस्यै नाधिगमोऽस्ति विचार्यमाणायोगात् । अविसंवादकत्वं च निर्णयायत्तं तदभावेऽभावात् तद्भावे च भावात् । व्यवसायफलं ज्ञानं मुख्यं प्रमाणमिति व्यवस्थितम् । स्वतोऽव्यवसायस्य विकल्पोत्पादनं प्रत्यनङ्गत्वात्, तदुत्पत्तिं प्रत्यङ्गत्वे अभिलाषसंसर्गयोग्यता न प्रतिषेध्या, अन्यथा विकल्पोत्पत्त्यभावप्रसङ्गात् । सति

मुख्ये निर्णयात्मके ज्ञाने सकलव्यवहारनियामके कथमसंवेद्यमकिञ्चित्करमनुपा-
यमनुपेयं ब्रुवाणः स्वस्थः ? ॥६०॥

[§ ६२. अधुना तद्वेदं दर्शयन्नाह—]

तत्प्रत्यक्षं परोक्षं च द्विधैवात्रान्यसंविदाम् ।

अन्तर्भावाच्च युज्यन्ते नियमाः परकल्पिताः ॥६१॥

5

इन्द्रियार्थज्ञानं स्पष्टं हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रादेशिकं प्रत्यक्षम्, अवग्रहे-
हावायधारणात्मकम् । अनिन्द्रियप्रत्यक्षम् स्मृतिसंज्ञाचिन्ताऽभिनिबोधात्मकम् ।
अतीन्द्रियप्रत्यक्षं व्यवसायात्मकं स्फुटमवितथमतीन्द्रियमव्यवधानं लोकोत्तरमा-
त्मार्थविषयम् । तदस्ति सुनिश्चिताऽसम्भवद्वाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् । श्रुतं परोक्षं
सकलप्रमाणप्रमेयेयचौवत्स्वरूपाभिधायि बाधारहितं प्रमाणम् । अत्र अर्थापत्त्यनु- 10
मानोपमानादीन्यन्तर्भवन्ति । परपरिकल्पितप्रमाणान्तर्भावनिराकरणमन्यत्रोक्त-
मिति नेहोच्यते ॥६१॥

[§ ६३. श्रुतस्य भेदं दर्शयन्नाह—]

उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ ।

स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसङ्कथा ॥६२॥

15

अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः, यथा जीवः पुद्गलः धर्मोऽधर्म आकाशं
काल इति । तत्र जीवो ज्ञानदर्शनवीर्यसुखैरसाधारणैः अमूर्त्तत्वासङ्ख्यातप्रदेशत्वसू-
क्ष्मत्वैः साधारणासाधारणैः सत्त्वप्रमेयत्वाऽगुरुलघुत्वधर्मित्वगुणित्वादिभिः साधा-
रणैः अनेकान्तः । तस्य जीवस्यादेशात् प्रमाणं स्याद्वादः । तथेतरे परिणामतो
योज्याः । ज्ञो जीवः सुखदुःखादिवेदनात् इत्यादि विकलादेशो नयः । साकल्य- 20
मनन्तधर्मात्मकता । वैकल्यमेकान्तः धर्मान्तराविवक्षातः । तत्र 'जीवः' इत्युक्ते
जीवशब्दो योग्यतापेक्षाऽनादिसङ्केतः स्वभावभूताऽन्यापोहस्वार्थप्रतिपादनः
न्यक्षेण प्रतिपक्षं निरस्य जीवमात्रमेव अभिदध्यात् । ततः स्यात्पदप्रयोगात् सर्व-
थैकान्तत्यागात् स्वरूपादिचतुष्टयविशेषणविशिष्टो जीवः अभिधीयते इति स्वेष्ट-
सिद्धिः । नयोपि तथैव सम्यगेकान्तः । 'स्याज्जीव एव' इत्युक्तेऽनेकान्तविषयः 25
स्याच्छब्दः । 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्युक्ते एकान्तविषयः स्याच्छब्दः ॥६२॥

[§ ६४. ननु न सर्वत्र वाक्ये लौकिकाः स्यात्कारमेवकारञ्च प्रयुज्यते अन्यथैव तत्प्रयोग-
दर्शनात्, अतो न युक्तमेतदित्यारेकापनोदार्थमाह—]

अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते ।
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत् प्रयोजकः ॥६३॥

- कचित् स्यात्कारमनिच्छद्भिः सर्वथैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात्, अवधारणाभावे-
ऽपि अनेकान्तनिराकरणस्य अवश्यम्भावित्वात्, अन्यथा प्रमाणनययोरभेदप्रसङ्गः ।
5 किं बहुना विधिनिषेधानुवादाऽतिदेशवाक्येषु, कारकेषु कर्त्रादिषु, स्वार्थादिषु,
प्रातिपदिकार्थेषु, साधनदूषणतदाभासवाक्येषु स्याद्वादमन्तरेण प्रस्तुताऽप्रसिद्धिः
इत्यावालप्रसिद्धम् ॥६३॥

[§ ६५. ननु शब्दः सर्वोऽपि विवक्षाप्रतिबद्धत्वात् तामेव गमयति नार्थम्, अतोऽ-
युक्तमुक्तं 'तत्र जीव इत्युक्ते' इत्याद्याशङ्क्याह—]

- 10 वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान् ।
वाञ्छितांश्च कचिन्नेति प्रसिद्धिरियमीदृशी ॥६४॥
स्वेच्छया तामतिक्रम्य वदतामेव युज्यते ।
वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्विति ॥६५॥

- वर्णपदवाक्यानां वाचकत्वं यथास्वमागमात् प्रतिपत्तव्यम् । वक्त्रभिप्रायाद्भि-
15 न्नस्यार्थस्य वाचकाः शब्दाः सत्यानृतव्यवस्थान्यथानुपपत्तेः । अयञ्च प्रसङ्गोऽ-
न्यत्र विस्तरणोक्तः इति नेह प्रतन्यते । शब्दानामर्थव्यभिचारित्वे अभिप्रेतव्य-
भिचारित्वं कुतोऽपनीयते सुषुप्तादौ वाग्वृत्तेर्दर्शनात्, अनिच्छतामपि अपशब्दा-
दिभाषणसद्भावात्, वाञ्छतामपि मन्दबुद्धीनां शास्त्रवक्तृत्वाभावात् । उभयत्र
व्यभिचारान्न कस्यचिद्वाचकाः शब्दा इत्यलौकिकप्रतिभानम् ; लोको हि अर्थस्या-
20 ऽऽप्त्यनाप्तिषु सत्यानृतव्यवस्थामातिष्ठेत शब्दस्य नाभिप्रायमात्रे, तत्र शब्दव्यवहार-
बाहुल्याभावात् । अवाधितां तत्प्रतीतिमतिक्रम्य स्वेच्छया प्रमाणप्रमेयस्वरूपमाति-
ष्ठमानानां युक्तमभिप्रेतमात्रसूचित्वं शब्दानाम् ॥६४, ६५॥

[§ ६६. साम्प्रतं 'नयो ज्ञातुरभिप्रायः' इत्येतद्व्याख्यातुकाम आह—]

- श्रुतभेदाः नयाः सप्त नैगमादिप्रभेदतः ।
25 द्रव्यपर्यायमूलास्ते द्रव्यमेकान्वयानुगम् ॥६६॥
निश्चयात्मकमन्योऽपि व्यतिरेकं पृथक्त्वगः ।
निश्चयव्यवहारौ तु द्रव्यपर्यायसाश्रितौ ॥६७॥

नहि मतिभेदा नयाः त्रिकालगोचरानेकद्रव्यपर्यायविषयत्वात्, मतेः साम्प्र-

१-क्तेऽपि मु० लघी० । २-निराकाराभ्युपगमस्यावश्य-ई० । ३ न्विति मु० लघी० ।
४ कुतोऽप्रतीयते ज० । ५-वक्तृत्वभा-ज० । ६-र्थस्यानाप्ति-ज० । ७ तत्र शब्दव्यवहारस्थितिम-
तिक्रम्य स्वेच्छ-ई० । ८ अवाधितमतिक्रम्य ज० । ९-रेकापू-मु० लघी० ।

तिकार्थग्राहित्वात् । मनोमतेरपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताऽभिनिवोधात्मिकायाः
 कारणमतिपरिच्छिन्नार्थविषयत्वात् । तत्र मूलनयौ द्रव्य-पर्यायार्थिकौ । द्रव्यमे-
 कान्वयात्मकम् । एकत्वं तदतत्परिणामित्वात्, सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्म-
 कत्वादन्वयि । पुरुषत्वादेः अपेक्षातः सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये नानैकस-
 न्तानात्मनां तथाभावसङ्करव्यतिकरव्यतिरेकादन्वयिनोरस्खलत्समानैकप्रत्ययवि- 5
 पयत्वमनुमिमीमहे । तथाहि—स्कन्धः स्वगुणपर्यायाणामेकत्वं न समानपरिणामः ।
 पुरुषश्च समानपरिणामोऽपि सकलपदार्थगोऽनेकत्वम् । निश्चयनयादेको जीवः कर्म-
 निर्मुक्तः, व्यवहारनयात् सकर्मकः । पर्यायः पृथक्त्वं व्यतिरेकश्च । पृथक्त्वम् एकत्र
 द्रव्ये गुणकर्मसामान्यविशेषाणाम् । व्यतिरेकः सन्तानान्तरगतो विसदृशपरि-
 णामः । व्यवहारपर्यायाः क्रोधादयः जीवस्य संसारिणः, निश्चयपर्यायाः शुद्धस्य 10
 ज्ञानादयः प्रतिक्षणमात्मसात्कृताऽनन्तभेदाः । निश्चयनयात् पुद्गलद्रव्यमेकम्
 पृथिव्यादिभेदेऽपि रूपरसगन्धस्पर्शवच्चमाविर्भूताऽनाविर्भूतस्वरूपमजहत् स्कन्ध-
 परमाणुपर्यायभेदेऽपि रूपादिमच्चमपरिजहत् । नहि अवस्थादेशकालसंस्काराः मूर्त्त-
 त्वमत्यन्तं भिन्दन्ति अमूर्त्तभेदप्रसङ्गात् । सत्ताभेदाश्च जीवादयः सत्तामित्युक्तप्रायं
 नेहोच्यते । भेदवादिनोऽपि ज्ञानमेकम् एकस्मिन् क्षणे स्वयमनेकाकारमात्मसात्कु- 15
 र्वत् कथन्निराकुर्युः ? ततः तीर्थकरवचनसङ्ग्रहविशेषप्रस्तावमूलव्याकारिणौ द्रव्य-
 पर्यायार्थिकौ निश्चेतव्यौ । नहि तृतीयं प्रकारान्तरमस्ति, तस्य प्रमाण एवाऽन्तर्भा-
 वात् । न नैगमस्य प्रमाणता तादात्म्यविवक्षाऽभावात् ॥६७॥

[§ ६७. एतदपि कुत इत्यत्राह—]

गुणप्रधानभावेन धर्मयोरेकधर्मिणि ।

20

विवक्षा नैगमोऽत्यन्तभेदाक्तिः स्यात्तदाकृतिः ॥६८॥

‘जीवः सन्नमूर्त्तः कर्त्ता सूक्ष्मो ज्ञाता दृष्टाऽसङ्ख्यातप्रदेशो भोक्ता परिणामी
 नित्यः पृथिव्यादिभूतविलक्षणः’ इति जीवस्वतत्त्वनिरूपणायां गुणीभूता सुखा-
 दयः । सुखादिस्वरूपनिरूपणायां वा आत्मा । तदत्यन्तभेदाभिसन्धिनैगमाभासः ।
 गुणगुणिनाम् अवयव्यवयवानां क्रियाकारकाणां जातितद्वताश्चेत्यादितादात्म्यम- 25
 विवक्षित्वा गुणगुणिनोः धर्मिधर्मयोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षा नैगमे, सङ्ग्रहादा-
 वेकविवक्षेति भेदः ॥६८॥

[§ ६८. तत्र संग्रहस्वरूपं सप्रतिपक्षं दर्शयन्नाह—]

१-मतिभिन्नार्थवि-ई० । २-मेकत्वान्वया-न्यायकु० । ३-यस्ते च प्र-न्यायकु० । ४-मूर्त्ति-ज० ।

५-णामं ज० । ६-भूतादि-ज० । ७ निगमे ज० ।

सदभेदात्समस्तैक्यसंग्रहात् संग्रहो नयः ।

दुर्नयो ब्रह्मवादः स्यात् तत्स्वरूपानवाप्तिनः ॥६९॥

सर्वमेकं सदविशेषात् इति संग्रहो नयः । तदाभासो ब्रह्मवादः तदभ्युपगमो-
पायाभावात्, नापि तस्योपेयत्वं खरविपाणवत् ॥६९॥

5 [§ ६९. व्यवहारनयं दर्शयन्नाह—]

व्यवहारानुकूल्यात् प्रमाणानां प्रमाणता ।

नान्यथा बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्प्रसङ्गनः ॥७०॥

प्रमाणानां प्रामाण्यं व्यवहाराविसंवादात् इत्याकुमारं प्रसिद्धम् । अन्यथा
संशयविपर्ययसस्वमज्ञानादीनामपि प्रामाण्यमनिवार्यं स्यात् । प्रत्यक्षं सविकल्पं प्रमाणं
10 व्यवहाराविसंवादात् । 'उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं सत्, गुणपर्ययवद्भव्यम्, जीवश्चै-
तन्यस्वभावः' इत्यादिश्रुतज्ञानेन पूर्वापराविरोधलक्षणसंवादसम्भवात् प्रामाण्यम्,
अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकव्यवहारानुकूल्याच्च । बहिरर्थविज्ञप्तिमात्रशून्यवचसां व्यव-
हारविरोधित्वात् दुर्ण (न) यत्वम् ॥७०॥

[§ ७०. ऋजुसूत्रनयं दर्शयन्नाह—]

15 भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मतः ।

सर्वथैकत्वविक्षेपी तदाभासस्त्वलौकिकः ॥७१॥

बहिरणवः सञ्चिताः स्थूलमेकाकारप्रत्ययमभूतं दर्शयन्ति यथा तद्वत् संचि-
त्परमाणवोऽपि चित्राकारमेकम् । ततो नैकमनेकरूपं तत्त्वमक्रमं यत् सक्रमं साध-
येत् भेदस्य अभेदविरोधात्, अन्यथा क्वचिन्नानात्वमेव न स्यात् । सापेक्षो नयः,
20 निरपेक्षो दुर्नयः । प्रतिभासभेदात् स्वभावभेदं व्यवस्थापयन् तदभेदादभेदं प्रतिपद्यत
एव विशेषाभावात्, तदन्यतरापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः ॥७१॥

[§ ७१. अथ सप्तनयेषु मध्ये केऽर्थप्रधानाः के च शब्दप्रधानाः ? इत्याह—]

चत्वारोऽर्थनया ह्येते जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात् ।

त्रयः शब्दनयाः सत्यपदविद्यां समाश्रिताः ॥७२॥

25 कालकारकलिङ्गभेदात् शब्दः अर्थभेदकृत्, अभूत् भवति भविष्यति, करोति
क्रियते, देवदत्तो देवदत्तेति । पर्यायभेदादभिरूढोऽर्थभेदकृत्, इन्द्रः शक्रः पुरन्दर
इति । क्रियाश्रयः एवम्भूतः, कुर्वत एव कारकत्वम् । यदा न करोति तदा कर्तृत्व-
स्याऽयोगादिति । कथं पुनः शब्दज्ञानं विवक्षाव्यतिरिक्तमर्थं प्रत्येति ? कथञ्च न ?

तदप्रतिबन्धात्; 'नहि बुद्धेरकारणं विषयः' इत्येव प्रतिव्यूढम्; विज्ञानस्य अनागत-
 निर्णयात् । कृतिकोदयदर्शने शकटोदयो भविष्यति बुद्धिरविसंवादिनी, आदित्यः
 श्व उदेता, सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणं भविष्यति, तन्तवः पटो भविष्यन्ति, मृत्पिण्डो घटो
 भविष्यति, तन्दुला भविष्यन्त्यौदनः, ब्रीहयस्तन्दुला भविष्यन्ति इत्याद्यनागत-
 विषयाणामविसंवादिनामानन्त्यात् । ततः शब्दज्ञानमपि विवक्षाव्यतिरिक्तार्थग्राहि 5
 सिद्धम् प्रतिबन्धमन्तरेणापि तत्प्रतिपादकस्वाभाव्यात् विज्ञानवत् । वर्तमानलक्षणः
 कालः, क्रियाविष्टं द्रव्यं कारकम्, स्त्यानप्रसवतदुभयाभावसामान्यलक्षणं लिङ्गम्,
 कथञ्चिद्द्रव्यस्तु स्वभावभेदकं तथाप्रतीतेः । पर्यायोऽप्यर्थभेदकृत् । क्रियाभेदात् एकोऽपि
 शब्दः क्रियानिमित्तकव्युत्पत्तिः तदभावात्तदर्थं नाचष्टे इति परमैश्वर्यमनुभवन्नोव
 इन्द्रः नान्यदा । ततः सिद्धः क्रियाभेदः पाचकपाठकादिवत् । नहि वर्णपदवा- 10
 कयानां व्युत्पादकं शास्त्रं वितथं परमार्थशब्दग्राप्त्युपायकृत् ज्ञातुरभिप्रायात्मकन-
 यवत् । व्यावहारिकप्रकृत्यादिप्रक्रियाप्रविभागेन यथा पारमार्थिकादनेकान्तात्म-
 कादर्थादपोद्धृत्य तदंशमेकान्तं व्यावहारिकं तत्प्रतिपत्त्युपायं प्रकाशयन्नयो न
 मिथ्यात्वमनुभवेत्, निरपेक्षत्वस्यैव मिथ्यात्वात् । अनेकान्तनिराकृतेः निरपेक्ष-
 त्वम्, तदनिराकृतेः सापेक्षत्वम्, नान्यथा नयानां सम्यक्त्वमिथ्यात्वे इति स्थितम् । 15

[§ ७२. अथेदानीं शास्त्रविधानाध्ययनपर्यवसितफलप्ररूपणपुरस्सरं निक्षेपस्वरूपं प्ररू-
 पयन्नाह—]

श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः ।

परीक्ष्य तांस्तान् तद्धर्माननेकान् व्यावहारिकान् ॥७३॥

नयानुगतनिक्षेपैरूपायैर्भेदवेदने ।

विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान् ॥७४॥

अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिर्भां गतैः ।

द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिर्निवेशनः ॥७५॥

जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् ।

तपोनिर्जीर्णकर्माऽयं विमुक्तः सुखमृच्छति ॥७६॥

श्रुतमनादि सन्तानापेक्षया, साधनं प्रति सादि । प्रमाणं त्रिकालगोचरसर्वजी-
 वादिपदार्थनिरूपणम् । तदर्थं शरीरक्षीप्रवणोऽभिसन्धिर्नयः । ताभ्यामधिगमः
 परमार्थव्यावहारिकार्थानाम् । तदधिगतानां वाच्यतामापन्नानां वाचकेषु भेदोप-
 न्यासो न्यासः । सोऽवरतश्चतुर्धा नामस्थापनाद्रव्यभावतः । तत्र निमित्तान्तरान-

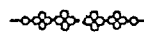
१-पायत्वात् न्यायकु० । २-प्रतिभागे-ज० । ३ तत्प्राप्त्युपा-न्यायकु० । ४ एतावत्पर्यन्तं
 न्यायकुमुदचन्द्रकृता तात्पर्यवृत्तिकृता च पष्ठपरिच्छेदरूपेण विभज्य परिच्छेदसमाप्ति कृता । विवृति-
 प्रती तु नाय विभाग ।-सम्पा० । ५-भिदागतैः मु० लघी० । ६-भिनिवेशतः ज० । ७-रीक्षप्र-ज० ।

- पेक्षं संज्ञाकर्म नाम । तच्च जातिद्रव्यगुणक्रियालक्षणनिमित्तानपेक्षसंज्ञाकर्मणोऽने-
कत्वादेनेकधा । आहितनामकस्य द्रव्यस्य सदसद्भावात्मना व्यवस्थापना स्थापना ।
अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम् । तथापयोगलक्षणो भावनि-
क्षेपः । अग्रस्तुतार्थाऽपाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान् । निक्षिप्ताः
5 पदार्थाः निर्देशादिभिः सदादिभिश्चानुयोगैः अनुयो (यु) ज्यन्ते । अनुयुक्ताः प्रयुक्ताः
सर्वे पदार्थाः; तथापि जीवपदार्थविषयविशेषप्ररूपकाणि जीवस्थानगुणस्थानमार्ग-
णास्थानानि । एवं प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगैः सर्वान् पदार्थानधिगम्य पुरुषतत्त्वं
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानैः दृढतरमवबुध्य प्रवृद्धाभिनिवेशात्मकसम्यग्दर्शनः
तपसा निर्जीर्णकर्मा सर्वकर्मविनिर्मुक्तो बाधारहितमव्यवच्छिन्नमनन्तमतीन्द्रियं
10 सुखमृच्छत्यात्मा । नहि गुणादिविनाशात् जडः, गुणगुणिविनाशात् शून्यः,
भोग्यविरहात् तदभोक्ता; तथाधिगमाभावात् तद्वाधासम्भवाच्च । शरीरादिकं धर्मि
ज्ञानावरणादिस्वरूपं न भवति साध्यताऽस्य, तत्सत्यपि ज्ञानोदयसम्भवात् ॥७६॥

[§ ७३. इदानीं शास्त्रकारः शास्त्राध्ययनस्य प्रयोजनं प्ररूपयन्नाह—]

- भव्यः पञ्च गुरुन् तपोभिरमलैराराध्य बुध्वागमम्,
15 तेभ्योऽभ्यस्य तदर्थमर्थविषयाच्छब्दादपभ्रंशतः ।
दूरीभूततरात्मकादधिगतो बोद्धाऽकलङ्कं पदम्,
लोकालोककलावलोकनबलप्रज्ञो जिनः स्यात् स्वयम् ॥७७॥
प्रवचनपदान्यभ्यस्यार्थांस्ततः परिनिष्ठितान-
सकृदवबुद्धेद्वाद्बोधाद्बुधो हतसंशयः ।
20 भगवदकलङ्कानां स्थानं सुखेन समाश्रितः,
कथयतु शिवं पन्थानं वः पदस्य महात्मनाम् ॥७८॥
लक्षणसङ्ख्याविषयफलोपेतप्रमाणनयनिक्षेपस्वरूपप्ररूपके हि हेतुवादरूपे आगमे
गुरुपदेशपरम्परायथावदधिगते परमप्रकर्षेण अभ्यस्ते सति आत्मनो जिनेश्वरपद-
प्राप्तिलक्षणस्वार्थसम्पत्तिर्भवति । तत्सम्पत्तौ च मुमुक्षुजनमोक्षमार्गोपदेशद्वारेण
25 परार्थसम्पत्तयेऽसौ चेष्टते ॥७८॥

इति भट्टकलङ्कशशाङ्कानुस्मृतप्रवचनप्रवेशः समाप्तः ॥७८॥



नमोऽकलङ्काय कृतीर्थनाशिने स्याद्वादमार्गप्रतिबोधहेतवे ।
मित्यान्धकारप्रतिभेदभानवे सम्यक्त्वसदत्तविकाशमर्त्ये ॥७८॥



[समाप्तमिदं प्रकरणम् ।]

श्रीमद्भट्टाऽकलङ्कदेवविरचितः

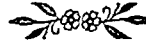
॥ न्यायविनिश्चयः ॥

[न्यायविनिश्चयविवरणादुद्धृतः]

श्रीमद्भट्टाऽकलङ्कविरचितः

॥ न्यायविनिश्चयः ॥

१. प्रथमः प्रत्यक्षप्रस्तावः ।



[§ १ अतः सर्वत्र तद्गुणस्तवनमेव मङ्गलम्, तत एव तत्प्रयोजनभावान्नापरम् । किं पुनस्तदित्याह—]

प्रसिद्धाशेषतत्त्वार्थप्रतिबुद्धैकमूर्त्तये ।

नमः श्रीवर्द्धमानाय भव्याम्बुरुहभानवे ॥१॥

[§ २. अथ यदि भगवतो भव्याम्बुरुहभानुत्वं तत्तर्हि वाङ्मयूखसापेक्षमेव नान्यथा । 5 न हि तत्सन्निधानादनुपदेशमेव भव्यानां तत्त्वज्ञानमिति सौगतवत्स्याद्वादिनामभिनिवेशोऽस्ति, ततस्तद्वाङ्मयादेव तत्त्वज्ञानसिद्धेः वाङ्मयमिदमपार्थक्यम् । नह्येकवाङ्मये (या) वसाध्ये तदंश-मुपयोगवत् । तत्रापि तदपरापरवाङ्मयोपयोगपरिकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गादिति, तत्रेदमाह—]

बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः,
माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिवलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः । 10
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः ॥२॥

[§ ३. सम्यग्ज्ञानात्मकत्वमेव प्रमाणस्य व्यवस्थापयन्नाह—]

प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥३॥

15

[§ ४. करिष्यते हि 'सदसज्ज्ञान' इत्यादिना इन्द्रियप्रत्यक्षस्य 'परोक्षज्ञान' इत्यादिना अनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य 'लक्षणं समम्' इत्यादिना चातीन्द्रियप्रत्यक्षस्य समर्थनमतममि (मत इ) इन्द्रियप्रत्यक्षादिभेदेन त्रिविधमेव तदिति भवत्येव निर्णयः । तत्र—]

हिताहिताग्निनिर्मुक्तिक्षममिन्द्रियनिर्मितम् ।

यद्देशतोऽर्थज्ञानं तदिन्द्रियाध्यक्षमुच्यते ॥४॥

20

[§ ५. कश्चिदाह—यदि साकारं निश्चयात्मकं प्रत्यक्षं तत एव निरवशेषोपाधिर्भस्य

भावस्य निश्चयात् किं प्रमाणान्तरेण अपूर्वार्थाधिगमस्य तत्फलस्याभावात्, समारोपव्यवच्छेदस्य च निश्चिते समारोपाभावेनासंभवादित्यत्रेदमाह—]

सदसज्ज्ञानसंवादविसंवादविवेकतः ।

सविकल्पाविनाभावी समक्षेतरसम्प्लवः ॥५॥

5 [§ ६. नाध्यारोपव्यवच्छेदान्नापि वस्तुग्रहात्ततः, प्रामाण्यमनुमानस्य स्याद्वादन्यायविट्टि-
षाम् । एतदेवाह— ‘एकत्र’ इत्यादिना ।]

एकत्र निर्णयेऽनन्तकार्यकारणतेक्षणे ।

अतद्वेतुफलापोहे कुतस्तत्र विपर्ययः ? ॥६॥

[§ ७. तन्न अभिलापवत्त्वं विकल्पलक्षणमित्येतदेवाह—]

10

अभिलापतदंशानामभिलापविवेकतः ।

अप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुपज्यते ॥७॥

[§ ८. भवतु वा किमपि सामान्यं तथापि शब्दस्मरणवच्चक्षुरादिवुद्धीनामपि व्यवसाया-
त्मव (क) त्वमनिर्वार्यमेव, तदाह—]

पदार्थज्ञानभागानां पदसामान्यनामतः ।

तथैव व्यवसायः स्याच्चक्षुरादिधियामपि ॥८॥

15

[§ ९. तन्न विचारवलात् प्रत्यक्षस्य क्षणविषयत्वावगमः, स्वत एवेति चेन्न; तथैवा-
सम्प्रतिपत्तेरेतदेवाह—]

आत्मनाऽनेकरूपेण बहिरर्थस्य तादृशः ।

विचित्रं ग्रहणं व्यक्तं विशेषणविशेष्यभाक् ॥९॥

20

[§ १०. ननु तदिदं भवतां जात्यन्तरं यत्पुरोवर्तितया प्रतिभाति नीलादिस्थूलरूपं तस्य
च दूरविरलकेशादिविवा (दिवद) विद्यमानस्यैव प्रतिभासनात् कथं तद्रूपो बहिरर्थः पारमार्थिको
यतस्तद्विषयत्वं प्रत्यक्षस्येति चेदत्राह—]

अर्थज्ञानेऽसतोऽयुक्तः प्रतिभासोऽभिलापवत् ।

[§ ११. न केवलमवयविन एव तस्य तद्विषयत्वमपि तद् (तु) द्रव्यस्यापि अक्रमवत्
25 क्रमेणापि परापरपर्यायाविष्ण्वभावस्वभावस्य द्रव्यसंज्ञितस्य स्तम्भादेरविरोधादेतदेवाह—]

परमार्थैकतानत्वपरिणामाविधातिनः ॥१०॥

[§ १२. स्यान्मतम्—अवयवेभ्यो भिन्न एवावयवी, पर्यायेभ्यश्च द्रव्यमर्थान्तरमेव, बहिरर्था
अवयवा एव वा, निरवयविनो द्रव्या एव वा, पर्याया बहिरर्थाः, ततस्तस्यैव प्रत्यक्षात् प्रतिभासो न
क्रमाक्रमानेकस्वभावस्येति । तत्राह—]

30

प्रतिज्ञातोऽन्यथाभावः प्रमाणैः प्रतिषिध्यते ।

[§ १३. विचारज्ञानं स्वपरप्रकाशमुरीकर्तव्यम्, अन्यथा स्वगतपरोक्षतायास्तेनाप्रति-
पत्तेरुक्तदोषापरिहारादेतदेव दर्शयितुमाह—]

परोक्षज्ञानविषयपरिच्छेदः परोक्षवत् ॥११॥

[§ १४. तन्न सिद्धस्य तस्य [अर्थप्रकाशस्य] अन्यथानुपपत्तिपरिज्ञानम्, नाप्यसिद्ध-
स्यैव; नह्यप्रतिपत्ते धूमे तस्य पावकापेक्षं स्वप (सुप) रिज्ञानमन्यथानुपपन्नत्वम्, तदेवाह—] 5

अन्यथानुपपन्नत्वमसिद्धस्य न सिद्ध्यति ।

[§ १५. ततो मिथ्यैवेदं मतम्—‘अव्यवसितैरपि व्यवसायैर्वाह्यं व्यवसीयते’ इति;
तदाह—]

मिथ्याविकल्पकस्यैतद् व्यक्तमात्मविडम्बनम् ॥१२॥

[§ १६. तदेवं प्रासङ्गिकं प्रतिपाद्य ‘परोक्ष’ इत्यादिकस्यैवार्थम् ‘अध्यक्षम्’ इत्यादिभिः 10
श्लोकैः सङ्ग्रहीतुकामः प्रथमं परप्रसिद्धेनैव अर्थज्ञानानुमानेन अर्थज्ञानस्य स्वसंवेदनविषयतां
व्यवस्थापयन्नाह—]

अध्यक्षमात्मनि ज्ञानमपरत्रानुमानिकम् ।

नान्यथा विषयालोकव्यवहारविलोपतः ॥१३॥

[§ १७. पुनरप्युक्तस्यैवार्थस्य सोपपत्तिकं सङ्ग्रहमाह—]

15

आन्तरा भोगजन्मानो नार्थाः प्रत्यक्षलक्षणाः ।

न धियो नान्यथेत्येते विकल्पा विनिपातिताः ॥१४॥

[§ १८. यत्पुनरेतत्—‘माभूत् सुखादीनां प्रत्यक्षत्वम्’ इति; तत्राह—]

सुखदुःखादिसंवित्तेरवित्तिर्न हर्षादयः ।

आनुमानिकभोगस्याप्यन्यभोगाविशेषतः ॥१५॥

20

[§ १९. ततो न सुखादिवुद्धेरप्रत्यक्षत्वं न्याय्यम् । इतश्च [न] तन्न्याय्यम् इत्याह—]

तावत्परत्र शब्दोऽयमनुमातुं कथं धियम् ।

यावदात्मनि तच्चेष्टासम्बन्धं न प्रपद्यते ? ॥१६॥

[§ २०. तन्न आत्मनि बोधज्ञानमनुमानात्, लिङ्गाभावाच्च; तदाह—]

विषयेन्द्रियविज्ञानमनस्कारादिलक्षणः ।

25

अहेतुरात्मसंवित्तेरसिद्धेर्व्यभिचारतः ॥१७॥

[§ २१. ‘मनस्कारादि’ इत्यत्र आदिशब्देन अनुक्तपरिग्रहः । अनुक्तञ्च परिच्छिन्नो
विषयः, तत्परिच्छेदो वा स्यात्, सोप्यात्मसंवित्तेः मीमांसकज्ञानस्य अहेतुरगमकः इत्याह—]

असिद्धसिद्धेरप्यर्थः सिद्धश्चेदखिलं जगत् ।

सिद्धे तत्किमतो ज्ञेयं सैव किन्नानुपाधिका ? ॥१८॥

30

[§ २२. तदयं परोक्षज्ञानेत्यादेः सङ्ग्रहः, तदेव दूषणमन्यत्राप्यतिदिशन्नाह—]

एतेन चेऽपि मन्येरन्नप्रत्यक्षं धियोऽपरम् ।

संवेदनं न तेभ्योऽपि प्रायशो दत्तमुत्तरम् ॥१९॥

[§ २३. ततो नाऽनात्मवेदनस्य ज्ञानस्य विषयप्रतिनियमो विवक्षितवदन्यत्रापि तस्य
5 प्रवृत्तिसंभवात् । तदेवाह—]

विमुखज्ञा न संवेदो विरुद्धो व्यक्तिरन्यतः ।

असञ्चारोऽनवस्थानमविशेष्यविशेषणम् ॥२०॥

[§ २४. साम्प्रतं 'विमुख' इत्यादिकमेव व्याख्यातुकामो यौगज्ञानदूषणं सौगतज्ञानेऽपि
योजयन्निदमाह—]

निराकारेतरस्यैतत् प्रतिभासभिदा यदि ।

तत्राप्यनर्थसंवित्तौ अर्थज्ञानाविशेषतः ॥२१॥

[§ २५. इदानीमुनवस्थानमेव संविद्विषयं पूर्वोक्तं व्यक्ति (क्ती) कुर्वन्नाह—]

ज्ञानज्ञानमपि ज्ञानमपेक्षितपरस्तथा ।

ज्ञानज्ञानलताऽशेषनभस्तलविसर्पिणी ॥२२॥

प्रसज्येत, अन्यथा तद्वत्प्रथमं किन्न मृग्यते ? ।

गत्वा सुदूरमप्येवमसिद्धावन्यचेतसः ॥२३॥

असिद्धिरितरेषाञ्च तदर्थस्याप्यसिद्धितः ।

असिद्धो व्यवहारोऽयमतः किं कथयाऽनया ? ॥२४॥

[§ २६. तदेवमवस्थापिते अर्थज्ञानस्यात्मवेदने सांख्यः प्राह—सत्यमर्थज्ञानं प्रत्यक्षमिति
20 नात्र विवादः, किन्तु तत् परार्थमचेतनञ्च.....तत् इदमुच्यते—अर्थज्ञानमचेतनं विषयत्वात्,
घटादिवदिति; तत्रेदमाह—]

प्रत्यक्षोऽर्थपरिच्छेदो यद्यकिञ्चित्करेण किम् ? ।

अथ नायं परिच्छेदो यद्यकिञ्चित्करेण किम् ? ॥२५॥

[§ २७. अर्थविषयत्वञ्च यदि प्रतिविम्बमन्तरेण प्रथमप्रत्यक्षेऽपि व्यर्थं तत्कल्पनम् ।
25 प्रतिविम्बेनेति चेत्; तदर्थकार्यत्वस्यापि न स्वतोऽवगमः । पूर्ववदन्यतः प्रत्यक्षादिति चेन्न;
तस्याप्यर्थविषयत्व इत्याद्यनुबन्धादव्यवस्थितेः । एतदेवाह—]

प्रत्यक्षं करणस्यार्थप्रतिविम्बमसंविदः ।

[§ २८. न पुरुषस्यापि वस्तु तदुपरक्तं वा चित्तं संवेद्यं संभवतीति, तदेवाह—]

अप्रत्यक्षं स्वसंवेद्यमयुक्तमविकारिणः ॥२६॥

30 [§ २९. यथैव तर्हि स्वरूपं संवेदनरूपेण पश्यति तदाऽर्थमर्थरूपेण इत्यर्थरूपता

अर्थस्य साधिका, संवेदनरूपता संवेदनस्येति तदाकारतैव सर्वस्य साधिका नान्यः स्वभावो भेद-
कोऽपि ज्ञानस्यार्थेन घटयतीत्यत्राह—]

एतेन वित्तिसत्तायाः साम्यात्सर्वैकवेदनम् ।

प्रलपन्तः प्रतिक्षिप्ताः प्रतिविम्बोदये समम् ॥२७॥

[§ ३०. पुनरपि साकारवादं दूषयन्नाह—]

5

सारूप्येऽपि समन्वेति प्रायः सामान्यदूषणम् ।

[§ ३१.इति नार्थः सारूप्येण यतः स एव तत्र तद्विशेषः स्यात् । कस्तर्हि तद्वि-
शेष इति चेत्, अतदर्थपरावृत्तत्वमेव, तदेवाह—]

अतदर्थपरावृत्तमतद्रूपं तदर्थदृक् ॥२८॥

[§ ३२. तदयमर्थशक्तिनियमात् संवेदनस्याधिगमनियमः इत्येतदेवोत्तरार्थं विवृण्वन्नाह—] 10

अथेदमस्वरूपं किमतदर्थनिवृत्तितः ।

तदर्थवेदनं न स्यादसमानामपोहवत् ॥२९॥

अत्राक्षेपसमाधीनामभेदे नूनमाकुलम् ।

स्वचित्तमात्रगर्तावतारसोपानपोषणम् ॥३०॥

[§ ३३. स्यान्मतम्—‘सारूप्येऽपि’ इत्यादिना सारूप्यसामान्ययोः साधारणो दोषः 15
(षोऽन) न्वयः प्रतिपादितः । ततश्च कथं सारूप्यवत् सामान्यस्यापि वस्तुत्वम्? माभूदिति चेन्न;
तस्य ‘सामान्यविशेषार्थात्मवेदनम्’ इत्यनेन प्रत्यक्षविषयत्वनिवेदनात् । अवस्तुनः प्रत्यक्षविषय-
त्वानुपपत्तेरिति । तत्राह—]

सामान्यमन्यथासिद्धं न विज्ञानार्थयोस्तथा ।

अदृष्टेरर्थरूपस्य प्रमाणान्तरतो गतेः ॥३१॥

20

[§ ३४. भवतु तर्हि प्राग्भाविन एव विषयत्वं तस्य हेतुत्वेन ज्ञाने प्रतिबन्धादिति चेन्न;
ज्ञानकाले तस्याभावात् । न हि असतस्तत्काले तद्विषयत्वम्, एवं हि निर्विषयत्वमेव ज्ञानस्य
स्यात् । साकारवादिनां तु नायं दोषः, साकारज्ञानहेतुतयैव तस्य तद्विषयत्वोपपत्तेः.....तत्राह—]

अतीतस्यानभिव्यक्तौ कथमात्मसमर्पणम् ? ।

असतो ज्ञानहेतुत्वे व्यक्तिरव्यभिचारिणी ॥३२॥

25

[§ ३५. यदि निराकारैव व्यक्तिः, कथं ततः प्रकाशननियमो ‘नीलस्यैवायं प्रकाशो
न पीतादेः’ इत्येवंरूप इति चेदत्राह—]

प्रकाशननियमो हेतोर्बुद्धेर्न प्रतिविम्बतः ।

अन्तरेणापि ताद्रूप्यं ग्राह्यग्राहकयोः सतोः ॥३३॥

[§ ३६. भवतु नाम सत्यर्थं (यै) हेतोरेव तत्प्रकाशननियमो न ताद्रूप्यात् । यत्र तु 30

तैमिरिकज्ञानादावर्थ एव नास्ति तत्र कथम्.....इति सिद्धं तत्केशादेस्ताद्रूप्यादव प्रतिविदनम्, ततस्तत्र विपर्यस्यत्येव भवदुक्तो न्यायः । तदेवाह—]

अनर्थाकारशङ्केषु द्रुटत्येष नयो यदि ।

[§ ३७. उत्तरमाह—]

5

सर्व समानमर्थात्मासंभाव्याकारडम्बरम् ॥३४॥

तद्भ्रान्तेराधिपत्येन सान्तरप्रतिभासवत् ।

[§ ३८. इदानीं 'प्रकाशनियमो हेतोः' इत्यादिकमेव व्याचिख्यासुरवसरप्राप्तमेव चोद्य-
मुत्थापयति—]

यथैवात्मायमाकारमभूतमवलम्बते ॥३५॥

10

तथैवात्मानमात्मा चेदभूतमवलम्बते ।

[§ ३६. तत्रोत्तरमाह—]

न स्वसंवेदनात्तुल्यं भ्रान्तेरन्यत्र चेन्मतम् ॥३६॥

[§ ४०. तदेकयोगक्षेमत्वेन आत्माप्यनुपपन्न एव स्वपरपरिच्छेदस्वभावावपि तस्य, इति
कथन्न ब्राह्मग्रहणम् ? तदेवाह—]

15

सत्यं तमाहुराचार्या विद्यया विभ्रमैश्च यः ।

यथार्थमयथार्थं वा प्रभुरेषोऽवलोकते ॥३७॥

[§ ४१. ततो न ग्राह्यभेदान्नाप्याकारभेदात् संवित्तिभेदः शक्तिभेदादेव तदुपपत्तेः इत्यु-
पपन्नमुक्तम्—'विषय' इत्यादि ।]

विषयज्ञानतज्ज्ञानविशेषोऽनेन वेदितः ।

20

ग्राह्यभेदो न संवित्तिं भिनत्त्याकारभङ्ग्यपि ॥३८॥

[§ ४२. ततो विषयसङ्कलिततज्ज्ञानस्मरणस्य अन्यथैव भावान्न ततो विषयाकारव्यव-
स्थापनं विज्ञानस्योपपन्नमिति चेदुच्यते—अर्थकार्यतया ज्ञानस्मृतावर्थस्मृतेर्यदि । भ्रान्त्या सङ्कलनं
ज्योतिर्मनस्कारेऽपि सा भवेत्....तदिदमतिप्रसङ्गापादनं....परस्याव्युत्पत्तिमापादयति न निराकार-
ज्ञानवादिनः, शक्तिप्रतिनियमादेव तेन तत्परिहारस्य अभिधानात् । तदेवाह—]

25

अर्थज्ञानस्मृतावर्थस्मृतौ नातिप्रसज्यते ।

[§ ४३. कथं पुनर्नातिप्रसज्यते यावता निराकारज्ञानस्य साधारणतया सर्वविषयत्वं
तत्स्मरणस्यैव च सर्वत्रैवानुभवविषये प्रवर्तनमापद्यत एवेति चेत् ; अत्र पूर्वोक्तमेव शक्तिनियममुत्त-
रीकुर्वन्नाह—]

सरूपमसरूपं वा यत्परिच्छेदशक्तिमत् ॥३९॥

30

तद्व्यनक्ति ततो नान्यत्,

[§ ४४. भवतु नाम वर्तमानस्य तच्छक्तितो व्यक्तिः सति तत्र शक्तिसद्भावात् । अती-
तादेस्तु कथम् असति तदभावादिति मन्यमानश्चोदति—]

व्यक्तिश्चेदसतः कथम् ? ।

[§ ४५. तदिदमपि दर्शनबलेन तत्रापि शक्तिमवस्थापयन् परिहरति—]

आरादपि यथा चक्षुरचिन्त्या भावशक्तयः ॥४०॥

5

[§ ४६ चोद्यमाविष्कुर्वन्नाह—]

विषमोऽयमुपन्यासः तयोश्चेत्सदसत्त्वतः ।

[§ ४७. परिहरन्नाह—]

यदा यत्र यथा वस्तु तदा तत्र तथा नयेत् ॥४१॥

अतत्कालादिरप्यात्मा,

10

[§ ४८. विपक्षे दोषमाह—]

न चेन्न व्यतिष्ठते ।

व्यवहारविलोपो वा,

[§ ४९. नास्त्येव देशादिभेदः प्रवृत्त्यादिरूपो व्यवहारो वा कश्चित्, तदाश्रयस्य
बहिर्भावस्यैवाऽभावात् । तत्प्रतिभासस्तु विपर्यासोपनीत एव । 'प्रतिभासः समस्तोऽपि वासना-
बलनिर्मितः' इति वचनात् । तस्मादयमयथार्थमेव (र्थ एव) तदेवाह—]

मोहाच्चेदयथार्थता ॥४२॥

[§ ५०. तत्रोत्तरमाह—]

अत्यन्तमसदात्मानं सन्तं पश्यन् स किं पुनः ।

प्रस्फुटं विपरीतं वा न्यूनाधिकतयापि वा ॥४३॥

20

प्रदेशादिव्यवायेऽपि प्रतीयन् प्रतिरुद्धयते ? ।

[§ ५१. साम्प्रतं 'विपरीतं वा प्रति (ती) यन्' इत्येतत् स्मरणपर्यायेणैव (नेव) प्रत्यभि-
ज्ञानादिना पर्यायेणापि दम (दर्श) यन्नाह—]

एतेन प्रत्यभिज्ञानाद्यतीतानुमितिर्गता ॥४४॥

प्रायशोऽन्यव्यवच्छेदे प्रत्यग्रानवबोधतः ।

25

अविज्ञाततथाभावस्याभ्युपायविरोधतः ॥४५॥

[§ ५२. स्यान्मतम्—यदुक्तमसन्नेव केशादिः तैमिरिकस्य प्रतिभासते तद्भ्रान्तेराधिपत्येने-
ति; तदयुक्तम्; असतः प्रतिभासेऽतिप्रसङ्गात् व्योमकुसुमादेरपि तदापत्तेः, ततो वस्तुसन्नेव
तत्केशादिः स्वप्नविषयश्चेति; तन्न;.....इच्छयैव तद्भावनालक्षणया परितः कामिन्यादेरुपलम्भात्,
अतो न तस्य पारमाथिकं बहिरर्थत्वमेतदेवाह—]

30

अभिन्नदेशकालानामन्येषामप्यगोचराः ।

विप्लुताक्षमनस्कारविषयाः किं बहिः स्थिताः ? ॥४६॥

[§ ५३. ततो न बहिरर्थतया स्वप्रान्तिकस्य कामिन्यादेर्वा सत्त्वम्, बहिरवस्थितस्य नानाप्रतिपत्तृसाधारणत्वप्रसङ्गात् । नायं दोषः, तस्य अन्तर्देहवृत्तित्वात् इति चेत्; इदमेवोल्लिङ्ग्य
5 (ल्लिख्य) परिहारयन्नाह—]

अन्तःशरीरवृत्तेश्चेददोषोऽयम् ; न; तादृशः ।

तत्रैव ग्रहणात् किं वा रचितोऽयं शिलाप्लवः ॥४७॥

[§ ५४. तदिदमतिसुकुमारप्रज्ञगोचरमपि हेतुदोषम् अन्तरङ्गतमोवाहुलका [८] प्रति-
पद्यमानैरेव परैः प्रकृतमनुमानमुपदर्शितमित्यावेदयन्नाह—]

10

विप्लुताक्षा यथा बुद्धिर्वितथप्रतिभासिनी ।

तथा सर्वत्र किन्नेति जडाः सम्प्रतिपेदिरे ॥४८॥

[§ ५५. यत्पुनरेतत्—कामिन्यादिवुद्धिविचारङ्गचन्द्रादिवच्चेति निदर्शनम् ; तत्रापि वितथ-
प्रतिभासित्वस्य च यतः प्रतिपत्तिः तस्य चेद्वितथप्रतिभासत्वं कथन्न व्यभिचारः ? वितथप्रति-
भासित्वे तु ततः कथं तत्सिद्धिर्विपर्ययवत् । अतो निदर्शनस्य साध्यवैकल्या [त्] मिथ्या [त्वमा]
15 वेदयन्नाह—]

प्रमाणमात्मसात्कुर्वन् प्रतीतिमतिलङ्घयेत् ।

वितथज्ञानसन्तानविशेषेषु न केवलम् ॥४९॥

[§ ५६. ग्राह्यादिसन्तानान्तरजीवान्तरभेदप्रतिभासस्तु विपरीतवासनावलादविद्याबलाद्वा
परिकल्पितः...तदेवाह—]

20

अद्वयं द्वयनिर्भासं सदा चेदवभासते ।

[§ ५७. तत्रोत्तरमाह—]

न स्वतो नापि परतो भेदपर्यनुयोगतः ॥५०॥

[§ ५८. तन्न अत्रापि विकल्पप्रतिसंहारवती वेला नाम काचिच्छक्यनिरूपणा, यतद
(यतस्तद) द्वैतस्य स्वतःप्रकाशनमुपकल्प्येत । तदाह—]

25

प्रतिसंहारवेलायां न संवेदनमन्यथा ।

[§ ५९. तन्न अद्वैतवादः श्रेयान् । विभ्रमवाद एवास्तु; इति चेन्न; तस्य 'विप्लुत'
इत्यादिना प्रतिक्षेपात् । तदेव व्याचक्षाणास्तत्प्रतिक्षेपमेव दर्शयति—]

इन्द्रजालादिषु भ्रान्तिमीरयन्ति नचापरम् ॥५१॥

अपि चाण्डालगोपालबाललोलविलोचनाः ।

30

[§ ६०. बालादीनामपि तत्र विप्लवप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्, न चैवम्, अविल्लवपरिज्ञानस्य
तत्र तेषां भावादित्यसिद्धो हेतुः । अतश्च तद्वादिनां जडत्वमिति,....तदाह—]

तत्र शौद्धोदनेरेव कथं प्रज्ञाऽपराधिनी ॥५२॥

बभूवेति वयं तावद् बहु विस्मयमास्महे ।

तत्राद्यापि जनाः सक्ताः तमसो नाऽपरं परम् ॥५३॥

[§ ६१. अपि च यद्यपरिज्ञान तद्विस्तृतस्य कथमवस्थानम् अविवक्ष्यवत् ? परिज्ञानञ्च यद्यविस्तृतं कथं तदेकान्तः ? सविस्तृतं चेत्कथं ततस्तत्सिद्धिः विपर्ययवत् ? तदाह—]

5

विभ्रमे विभ्रमे तेषां विभ्रमोऽपि न सिद्ध्यति ।

[§ ६२. तदसिद्धौ दूषणान्तरमप्याह—]

कथमेवार्थ आकाङ्क्षानिवृत्तेरपि कस्यचित् ॥५४॥

व्यवहारो भवेज्जातिमूलोहितपीतवत् ? ।

[§ ६३. तदनेन प्रतीत्यपलापादनवधेयवचनत्वं तेषामुपदर्शयति—]

10

अनर्थानेकसन्तानानस्थिरानविसंविदः ॥५५॥

अन्यानपि स्वयं प्राहुः प्रतीतेरपलापकाः ।

[§ ६४. भवतु तत्त्वं संविद्वैतमेवेति चेत् ; दत्तमत्रोत्तरम्—‘अद्वयं द्वयनिर्भासम्’ इत्यादिना । तदेव विस्तरयन्नाह—]

स्वतस्तत्त्वं कुतस्तत्र वितथप्रतिभासतः ? ॥५६॥

15

मिथस्तत्त्वं कुतस्तत्र वितथप्रतिभासतः ? ।

[§ ६५. अतो विद्यत एव परस्यापि परतस्तत्प्रतिभासनमित्युपपन्न एव तदुपक्षेपः, तदेवाह—]

यतस्तत्त्वं पृथक् तत्र मतः कश्चिद् बुधः परः ॥५७॥

ततस्तत्त्वं गतं केन कुतस्तत्त्वमतत्त्वतः ? ।

20

[§ ६६. यदि निरंशस्य स्वतः परतश्च न प्रतिभासनं तदपि माभूत् ; सर्वाभावस्यापि बौद्धैः सिद्धान्तीकरणादिति कश्चित् । निरंशेतरादिनित्येतरादिविकल्पनादिति परः । तत्राह—]

यथा सत्त्वं सतत्त्वं वा प्रमासत्त्वसतत्त्वतः ॥५८॥

तथाऽसत्त्वमतत्त्वं वा प्रमाऽसत्त्वसतत्त्वतः ।

[§ ६७. यदि तेषु सत्त्वस [त] त्वे तदा कथमसत्त्वासतत्त्वे ? ते चेत् ; कथं सत्त्व- 25 सतत्त्वे इति ? तदेवाह—]

तदसत्त्वमतत्त्वं वा परसत्त्वसतत्त्वयोः ॥५९॥

न हि सत्त्वं सतत्त्वं वा तदसत्त्वासतत्त्वयोः ।

[§ ६८. स्यान्मतम्—सांवृतमपि विज्ञानमसत्त्वादिविषयमेव तत्त्वसिद्धिनिवन्धनं न सतत्त्वादिविषयमिति तन्मिथ्यात्वाविशेषात् । मिथ्याज्ञानमपि मणिप्रभामणिज्ञानमेव तन्निवन्धनम्, 30

तत्र मणिप्राप्त्या परितोषदर्शनात्, न प्रदीपप्रभामणिज्ञानं विपर्ययात् । तद्वदत्रापीति चेन्न ; तत्रापि विभ्रमे तदनुपपत्तेः.....तदेवाह—]

परितुष्यति नामैकः प्रभयोः परिधावतोः ॥६०॥

मणिभ्रान्तेरपि भ्रान्तौ मणिरत्र दुरन्वयः ॥

5 [§ ६६. तदनेन साध्यसमत्वं दृष्टान्तस्य दर्शितम् । परो दृष्टान्तसमर्थनमाह—]

सति भ्रान्तेरदोषश्चेत्;

[§ ७०. तत्रोत्तरमाह—]

तत्कुतो यदि वस्तु न ? ॥६१॥

कामं सति तदाकारे तद्भ्रान्तं साधु गम्यते ।

10 [§ ७१. तत्र सांवृतं तत्त्वमित्युपपन्नम् । भवतु वास्तवमेवेति चेन्न ; तस्य मिथ्याज्ञाना-
दसिद्धेः, सर्वेषामपि तत एवाभिमतसिद्धिप्रसङ्गात् । तदाह—]

अयमेवं नवेत्येवमविचारितगोचराः ॥६२॥

जायेरन् संविदात्मानः सर्वेषामविशेषतः ।

तावता यदि किञ्चित् स्यात् सर्वेऽमी तत्त्वदर्शिनः ॥६३॥

15 [§ ७२. शून्य-निर्विकल्पवादिनोः विचारस्यैवासंभवात् । सतोऽपि तस्य स्वांशमात्रपर्य-
वसानात् तदाह—]

पर्वतादिविभागेषु स्वांशमात्रावलम्बिभिः ।

विकल्पैरुत्तरैर्वेत्ति तत्त्वमित्यतियुक्तिमत् ॥६४॥

[§ ७३. ततो विचारसाफल्यमभ्युपगच्छता तावद् वक्तव्यं वहिरर्थविषयत्वं विकल्पानाम्,

20 अन्यथा उपहासास्पदत्वेन तत्साफल्यानुपपत्तेः । प्रकारान्तरेणापि तेषां तद्विषयत्वं दर्शयन्नाह—]

सन्तानान्तरसद्भूतेश्चान्यथानुपपत्तितः ।

विकल्पोऽर्थक्रियाकारविषयत्वेन तत्परैः ॥६५॥

ज्ञायते,

[§ ७४. ननु यावदर्थान्तरस्यैव जलादेर्विकल्पवेद्यत्वमनुमानेन उच्यते, तावदनर्थान्तरस्य

25 कस्माच्च कथ्यते ? तदनुमानस्यापि भावात् ; तथाहि—जलादिस्तद्विकल्पादनर्थान्तरं तद्वेद्यत्वात्
तत्स्वरूपवत् इति चेन्न ; सन्तानान्तरेण व्यभिचारात् । इदमेवाह—]

न पुनश्चित्तमात्रेऽप्येष नयः समः ।

[§ ७५. ननु सन्तानान्तरस्य विकल्पो न तावत्प्रत्यक्षम् ; परचेतसां साक्षादप्रतिभास-
नात् । अनुमानमिति चेन्न ; लिङ्गाभावात् । व्याहारादेस्तु न लिङ्गत्वं ग्राहमूर्च्छादौ तदभावेऽपि
30 भावात् । तद्विशेषस्य तत्त्वमित्यपि न युक्तम् ; असिद्धे साध्ये तस्यैव दुरवबोधत्वात् । सिद्धे

तस्मिन् तद्बुद्धिरिति चेन्न ; परस्पराश्रयात्—साध्यसिद्ध्या तद्विशेषस्य तत्सिद्ध्या च साध्यस्य व्यवस्थापनात् । तदेवाह—]

अन्योन्यसंश्रयान्नो चेत्,

[§ ७६. समाधानान्तराभिधित्तया परं पृच्छन्नाह—]

तत्किमज्ञानमेव तत् ? ॥६६॥

5

[§ ७७. तत्रोत्तरमाह—]

अद्वयं परचित्ताधिपतिप्रत्ययमेव वा ।

वीक्षते किं तमेवायं विषमज्ञ इवान्यथा ॥६७॥

[§ ७८. तेषां [विकल्पानाम्] समारोपव्यवच्छेदेन फलवत्त्वात्तदेवाह—]

समारोपव्यवच्छेदः साध्यश्चेत् सविकल्पकैः ।

10

[§ ७९. अत्रोत्तरमाह—]

नैषा विकल्पना साम्याद्दोषाणामनिवृत्तितः ॥६८॥

[§ ८०. एवं विकल्पानामर्थक्रियाकारविषयत्वव्यवस्थापनेन बहिरर्थमवस्थाप्य प्रकारान्तरेणापि तमवस्थापयन्नाह—]

न हि जातु विषज्ञानं मरणं प्रति धावति ।

15

असंश्चेद् बहिरर्थात्मा प्रसिद्धोऽप्रतिषेधकः ॥६९॥

[§ ८१. ननु यथा तस्य [बहिरर्थस्य] न प्रतिषेधकं तथा न साधकमपि । ततःसाधक-बाधकप्रमाणाभावात् सन्देह एव । न च सन्दिग्धस्य प्रसिद्धत्वमिति चेदत्राह—]

सन्देहलक्षणाभावात्, मोहश्चेद् व्यवसायकृत् ; ।

बाधकासिद्धेः, स्पष्टाभात् कथमेष निश्चयः ? ॥७०॥

20

विपर्यासोऽपि किन्नेष्टः आत्मनि भ्रान्त्यसिद्धितः ? ।

[§ ८२. भेद एव भ्रमस्तस्य चिदादौ नात्मनीति चेत्, विभ्रमेतररूपं तदेकं संवेदनं कथम् ? तथैव प्रतिभासाच्चेदेतदेवाह सौगतः—]

अद्वयं द्वयनिर्भासमात्मन्यप्यवभासते ॥७१॥

[§ ८३. एवं प्रक्रमानेकान्ते परेण निरूपिते सत्याह—]

25

इतरत्र विरोधः कः एक एव स्वहेतुतः ।

तथा चेत् स्वपरात्मानौ सदसन्तौ समश्नुते ? ॥७२॥

[§ ८४. तन्न विभ्रमेतराकारतया उभयाकारं संवेदनं यत् तदवस्थंभेन (वष्टम्भेन) क्रमानेकान्तव्यवस्थापनमिति चेदत्राह—]

तत्प्रत्यक्षपरोक्षाक्षक्षममात्मसमात्मनोः ।

तथा हेतुसमुद्भूतमेकं किञ्चोपगम्यते ? ॥७३॥

सर्वैकत्वप्रसङ्गादिदोषोऽप्येव ससो न किम् ? ।

भेदाभेदव्यवस्थैव प्रतीता लोकचक्षुषः ॥७४॥

5 [§ ८५. नहि विभ्रमाद्वस्तुपरिज्ञानमतिप्रसङ्गात्, इति चेदेतदेवाशङ्क्य परिहरन्नाह—]

विज्ञप्तिर्वितथाकारा यदि वस्तु न किञ्चन ।

भासते केवलं नो चेत् सिद्धान्तविषमग्रहः ॥७५॥

[§ ८६. भवतु तत एव निर्णय इति चेन्न; ततोऽपि विभ्रमरूपात्तदयोगात्, अन्य-
तादृशादेव प्र[ति] सिद्धान्तादपि तद्विषयस्य तत्प्रसङ्गात्तदेवाह—]

10 अनादिनिधनं तत्त्वमलमेकमलं परैः ।

सम्प्रीतिपरितापादिभेदात् तत्किं द्वयात्मकम् ? ॥७६॥

[§ ८७. एवं पातनिकायां प्रतिविदाहन (विधान) माह—]

ग्राह्यग्राहकवद्भ्रान्तिस्तत्र किञ्चानुषज्यते ? ।

[§ ८८. तदेवमङ्गीकृत्य सम्प्रीत्यादिभेदं तस्य तत्प्रत्यक्षवलादेवोपपत्तेः न ब्रह्मवादो विपर्यया-
15 एवोपायान्तास्तीति निवेदयन्नाह—]

भेदो वा सम्मतः केन हेतुसाम्येऽपि ? भेदतः ॥७७॥

तेषामेव सुखादीनां नियमश्च निरन्वयः ।

[§ ८९. भवतु तर्हि विज्ञानवाद एव तस्य प्रत्यक्षवलादेवोपपत्तेः न ब्रह्मवादो विपर्यया-
दिति चेदत्राह—]

20 प्रत्यक्षलक्षणं ज्ञानं मूर्च्छितादौ कथन्न तत् ? ॥७८॥

[§ ९०. अपि च मूर्च्छितादौ ज्ञानाभावे प्रबोधस्य कादाचित्कत्वेनाहेतुत्वायोगात् शरीरो-
पादानत्वप्रसङ्गात्तदाह—]

अज्ञानरूपहेतुस्तदहेतुत्वप्रसङ्गतः ।

प्रवाह एकः किञ्चेष्टः तदभावाविभावनात् ? ॥७९॥

25 [§ ९१. यद्येक आत्मा कथं प्रतिशरीरं जीवभेद...इति चेन्न सम्यगेतत्, उपाधि-
कल्पितेभ्यस्तेभ्यः परमात्मनोऽन्यत्वात्, ...तद्विकारत्वाच्च, तस्यैव परमात्मनः खल्वेते विकाराः
तथै (त्रै) बाह—]

अविप्रकृष्टदेशादिरनपेक्षितसाधनः ।

दीपयेत् किञ्च सन्तानः सन्तानान्तरमञ्जसा ? ॥८०॥

30 अन्यवेद्यविरोधात्; किमचिन्त्या योगिनां गतिः ।

आयातमन्यथाऽद्वैतमपि चेत्थमयुक्तिमत् ॥८१॥

[§ ६२. कथं पुनर्बहिरर्थस्य वस्तुसतः परिज्ञानम् ? न प्रतिभासात्, तस्याऽसत्यपि तस्मिन् विल्लवावस्थायां भावात् । तद्विशेषादित्यपि न युक्तम्, अजादितत्त्वादेस्तद्विशेषस्य निराकरणादिति चेन्न; तद्वत् सन्तानान्तरस्यापरिज्ञानापत्तेः, प्रत्यक्षतस्तदवेदनात्, तल्लिङ्गस्य च व्याहारादेरसत्यपि तस्मिन् विल्लवदशायां भावात्तदाह—]

व्यवहारादिनिर्भासो विप्लुताक्षेऽपि भावतः ।

5

अनाधिपत्यशून्यं तत् पारम्पर्येण चेत्; असत् ॥८२॥

अर्थेष्वपि प्रसङ्गश्चेत्यहेतुमपरे विदुः ।

[§ ६३. ...ततो भवत्येव नीलतज्ज्ञानयोरेभेदप्रतिपत्तिरिति चेदत्राह—]

सहोपलम्भनियमान्नाभेदो नीलतद्वियोः ॥८३॥

विरुद्धासिद्धसन्दिग्धव्यतिरेकानन्वयत्वतः ।

10

[§ ६४. तदयं प्रतिपक्षमनपाकुर्वत एव कल्पिताद्धेतोः साध्यसिद्धिं तात्त्विकीमन्विच्छन् कथमिव प्रज्ञावन्तमात्मानं प्रेक्षावद्भयः प्रकटीकुर्यात्, अपि च यदि केनापि निष्ठुरहृदयेन विप्रलब्धो न भवेत्तदाह—]

साध्यसाधनसङ्कल्पस्तत्त्वतो न निरूपितः ॥८४॥

परमार्थावताराय कुतश्चित्परिकल्पितः ।

15

अनपायीति विद्वत्तामात्मन्याशंसमानकः ॥८५॥

केनापि विप्रलब्धोऽयं हा कष्टमकृपालुना ! ।

[§ ६५. स्यादेतदेवं यदि परमाणवः प्रतीयेरन्, न चैवम्; एकैकशः समुदायेन वा तत्प्रतिपत्तेरप्रतिवेदनात् । .. तदारब्धोऽवयवीति चेन्न; परमाणूनां निरपेक्षतया तदारम्भकत्वे पृथग्दशायामपि प्रसङ्गात् । संयोगसव्यपेक्षाणां तत्त्वे; संयोगो यद्यकदेशेन, अव्यवस्थापत्तिः । 20 तदाह—]

तत्र दिग्भागभेदेन षडंशाः परमाणवः ॥८६॥

[§ ६६. तस्मान्नैकदेशेन तेषां संयोगः । सर्वात्मनेति चेदत्राह—]

नो चेत् पिण्डोऽणुमात्रः स्यान्न च ते बुद्धिगोचराः ।

[§ ६७. पटादेरपि परपरिकल्पितस्याभावात्, अभावश्च तस्य परिस्फुटमनवभास- 25 नात्तदाह—]

न चैकमेकरागादौ समरागादिदोषतः ॥८७॥

स्वतः सिद्धेरयोगाच्च, तद्वृत्तेः सर्वथेति चेत्; ।

[§ ६८. साम्प्रतं पूर्वपक्षसमाप्तिमिति शब्देन चेच्छब्देन च पराभिप्रायं द्योतयन्नाह— 'इति चेत्' इति । अत्रोत्तरमाह—]

30

एतत्समानमन्यत्र भेदाः संविदसंविदोः ॥८८॥

न विकल्पानपाकुर्यान्नैरन्तर्यानुबन्धिनः ।

आहुरर्थबुलायातमनर्थमविकल्पकाः ॥८९॥

[§ ९९. इदमेव अनेकान्तवादिनमुपहसतः सौगतस्य प्रत्युपहासं दर्शयन् व्याचष्टे—]

5

चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः ।

चित्रं शून्यमिदं सर्वं वेत्ति चित्रनमं ततः ॥९०॥

[§ १००. ततो न यथोक्तं बाह्यमसत्, नापि विभ्रममात्रम्, सकलविकल्पविकलं वा, तत्प्रतिषेधस्याभिहितत्वात् । नापि संवृतिमात्र (त्रं) स्पष्टप्रतीतिविषयस्य तत्त्वानुपपत्तेः । तदाह—]

तस्मान्नैकान्ततो भ्रान्तिर्नाऽसत्संवृतिरेव वा ।

10

अतश्चार्थबुलायातमनेकात्मप्रशंसनम् ॥९१॥

[§ १०१. सुगतसन्निधानात्तद् (चित्रज्ञानं) अवगम्यत इति चेन्न; अद्वैतवादे सुगतस्यैवाभावात् । भावेऽप्युत्तरमाह—]

न ज्ञायते न जानाति न च किञ्चन भापते ।

बुद्धः शुद्धः प्रवर्त्तेति तत्किलैषां सुभाषितम् ॥९२॥

15

[§ १०२. न च कार्याभावादसत्त्वं कार्येण सत्त्वव्याप्तेरभावात्.....इति न कार्याभावात् तद्द्वय (तदद्वय) स्याभावः, एतदेवाह—]

न जातं न भवत्येव न च किञ्चित्करोति सत् ।

[§ १०३. उत्तरमाह—]

तीक्ष्णं शौद्धोदनेः शृङ्गमिति किन्न प्रकल्प्यते ? ॥९३॥

20

[§ १०४. ततो युक्तं विज्ञानवदर्थस्यापि प्रतीतिबलादवस्थापनम् । इदानीं वक्तव्यशेषं दर्शयित्वा परिहर्त्तुमाह—]

एकेन चरितार्थत्वात्तत्राविप्रतिपत्तिः ।

अलमर्थेन चेत्;

[§ १०५. उत्तरमाह—]

25

नैवमतिरूढानुवादतः ॥९४॥

[§ १०६. ततः प्रतीतिबलाद्विज्ञानस्य यदस्तित्वं तदर्थस्यापि, यच्च अर्थस्याऽपरमार्थत्वं विशददर्शनपथप्रस्थापित्वात्तैमिरिककेशादिवत् तद् विज्ञानस्यापि स्यादविशेषात् । तदाह—]

कल्पना सदसत्त्वेन समा किन्तु गरीयसी ।

प्रतीतिप्रतिपक्षेण तत्रैका यदि नापरा ॥९५॥

[§ १०७. न चैवं केशादेरपि तज्ज्ञानात्सिद्धिः; तत्र स्वतः परतश्च असत्यत्वस्यैव निश्च-
यात्, तदाह—]

न हि केशादिनिर्भासो व्यवहारप्रसाधकः ।

[§ १०८. पर आह—वासनाभेदात् । तत्रोत्तरम्—सिद्धस्तत्र ।]

वासनाभेदाद्भेदोऽयम्; सिद्धस्तत्र न सिद्ध्यति ॥९६॥ 5

तन्मात्रभावो दृष्टान्ते सर्वत्रार्थोपकारतः ।

पारम्पर्येण साक्षाद्वा परापेक्षाः सहेतवः ॥९७॥

विच्छिन्नप्रतिभासिन्यो व्यवहारादिधियो यथा ।

[§ १०९. यथैताः परापेक्षाः तथान्येऽपि दृष्टान्ता इत्येवं साध्यवैकल्यं दृष्टान्तस्य
प्रतिपाद्य इदानीं तन्मात्रभावे साध्यसिद्धिमावेदयन्नाह—] 10

सन्निवेशादिभिर्दृष्टैर्गोपुराट्टालिकादिषु ॥९८॥

बुद्धिपूर्वैर्यथा तत्त्वं नेष्यते भूधरादिषु ।

तथा गोचरनिर्भासैर्दृष्टैरेव भयादिषु ॥९९॥

अबाह्यभावनाजन्यैरन्यत्रेत्यवगम्यताम् ।

अत्र मिथ्याविकल्पौघैरप्रतिष्ठानकैरलम् ॥१००॥ 15

[§ ११०. भवतु बहिरर्थः स तु परमाणुरूप एव तस्यैव प्रत्यक्षत्वान्न परो विपर्यया-
दित्युपक्षिप्य प्रत्याचक्ष्णाण आह—]

अत्यासन्नानसंसृष्टानणूनेवाक्षगोचरान् ।

अपरः प्राह; तत्रापि तुल्यमित्यनवस्थितिः ॥१०१॥

[§ १११. तदेवं परमाणूनां प्रत्यक्षत्वं प्रत्याख्याय अवयविनस्तत्प्रत्याख्यानायां यौग- 20
मतमुपक्षिपति—]

तत्रापि तुल्यजातीयसंयोगसमवायिषु ।

अत्यक्षेषु द्रुमेष्वन्यदध्यक्षमपरे विदुः ॥१०२॥

[§ ११२. अत्र प्रतिविधानमाह—]

कारणस्याक्षये तेषां कार्यस्योपरमः कथम् ? । 25

[§ ११३. ततः शाखाचलनमेव वृक्षस्यापि चलनमिति कथं शाखातादात्म्यं वृक्षस्य
प्रतीतिसिद्धं न भवेत्, यतस्तत्र अर्थान्तरसम्बन्धप्रतिज्ञा प्रतीतिप्रतिक्षिप्ता हेतवश्च विरुद्धा
न भवेयुः । तदेवाह—]

समवायस्य वृक्षोऽत्र शाखाखिल्यादिसाधनैः ॥१०३॥

अनन्यसाधनैः सिद्धिरहो लोकोत्तरा स्थितिः ! । 30

[§ ११४. कुतः पुनः समवायाभावे 'शाखासु वृक्षः' इति प्रत्ययः ? इति चेदत्राह—]

अथ ऊर्ध्वविभागादिपरिणामविशेषतः ॥१०४॥

तानेव पश्यन् प्रत्येति शाखाः वृक्षेऽपि लौकिकः ।

[§ ११५. इति नावधिभ्यः [परमाणुभ्यः] स्थूलमर्थान्तरम्, अर्थान्तरत्वे पुनरपि

५ तदाशङ्कापूर्वं दूषणमाह—]

तुलितद्रव्यसंयोगे स्थूलमर्थान्तरं यदि ॥१०५॥

तत्र रूपादिरन्यश्च साक्षैरीक्ष्येत सादरैः ।

[§ ११६. तत्रैव दूषणान्तरमाह—]

गौरवाधिक्यतत्कार्यभेदाश्च,

10 [§ ११७. अत्र परस्य परिहारमाह—]

आसूक्ष्मतः किल १०६॥

अतौल्यादर्थराशेस्तद्विशेषानवधारणम् ; ।

[§ ११८. तन्नातौल्याद् गुरुत्वादेस्तत्राप्यनवधारणम् । आहासिद्धत्वमप्यस्य हेतोः सम्प्रति

शास्त्रकृत्—]

15

ताम्रादिरक्तिकादीनां समितक्रमयोगिनाम् ॥१०७॥

कथमातिलकात्स्थूलप्रमाणानवधारणे ।

अल्पभेदाग्रहान्मानमणूनामनुषज्यते ॥१०८॥

अंशुपातानुमादष्टेरन्यथा तु प्रसज्यते ।

[§ ११९. अपि परमाणुपर्यन्तमध्यपातिनामवयवविशेषाणाम् अशक्येयत्तातोलनानां यद्य-

20 भावः पर्यन्तोऽप्यवयवी न भवेत्, तस्याप्यवयवाधारस्यैवाभ्युपगमात् । भावश्चेत्तत्राह—]

क्षीराद्यैरविजातीयैः प्रक्षिप्तैः क्रमशो घटः ॥१०९॥

तावद्भिरेव पूर्येत यावद्भिर्न विपर्ययैः ।

[§ १२०. साम्प्रतं परमताक्षेपपुरस्सरं स्वमतमाह—]

नांशेष्वंशी न तेऽत्रान्ये वीक्ष्या न परमाणवः ॥११०॥

आलोक्यार्थान्तरं कुर्यादत्रापोद्धारकल्पनाम् ।

25

[§ १२१. तदेवं 'परोक्षज्ञानविषय' इत्यादिना आत्मवेदनम्, 'एतेन वित्तिसत्तायाः'

इत्यादिना चार्थवेदनं व्यवस्थापयता कारिकोपात्तमात्मपदमर्थपदं व्याख्यातम् । इदानीं तदुपात्तं द्रव्यपदं व्याचिख्यासुराह—]

गुणपर्ययवद् द्रव्यं ते सहक्रमवृत्तयः ॥१११॥

विज्ञानव्यक्तिशक्त्याद्या भेदाभेदौ रसादिवत् ।

30

[§ १२२. किं गुणग्रहणेन पर्यायवद्द्रव्यमित्येवास्तु, गुणानामपि परिच्छिन्नायन (त)-
रूपतया पर्यायेष्वन्तर्भावादिति चेदत्राह—]

सदापि सविकल्पाख्यासाधनाय क्रमस्थितेः ॥११२॥

गुणपर्याययोर्नैक्यमिति सूत्रे द्वयग्रहः ।

गुणवद्द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यादयो गुणाः ॥११३॥

5

अद्रवद् द्रवति द्रोष्यत्येकानेकं स्वपर्यायम् ।

भेदज्ञानात् प्रतीयेते प्रादुर्भावात्ययौ यदि ॥११४॥

अभेदज्ञानतः सिद्धा स्थितिरंशेन केनचित् ।

[§ १२३. ततः सर्वं सत् उत्पादादित्रयात्मकमेव नोत्पादाद्यन्यतमैकान्तात्मकं तदप्रति-
पत्तिरेतदेवाह—]

10

सदोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, असतोऽगतेः ॥११५॥

[§ १२४. ननु ध्रौव्यं नाम दधिपर्यायस्य उत्तरतत्पर्यायैक्यत्वं तच्च तेनैव कुतो न करम-
पर्यायेणापि ? देशादिभेदस्य प्रकृतेऽप्यविशेषादिति चेदत्राह—]

तादात्म्यनियमो हेतु-फलसन्तानवद्भवेत् ।

[§ १२५. भवतु तदुभयमपि क्षणिकमेवेति चेदत्राह—]

15

भिन्नमन्तर्बहिः सर्वं युगपत्क्रमभावि, न ॥११६॥

प्रत्यक्षं न तु साकारं क्रमयुक्तमयुक्तिमतम् ।

[§ १२६. एतदेव लोकप्रसिद्धेनोदाहरणेन दर्शयन्नाह—]

प्रत्यक्षप्रतिसंवेद्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥११७॥

[§ १२७. तदेवं मूलकारिकानिर्दिष्टयोः द्रव्यपर्यायपदयोः व्याख्यानं कृत्वा सामान्यवि-
शेषपदयोः तद्दर्शयति—]

समानभावः सामान्यं विशेषोऽन्यव्यपेक्षया ।

[§ १२८. तदेवं द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मकत्वं भावस्य प्रपञ्चोक्तमुपसंहृत्य दर्शयन्नाह—]

स्वलक्षणमसङ्कीर्णं समानं सविकल्पकम् ॥११८॥

समर्थं स्वगुणैरेकं सहक्रमविवर्तिभिः ।

25

[§ १२९. सहविवर्तिभिरेकमित्येतदसहमानस्य मतमाशङ्कते—]

यदि शेषपरावृत्तेरेकज्ञानमनेकतः ॥११९॥

[§ १३०. अत्रोत्तरमाह—]

अन्वर्थमन्यथाभासमनंशानां न राशयः ।

[§ १३१. सिद्धा तर्हि क्षणभङ्गस्यापि प्रत्यक्षे तद्वदप्रतिपत्तिरेतदेवाह—]

30

तथायं क्षणभङ्गो न ज्ञानांशः सम्प्रतीयते ॥१२०॥

अर्थाकारविवेको न विज्ञानांशो यथा क्वचित् ।

[§ १३२. एवं स्थिते परिणामस्य निर्व्याकुलत्वात् तमेव वस्तुलक्षणमागमाविरोधेन कथयन् तल्लक्षणं तत्त्वार्थसूत्रेण दर्शयति—]

5 'तद्भावः परिणामः' स्यात् सविकल्पस्य लक्षणम् ॥१२१॥

[§ १३३. तत्रैवानुमानमाह—]

तदेव वस्तु साकारमनाकारमपोद्धृतम् ।

[§ १३४. यत्पुनरिदमनेकान्तव्या (निरा) करणाय व्यासस्य सूत्रम्—'नैकस्मिन्नासम्भवात्' इति । अस्यार्थः नानेकान्तवादो युक्तः । कुत एतत् ? एकस्मिन् धर्मिणि सदसत्त्वनिव्य-
10 त्वानित्यत्वानैकत्वादीनां विरुद्धधर्माणामसंभवादिति तत्राह—]

भेदानां बहुभेदानां तत्रैकत्रापि सम्भवात् ॥१२२॥

[§ १३५. तत्रैकत्र भेदसंभवः तस्यैवैकस्याभावादिति, तत्राह—]

अन्वयोऽन्यव्यवच्छेदो व्यतिरेकः स्वलक्षणम् ।

ततः सर्वा व्यवस्थेति नृत्येत्काको मयूरवत् ॥१२३॥

15 [§ १३६. कुतश्च स्वलक्षणस्यान्वयस्य वा प्रतिपत्तिः, अप्रतिपत्तौ ताभ्यामेव सर्वव्यवस्थितिप्रतिज्ञानुपपत्तेः । यथासंख्येन प्रत्यक्षादनुमानाच्चेति चेन्न; प्रत्यक्षस्य यथाकल्पनमप्रतिपत्तेः.....अनुमानस्य च यथा नाभिजल्पसम्पर्कयोग्याकारस्य प्रतिपत्तिः तथा निवेदितमेव । अप्रतिपन्नादपि तत एव तत्प्रतिपत्तिरिति चेदत्राह—]

प्रामाण्यं नाऽगृहीतेऽर्थे प्रत्यक्षेतरगोचरौ ।

20 भेदाभेदौ प्रकल्प्येते कथमात्मविकल्पकैः ? ॥१२४॥

[§ १३७. इति स्थितम्—सामान्यविशेषात्मकत्वं प्रत्यक्षविषयस्य । साम्प्रतमुक्तमेवार्थमनुग्रहपरत्वाच्छ्रुत्याणामनुस्मरणाय श्लोकानां विशल्या सङ्गृह्य कथयन्नाह—]

उत्पादविगमध्रौव्यद्रव्यपर्यायसङ्ग्रहम् ।

सद्, भिन्नप्रतिभासेन स्याद्विभ्रं सविकल्पकम् ॥१२५॥

25 [§ १३८. यद्येवं भिन्नमेव तदस्तु नाभिन्नमित्यत्राह—]

अभिन्नप्रतिभासेन स्यादभिन्नं स्वलक्षणम् ।

[§ १३९. कथं पुनः परस्परविरुद्धभेदाभेदधर्माधिष्ठानमेकं वस्त्विति चेदाह—]

विरुद्धधर्माध्यासेन स्याद्विरुद्धं न सर्वथा ॥१२६॥

[§ १४०. एतदेव कुत इत्याह—]

स्यादसम्भवतादात्म्यपरिणामप्रतिष्ठितम् ।
समानार्थपरावृत्तमसमानसमन्वितम् ॥१२७॥

[§ १४१. कुतः पुनस्तदित्यमित्याह—]

प्रत्यक्षं बहिरन्तश्च परोक्षं स्वप्रदेशतः ।

[§ १४२. कथं पुनरेकमेव स्वलक्षणं तथा प्रत्यक्षं परोक्षश्चेति चेदत्राह—]

5

सुनिश्चितमनेकान्तमनिश्चितपरापरैः ॥१२८॥

[§ १४३. स्यान्मतम्—उपादानोपादेयलक्षणमन्तानादन्यत् क्रमाऽनेकान्तं परमाणु-समुदायादवयवव्यादेश्चार्थान्तरमक्रमानेकान्तमपि दुर्विवेचनमेवेति; तत्राह—]

सन्तानसमुदायादिशब्दमात्रविशेषतः ।

[§ १४४. उपादानमपि न प्रत्यभिज्ञानादन्यतः शक्यसमर्थनम्.....ततः तत्समर्थना- 10
दपि अनेकान्तमेव सुनिश्चितमित्यावेदयन्नाह—]

प्रत्यभिज्ञाविशेषात्तदुपादानं प्रकल्पयेत् ॥१२९॥

अन्योन्यात्मपरावृत्तभेदाभेदावधारणात् ।

मिथ्याप्रत्यवमर्शेभ्यो विशिष्टात् परमार्थतः ॥१३०॥

[§ १४५. तदिति स्मरणमिदमिति प्रत्यक्षम्, न ताभ्यां भिन्नमन्यत् प्रत्यभिज्ञानं यत- 15
स्तयोरवधारणमिति चेदत्राह—]

तथाप्रतीतिमुल्लंघ्य यथास्वं स्वयमस्थितेः ।

नानैकान्तग्रह्यस्ता नान्योन्यमतिशेरते ॥१३१॥

[§ १४६. भवतु तत्र सुनिश्चितमनेकान्तं यत्र पूर्ववदुत्तरस्यापि दर्शनं प्रत्यभिज्ञानस्य
• तन्निश्चयहेतोस्तत्र संभवात् । यत्र तु पूर्वस्यैव दर्शनं न परस्य तत्र कथं संभवात् (वः) नह्यप्र- 20
तिपन्नस्य पूर्वाभेदेन अन्यथा वा प्रत्यभिज्ञानं संभवतीति चेदत्राह—]

शब्दादेरुपलब्धस्य विरुद्धपरिणामिनः ।

पश्चादनुपलम्भेऽपि युक्तोपादानवद्गतिः ॥१३२॥

[§ १४७. युक्तमुपादानस्योपलब्धाच्छब्दादेरनुमानम् तस्य निरुपादानस्यायोगात् ।
नोपादेयस्य; कारणस्य कार्यवत्त्वनियमाभावादिति चेदत्राह—]

25

तस्याऽहृष्टमुपादानमहृष्टस्य न तत्पुनः ।

अवश्यं सहकारीति विपर्यस्तमकारणम् ॥१३३॥

[§ १४८. निगमयन्नाह—]

तदेवं सकलाकारं तत्स्वभावैरपोद्भूतैः ।

निर्विकल्पं विकल्पेन नीतं तत्त्वानुसारिणा ॥१३४॥

30

समानाधारसामान्यविशेषणविशेष्यताम् ।

[§ १४६. तदेवं वस्तुभूतादेव धर्मभेदात् व्यवहारोपपत्तौ यत्तदर्थं व्यावृत्तिभेदेन जाति-
भेदोपकल्पनं तस्यायुक्तत्वं तत्कल्पनाकृताञ्च अर्थानभीरुत्वं दर्शयन्नाह—]

अत्र दृष्टविपर्यस्तमयुक्तं परिकल्पितम् ॥१३५॥

5

मिथ्याभयानकग्रस्तैः मृगैरिव तपोवने ।

[§ १५०. मिथ्याभयानकत्वमेव तेषां दर्शयन्नाह—]

यस्यापि क्षणिकं ज्ञानं तस्यासन्नादिभेदनः ॥१३६॥

प्रतिभासभिदां धत्तेऽसकृत्सिद्धं स्वलक्षणम् ।

विलक्षणार्थविज्ञाने स्थूलमेकं स्वलक्षणम् ॥१३७॥

10

तथा ज्ञानं तथाकारमनाकारनिरीक्षणे ।

अन्यथाऽर्थात्मनस्तत्त्वं मिथ्याकारैकलक्षणम् ॥१३८॥

[§ १५१. सदादिरूपस्यैव तत्र दर्शनं न तद्विवेकस्येति चेदत्राह—]

विज्ञानप्रतिभासेऽर्थविवेकाप्रतिभासनात् ।

विरुद्धधर्माध्यासः स्यात् व्यतिरेकेण चक्रकम् ॥१३९॥

15

[§ १५२. तत्र जीवति स्थूलज्ञाने निर्भागज्ञानसंभवो यतः परमाणुसिद्धिः, तदसिद्धौ
यदन्यत्प्राप्तं तदप्याह—]

प्रतिक्षणं विशेषा न प्रत्यक्षाः परमाणुवत् ।

अतदारम्भतया बुद्धेरर्थाकारविवेकवत् ॥१४०॥

[§ १५३. एवञ्च यज्जातं परस्य तद्दर्शयन्नाह—]

20

अत्यन्ताभेदभेदौ न तद्वतो न परस्परम् ।

दृश्यादृश्यात्मनोर्बुद्धिनिर्भासक्षणभङ्गयोः ॥१४१॥

सर्वथाऽर्थक्रियाऽयोगात्, तथा सुप्तप्रबुद्धयोः ।

अंशयोर्द्यदि तादात्म्यमभिज्ञानमनन्यवत् ॥१४२॥

[§ १५४. इदानीं तेन द्रव्यपर्यायादीनामन्योन्यात्मकत्वेन भावः इति परिणामलक्षणं
सङ्गृह्य दर्शयन्नाह—]

25

संयोगसमवायादिसम्बन्धाद्यदि वर्तते ।

अनेकत्रैकमेकत्रानेकं वा; परिणामिनः ॥१४३॥

[§ १५५. भवतु सामान्यं तत्तु विजातीयव्यावृत्तिरूपमेव... इति चेदत्राह—]

१ एतदनन्तरम् 'अत एवाह—' इति कृत्वा 'भेदानां बहुभेदानां तत्रैकत्रापि सम्भवात्' इति कारि-
काशः पुनरप्युक्तः । परं विवरणकृताऽव्याख्यातत्वात् स विवरणकारेणैव अनुस्मृत इति प्रतिभाति ।

अतद्वेतुफलापोहमविकल्पोऽभिजल्पति ।

[§ १५६. साम्प्रतं तस्य वस्तुषु भावादीनां वस्तुसामान्यसाधनत्वेन विरुद्धत्वमावेदयन्नाह—]

समानाकारशून्येषु सर्वथाऽनुपलम्भतः ॥१४४॥

तस्य वस्तुषु भावादिसाकारस्यैव साधनम् ।

न विशेषा न सामान्यं तान् वा शक्त्या कयाचन ॥१४५॥ 5

तद्विभर्ति स्वभावोऽयं समानपरिणामिनाम् ।

[§ १५७. भिन्नमेव सामान्यं विशेषेभ्यः तदाधेयञ्च, खण्डादिषु गोत्वमिति प्रतिपत्तेः तत्कथं ते तन्न विभ्रति ? इदि चेदत्राह—]

अप्रसिद्धं पृथक्सिद्धम् उभयात्मकमञ्जसा ॥१४६॥

[§ १५८. ततः सांवृतमेतत्, अस्थूलादिव्यावृत्त्या स्थूलादेः संवृत्या कल्पनादिति 10 चेदत्राह—]

सन्निवेशादिवद्वस्तु सांवृतं किन्न कल्प्यते ? ।

[§ १५९. निरंशार्थप्रवादे हि वस्तुनः सर्वथा ग्रहात् । न कचिद्विभ्रमो नाम भवेदित्याह शास्त्रकृत्—]

समग्रकरणादीनामन्यथा दर्शने सति ॥१४७॥

15

सर्वात्मनां निरंशत्वात् सर्वथा ग्रहणं भवेत् ।

[§ १६०. भवतु तस्य [चन्द्रस्य] एकत्वादिनेव वर्तुलत्वादिनाप्यग्रहणमेवेति चेदत्राह—]

नौयानादिषु विभ्रान्तो न न पश्यति बाह्यतः ॥१४८॥

[§ १६१. पश्यन्नपि असदेव पश्यतीति चेदाह—]

न च नास्ति स आकारः ज्ञानाकारेऽनुषङ्गतः ।

20

[§ १६२. तस्माद् दृश्येतरात्मत्वमनेकान्तावलम्बनम्, इदमेवाह—]

✓ तस्माद् दृष्टस्य भावस्य न दृष्टः सकलो गुणः ॥१४९॥

[§ १६३. तदेवं रूपसंस्थानात्मकत्ववद् दृश्येतरात्मकत्ववच्च सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि व्यवस्थिते सति यत् परस्यापद्यते, तदाह—]

✓ प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षादिनिराकृतम् ।

25

[§ १६४. निगमयन्नाह—]

अध्यक्षलिङ्गतः सिद्धमनेकात्मकमस्तु सत् ॥१५०॥

सत्यालोकप्रतीतेऽर्थे सन्तः सन्तु विमत्सराः ।

[§ १६५. साम्प्रतं सदृशपरिणामं सामान्यमनभ्युपगच्छतो वैशेषिकादेः तद्व्यवहार एव न संभवति तत्परिकल्पितस्य सामान्यस्यानुपपत्तेरिति दर्शयितुं प्रथमं तावत् परसामान्यं सत्त्वमेव 30

प्रत्याचष्टे, समानन्यायतया तत्प्रत्याख्यानादेव द्रव्यत्वादेरपरसामान्यस्यापि प्रत्याख्यानोपनीता-
(नीतत्वा) त्—]

नित्यं सर्वगतं सत्त्वं निरंशं व्यक्तिभिर्यदि ॥१५१॥

व्यक्तं व्यक्तं सदा व्यक्तं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।

सत्तायोगाद्विना सन्ति यथा सत्तादयस्तथा ॥१५२॥

सर्वेऽर्थाः देशकालाश्च सामान्यं सकलं मतम् ।

सर्वभेदप्रभेदं सत् सकलाङ्गशरीरवत् ॥१५३॥

तत्र भावाः समाः केचिन्नापरे चरणादिवत् ।

[§ १६६. साम्प्रतं प्रस्तुतप्रस्तावार्थविस्तारमुपसंहृत्य दर्शयन्नाह—]

एकानेकमनेकान्तं विषमं च समं यथा ॥१५४॥

तथा प्रमाणतः सिद्धमन्यथाऽपरिणामतः ।

[§ १६७. ततो व्यवस्थितं व्यवसायात्मकं विशदं द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्थवेदनं प्रत्य-
क्षमिति । किमनेन तल्लक्षणेन प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमित्येवास्तु निर्दोषत्वात् ? इति चेदुच्यते—]

अविकल्पकमभ्रान्तं प्रत्यक्षं न पटीयसाम् ॥१५५॥

अविसंवादनियमादक्षगोचरचेतसाम् ।

[§ १६८. तत्र विकल्पजननात् प्रत्यक्षप्रामाण्यं विकल्पस्यैव मुख्यतस्तदुपनिपातात् ।
विकल्पानामयथार्थत्वाच्चेति चेदत्राह—]

सर्वथा वितथार्थत्वं सर्वेषामभिलापिनाम् ॥१५६॥

ततस्तत्त्वव्यवस्थानं प्रत्यक्षस्येति साहसम् ! ।

[§ १६९. इदानीं मानसमपि तत्प्रत्यक्षं प्रतिपेदुं कारिकापादत्रयेण परप्रसिद्धं तत्स्व-
रूपमुपदर्शयति—]

अक्षज्ञानानुजं स्पष्टं तदनन्तरगोचरम् ॥१५७॥

प्रत्यक्षं मानसं चाह;

[§ १७०. तदिदानीं निराकुर्वन्नाह—]

भेदस्तत्र न लक्ष्यते ।

[§ १७१. शान्तभद्रस्त्वाह—यद्यपि प्रत्यक्षतस्तस्य तस्माद्भेदो न लक्ष्यते, कार्यतो
लक्ष्यत एव । कार्यं हि नीलादिविकल्परूपं स्मरणापरव्यपदेशं न कारणमन्तरेण कादाचित्क-
त्वात् । न चाक्षज्ञानमेव तस्य कारणं सन्तानभेदात् प्रसिद्धसन्तानान्तरज्ञानवत् । ततोऽन्यदेव
अक्षज्ञानात् तत्कारणम्, तदेव च मानसं प्रत्यक्षमित्येतदेव दर्शयित्वा प्रत्याक्षित्यासुराह—]

अन्तरेणेदमक्षानुभूतं चेन्न विकल्पयेत् ॥१५८॥

सन्तानान्तरवचेतः समनन्तरमेव किम् ? ।

शङ्कुलीभक्षणादौ चेत्तावन्त्येव मनांस्यपि ॥१५९॥

यावन्तीन्द्रियचेतांसि प्रतिसन्धिर्न युज्यते ।

[§ १७२. तन्न तावत्त्वं मनसामुपपन्नम्, अथैकमेव सकलरूपादिविषयं तेभ्यो मन-
स्तदाह—] 5

अथैकं सर्वविषयमस्तु;

[§ १७३. अत्रोत्तरम्—]

किं वाऽक्षबुद्धिभिः ? ॥१६०॥

[§ १७४. साम्प्रतं मनसामक्रमोत्पत्ता उक्तं प्रतिसन्ध्यभावं क्रमोत्पत्तावपि दर्शयन्नाह—]

क्रमोत्पत्तौ सहोत्पत्तिविकल्पोऽयं विरुद्धयते । 10

अध्यक्षादिविरोधः स्यात्तेषामनुभवात्मनः ॥१६१॥

[§ १७५. तन्न शान्तभद्रपक्षो ज्यायान् । धर्मोत्तरस्त्वाह—न प्रत्यक्षादिप्रसिद्धत्वात् मानसं
प्रत्यक्षमिष्यते यतोऽयं दोषः किन्तु आगमाधीनत्वात् । तत्र च परे दोषमुत्पादयन्ति—यदि मानस-
मपि किञ्चित् प्रत्यक्षं तर्हि नान्धो नाम कश्चित् लोचनविकलस्यापि तत्सम्भवात् ; इति तत्परिहा-
राय तल्लक्षणप्रणयनम्—‘इन्द्रियज्ञानेन’ इत्यादि । न हीन्द्रियज्ञानमन्धस्य यतस्तदुपादानस्य मानसप्र- 15
त्यक्षस्य तत्र भावात्तद्व्यवहारो न भवेदिति; तत्रोत्तरमाह—]

वेदनादिवदिष्टं चेत्; कथन्नातिप्रसज्यते ? ।

[§ १७६. यत्पुनरुक्तम्—विप्रतिपत्तिनिराकरणाय तल्लक्षणमुच्यते इति; तत्राह—]

प्रोक्षितं भक्षयेन्नेति दृष्टा विप्रतिपत्तयः ॥१६२॥

लक्षणं तु न कर्त्तव्यं प्रस्तावानुपयोगिषु । 20

[§ १७७. साम्प्रतमविकल्पकमित्यादिना सामान्यतः प्रतिक्षिप्तमपि स्वसंवेदनप्रत्यक्षं
युक्त्यन्तरेण प्रतिक्षिपन्नाह—]

अध्यक्षमात्मवित्सर्वज्ञानानामभिधीयते ॥१६३॥

स्वापमूर्च्छाद्यवस्थोऽपि प्रत्यक्षी नाम किं भवेत् ? ।

[§ १७८. तदवस्थस्य ज्ञानमेव नास्ति, तद्भावे जाग्रत इव तत्त्वविरोधात्, ततः कथ- 25
मात्मवेदनं यतोऽयं प्रसङ्ग इति प्रज्ञाकरो ब्रह्मवादी च ...तत्रोत्तरं दर्शयति—]

विच्छेदे हि चतुःसत्यभावनादिर्विरुद्धयते ॥१६४॥

[§ १७९. तन्न निश्चयविकलं संवित्तिमात्रमेव प्रत्यक्षम् । अत्रैवोपपत्त्यन्तरमाह—]

प्रायशो योगिविज्ञानमेतेन प्रतिवर्णितम् ।

[§ १८०. साम्प्रतं सांख्यस्य प्रत्यक्षलक्षणं प्रत्याचक्षाण आह—]

श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षं यदि तैमिरिकादिषु ॥१६५॥

प्रसङ्गः किमतद्वृत्तिस्तद्विकारानुकारिणी ? ।

[§ १८१. साम्प्रतं नैयायिकस्य प्रत्यक्षलक्षणमुपदर्श्य निराकुर्वन्नाह—]

तथाऽक्षार्थमनस्कारसत्त्वसम्बन्धदर्शनम् ॥१६६॥

5

व्यवसायात्मसंवाद्यव्यपदेश्यं विरुद्धयते ।

[§ १८२. पुनरपि नैयायिकस्य विरुद्धं दर्शयति—]

नित्यः सर्वगतो ज्ञः सन् कस्यचित्समवायतः ॥१६७॥

ज्ञाता द्रव्यादिकार्थस्य नेश्वरज्ञानसंग्रहः ।

[§ १८३. भवताऽपि कस्मादतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य लक्षणान्तरं नोच्यते ? इति चेदत्राह—]

10

लक्षणं सममेतावान् विशेषोऽशेषगोचरम् ॥१६८॥

अक्रमं करणातीतमकलङ्कं महीयसाम् ॥१६८½॥

[§ १८४. भवतु तर्हि तत्सुगतस्यैव तत्रैव तल्लिङ्गस्य तत्त्वोपदेशस्य भावात् इति चेत् ;

सत्यमिदं यदि तत्त्वोपदेश एव तत्र भवेत्, न चैवमत एवाह—]

15

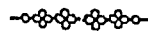
ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि च वह्निर्भासिभावप्रवादम्,

चक्रे लोकानुरोधात् पुनरपि सकलज्ञेति तत्त्वं प्रपेदे ।

न ज्ञाता तस्य तस्मिन्न च फलमपरं ज्ञायते नापि किञ्चित्,

इत्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति जडधीराकुलं व्याकुलाप्तः ॥१६९½॥

इति न्यायविनिश्चये प्रथमः प्रत्यक्षप्रस्तावः ॥



२. द्वितीयः अनुमानप्रस्तावः ।

20

[§ १८५. इदानीं परोक्षस्य तथानिरूपणमवसरप्राप्तमिति तत्प्रमेदमनुमानं निरूपयन्नाह—]

साधानात् साध्यविज्ञानमनुमानं तदत्यये ॥१७०॥

विरोधात् कचिदेकस्य विधानप्रतिषेधयोः ।

[§ १८६. प्रत्यक्षस्यापि न वस्तुतः स्वार्थपरिच्छेदः तत्काले तदर्थस्य कारणत्वेन

व्यतिक्रमादपि तु तदाकारस्वरूपपरिच्छेदस्य तत्रारोपादौपचारिकवत् (कं तत्) तथाऽनुमानस्यापि

25 तत्परिच्छेदसाधने सिद्धसाधनमिति चेदत्राह—]

प्रत्यक्षं परमात्मानमपि च प्रतिभासयेत् ॥१७१॥

सत्यं परिस्फुटं येन तथा प्रामाण्यमश्नुते ।

[§ १८७. इदानीं साध्यं निरूपयन्नाह—]

साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम्,

[§ १८८. साध्याभासं निरूपयति—]

ततोऽपरम् ॥१७२॥

साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः ।

5

[§ १८९. यद्यप्रसिद्धं साध्यं धर्मिणो विद्यमानमपि साध्यं भवेत् तत्रापि विप्रतिपत्तेः संभवात्तथाह—]

जातेर्विप्रतिपत्तीनां सत्ता साध्यानुषज्यते ॥१७३॥

[§ १९०. तत्रोत्तरमाह—]

तथेष्टत्वाददोषोऽयम्,

10

[§ १९१. पर इदानीमशक्यसाध्यतां तस्यां [सत्तायां] दर्शयन्नाह—]

हेतोर्दोषत्रयं यदि ।

[§ १९२. शास्त्रकारस्तु उभयाभावधर्मयोरनभ्युपगमं परिहारं मन्यमानः परिहारान्तरमनुक्त्वा भावधर्मस्य असिद्धत्वमेव परिहरन्नाह—]

भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वाद्यथावस्तुबलागमम् ॥१७४॥

15

प्रपेदे सर्वथा सर्वस्तुसत्तां प्रतिक्षिपन् ।

[§ १९३. ततः प्रतिष्ठापरिहारेण प्रतिक्षेपमेव ब्रुवता तात्त्विकमेव भावधर्मत्वं तस्याभ्युपगन्तव्यं तथाह—]

भावनादभ्युपैतिस्म भावधर्ममवस्तुनि ॥१७५॥

[§ १९४. तदेवं निरुपाधिकं सत्त्वं प्रसाध्य सोपाधिकं साधयन्नाह—]

20

असिद्धधर्मिधर्मत्वेऽन्यथानुपपत्तिमान् ।

हेतुरेव यथा सन्ति प्रमाणानीष्टसाधनात् ॥१७६॥

इष्टसिद्धिः परेषां वा तत्र वक्तुरकौशलम् ।

[§ १९५. ततः सत्येव भेदाभेदात्मिका तदिष्टसिद्धिरिदमेवाह—]

अतीतानागतादीनामपि सत्तानुषङ्गवत् ॥१७७॥

25

अतश्च बहिरर्थानामपि सत्ता प्रसाध्यते ।

[§ १९६. ततः प्रत्यक्षादर्थसाधनोपपत्तेः स्थितमेतत्—‘अतश्च’ इत्यादि । यदि चायं निर्वन्धो न ततस्तत्साधनमिति तथापि तदाह—]

तदभावेऽपि तद्वादस्यान्यथानुपपत्तितः ॥१७८॥

[§ १६७. साम्प्रतं सौत्रान्तिकं प्रति सत्तासाधनमाह—]

अक्षादेरप्यदृश्यस्य नत्कार्यव्यतिरेकतः ।

[§ १६८. एवमदृश्यस्यापि सत्ता प्रसाध्यते; तत्र परोक्तं दूषणं प्रत्याचक्षाण आह—]

एतेनातीन्द्रिये भावकार्यकारणतागतेः ॥१७०॥

5 तत्सत्ताव्यवहाराणां प्रत्याख्यानं निवारितम् ।

[§ १६९. इदानीम् 'अतीन्द्रिये भाव' इत्यादिकमेव व्याचिख्यासुराह—]

व्याधिभूतग्रहादीनां विप्रकर्षेऽपि गम्यते ॥१८०॥

कुतश्चित्सदसद्भावविरोधप्रभवं तथा ।

प्रामाण्यमविसंवादाद् भ्रान्तिरध्यवसायनः ॥१८१॥

10 प्रत्यक्षाभाप्रसङ्गश्चेत्तथानभिनिवेशनः ।

[§ २००. यद्यस्पष्टावभासित्वादनुमानमवस्तुविषयं प्रत्यक्षमपि कथञ्चित्तथा भवेदित्याह—]

दूरदूरतरादिस्यैरेकं वस्तु समीक्ष्यते ॥१८२॥

नानाभं स्यात्तथा सत्यं न चेद्वस्त्वनुरोधि किम् ? ।

15 [§ २०१. इति सिद्धं तस्य स्पष्टज्ञानेनैकविषयत्वं भिन्नप्रतिभासत्वेऽपि तदेकार्थत्वात्,
एतदेव दर्शयन्नाह—]

तस्मादनुमितेरर्थविषयत्वनिराकृतिः ॥१८३॥

प्रतिभासभिदायाः किमेकस्यानेकतो ग्रहात् ? ।

[§ २०२. सिद्धं तर्हि वस्तुष्वेव प्रतिबन्धपरिज्ञानमनुमानस्य च साफल्यमेतदेवाह—]

समानपरिणामात्मसम्बन्धप्रतिपत्तितः ॥१८४॥

20 तत्राशक्तिफलाभावौ न स्यातां लिङ्गलिङ्गिनोः ।

[§ २०३. भवतु तत्परिणाम एव सामान्यम्, तस्य तु व्यक्तिभ्यो भेद एवेति यौगाः
अमेद एवेति सांख्याः, तत्राह—]

न भेदोऽभेदरूपत्वात् नाऽभेदो भेदरूपतः ॥१८५॥

सामान्यं च विशेषाश्च तदपोद्धारकल्पनात् ।

25 [§ २०४. अमेदस्यैव सर्वभावेषु ...प्रतिपत्तेः इति कश्चित्; भेद एव भावानां तात्त्विकः
न कथञ्चिदप्यनुगमः...इत्यपरः; तत्रोत्तरमाह—]

संसर्गो नास्ति विश्लेषात्, विश्लेषोऽपि न केवलम् ॥१८६॥

संसर्गात् सर्वभावानां तथा संवित्तिसंभवात् ।

[§ २०५. कुतः पुनः समानपरिणाम एव सामान्यमभिमतम् [न] नैयायिकादिक-
30 लिप्तमेवेत्याह—]

तद्व्याप्तिव्यतिरेकाभ्यां मनं सामान्यदूषणम् ॥१८७॥

[§ २०६. कुत पुनः समानपरिणामे न सामान्यदूषणम् ? इति चेदत्राह—]

समानपरिणामे न तदेकस्यानुपायतः ।

[§ २०७. तन्न सामान्यं नाम किञ्चित् । तद्वा (तदभा) वे कुतस्तत्प्रयोजनं समान-
प्रत्ययादिकमिति चेन्न; समानपरिणामादेव तद्वावात्तदाह—]

5

सदृशात्मनि सम्बन्धग्रहे भूयस्तथाविधे ॥१८८॥

प्रत्यभिज्ञादिना सिद्ध्येत् प्रायो लोकव्यवस्थितिः ।

[§ २०८. अपि च सदृशेतरवदेकानेकरूपयोरपि विरोधाविशेषात् कथमेकत्र अनेको-
पाधिसंभवो यतस्तैस्तद्वान् व्यपदिश्येत ? अर्थान्तरभूतैरेव स तैस्तद्व्यपदिश्यत इति चेदत्राह—]

तत्त्वतोऽनुपकारेऽपि भेदे कथमुपाधयः ? ॥१८९॥

10

[§ २०९. अभेद एवेति चेदत्राह—]

तत्रैकत्वप्रसङ्गाच्चेदभेदे कथमुपाधयः ? ।

[§ २१०. कथं पुनर्भेदामेदाभ्यामुपाधितद्वावनिराकरणम् जैनस्य, स्वयमपि तदभ्युपग-
मात्, इति चेदत्राह—]

नोपाधयो न तद्वन्तो भिन्नाऽभिन्ना अपि स्वयम् ॥१९०॥

15

जात्यन्तरे तथाभूते सर्वथा दर्शनादपि ।

[§ २११. परस्य तु मतम्—च (न) शब्दाल्लिङ्गाद्वा उपाधिमतः प्रतिपत्तिर्यतस्तस्य
निरवशेषोपाधिशवलितस्य एकस्मादेव शब्दादेरवगमात् तदन्तरस्य तत्र वैफल्यं स्यात्, अपि तु
उपाधीनामेव, तत्र च एकल्पतम (एकतम) विषयेण अन्येषामनवगमान्न तदन्तरवैयर्थ्यमिति ।
तत्राह—]

20

तद्व्यचोदिते शक्तेऽशक्ताः किं तदुपाधयः ? ॥१९१॥

चोद्यन्ते शब्दलिङ्गाभ्यां समं तैस्तस्य लक्षणे ।

[§ २१२. भवतु विशेषेणैव तस्य तत्; इति चेन्न; तेषामानन्त्येन अवर्गदृशां तत्र (तद)
संभवात् इत्यभाव एवानुमानस्य । इदमेवाह—]

सम्बन्धो यत्र तत्सिद्धेरन्यतोऽप्रतिपत्तितः ॥१९२॥

25

अनुमानमलं किं तदेव देशादिभेदवत् ? ।

[§ २१३. साम्प्रतमुक्तन्यायेन सौगतमपि प्रतिक्षिपन्नाह—]

एतेन भेदिनां भेदसंवृत्तेः प्रतिपत्तितः ॥१९३॥

तत्रैकं कल्पयन् वार्यः समाना इति तदग्रहात् ।

[§ २१४. ततस्तत्र [अपोहे] भेदाभेदाभ्यां दोषोपकल्पनं परमतानभिज्ञानं पिशुनयति इति । तदेवाह—]

**सामान्यं चेदपोहिनां बुद्ध्या सन्दर्श्यते तथा ॥१९४॥
अतद्वेतुफलापोहः;**

5 [§ २१५. तत्रोत्तरमाह—]

न तथाऽप्रतिपत्तिः ।

[§ २१६. तत्प्रतिपत्तिः [अपोहप्रतिपत्तिः] तु वासनापरिपाकजन्मनो विकल्पादेव, तस्य चावस्तुविषयत्वान्न ततस्तद्व्यवस्थापनमिति चेदत्राह—]

यन्न निश्चीयते रूपं जातुचित्तस्य दर्शनम् ॥१९५॥

10 **यथा निश्चयनं तस्य दर्शनं तद्वशात् किल ।**

[§ २१७. तन्नैकस्तत्परिणामः सम्भवति यस्य दर्शनं यतो वा सामान्यप्रयोजनमुपकल्प्येत, तदेवाह—]

समानपरिणामश्चेदनेकत्र कथं दृशिः ? ॥१९६॥

[§ २१८. भवतु प्रतिविशेषं भिन्न एवेति चेत्, कथमिदानीमसौ सामान्यम् असाधार-
15 णत्वात्, विशेषवदसंभवाच्च विशेषाव्यतिरेकात् । व्यतिरेके सम्बन्धाभावात् तस्येति व्यपदेशा-
नुपपत्तिः । तदाह—]

न चेद् विशेषाकारो वा कथं तद्व्यपदेशभाक् ? ।

[§ २१९. प्रतिविधानमाह—]

सदृशासदृशात्मानः सन्तो नियतवृत्तयः ॥१९७॥

20 [§ २२०. अतश्च ते सन्त इत्याह—]

तत्रैकमन्तरेणापि सङ्केताच्छब्दवृत्तयः ।

[§ २२१. यदि न शब्दस्य कालान्तरावस्थितिः किमिति तत्र समयः साध्यते व्यवहारानुपयोगादिति चेदत्रोत्तरम्—]

तत्रैकमभिसन्धाय समानपरिणामिषु ॥१९८॥

25 **समयः तत्प्रकारेषु प्रवर्त्ततेति साध्यते ।**

तज्जातीयमतः प्राहुर्यतः शब्दा निवेशिताः ॥१९९॥

[§ २२२. साम्प्रतमुक्तार्थस्मरणार्थं 'सदृशासदृशात्मानः' इत्यादि व्याचक्षाण आह—]

नानैकत्र नचैकत्र वृत्तिः सामान्यलक्षणम् ।

अतिप्रसङ्गतस्तत्त्वादन्यत्रापि समानतः ॥२००॥

30 [§ २२३. सर्वतः सर्वस्य व्यावृत्तत्वेन विलक्षणत्वात् कथं तत्परिणाम इत्यत्राह—]

व्यावृत्तिं पश्यतः कस्मात्सर्वतोऽनवधारणम् ? ।

[§ २२४. न दृष्टमित्येव निश्चयः, तत्रापि सारूप्याद्विभ्रमोपपत्तेः मायागोलकवत् इति चेदत्राह—]

सादृश्याद्यदि साधूक्तम्,

[§ २२५. सादृश्यमपि व्यावृत्तिरूपमेवेति चेदाह—]

5

तत्किं व्यावृत्तिमात्रकम् ? ॥२०१॥

[§ २२६. परमतमाशङ्कते परिहर्तुम्—]

एकान्ते चेत्तथाऽदृष्टेरिष्टम्;

[§ २२७. अत्रोत्तरमाह—]

वक्तुरकौशलम् ।

10

सर्वैकत्वप्रसङ्गो हि तद्दृष्टं भ्रान्तिकारणम् ॥२०२॥

[§ २२८. न कश्चिदपि अन्यथा प्रतिभासहेतुर्भवेत् नौयानादीनामपि निरंशवादिनाम-संभवात् । माभूदिति चेदेतदेवाह—]

नो चेद्विभ्रमहेतुभ्यः प्रतिभासोऽन्यथा भवेत् ।

[§ २२९. अत्रोत्तरमाह—]

15

तदकिञ्चित्करत्वं न निश्चिनोति स किं पुनः ? ॥२०३॥

[§ २३०. भवत्वेवं तथापि किमित्याह—]

तथाहि दर्शनं न स्याद् भिन्नाकारप्रसङ्गतः ।

[§ २३१. विशेष एव परमार्थसंज्ञः तस्यैव दृष्टेः नाविशेष [:] परमार्थविपर्ययादिति

• चेदत्राह—]

20

न च दृष्टेर्विशेषो यः प्रतिभासात् परो भवेत् ॥२०४॥

[§ २३२. भवतु तर्हि यथादर्शनं वस्तुव्यवस्थितिरिति चेदत्राह—]

प्रतिभासभिदैकत्र तदनेकात्मसाधनम् ।

[§ २३३. अनेकान्तेऽपि दुर्लभैव दृष्टिरिति चेदाह—]

अदृष्टिकल्पनायां स्यादचैतन्यमयोगिनाम् ॥२०५॥

25

[§ २३४. उपसंहरन्नाह—]

तस्मादभेद इत्यत्र समभावं प्रचक्षते ।

नेक्षते न विरोधोऽपि न समानाः स्युरन्यथा ॥२०६॥

[§ २३५. कथं पुनः शब्दानामर्थवत्त्वं तदभावेऽपि प्रवृत्तेः प्रधानादिशब्दानाम्,

तेषामपि तद्वत्ते (त्वे) न कश्चिदपि अनृतवादी तीर्थकर इति प्रामाण्यमेव सर्वप्रधानानाम्, न च तदुपपन्नम्, ततः प्रधानेश्वरादिशब्दवत् अन्येऽपि अनृतार्था एवेति चेदत्राह—]

अक्षज्ञानेऽपि तत्तुल्यमनुमानं तदिष्यते ।

ततः संभाव्यते शब्दः सत्यार्थप्रत्ययान्वितः ॥२०७॥

5 [§ २३६. यस्यायं निर्वन्धो विवक्षाजन्मानः शब्दारतामेव गमयेयुर्न बहिरर्थमिति । तत्राह—]

सत्यानृतार्थताऽभेदो विवक्षाऽव्यभिचारतः ।

[§ २३७. साम्प्रतं 'तत्रैकमभिसन्धाय' इत्यादि प्रपञ्चेन श्लोकैर्व्याचिख्यासुः सङ्केत-निबन्धनं प्रत्यभिज्ञानमेव तत्र स इति अयमिति स्मरणदर्शनरूपयोर्विरुद्धाकारयोरनुपपत्त्या निरा-कुर्वन्तं प्रत्याह—]

10 **सह शब्दार्थदृष्टावप्यविकल्पयतः कथम् ॥२०८॥**

समयस्तत्प्रमाणत्वे क प्रमाणे विभाव्यताम् ? ।

[§ २३८. किं पुनर्विकल्पेन, समुदायपरिज्ञानस्य प्रत्यक्षादेव भावादिति चेदत्राह—]

तदर्थदर्शनाभावात्,

[§ २३९. अर्थ एव सङ्केतो न ज्ञानाकारेषु इत्याह—]

15 **मिथ्यार्थप्रतिभासिषु ॥२०९॥**

ज्ञानाकारेषु सङ्केत इति केचित् प्रचक्षते ।

[§ २४०. क तर्हि सः ? इत्याह—]

वागर्थदृष्टिभागेषु गृहीतग्रहणेष्वपि ॥२१०॥

सत्याकारावबोधेषु सङ्केतमपरे विदुः ।

20 [§ २४१. भवतु तर्हि वागादिभेदेष्वेव समयः इति चेन्न;...एतदेवाह—]

न भेदेषु न सामान्ये केवले न च तद्वति ॥२११॥

फलाभावादशक्तेश्च समयः सम्प्रवर्तते ।

[§ २४२. किन्निबन्धनः पुनः सङ्केतोऽयमपरे विदुरिति चेदत्राह—]

स एवायं समश्चेति प्रत्ययस्तन्निबन्धनः ॥२१२॥

25 **वितथोऽवितथश्चापि तत्रैकत्वनिबन्धनः ।**

तथा तत्प्रतिषेधेऽपि वैलक्षण्यादिशब्दवत् ॥२१३॥

[§ २४३. साम्प्रतं सङ्केतितस्य शब्दस्य प्रवृत्तिप्रकारं दर्शयति—]

तत्समानासमानेषु तत्प्रवृत्तिनिवृत्तये ।

सङ्क्षेपेण क्वचित् कश्चिच्छब्दः सङ्केतमश्नुते ॥२१४॥

तथाऽनेकोऽपि तद्धर्मनानात्वप्रतिपादने ।

[§ २४४. कथं पुनरेकत्रानेकधर्मसद्भाव इत्यत्राह—]

एकत्र बहुभेदानां संभवान्मेचकादिवत् ॥२१५॥

[§ २४५. कथं पुनः सामान्यस्य व्यक्तिव्यतिरिक्तस्याभावे तद्व्यवहार इति चेदत्राह—]

समानं केनचित्किञ्चिदपरञ्च तथाविधम् ।

भेदवद्धर्मिणः कृत्वा समानाकारकल्पना ॥२१६॥

5

तदन्यत्र समानात्मा स एवेति तथाविधे ।

व्यवच्छेदस्वभावेषु विशेषणविशेष्यधीः ॥२१७॥

तत्तन्निमित्तकः शब्दः तदन्यत्रापि योज्यताम् ।

[§ २४६. यदि पुनः सदृशपरिणाम एव सामान्यं तस्य व्यक्तिवदनेकत्वात् कथं तत्र सत्तेत्येकतया व्यवहार इति चेदत्राह—]

10

ततः सत्तेति साध्यन्ते सन्तो भावाः स्वलक्षणाः ॥२१८॥

नानैकवचनाः शब्दास्तथा सङ्केतिता यतः ।

[§ २४७. यदि समानप्रत्ययवमर्शात् सामान्यं तर्हि जलयोरिव जलमरीचिकाचक्रयोरपि भवेत् इदं जलमिदमपि जलमिति । तत्रापि प्रत्ययवमर्शादिति चेन्न; तच्चक्रे प्रत्ययवमर्शस्य बाध्यत्वेन मिथ्यात्वात्....ततो निर्वाधादेव प्रत्ययवमर्शात्तत्सिद्धेरेतदेवाह—]

15

प्रत्यभिज्ञा द्विधा काचित् सादृश्यविनिवन्धना ॥२१९॥

प्रमाणपूर्विका नान्या दृष्टिमान्यादिदोषतः ।

[§ २४८. कथं तर्हि बहिरर्थादिवत् प्रधानस्यापि सत्त्वं ततो न साध्यते ? नान्वयादिति चेन्न; अन्वयस्य तन्मतेनालिङ्गलक्षणत्वात् इत्यत्राह—]

अस्ति प्रधानमित्यत्र लक्षणासम्भवित्वतः ॥२२०॥

20

[§ २४९. नन्वन्यथानुपपन्नत्वमपि सत्येव पक्षधर्मत्वादौ भवति, ततस्तदेव हेतुलक्षणम् । तदसत्त्वादेव च प्रधानास्तित्वमप्यसाध्यमिति चेन्न; तदभावेऽपि क्वचित्तदुपलम्भात् । तदाह—]

तत्रान्यत्रापि वाऽसिद्धं यद्विना यद्विहन्यते ।

तत्र तद्गमकं तेन साध्यधर्मी च साधनम् ॥२२१॥

[§ २५०. ततो न मृतशरीरवत् सुषुप्तादावपि जाग्रज्ज्ञानादुत्पत्तिरिति सन्निहित एव 25 कश्चिद्धेतुर्वक्तव्यः, स चात्मैव उपयोगपरिणामी नापर इति तत्रैव तस्य गमकत्वम् अन्यथानुपपत्तिसंभवादेतदेवाह—]

अप्रत्यक्षः सुषुप्तादौ बुद्धः प्रत्यक्षलक्षणः ।

जीवतीति यतः सोऽयं जीव आत्मोपयोगवान् ॥२२२॥

[§ २५१. कथं पुनरुपयोगवत्त्वे तस्य सुषुप्त्यादिः सत्यज्ञानस्वभावस्य तदसंभवादिति चेन्न;
कर्मवशात्तस्यापि तदुपपत्तेः तदाह—]

कर्मणामपि कर्त्ताऽयं तत्फलस्यापि वेदकः ।

[§ २५२. परमपि तत्फलं दर्शयति—]

5 **संसरेत् परिणामात्तो मुच्यते वा ततः पुनः ॥२२३॥**

[§ २५३. नन्वात्मा कर्म तत्फलं संसारो मुक्तिरिति च सत्येव भेदे, नचायमस्ति तद-
वस्थानोपायाभावात् । ततोऽद्वैतबोध एव परमार्थः तस्य स्वत एवाधिगमात् 'स्वरूपस्य स्वतो
गतिः' इति वचनादिति चेदत्राह—]

आत्मादिव्यतिरेकेण कोऽपरोऽध्यक्षतां व्रजेत् ? ।

10 **नानाऽयं क्रमशो वृत्तेर्न चेदभिधास्यते ॥२२४॥**

[§ २५४. ततो युक्तं प्राणादिमत्त्वात् परिणामिन एवात्मनः साधनम् न कूटस्थस्य
नापि ज्ञानसन्तानस्य तत्र तस्य विरुद्धत्वात् । परिणामिन्यपि विरुद्ध एवायं शरीरोपक्लृप्तादेव
चैतन्यादुत्पत्तेरिति चार्वाकः । तदेवाह—]

भूतानामेव केषाञ्चित् परिणामविशेषतः ।

15 **कायश्चित्कारणम् ;**

[§ २५५. तत्रोत्तरमाह—]

सोऽपि कथं संसारमुक्तिभाक् ? ॥२२५॥

शक्तिभेदे तथा सिद्धिः; संज्ञा केन निवार्यते ? ।

यथा भूताविशेषेऽपि प्रज्ञादिगुणसंस्थितिः ॥२२६॥

20 **तथा भूताविशेषेऽपि भवद्भूतादिसंस्थितिः ।**

[§ २५६. तन्न तद्गुणस्यापि तेनाभिव्यक्तिः, नापि तत्कार्यस्य वक्ष्यमाणोत्तरत्वात् ।
कथमेवं गुणनिषेधे गुणवद्व्यमित्युपपन्नं भवतोऽपि इति चेन्न; परकीयतल्लक्षणस्यैवातिव्याप्त्यादिना
प्रतिषेधान्न गुणस्य । कथं तर्हि तदुपपत्तिरिति चेदाह—]

तस्मादनेकरूपस्य कथञ्चिद् ग्रहणे पुनः ॥२२७॥

25 **तद्रूपं भेदमारोप्य गुण इत्यपि युज्यते ।**

[§ २५७. गुणतद्वतोः एकान्त एव भेदो न कथञ्चित्, तद्वादस्य विरोधादिदोषादिति
चेदत्राह—]

यदि स्वभावाद्भावोऽयं भिन्नो भावः कथं भवेत् ? ॥२२८॥

अनवस्थानतो भेदे सकलग्रहणं भवेत् ।

30 **तदनेकान्तात्मकं तत्त्वम्,**

[§ २५८. भवतु स एव वादः, तत्रैव चेतनो देहस्य गुण इति चेदत्राह—]

नहि ज्ञानात्मना क्वचित् ॥२२९॥

शरीरग्रहणं येन तद्गुणः परिकल्प्यते ।

[§ २५९. वैशेषिकादेस्त्व (देस्त्व) गुणवान् गुण इति ब्रुवाणस्य न गन्धादेर्गुणत्वं गुणवत्त्वात् । तदेवाह—]

गुणानां गुणसम्बन्धो गन्धादेः सङ्ख्यया ग्रहात् ॥२३०॥

तादात्म्यं केन वार्येत ?

[§ २६० ननूक्तं भाक्तत्वेन तन्निवारणमिति चेदत्राह—]

नोपचारप्रकल्पनम् ।

अत्रान्यत्रापि तुल्यत्वादाधारस्यैकरूपतः ॥२३१॥

तत्रैकत्वं प्रसज्येत, सङ्ख्ययामात्रं यदीष्यते ।

नानात्मविभ्रमादेवं न पृथग्गुणिनो गुणाः ॥२३२॥

[§ २६१. आकारभेदात्ते ततः पृथगिति चेदेतदेवाह—]

प्रसक्तं रूपभेदाच्चेत्;

[§ २६२. तत्रोत्तरमाह—]

भेदो नानात्वमुच्यते ।

[§ २६३. नास्त्येव तत्रैकत्वं केवलं भावसादृश्यात्तत्र तद्व्यवहारः.....तदेवाह—]

एकता भावसाम्याच्चेत्;

[§ २६४. तत्रोत्तरमाह—]

उपचारस्तथा भवेत् ॥२३३॥

[§ २६५. यदि च तत्र गुणवत्त्वभयान्न वास्तवमेकत्वं पृथक्त्वमपि न भवेत्, तदपि कुतश्चिक्कार्यविशेषादेरुपचरितमेव स्यात् तदेवाह—]

भेदेऽपि, वस्तुरूपत्वान्न चेदन्यत्र तत्समम् ।

[§ २६६. तन्न गुणगुण्यादीनामपृथक्त्वम्; भवतु पृथक्त्वमेव प्रतिभासादिभेदादिति चेदत्राह—]

एतेन भिन्नविज्ञानग्रहणादिकथा गता ॥२३४॥

[§ २६७. तन्न गुणो नाम कश्चिन्निश्चितो य [त] श्वेतनोऽपि गुणः स्यात् । माभूत् धर्मस्तु तर्हि स्यात्, तदवष्टम्भेन अवस्थानात् चित्रवत् कुड्यस्य । यथा कुड्याद्यपाये न चित्रं तत्र तिष्ठति नाप्यन्यत्र गच्छति नश्यत्येव परं तथा शरीरापाये चेतनोऽपि इति मन्वानस्य मत-मुपदर्शयन्नाह—]

जीवच्छरीरधर्मोस्तु चैतन्यं व्यपदेशतः ।

यथा चैतन्यमन्यत्रेत्यपरः प्रतिपन्नवान् ॥२३५॥

[§ २६८. तत्रोत्तरमाह—]

अप्रत्यक्षेऽपि देहेऽस्मिन् स्वतन्त्रमवभासनात् ।

5 प्रत्यक्षं तद्गुणो ज्ञानं नेति सन्तः प्रचक्षते ॥२३६॥

[§ २६९. ततः किम् ? इत्याह—]

तद्दृष्टहानिरन्येषामदृष्टपरिकल्पना ।

स्वातन्त्र्यदृष्टेर्भूतानामदृष्टेर्गुणभावतः ॥२३७॥

[§ २७०. भवतु तस्य तदात्मत्वं तद्गुणत्वं वा तथापि संसारमोक्षयोरभाव इत्याह—]

10 तत्सारतरभूतानि कायापायेऽपि कानिचित् ।

[§ २७१. मतान्तरमुपदर्शयति दूषयितुम्—]

कार्यकरणयोर्बुद्धिकाययोस्तन्निवृत्तितः ॥२३८॥

कार्याभावगतेर्नास्ति संसार इति कश्चन ।

[§ २७२. तत्रोत्तरमाह—]

15 तस्यापि देहानुत्पत्तिप्रसङ्गोऽन्योन्यसंश्रयात् ॥२३९॥

उत्तरोत्तरदेहस्य पूर्वपूर्वधियो भवः ।

[§ २७३. उपसंहरन्नाह—]

अत एव विरुद्धत्वादलं प्रायस्तथा भवात् ॥२४०॥

[§ २७४. किञ्च, कायः कारणमात्रं तद्विशेषो वा बुद्धेः ? तन्मात्रमिति चेत्, न तर्हि
20 तन्निवर्त्तमानमपि कार्यस्य बुद्धेस्सत्त्वं निवर्तयति, निवृत्तेऽपि सहकारिणि कार्यस्यावस्थितिप्रतिपत्तेः,
यथा मृतेऽपि स्थपतौ प्रासादगोपुरादेः । इदमेवाह—]

तन्न कारणमित्येव कार्यसत्तानिवर्त्तकम् ।

स्वनिवृत्तौ यथा तक्षा गोपुराट्टालिकादिषु ॥२४१॥

[§ २७५. भवतु परिणामित्वेन कारणविशेष एव स तस्या इति चेदत्राह—]

25 युगपद्भिन्नरूपेण बहिरन्तश्च भासनात् ।

न तयोः परिणामोऽस्ति यथा गेहप्रदीपयोः ॥२४२॥

[§ २७६. अतश्च न तयोः परिणामः इत्याह—]

प्रमितेऽप्यप्रमेयत्वाद् विकृतेरविकारिणी ।

निर्हासातिशयाभावान्निर्हासातिशये धियः ॥२४३॥

30 बलीयस्यबलीयस्त्वाद् विपरीते विपर्ययात् ।

[§ २७७. उपसंहरन्नाह—]

काये तस्मान्न ते तस्य परिणामाः सुखादयः ॥२४४॥

[§ २७८. यत्रापि परिणामतद्वद्भावो घटकपालादौ तत्रापि प्रमितेऽपीत्यादि विद्यते, ततो व्यभिचारः; इति चेदाह—]

एतदत्र घटादीनां न तज्जातुचिदीक्ष्यते ।

5

[§ २७९. गुणदूषणमप्यत्रातिदिशन्नाह—]

तुल्यश्च गुणपक्षेण तत्तथा परिणामतः ॥२४५॥

[§ २८०. कुत इदं संसारवैचित्र्यम् ? ...तस्य च कर्मण एव तद्वैचित्र्यात्...एत-
देवाह—]

अक्षादीनां विकारोऽयमात्मकर्मफलं भवेत् ।

10

अन्यथा नियमायोगात् प्रतीतेरपलापतः ॥२४६॥

[§ २८१. स्वभावकल्पनायां सामर्थ्यस्य मुक्तिरूपस्थाभावात् कर्मफलमेव तद्वैचित्र्यं
तदेवाह—]

कल्पनायामसामर्थ्यात्,

[§ २८२. तदेवं तदहर्जातस्य परलोकित्वे कर्मसिद्ध्या सिद्धे यत्सिद्धं तदाह—]

15

ततस्तद्विकृते ऋते ।

पारम्पर्येण साक्षाच्च नास्ति विज्ञानविक्रिया ॥२४७॥

[§ २८३. तन्न शरीरपरतन्त्रो जीवः तदुपरमे व्यवस्थानात्तदहर्जातवत् । कुतो वा तस्य

तत्परतन्त्रत्वम् ? तद्वेतुत्वादिति चेन्न; केवलादुत्पत्तौ मृतेऽपि प्रसङ्गात् । इन्द्रियसहायादिति चेत्; 20

• इन्द्रियाणामपि समुदायेन तत्सहायत्वं प्रत्येकं वा ? प्रथमविकल्पं निराकुर्वन्नाह—]

कारणं नाक्षसङ्घातः तत्प्रत्येकं विना भवात् ।

विकल्पानां विशेषाच्च तत्तद्वति विरोधतः ॥२४८॥

जातिस्मराणां संवादादपि संस्कारसंस्थितेः ।

अन्यथा कल्पयन् लोकमतिक्रामति केवलम् ॥२४९॥

25

[§ २८४. ततः पौर्वमविकस्यैव तस्य तेन स्मरणमिति कथन्न जातिस्मराणां संवादः ?

एतदेवाह—]

नाऽऽमृतेऽभिलाषोऽस्ति न विना सापि दर्शनात् ।

तद्वि जन्मान्तरान्न,

[§ २८५. तदहर्जातस्य अभिलाष एव नास्ति तत्कुतस्तदनुमितिः ? इति चेदन्नाह—] 30

अयं जातमात्रेऽपि लक्ष्यते ॥२५०॥

[§ २८६. सत्यं लक्ष्यते, स तु न पौर्वभविकाद् अनुमाना (अनुभवा) दपि तु गर्भ-
भाविन एव, तदाह—]

गर्भे रसविशेषाणां ग्रहणादिति कश्चन ।

तदादावभिलाषेण विना जातु यदृच्छया ॥२५१॥

5

तत्संस्कारान्वयेक्षत्वाद् भूयोभूयः प्रवर्तितः ।

[§ २८७. तत्रोत्तरमाह—]

कोशपानं विधेयम्,

[§ २८८. भवतोऽपि समानमिदं गर्भ [ग] तस्यापि पौर्वभविकादेवानुभवादेः स्मरणा-
दित्यत्रापि प्रमाणाभावादिति चेदत्राह—]

10

न समं भूयस्तथा दृशः ॥२५२॥

[§ २८९. पुनरपि गर्भ इत्यादि निराकुर्वन्नाह—]

रूपादिदर्शनाभावात् तत्सम्बन्धस्मृतिः कथम् ? ।

नावश्यं चक्षुरादीनां सर्वत्रोन्मीलनादयः ॥ २५३ ॥

[§ २९०. पुनरपि 'तद्विक्रतेः' इत्यादि समर्थयितुमाह—]

15

तथा रागादयो दृष्टाः सङ्कल्पाद्यविनाभुवः ।

[§ २९१. कथं तर्हि सामान्यस्मरणाद्विशेषे प्रवृत्तिरिति चेन्न; तस्य तस्मादव्यतिरेकात्
दृष्टत्वाच्च, तदेवाह—]

तदाहारादिसामान्यस्मृतितद्विप्रमोपयोः ॥२५४॥

भावोऽभावश्च वृत्तीनां भेदेष्विह च दृश्यते ।

20

[§ २९२. उपसंहरन्नाह—]

तस्मात्संसारवैचित्र्यं नियमान्न विहन्यते ॥२५५॥

[§ २९३ व्याहतमेव पिपीलिकाजीवस्य तच्छरीरपरित्यागेन हस्तिशरीरसञ्चरणम्...
इति चेदत्राह—]

न च कश्चिद्विरोधोऽस्ति देहान्तरपरिग्रहे ।

25

[§ २९४. तदेवम् 'इह च दृश्यते' इत्यनेन तत्परिग्रहमुपपाद्य तदन्तरेणापि उपपा-
दयन्नाह—]

तदभावे हि तद्भावप्रतिषेधो न युक्तिमान् ॥२५६॥

[§ २९५. तस्माद् बुद्धिरियं पुरुषस्यैव स्वभावो न पृथिव्यादेः । चार्वाकस्तत्त्वभावत्वे
दूषणमाह—]

30

बुद्धेः पुरुषतन्त्रत्वे नित्यत्वात्तदनुक्रिया ।

न भवेत्;

[§ २६६. समाधानमाह—]

परिणामित्वाद्धिनाशानुपलक्षणात् ॥२५७॥

[§ २६७. अत्यन्तविनाशेऽपि सन्तानापेक्षया तत्संभवं मन्यमानस्य मतमाशङ्कते—]

परस्याप्यविरोधश्चेत् फलहेतुव्यपोहतः ।

प्रवृत्तेर्व्यवहाराणाम् ;

5

[§ २६८. परिहरन्नाह—]

अविनाशेऽपि संभवात् ॥२५८॥

[§ २६९. इदमेव श्लोकैर्व्याचिख्यासुः ‘फलहेतुव्यपोहतः’ इत्यस्य द्वितीयमर्थं दर्शयन्नाह—]

यथाऽजनकजन्येषु न सन्ति कलशादयः ।

10

तथा जनकजन्येषु ततस्तत्त्वं निरन्वयम् ॥२५९॥

[§ ३००. सत्येवं यत्सिद्धं तदाह—]

तत्र नाशादिशब्दाश्च समिताः समनन्तरे ।

[§ ३०१. तदेवं परमतमुपदर्श्य अल्पवक्तव्यत्वात् तत्रेत्यादि निराकुर्वन् विनाशं पृच्छति—]

15

अन्यस्यान्यो विनाशः किम् ?

[§ ३०२. इति प्रश्नयित्वा दूषणमाह—]

किन्न स्यादचलात्मकः ? ॥२६०॥

[§ ३०३. पर इदं परिहरन्नाह—]

तद्विवेकेन भावाच्चेत् ;

20

[§ ३०४. उत्तरमाह—]

कथन्नातिप्रसज्यते ? ।

सदापि सर्वभावानां परस्परविवेकतः ॥२६१॥

[§ ३०५. साम्प्रतं विवेकमभ्युपगम्य जनकजन्येषु इत्येतन्निराकुर्वन्नाह—]

न चानन्तरमित्येव भावस्तद्व्यपदेशभाक् ।

25

तत्प्रतीत्यसमुत्पादाद्भावश्चेत् ; स कुतो मतः ? ॥२६२॥

सादृश्यात् ; प्रत्यभिज्ञानं न सभागनिवन्धनम् ।

[§ ३०६. चित्रज्ञानवादिनः संभवलेव तदिति चेदन्नाह—]

विशेषकल्पनायां स्यात्परस्याव्यभिचारिता ॥२६३॥

[§ ३०७. माभूत्प्रत्यभिज्ञानं युगपदपि चित्रैकस्यानभ्युपगमादिति चेदन्नाह—]

30

तस्मात्सभागसन्तानकल्पनापि न युज्यते ।
न चेत्स परिवर्त्तते हेतुरेव फलात्मना ॥२६४॥

[§ ३०८. कथं पुनर्हेतोः फलात्मना परिवर्त्तनं प्रत्यक्षवाधनात्, तेन निरन्वयस्यैव विनाशस्य प्रतिपत्तेरिति चेदत्राह—]

5 तस्माद्भावविनाशोऽयं फलीभावस्तदग्रहः ।
तद्ग्रहः,

[§ ३०९. भवतु तत्र फलीभावव्यवहारो विनाशव्यवहारस्तु कथम् ? तद्भावस्याविनाशरूपत्वात् ; अत्राह—]

प्रतिषेधोऽस्य केवलं तन्निवन्धनः ॥२६५॥

10 [§ ३१०. साम्प्रतं हेतुफलयोः पराभिप्रेतमन्यत्वव्यवस्थापनं दर्शयति—]

अन्यथात्वं यदीष्येत हेतोरपि फलात्मनः ।
अन्य एवेति किन्नेष्टमिति केचित् प्रचक्षते ? ॥२६६॥

[§ ३११. तत्रोत्तरमाह—]

15 अन्यथात्वं नचेत्तस्य भवेद् ध्रौव्यमलक्षणात् ।
अभावस्याप्यभावोऽपि किन्नेत्यन्ये प्रचक्षते ? ॥२६७॥

[§ ३१२. साम्प्रतं व्यवहारस्यातिप्रसङ्गमपरत्र तदभावप्रसङ्गमिव परिहरन्नाह—]

स्वस्वभावस्थितो भावो भावान्तरसमुद्भवे ।
नष्टो वा नान्यथाभूतस्ततो नातिप्रसज्यते ॥२६८॥

[§ ३१३. तदेवं प्रपञ्चतः साध्यमुपदिश्य साधनस्वरूपं दर्शयन्नाह—]

20 साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नम्,

[§ ३१४. हेत्वाभासानुपदर्शयति—]

ततोऽपरे ।

विरुद्धासिद्धसन्दिग्धा अकिञ्चित्करविस्तराः ॥२६९॥

[§ ३१५. यदि साधनं प्रकृते सत्येव न तदा स्वप (सप) क्षेऽपि स्यात् तत्र प्रकृताभावात्, 25 ततश्च न तस्य तदविनाभावपरिज्ञानम्, सपक्ष एव तत्संभवान्न पक्षे, तत्र अद्यापि प्रकृतस्यानिश्रयादिति चेदत्राह—]

तथाऽर्थे सत्यसम्भूषणुः धर्मो न बहिर्गतः ।

सर्वथैकान्तविश्लेषे साध्यसाधनसंरिः ॥२७०॥

[§ ३१६. जात्यन्तरस्यैव तत्त्वात् । न तादृशं किमपि दृष्टमस्ति यतः सविस्रग्भं चेतः 30 स्यात् इति चेदत्राह—]

एकं चलं चलैर्नान्यैः नष्टैर्नष्टं नचापरैः ।

आवृतैरावृतं भागै रक्तै रक्तं विलोक्यते ॥२७१॥

[§ ३१७. अथ मतं चलादेस्ततोऽर्थान्तरत्वादचलादिकमेव तत्त्वतः, ततो न चलाचला-
दिरूपवत्तया जात्यन्तरस्यावलोकनमिति; तत्राह—]

अन्यथा तदनिर्देश्यं नियमस्याप्यसम्भवात् ।

5

[§ ३१८. संभव एव समवायादिति चेन्न; तस्य निषेधात् । अभ्युपगम्याप्याह—]

वृत्तावपि न तस्येदं विश्वरूपं विभाव्यते ॥२७२॥

[§ ३१९. तदनभ्युपगमे दोषमाह—]

सम्यग्ज्ञानं व्यवस्थाया हेतुः सर्वत्र तत्पुनः ।

प्रत्यक्षं यदि बाध्येत लक्षणं प्रतिरुध्यते ॥२७३॥

10

साङ्कर्यं व्यवहाराणां सन्निवेशविशेषतः ।

नानैकपरिणामोऽयं यदि न व्यवतिष्ठते ॥२७४॥

[§ ३२०. कुतश्चायं निरंशवादे वस्तुषु स्थूलप्रतिभासः ? न चायं नास्ति; प्रसिद्धत्वात् ।
एकार्थकारित्वादिति चेन्न; अर्थस्याप्यणुरूपस्याप्रतिवेदनात्.....तन्न तत्कारित्वम्, सत्यपि तस्मिन्
न ततस्तत्प्रतिभासो व्यभिचारात्, अस्ति हि तत्कारित्वमिन्द्रियालोकादीनां न च तत्र स्थूलैकप्र- 15
तिभासः, विषये चोदिता प्रवृत्तिरिन्द्रियादावपि स्यात्, एतदेव दर्शयन्नाह—]

सत्यप्येकार्थकारित्वे संश्लेषपरिणामतः ।

इन्द्रियादिषु नैकत्वं यदि किं वा विरुद्धयते ? ॥२७५॥

[§ ३२१. अस्यैव तात्पर्यं विस्तरतो व्याख्यातुकाम आह—]

तदनेकार्थसंश्लेषविश्लेषपरिणामतः ।

20

स्कन्धस्तु सप्रदेशोऽशी बहिः साक्षात्कृतो जनैः ॥२७६॥

[§ ३२२. इदानीं तत्साक्षात्करणेनैव विपक्षाभ्युपगमं प्रतिक्षिपन्नाह—]

नाऽनाकारैकविज्ञानं स्वाधारे वदरादिवत् ।

तादात्म्येन,

[§ ३२३. भेदे दूषणान्तरमप्याह—]

25

पृथग्भावे सति वृत्तिर्विकल्प्यते ॥२७७॥

[§ ३२४. भवेदेवं यदि तथादर्शनं लभ्येत, न चैवं कश्चित्, तदमेदस्यैवोपलम्भात्,
तदेवाह—]

दर्शनादर्शने स्यातां सप्रदेशाप्रदेशयोः ।

[§ ३२५. भवतु तर्हि भवत्परिकल्पितस्यापि स्कन्धस्याभावो भेदाभेदयोरेकत्र विरोधा- 30
दिति चेदत्राह—]

विरोधानुपलम्भेन किल स्कन्धो विरुध्यते ॥२७८॥

[§ ३२६. अर्वाग्भागदृष्ट्या परभागादेरपि दर्शने तदनुमानाभावप्रसङ्गात् । अदर्शने तदभेदात् अर्वाग्भागस्याप्यदर्शनमित्यनुपलम्भाद्भावस्यैव प्राप्तेरिति चेदत्राह—]

सम्भवत्यपि मात्राणां दर्शनादर्शनस्थितिः ।

5 [§ ३२७. निदर्शनमत्र—]

इदं विज्ञानमन्यद्वा चित्रमेकं यदीक्ष्यते ॥२७९॥

[§ ३२८. भवतु चित्रमेकं वस्तु तथापि कुतः क (त) स्मिन् सति मात्राणां दर्शनादर्शन-स्थितिरिति चेदत्राह—]

अवान्तरात्मभेदानामानन्त्यात् सकलाग्रहे ।

10 नानाकारणसामर्थ्याज्ज्ञानं भेदेन भासते ॥२८०॥

भेदसामर्थ्यमारोप्य प्रत्यासत्तिनिबन्धनम् ।

चोद्यं महति नीलादौ तुल्यं तद्विषयाकृति ॥२८१॥

[§ ३२९. सति चैवमनुपलब्धदर्शनविषयत्वे स्कन्धस्य यज्ज्ञा (यज्जा) तं तदाह—]

सर्वथा श्लेषविश्लेषे नाणूनां स्कन्धसम्भवः ।

15 अन्यथा नोऽप्रदेशादीत्यपरैर्दत्तमुत्तरम् ॥२८२॥

[§ ३३०. अतो निर्दोषत्वात् स एव तदनुगुणः श्लेषः इति कथं तदभावः ? इदमेवाह—]

नैरन्तर्यं निरंशानां स्वभावानतिरेचनम् ।

स्कन्धो मात्रानुरोधेन व्यवहारेऽवधार्यते ॥२८३॥

[§ ३३१. कुतः पुनरन्योन्यात्मगमनेनैव तस्यावधारणं न रूपान्तरेणेति चेदत्राह—]

20 सङ्ख्यादादिसमभावेऽपि तत्स्वभावविवेकतः ।

[§ ३३२. तथापि तदनभ्युपगच्छतो दूषणमाह—]

अतादात्म्यस्वभावे वाऽऽनर्थक्यादलं परैः ॥२८४॥

[§ ३३३. ततोऽवश्यं वक्तव्यः स्कन्धः तस्यैव तदुपयोगात्, स च रूपादीनामन्योन्या-भेद एव नापरः इत्याह—]

25 स्पर्शोऽयं चाक्षुषत्वान्न, न रूपं स्पर्शनग्रहात् ।

[§ ३३४. भिन्न एव कस्मान्न भवतीति चेदत्राह—]

रूपादीनि निरस्याभिर्न (स्यान्यन्न) चाभ्युपलभेमहि ॥२८५॥

[§ ३३५. एतदेव कस्मादिति चेदत्राह—]

सामग्रीविहितज्ञानदर्शिताकारभेदिनः ।

30 प्रायेणैकस्य ताद्रूप्यम्, पृथक्सिद्धौ प्रसङ्गतः ॥२८६॥

[§ ३३६. नन्वेवमेकस्मिन्नेवेन्द्रिये तस्य तथैव प्रतिभासादिन्द्रियान्तरमनर्थकमिति चेदत्राह—]

अल्पभूयःप्रदेशैकस्कन्धभेदोपलम्भवत् ।

अन्यथा स्वात्मनि ज्ञानमन्यथा चानुमीयते ॥२८७॥

[§ ३३७. तत्सर्वमनेकान्तात्मकं प्रमेयत्वादिति । सतः प्रमेयत्वे तस्य च सति नियमे 5 स्यादिदमनुमानं नान्यथा हेतुदोषसंभवादिति मन्यमानस्य मतमादर्शयति—]

सत्प्रमेयत्वयोर्नास्ति सर्वथा नियमो यदि ।

[§ ३३८. तत्रोत्तरमाह—]

अप्रवृत्तेः फलाभावात् तत्र वृत्तेर्निषेधतः ॥२८८॥

[§ ३३९. किं वा प्रमाणं यतः प्रमेयत्वमभावस्य ? प्रत्यक्षमिति चेदत्राह—]

10

प्रमाणमर्थसम्बन्धात् प्रमेयमसदित्यपि ।

प्रवृत्तेर्ध्यान्धमेवैतत् किन्न सन्तं समीक्षते ? ॥२८९॥

[§ ३४०. तन्न प्रत्यक्षतः प्रमेयत्वमभावस्य । नाप्यनुमानात् ; तस्यापि प्रतिबन्धसव्य- पेक्षस्यैव प्रमाण्यादभावे च प्रतिबन्धस्यासम्भवात् । तदेवाह—]

तत्प्रत्यक्षं परोक्षेऽर्थे साधनं त्रिविधं द्वयम् ।

15

हेत्वात्मनोः परं हेतुस्तज्ज्ञानव्यवहारयोः ॥२९०॥

परसत्त्वमसत्ताऽस्याऽदर्शनं परदर्शनम् ।

[§ ३४१. यदि भावान्तरमेवाभावः तत्र कथम् असज्ज्ञानादिप्रवृत्तिरिति चेदत्राह—]

सदसज्ज्ञानशब्दाश्च केवलं तन्निबन्धनाः ॥२९१॥

[§ ३४२. भावस्यैवाभावात्मकत्वे प्रसिद्धमुदाहरणमाह—]

20

अग्निः स्वपररूपाभ्यां भावाभावात्मको यथा ।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दबुद्ध्याऽवधार्यते ॥२९२॥

[§ ३४३. निरूपितमिदम्, यदि न तावता परितोषः पुनरपि वदामः । इत्याह—]

अप्रमेयं प्रमेयश्चेत् असत् किन्न सदात्मकम् ? ।

अथ न व्यवहारोऽयमन्यत्रापि निरङ्कुशः ॥२९३॥

25

[§ ३४४. सम्प्रति सर्वत्र प्रमेयत्वस्य सद्भावमुपसंहृत्य गमकत्वे निमित्तं दर्शयन्नाह—]

सत्प्रत्यक्षं परोक्षार्थगतिस्तत्रैकलक्षणम् ।

साध्ये सति विरोधोऽयमतस्कर्णेण साध्यते ॥२९४॥

[§ ३४५. तन्न बहिरन्वयादिना किञ्चित् विनापि तेन तन्निर्णयात् । न च सर्वत्र तत्संभवो यतः तस्मादेव स भवेदित्याह—]

30

सर्वत्र परिणामादौ हेतुः सत्त्वात्ततोऽन्यथा ।

शब्देऽपि साधयेत्केन ? तस्मान्नान्वयतो गतिः ॥२९५॥

[§ ३४६. साम्प्रतं विपक्षव्यवच्छेदेन परिणामहेतुत्वमेव सत्त्वादेर्विस्तरेण व्याचक्षाण आह—]

सिद्धमर्थक्रियाऽसत्त्वं सर्वथाऽविचलात्मनः ।

5

निरन्वयविनाशेऽपि,

[§ ३४७. संवृतिसिद्धं तु तत्सत्त्वं शुद्धमशुद्धं वा तत्र हेतुरिति चेदत्राह—]

साधनं नोपचारतः ॥२९६॥

[§ ३४८. ननु यथा क्षणिकाद्येकान्ते तथाऽनेकान्तेऽपि तस्यापि तत्कुर्वतः कुतश्चिद-
प्रतिपत्तेरिति चेदत्राह—]

10

अवश्यं बहिरन्तर्वा प्रमाणमवगच्छताम् ।

सिद्धमेकमनेकात्मपरिणामव्यवस्थितम् ॥२९७॥

[§ ३४९. भवतु अन्तस्तत्परिणामव्यवस्था 'चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिः' इति वचनात्,
न बहिः; तत्र परमाणूनामेवं प्रतिक्षणक्षीणानां परस्परविलक्षणानाञ्च भावादिति कश्चित् । अव-
यवावयव्यादीनामेव इत्यपरः । तत्राह—]

15

परापरविवेकैकस्वभावपरिनिष्ठिनः ।

परमाणुरतोऽन्यो वा बहिरन्तर्न बुद्ध्यते ॥२९८॥

[§ ३५०. तस्यापि स्वतोऽर्थक्रियासामर्थ्ये किं सहकारिप्रतीक्ष्येति चेदत्राह—]

अर्थस्यानेकरूपस्य कदाचित्कस्यचित्कचित् ।

शक्तावतिशयाधानमपेक्षातः प्रकल्प्यते ॥२९९॥

20

[§ ३५१. यद्यर्थस्य स्वभावोऽतिशयः तर्हि तद्वेतोरेव सिद्धेरपेक्षया न किञ्चित्, असिद्धौ
तु न तत्स्वभावत्वं सिद्धासिद्धयोर्विरुद्धधर्माध्यासेन भेदस्यैवापत्तेरिति चेदत्राह—]

स्वभावातिशयाधानं विरोधान्न परीक्ष्यते ।

तत्र सिद्धमसिद्धं वा तस्माज्जातिर्न हेतुतः ॥३००॥

सन्निधानं हि सर्वस्मिन्नव्यापारेऽपि तत्समम् ।

25

[§ ३५२. किं सर्वथा ततो न जातिः ? नेत्याह—]

न चेत्स परिवर्तत भाव एव फलात्मना ॥३०१॥

[§ ३५३. सम्प्रति यदुक्तम्—विनाशनियतो भावस्तत्रानपेक्षणादिति; तस्य विरुद्धत्वं दर्श-
यन्नाह—]

परिणामस्वभावः स्याद्भावस्तत्रानपेक्षणात् ।

30

[§ ३५४. कुतः पुनर्निरन्वयविनाशस्यैव ततो न सिद्धिः ? इत्यत्राह—]

अयमर्थक्रियाहेतुरन्तरेण निरन्वयम् ॥३०२॥

[§ ३५५. परिणामे भावसाङ्ग्यम्, कस्यचित्त्वपर्यायैरिव परपर्यायैरप्यविशेषात् तदा-
पत्तेरिति चेदत्राह—]

भेदाभेदात्मनोऽर्थस्य भेदाभेदव्यवस्थितिः ।

लोकतो वानुगन्तव्या सभागविसभागवत् ॥३०३॥

5

[§ ३५६. साम्प्रतं तद्विशेषाणामपि तद्धेतुत्वं तद्व्यापकस्य तद्वचनादवगतमपि विनेया-
नुग्रहणार्थं दर्शयन्नाह—]

सामान्यभेदरूपार्थसाधनस्तद्गुणोऽखिलः ।

[§ ३५७. कुतस्तत्साधन एवायं न क्षणिकत्वादिसाधनोऽपीति चेदत्राह—]

अन्यथाऽनुपपन्नत्वनियमस्यात्र संभवात् ॥३०४॥

10

[§ ३५८. कीदृशो वा शब्दादिर्यत्र क्षणभङ्गसाधनम् ? निष्कलपरमाणुरूप इति
चेन्न, ...सञ्चये तर्हि सौहृद्येणैव तेषां प्रतिपत्तिः स्यात् तत्त्वभावत्वात्, तथा च कथमेकघटादि-
व्यवहारः ? विकल्पारोपितादेव स्थौल्यात् क्षणभेदव्यवहारवदिति चेदेतदेव दर्शयति—]

प्रत्यक्षेऽपि समानान्यनिर्णयः प्रतिरुद्धयते ।

यथा क्षणक्षयेऽणूनाम् ;

15

[§ ३५९. अत्रोत्तरमाह—]

इत्यात्मासौ विडम्बयेत् ॥३०५॥

[§ ३६०. तन्नायमारोपितः स्थूलाकारः तत्प्रत्ययव्यतिरेकेण प्रत्यक्षस्याप्रतिवेदनात् ।
एकत्वाध्यवसायाच्च तत्कल्पनस्य प्रतिक्षेपादेतदेवाह—]

अपृथग्वेद्यनियमादभिन्नाः परमाणवः ।

20

[§ ३६१. ततो यथा विभ्रमेतरविकल्पेतरादीनामेकत्र समुच्चयः तथा वस्तुस्वाभाव्यादेव
सूक्ष्मेतराभेदेतराणामपि । एतदेवाह—]

देशकालान्तरव्याप्तिस्वभावः क्षणभङ्गिनाम् ॥३०६॥

सम्प्रत्यस्तमिताशेषनियमा हि प्रतीतयः ।

[§ ३६२. तस्मादक्रमवत् क्रमेणापि अनेकान्तात्मक एव भावः तथा प्रत्यभिज्ञानात् । 25
ननु च प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्षविषय एव प्रवृत्तिमन्नान्यत्र अतिप्रसङ्गात् । न च प्रत्यक्षस्य परापर-
पर्यायेषु प्रवृत्तिर्यतः तेषां कथञ्चिदभेदप्रतिपत्त्या तस्मादनेकान्तविषयत्वात्प्रत्यभिज्ञानं तत्र स्यादिति
चेदत्राह—]

अग्रहः क्षणङ्गोऽपि ग्रहणे किमनिश्चयः ? ॥३०७॥

[§ ३६३. ...समारोपनिरासार्थत्वस्य तत्त्वादिति चेदत्राह—]

30

आकृतिभ्रमवद् यद्वद्विषमज्ञैर्विलोकितम् ।

न च तेऽर्थविदोऽर्थोऽर्थात् केवलं व्यवसीयते ॥३०८॥

[§ ३६४. तन्न व्यवसायार्थमपि दर्शनकल्पनमुपपन्नम् । भवतु व्यवहारार्थमेव तत् ; अभ्यासदशायां दर्शनादेव व्यवसायनिरपेक्षाद् व्यवहारप्रवृत्तेरिति चेदत्राह—]

5

भावान्तरसमारोपे भाविताकारगोचराः ।

समक्षसंविदोऽर्थानां सन्निधिं नातिशेरते ॥३०९॥

[§ ३६५.कोऽपरः स्यादन्यत्र व्यवसायादिति तदात्मिकैव दृष्टिः, अन्यथा तस्याः तद्विषयस्य चानवकल्पनादित्यावेदयन्नाह—]

अणवः क्षणिकात्मानः किल स्पष्टावभासिनः ।

15 [§ ३६६. परमपि अरुचिविषयं दर्शयति—]

अतत्फलपरावृत्तार्थाकारस्मृतिहेतवः ॥३१०॥

[§ ३६७. ततो यथा तन्निर्णयात्तदाकारः तथा साधारणरूपमपि इति तस्यैव प्रत्यक्ष-वेद्यत्वमेतदेवाह—]

स्थूलस्पष्टविकल्पार्थाः स्वयमिन्द्रियगोचराः ।

15 [§ ३६८. तथा च यत्सिद्धं तदाह—]

समानपरिणामात्मशब्दसङ्केतहेतवः ॥३११॥

[§ ३६९. साम्प्रतं तस्यास्ततोऽन्यत्वेऽपि तत्संवेदनवत् इन्द्रियप्रत्यक्षस्यापि व्यवसाया-त्मकत्वं दर्शयन्नाह—]

स्वभावव्यवसायेषु निश्चयानां स्वतो गतेः ।

20 नाशस्यैकार्थरूपस्य प्रतीतिर्न विरुद्धयते ॥३१२॥

[§ ३७०. भवतोऽपि स्वपरनिर्णयात्मनो ज्ञानस्य स्वत एव सच्चेतनादिवत् प्रतिक्षणपरि-णामादेरपि निर्णयात् किं तत्र प्रमाणान्तरेणेति चेदत्राह—]

व्यामोहशबलाकारवेदनानां विचित्रता ।

साकल्येन प्रकाशस्य विरोधः सम्प्रतीयते ॥३१३॥

25 [§ ३७१. नन्वेवमगृहीताकारसंभवे कुतस्तदस्तित्वमित्यत्राह—]

संभावितान्यरूपाणां समानपरिणामिनाम् ।

प्रत्यक्षाणां परोक्षात्मा प्रमाणान्तरगोचरः ॥३१४॥

[§ ३७२. कुतः पुनरिदमवगन्तव्यं प्रमाणान्तरगोचर आत्मा प्रत्यक्षाणामिति, प्रत्यक्षस्य तत्र तद्विषये च प्रमाणान्तरस्यावृत्तेः, उभयविषयस्य च कस्यचिदभावादिति चेदत्राह—]

प्रत्ययः परमात्मानमपि च प्रतिभासयेत् ।

सत्यं परिस्फुटं येन तत्र प्रामाण्यमश्नुते ॥३१५॥

30

[§ ३७३. एकस्य स्वपरप्रतिभासिनः स्वभावद्वयस्यासंभवात्, अत आत्मानमेव प्रत्ययः प्रतिभासयतीति चेदत्राह—]

आसादितविशेषाणामणूनामतिवृत्तिः ।

एकाकारविवेकेन नैकैकप्रतिपत्तयः ॥३१६॥

[§ ३७४. भवत्वेवं युगपच्चित्रमेव न तत्कमेण क्षणिकत्वादिति चेन्न; चित्रस्यापि क्षणक्षीण- 5 शरीरस्याऽप्रतिवेदनादेतदेवाह—]

कालापकषपर्यन्तविवर्त्ततिशया गतिः ।

अशक्तेरणुवत् सेयमनेकान्तानुरोधिनी ॥३१७॥

अंशग्रहविवेकत्वान्मन्दाः किमतिशेरेते ? ।

[§ ३७५. सत्यपि तदभ्यासात् बहिस्तेषां स्वाकारनिर्णये नातः (नान्तः) तत्संभवः इत्याह—] 10

निर्णयेऽनिर्णयान्मोहो बहिरन्तश्च तादृशः ॥३१८॥

[§ ३७६. [महामतित्वं] प्रतिक्षणपरिणामादिसकलसूक्ष्मविशेषेष्वपि किन्नेति चेत् ? स्यादेव यद्यसावनावृतः स्यादेतदेव दर्शयति—]

जीवः प्रतिक्षणं भिन्नश्चेतनो यदि नावृतः ।

सकलग्रहसामर्थ्यात्तथाऽऽत्मानं प्रकाशयेत् ॥३१९॥

15

[§ ३७७. प्रतिक्षणपरिणामे जीवस्य क्षणिकत्वमेव न नित्यत्वमिति चेन्न; तस्यापि प्रत्यभिज्ञाबलेन तत्र व्यवस्थापितत्वात् । तदपि सदृशापरापरोत्पत्तिविभ्रमादेव न तात्त्विकादेकत्वादिति चेदत्राह—]

तादात्म्यात् प्रत्यभिज्ञा न सदृशापरहेतुतः ।

अवस्थान्तर्विशेषोऽपि बहिरन्तश्च लक्ष्यते ॥३२०॥

20

[§ ३७८. पुनरपि तादात्म्यात् प्रत्यभिज्ञानमित्यत्रोपपत्तिमाह—]

सूक्ष्मस्थूलतरा भावाः स्पष्टास्पष्टावभासिनः ।

वितथेतरविज्ञाने प्रमाणेतरतां गते ॥३२१॥

[§ ३७९. माभूत्स्वयं परामर्शरूपं दर्शनं परामर्शस्य कारणं तु भवति संस्कारप्रबोधस- 25 हायमिति चेदत्राह—]

यस्मिन्नसति यज्जातं कार्यकारणता तयोः ।

भेदिनां प्रत्यभिज्ञेति रचितोऽयं शिलाप्लवः ॥३२२॥

[§ ३८०. तदेवं पक्षधर्मत्वादिकमन्तरेणापि अन्यथानुपपत्तिबलेन हेतोर्गमकत्वं तत्र तत्र स्थाने प्रतिवाद्यभेदं (पाद्य नेदं) स्वद्युद्धिपरिकल्पितमपि तु परमागमसिद्धमित्युपदशयितुकामो भगव- त्सीमन्धरस्वामितीर्थङ्करदेवसमवशरणात् गणधरदेवप्रसादादापादितं देव्या पद्मावत्या यदानीय 30 पात्रकेसरिस्वामिने समर्पितमन्यथानुपपत्तिवार्त्तिकं तदाह—]

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ॥३२३॥

[§ ३८१. ततः सामस्येनैव तत्करणमभ्युपगन्तव्यं तच्च ततो न संभवति, तदेवाह—]

प्रत्येति न प्रमाहेतुं प्रत्येति पुनरप्रमाम् ।

5

प्रमाहेतुतदाभासभेदोऽयं सुव्यवस्थितः ! ॥३२४॥

[§ ३८२. भवतु तर्हि प्रमाणादेव अनुमानाद् हेतुप्रतिपत्तिरिति चेदत्राह—]

नियमेन न गृह्णाति निःशङ्कं चतुरस्रधीः ।

अन्यथाऽसंभवेऽज्ञाने ह्यर्थश्चात्मव्यवस्थितः ॥३२५॥

[§ ३८३. तत्र कल्पितस्तद्भावा उपपन्नः, तदाह—]

10

प्रतिव्यूढस्तु तेनैव प्रभवोऽनलधूमयोः ।

प्रत्यक्षेऽर्थे प्रमाणेन विकल्पेन प्रकल्पितः ॥३२६॥

[§ ३८४. एवमेतत् प्रमाणतः प्रत्यक्षादेव तत्प्रतिपत्तोः एतदेव दर्शयति—]

प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां यदि तत्त्वं प्रतीयते ।

अन्यथानुपपन्नत्वमतः किन्न प्रतीयते ? ॥३२७॥

15

[§ ३८५. प्रतिबन्धो यदि असाधारणः न तस्मादनुमानम्, यत्र तत्सिद्धिः प्रत्यक्षात् साध्यस्यापि तत्र तत एव सिद्धेः अन्यत्र चाविद्यमानत्वात् । साधारणश्चेत्, न तर्हि स विषयः प्रत्यक्षस्य स्यात्, तस्य खलक्षण एव नियमादतः प्रमाणान्तरस्यैव विषयो वक्तव्यः, तदेवाह—]

प्रमाणसाधनोपायः प्रमाणान्तरगोचरः ।

व्याप्यव्यापकभावोऽयमेकत्रापि विभाव्यते ॥३२८॥

20

[§ ३८६. प्रतिबन्धसमारोपनिवारणार्थं तन्निरूपणमिति कथं तद्व्यापारवान् विकल्पो न प्रमाणम् । अप्रमाणान्तनिवारणयोगादनुमानवत्, एतदेवाह—]

सत्यप्यन्वयविज्ञाने स तर्कपरिनिष्ठितः ।

अविनाभावसम्बन्धः साकल्येनावधार्यते ॥३२९॥

[§ ३८७. पुनरपि तर्कस्यैव प्रामाण्यं दृढयन्नाह—]

25

सहृष्टैश्च धर्मैस्तत्र विना तस्य संभवः ।

इति तर्कमपेक्षेत नियमेनैव लैङ्गिकम् ॥३३०॥

तस्माद् वस्तुबलादेव प्रमाणम्,

[§ ३८८. यद्येवं भवतोऽपि तृतीयं प्रमाणं प्राप्तम्, प्रत्यक्षवत् परोक्षेऽप्यनन्तर्भावादिति चेदाह—]

30

मतिपूर्वकम् ।

बहुभेदं श्रुतं साक्षात्पारम्पर्येण चेष्ट्यते ॥३३१॥

[§ ३८६. बहुभेदत्वमेव तस्य दर्शयितुं तद्व्यापारानाह—]

अर्थमात्रावबोधेऽपि यतो नर्ते प्रवर्त्तनम् ।

स युक्तो निश्चयो मुख्यं प्रमाणं तदनक्षवत् ॥३३२॥

[§ ३९०. तद् व्यापारान्तरोपन्यासेन दर्शयति—]

लिङ्गसांवृतयोस्तुल्या गृहीतग्रहणादपि ।

व्यवच्छेदाविसंवादव्यवहर्त्तृप्रवृत्तयः ॥३३३॥

[§ ३९१. अविसंवादव्यवहारयोः निश्चयेऽपि परस्य प्रसिद्धत्वात् तत्र व्यवच्छेदं दर्शयन्नाह—]

शब्दाद्ययोगविच्छेदे तत्प्रामाण्यं न किं पुनः ? ।

अनुमानं तु हेतोः स्यादविनाभावनिश्चयात् ॥३३४॥

[§ ३९२. तदेवं कार्यादावन्यथानुपपन्नत्वादेव हेतुत्वमवस्थाप्य अनुपलम्भेऽपि तत् एव तदवस्थापयन्नाह—]

यथा कार्य स्वभावो वाप्यन्यथाऽऽशङ्क्यसंभवः ।

हेतुश्चानुपलम्भोऽयं तथैवेत्यनुगम्यताम् ॥३३५॥

[§ ३९३. तदेवमदृश्यानुपलम्भस्य गमकत्वमन्यथानुपपत्तिबलेनोपपाद्य दृश्यानुपलम्भ- 15 स्यापि तत् एव तत्, न तदन्तरेणेति दर्शयन्नाह—]

प्रत्यक्षानुपलम्भश्च विधानप्रतिषेधयोः ।

अन्तरेणेह सम्बन्धमहेतुरिव लक्ष्यते ॥३३६॥

[§ ३९४. इदानीं तत्प्रपञ्चं दर्शयति—]

प्रपञ्चोऽनुपलब्धेर्नाऽपक्षे प्रत्यक्षवृत्तितः ।

प्रमाणं सम्भवाभावाद्विचारस्याप्यपेक्षणात् ॥३३७॥

[§ ३९५. साम्प्रतमुन्नामादेस्तदुत्पत्त्याद्यभावेऽपि गमकत्वोपदर्शनेन हेतुः (तोः) त्रैवि- 20 ध्यमपि विध्वंसयन्नाह—]

तुलोन्नामरसादीनां तुल्यकालतया न हि ।

नामरूपादिहेतुत्वं न च तद्व्यभिचारिता ॥३३८॥

तादात्म्यं तु कथञ्चित्स्यात् ततो हि न तुलान्तयोः ।

[§ ३९६. न केवलं तुल्यकालत्वात् कथञ्चिद्वादे चानिष्टापत्तेः तुलान्तयोरेव न तादा- 25 त्म्यमपि तु अन्ये (अन्ये) ग्रामपीत्याह—]

सास्त्रादीनां चन्द्रार्वाकूपरभागयोः ॥३३९॥

[§ ३९७. तदेवमुन्नामादेरकार्यस्वभावस्यापि लिङ्गत्वोपपादनेन त्रैविध्यनियमं प्रतिषिध्य 30 पात्रकेसरिस्वामिनाऽपि तन्नियमः प्रतिषिद्ध इति दर्शयन्तद्वचनमाह—]

उपलब्धेश्च हेतुत्वादन्तर्भावात् स्वभावतः ।

तयोरनुपलम्भेषु नियमो न व्यवस्थितः ॥३४०॥

[§ ३६८. पुनरपि नियमेन (नियमं) विधुरयितुं लिङ्गान्तरमुपदर्शयन्नाह—]

अभविष्यत्यसंभाव्यो धर्मो धर्मान्तरे क्वचित् ।

5 शेषवद्धेतुरन्योऽपि गमकः सुपरीक्षितः ॥३४१॥

[§ ३६९. साम्प्रतं नैयायिकादिकल्पितमपि तन्नियममतिदेशेन विधुरयन्नाह—]

एतेन पूर्ववद्वीतसंयोग्यादौ कथा गता ।

तल्लक्षणप्रपञ्चश्च निषेद्धव्योऽनया दिशा ॥३४२॥

[§ ४००. सम्प्रति हेत्वाभासं दर्शयन्नाह—]

10 अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये विडम्बिताः ।

हेतुत्वेन परैस्तेषां हेत्वाभासत्वमीक्ष्यते ॥३४३॥

[§ ४०१. यद्यन्यथानुपपत्तिवैकल्यमेकान्ततः सत्त्वादीनाम्, क्षणभङ्गादिवत् परिणामेऽपि न तेषां हेतुत्वं स्यादिति चेन्न, एकान्ततस्तदभावादेतदेवाह—]

विरोधादन्वयाभावाद् व्यतिरेकाप्रसिद्धितः ।

15 कृतकः क्षणिको न स्यान्नैकलक्षणहानितः ॥३४४॥

[§ ४०२. विरोधमेव दर्शयन्नाह—]

सत्ता सम्प्रतिबद्धैव परिणामे क्रियास्थितेः ।

निर्व्यापारो हि भावः स्यान्नित्यत्वे वा निरन्वये ॥३४५॥

[§ ४०३. कः पुनरन्वय (नरय) मन्वयो नाम यतो निरन्वयो निर्व्यापारत्वमुच्यते इति 20 चेदन्नाह—]

अवस्थादेशकालानां भेदेऽभेदव्यवस्थितिः ।

या दृष्टा सोऽन्वयो लोके व्यवहाराय कल्प्यते ॥३४६॥

[§ ४०४. उक्तमर्थं श्लोकाभ्यां सङ्गृह्यन्नाह—]

सर्वसन्तानविच्छेदः सति हेतौ फलोदयः ।

25 अन्यथा नियमाभावादानन्तर्यं विरुद्धयते ॥३४७॥

[§ ४०५. ततः क्षणिकादेरर्थक्रियाव्यावृत्तिनिर्णयात्तदात्मकं सत्त्वं कृतकत्वादयश्च तद्विशेषाः तत्साधनाय प्रयुक्ता विरुद्धा एव, परिणामस्यैव साधनादित्यावेदयति—]

सत्त्वमर्थक्रियाऽन्ये वा वस्तुधर्माः क्षणक्षये ।

हेत्वाभासा विरुद्धाख्याः परिणामप्रसाधनाः ॥३४८॥

30 [§ ४०६. सम्प्रति अनैकान्तिकांस्तदाभासानाह—]

सर्वज्ञप्रतिषेधे तु सन्दिग्धा वचनादयः ।

[§ ४०७. येषां तु त्रैरूप्याद्रमकत्वं तन्मत्या हेतव एवेत्याह—]

रागादिसाधनाः स्पष्टा एकलक्षणविद्विषाम् ॥३४९॥

[§ ४०८. परकीयं तत्रोत्तरं दर्शयति—]

धर्मिधर्मस्य सन्देहे व्यतिरेके ततो भवेत् ।

असिद्धिः प्रतिबन्धस्येत्यपरे प्रतिपेदिरे ॥३५०॥

5

[§ ४०९. अत्रोत्तरमाह—]

वाचो विरुद्धकार्यस्य सिद्धिः सर्वज्ञवाधिनी ।

शिरःपाण्यादिमत्त्वाद्या विरुद्धव्याप्तिसिद्धयः ॥३५१॥

[§ ४१०. तदेवं विरुद्धकार्योपलब्धि विरुद्धव्याप्तोपलब्धिश्च प्रतिपाद्य व्यापकविरुद्धोप-
लब्ध्यादिनाऽपि तद्वाधनं दर्शयन्नाह—]

10

सत्सम्प्रयोगजत्वेन विरुद्धः सकलग्रहः ।

स्वभावकारणासिद्धेरेकलक्षणविद्विषाम् ॥३५२॥

[§ ४११. एवमेते वचनादयः कार्यस्वभावानुपलम्भरूपतया त्रैविध्यमपरित्यजन्तोऽपि
अन्यथानुपपत्तिवैकल्यादेव अगमकाः, तदेव दर्शयति—]

कथन्न सम्भवी वक्ता सर्वज्ञस्तस्य तेन नो ।

15

यावत्प्रकृष्यते रूपं तावत्कार्यं विरुध्यते ? ॥३५३॥

[§ ४१२. स्यादेवं यदि विज्ञानाद्वचनम्, न चैवं विवक्षायास्तत्कारणत्वात् । सा च
रागविशेषत्वेन दोषात्मा सती विधूताशेषदोषतो निःशेषतत्त्वज्ञानान्निवर्त्तमाना वचनमपि निवर्त्तयत्येव ।
तत्कथन्नान्यथानुपपत्तिर्यतः तत्सुगतादावनिवर्त्तितप्रसरतया प्रवर्त्तमानं विवक्षा दोषोपस्थापनेन निःशे-
षवेदित्वं व्यापादयेदिति चेदत्राह—]

20

विवक्षामन्तरेणापि वाग्वृत्तिर्जातु वीक्ष्यते ।

वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥३५४॥

[§ ४१३. अतो विज्ञानहेतुकैव तत्प्रवृत्तिरेतदेव दर्शयन्नाह—]

प्रज्ञा येषु पटीयस्यः प्रायो वचनहेतवः ।

विवक्षानिरपेक्षास्ते पुरुषार्थं प्रचक्षते ॥३५५॥

25

[§ ४१४. भवतु वा विवक्षा, तथापि न दोष इत्याह—]

अप्रमत्ता विवक्षेयम्, अन्यथा नियमात्ययात् ।

[§ ४१५. ततः सा प्रमादरहितैव ततो न दोषवतीत्याह—]

इष्टं सत्यं हितं वक्तुमिच्छा दोषवती कथम् ? ॥३५६॥

[§ ४१६. कुतः पुनः कस्यचित् सकलज्ञानं यतः 'कथम्' इत्याद्युच्यते इति चेदत्राह—]

30

प्रज्ञाप्रकर्षपर्यन्तभावः सर्वार्थगोचरः ।

[§ ४१७. भवतु वक्ता सर्वज्ञः तद्वचनस्य तु कथं यथार्थत्वं यतस्तज्ज्ञानार्थिनामन्वेषणीयः स्यात् ? खरसत एव शब्दानामयथार्थबुद्धिहेतुत्वेन तदुक्तानामपि वस्तुगोचरत्वानुपपत्तेरिति चेदत्राह—]

5 तत्कार्योत्कर्षपर्यन्तभावः सर्वहिताभिधा ॥३५७॥

[§ ४१८. तदेवं वक्तृत्वस्य सर्वज्ञत्वेनाविरोधमुपपाद्य पुरुषत्वादेरप्युपपादयन्नाह—]

यथा वचनसर्वज्ञकार्यकारणभूतयोः ।

अविरोधेन वाग्वृत्तेराद्रेकस्तन्निषेधने ॥३५८॥

तथैव पुरुषत्वादेरक्षयाद् बुद्धिविस्तरे ।

10 सर्वप्रकाशसामर्थ्यं ज्ञानावरणसङ्ख्यात् ॥३५९॥

[§ ४१९. एतदेव स्पष्टयन्नाह—]

अक्षयात्पुरुषत्वादेः प्रतिपक्षस्य सङ्ख्यात् ।

सर्वतोऽक्षमयं ज्योतिः सर्वार्थैः सम्प्रयुज्यते ॥३६०॥

[§ ४२०. यदि प्रतिपक्षपरिक्षयात् ज्योतिः, दृग्गस्थानां तदभावात् कथं रूपादिवेदन-
15 मिति चेदत्राह—]

कथञ्चित् स्वप्रदेशेषु स्यात्कर्मपटलाच्छता ।

संसारिणां तु जीवानां यत्र ते चक्षुरादयः ॥३६१॥

साक्षात्कर्तुं विरोधः कः सर्वथावरणात्यये ? ।

सत्यमर्थं तथा सर्वं यथाऽभूद्वा भविष्यति ॥३६२॥

20 [§ ४२१. परदुःखादिकं यदि सर्वज्ञो न जानाति कथं तज्ज्ञत्वम् ? जानाति चेत् कथन्न दुःखादिमान्...इति चेदत्राह—]

परदुःखपरिज्ञानाद् दुःखितः स कथं भवेत् ? ।

स्वतो हि परिणामोऽयं दुःखितस्य न योगिनः ॥३६३॥

[§ ४२२. किं पुनर्भावनापाटवात् कुतश्चिद् बुद्धिप्रकर्षो दृष्टः यतः सकलवेदनमपि
25 ततो भवेदिति चेत् ? वाढमस्ति, इत्याह—]

भावनापाटवाद् बुद्धेः प्रकर्षोऽयं मलक्षयः ।

कारणासम्भवाक्षेपविपक्षः सम्प्रतीयते ॥३६४॥

[§ ४२३. तदेवमनैकान्तिकत्वं वक्तृत्वादीनामभिधाय साम्प्रतमसिद्धमपि हेत्वाभासं दर्शयन्नाह—]

30 असिद्धश्चाक्षुषत्वादिः शब्दानित्यत्वसाधने ।

[§ ४२४. बहुविधत्वं चेप्यते, तत्कथमिति चेदत्राह—]

अन्यथाऽसंभवाभावभेदात्स बहुधा स्मृतः ॥३६५॥

[§ ४२५. कैः कृत्वा स बहुधा इत्याह—]

विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरैः ।

[§ ४२६. भवतु तर्हि सान्वयनिरन्वयविशेषविवक्षारहितं तदुभयसाधारणं विनाशमात्रं धर्मी सिद्धत्वादिति चेन्न; विशेषद्वयस्यासंभवात् । नहि निरन्वयोऽपि विनाशः क्वचिद्वगतिपथ-5 प्रस्थायी सान्वयस्यैव प्रतीतेः तत्कथं तयोः किञ्चित् सामान्यं नाम यस्य हेतुम्प्रति आश्रयत्वमुप-कल्पयेत् ? तदेवाह—]

सर्वथा नास्ति सामान्यं परिणामविनाशयोः ॥३६६॥

यो हेतोराश्रयः, अनिष्टेः, इष्टः स्वात्मा विशेषतः ।

[§ ४२७. तन्न कल्पनासिद्धस्य सिद्धत्वमित्यसिद्ध एव सत्त्वादिः, एतदेवाह—]

10

साध्यसाधनभावो न शब्दनाशित्वसत्त्वयोः ॥३६७॥

[§ ४२८. अत्रैव प्रतिवस्तूपमया दृष्टान्तमाचष्टे—]

अनलः पावकोऽग्नित्वादित्यनेकान्तविद्विषाम् ।

[§ ४२९. भवतु कल्पितस्तत्रानेकान्तः इति चेन्न; अनवस्थादोषस्योद्धोषितत्वात् । भवतः कथं तयोस्तद्भाव इति चेदाह—]

15

सर्वान्यसदृशः शब्दः सत्त्वादिपरिणामतः ॥३६८॥

सर्वार्थान्यासमः शब्दः शब्दादिपरिणामतः ।

[§ ४३०. शब्दस्य परिणामि (णाम) त्वे परिणामिना भवितव्यम् तस्य तद्धर्मत्वात् । न चासौ कश्चिदप्यस्तीति चेन्न; पुद्गलपरमाणूनां भावात् । एतदेवाह—]

अणूनां श्रुतयोग्यत्वातिशयादानहानयः ॥३६९॥

20

शब्दोत्पत्तिविनाशास्तत्साध्यसाधनसंस्थितिः ।

[§ ४३१. सम्प्रति चिन्तनाचार्यानुस्मरणेन पुण्यातिशयावाप्तिमनुसन्दधानः श्रीमत्पात्रके-सरिवचनेन हेत्वाभासानामुपसंहारं दर्शयन्नाह—]

अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये त्रिलक्षणाः ॥३७०॥

अकिञ्चित्कारकान् सर्वास्तान् वयं सङ्गिरामहे ।

25

[§ ४३२. सम्प्रति दूषणाभासं दर्शयन्नाह—]

तत्र मिथ्योत्तरं जातिः,

[§ ४३३. कीदृशं तदित्याह—]

यथाऽनेकान्तविद्विषाम् ॥३७१॥

दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसङ्गादेकचोदनम् ।

30

[§ ४३४. स्याद्वादिमतमनवबुद्धं तत्रेदमुच्यमानं धर्मकीर्त्तविदूषकत्वमावेदयति—]

पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः ॥३७२॥

[§ ४३५. एतदेव प्रसिद्धेन निदर्शनेन दर्शयन्नाह—]

सुगतोऽपि मृगो जानो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः ।

5

तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः स्वाद्यो यथेष्ट्यते ॥३७३॥

तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः ।

चोदितो दधि खादेति किमुष्टूमभिधावति ? ॥३७४॥

[§ ४३६. सम्प्रति जात्यन्तरं दर्शयन्नाह—]

अत्रैवोभयपक्षोक्तदोषारेकानवस्थितेः ।

10

[§ ४३७. पुनरपि तदन्तरमाह—]

अनन्वयादिदोषोक्तेः प्रपञ्चो वाऽनया दिशा ॥३७५॥

[§ ४३८. ननु यथा व्याप्यसाधर्म्यादिसमा जातिर्नैयायिकेन कथ्यते तथा त्वया किन्ने-
ति चेदत्राह—]

मिथ्योत्तराणामानन्यात् शास्त्रे वा विस्तरोक्तितः ।

15

साधर्म्यादिसमत्वेन जातिर्नेह प्रतन्यते ॥३७६॥

[§ ४३९. यथा जयेतरव्यवस्था तथा दर्शयन्नाह—]

प्रकृताशेषतत्त्वार्थप्रकाशपटुवादिनः ।

विब्रुवाणोऽब्रुवाणो वा विपरीतो निगृह्यते ॥३७७॥

[§ ४४०. तस्मादेकस्य प्रकृतसिद्धेरेव परस्य निग्रहो न प्रकारान्तरेण, तदेवाह—]

20

असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः ।

न युक्तं निग्रहस्थानमर्थापरिसमाप्तिः ॥३७८॥

[§ ४४१. एतदेव दर्शयति—]

वादी पराजितोऽयुक्तो वस्तुतत्त्वे व्यवस्थितः ।

तत्र दोषं ब्रुवाणो वा विपर्यस्तः कथं जयेत् ? ॥३७९॥

25

[§ ४४२. कः पुनसौ दृष्टान्तो यदोषानुद्भावनं प्रतिवादिनो निग्रहस्थानं सङ्कल्पयन्ति
सौगताः ? इति चेदत्राह—]

सम्बन्धो यत्र निर्ज्ञातिः साध्यसाधनधर्मयोः ।

स दृष्टान्तः, तदाभासाः साध्यादिविकलादयः ॥३८०॥

[§ ४४३. कुतः पुनरेषामनुद्भावनाच्च निग्रहस्थानमिति चेदत्राह—]

30

सर्वत्रैव न दृष्टान्तोऽनन्वयेनापि साधनात् ।

अन्यथा सर्वभावानामसिद्धोऽयं क्षणक्षयः ॥३८१॥

[§ ४४४. कः पुनरयं वादो नाम यत्रेदं निग्रहस्थानमित्यत्राह—]

प्रत्यनीकव्यवच्छेदप्रकारेणैव सिद्धये ।

वचनं साधनादीनां वादः सोऽयं जिगीषतोः ॥३८२॥

[§ ४४५. ततो लाभाद्यभाव एव निग्रहो वक्तव्यः इति चेदत्राह—]

आस्तां तावदलाभादिरयमेव हि निग्रहः ।

न्यायेन विजिगीषूणां स्वाभिप्रायनिवर्त्तनम् ॥३८३॥

[§ ४४६. सम्प्रति वादाभासं दर्शयति—]

तदाभासो वितण्डादिरभ्युपेताव्यवस्थितेः ।

तदात्मोत्कर्षणायैव वाचो वृत्तिरनेकधा ॥३८४॥

[§ ४४७. साम्प्रतं प्रत्यक्षादिज्ञानानां संख्यादिकथननिरूपणे प्रयोजनमुपदर्शयितुकामः 10
परेण प्रश्नङ्कारयति—]

प्रामाण्यं यदि शास्त्रगम्यमथ न प्रागर्थसंवादानात्,

सङ्ख्यालक्षणगोचरार्थकथने किं कारणं चेतसाम् ? ।

आ ज्ञातं सकलागमार्थविषयज्ञानाविरोधं बुधाः,

प्रेक्षन्ते तदुदीरितार्थगहने सन्देहविच्छिन्नये ॥३८५॥

[§ ४४८. कुतः पुनर्न्यायदर्शनादि निःश्रेयसनिबन्धनतया प्रसिद्धमपि शास्त्रान्तरं परि-
त्यज्य पुरुषार्थसिद्धये भगवदा [म्ना] य एवं भवतामभिरतिरिति चेदत्राह—]

शास्त्रं शक्यपरीक्षणेऽपि विषये सर्व विसंवादकम्,

मिथ्यैकान्तकलङ्कितं बहुमुखैरुद्दीक्ष्य तर्कागमैः ।

दाहातैः परिणामकल्पविटपिच्छायागतैः साम्प्रतम्,

विस्रब्धैरकलङ्करत्ननिचयन्यायो विनिश्चीयते ॥३८६॥

इति न्यायविनिश्चये द्वितीयः अनुमानप्रस्तावः ॥



३. तृतीयः प्रवचनप्रस्तावः ।

[§ ४४९. तदेवं प्रस्तुतप्रस्तावाभ्यां प्रत्यक्षानुमानयोः प्रामाण्यं निश्चित्य साम्प्रतं वचनस्य
तन्निश्चय(यं)प्रतीतप्रस्तावान्त्यवृत्तेन सूचितं दर्शयितुमाह—]

सकलं सर्वथैकान्तप्रवादातीतगोचरम् ।

सिद्धं प्रवचनं सिद्धपरमात्मानुशासनम् ॥३८७॥

[§ ४५०. भवतु नाम कश्चिद्विश्वदर्शी परमवीतरागश्च सः, तत्कृतः प्रतिपत्तव्यः....
न च प्रमाणान्तरमस्ति यतस्तत्प्रतिपत्तिः । अतः कथं तस्य प्रवचनानुशासित्वेन पर्येषणं प्रेक्षा-
वद्विरिति चेदत्राह—]

तथान्यगुणदोषेषु संशयैकान्तवादिभिः ।

5 पुरुषानि शयो ज्ञातुं यच्च शक्यः किमिष्यते ? ॥३८८॥

[§ ४५१. ततो न रागादिमति तदन्यव्यापारादिर्यतः ततः पुरुषानि शयप्रतिपत्तिरव्य-
भिचारिणी न भवेदेतदेवाह—]

परोक्षोऽप्यविनाभावसम्बद्धैर्गुणदोषयोः ।

शास्त्रैर्निर्वर्तितैः शास्त्रकारवत्सम्प्रतीयते ॥३८९॥

10 [§ ४५२. सम्प्रति सर्वथैकान्तवादिनः सुगतादेः दोषवत्त्वमेव तद्व्यापारसमधिगम्यमावे-
दयन्नाह—]

सिद्धिं सानृतस्तेयाब्रह्मचर्यप्रवृत्तिः ।

स प्रत्यस्तमिताऽशेषदोषो नेति प्रतीयते ॥३९०॥

[§ ४५३. भवतु नाम सुगतस्तथाविधः तथापि किमित्याह—]

15 हेयोपादेयतत्त्वस्य सोपायस्य किलेहशः ।

प्रवक्तेति धिगनात्मज्ञं तदसाध्यमसाधनम् ! ॥३९१॥

[§ ४५४. पुनरप्यत्रैवोपचयमाह—]

सर्वथा सदुपादेयं हेयं सत्तदकारणम् ।

तदर्थोऽयं प्रयासश्चेत्यहो सत्यव्यवस्थितिः ! ॥३९२॥

20 [§ ४५५. इदमेव श्लोकैः विवरीतुमाह—]

करुणा स्वपरज्ञानसन्तानोच्छेदकारणम् ।

इति नः करुणोष्टमत्यन्तं परदुःखं न गोचरः ॥३९३॥

[§ ४५६. इति तद्वेतुना नैव कृपा, या युक्तिमृच्छति, तदेवाह—]

तत्त्वज्ञानाद्यनुत्पादहेतुरुन्मार्ग एव सः ।

25 [§ ४५७. केवलं चित्तसन्तानस्य अपरिशुद्धस्य सतः सामग्रीविशेषतः परो भागो विशुद्ध
उत्पद्यत इति तत्राह—]

मिथ्याविकल्पविज्ञानभावनापरिपाकतः ॥३९४॥

तत्त्वज्ञानमुदेतीति कुतस्तत्त्वविनिश्चयः ? ।

[§ ४५८. तन्नानादिसंस्कारसंभवः तदपरिज्ञानादेस्त (नादेतदे) वाह—]

30 अनादिवासना न स्यात् त्रैलोक्यमविकल्पकम् ॥३९५॥

[§ ४५६. ततः प्रत्यक्षत्वादात्मदर्शनस्य न तद्विपरीतैरनुमानविकल्परूपपन्ना बोद्धा (बाधा) परिकल्पना । तदाह—]

निरुपद्रवभूतस्य बाधाऽयुक्ता विपर्ययैः ।

[§ ४६०. भवतु तर्हि संविदद्वैतमेव अविशेषवत्, यद्यद्वैते न तोषोऽस्ति मुक्त एवासि सर्वथेल्लभिधानादिति चेदत्राह—]

विच्छेदो वरमुच्छेदात् विदस्तत्पक्षपाततः ॥३९६॥

[§ ४६१. तदवस्थितिश्च करुणयेति चेत्तदाह—]

यत्तावत्करुणावत्त्वात्तिष्ठत्येव हि चेतसाम् ।

सन्तानः,

[§ ४६२. अत्र दूषणमाह—]

स परोच्छेदान्न समत्वं प्रपद्यते ॥३९७॥

[§ ४६३. संसारदुःखसम्बन्धः सन्तानस्याऽसतः कथम् ? मोक्षोऽपि तदसम्बन्धः सन्तानस्यासतः कथम् ? ततः कथञ्चिदसत एवासौ तथा चेदाह—]

तथा निरास्रवीभावः संसारान्मोक्ष उच्यते ।

सन्तानस्यात्मनो वेति शब्दमात्रं तु भिद्यते ॥३९८॥

[§ ४६४. साम्प्रतं सांख्यादिमते वेदस्य तत्प्रचिख्यासुराह—]

नित्यस्यापि सतः साक्षादहश्यानुभवात्मनः ।

सुखादिर्विषयः शब्दादविशेषधियाऽन्यथा ॥३९९॥

प्रदर्श्यः;

[§ ४६५. साहसान्तरं पुनरित्यादिना निवेदयति—]

पुनरस्यैव गुणयोगनिवृत्तितः ।

निर्वाणमाह वेदोऽयं प्रमाणमिति साहसम् ! ॥४००॥

[§ ४६६. समानस्यापि कर्तुः कचिद्विप्रलम्भसंभवे चक्षुरादावप्यनाश्वासापत्तेरेतदेवाह—]

विश्वलोकाधिकज्ञाने विप्रलम्भनशङ्किनः ।

प्रामाण्यं कथमक्षादौ चञ्चले प्रमिमीमहे ? ॥४०१॥

[§ ४६७. तदेव त्रिभिरन्तरश्लोकैर्व्याचिख्यासुराह—]

परीक्षाक्षमवाक्यार्थपरिनिष्ठितचेतसाम् ।

अहृष्टदोषशङ्कायाममानं सकलं भवेत् ॥४०२॥

प्रत्यक्षागमयोरिष्टं प्रामाण्यं गुणदोषयोः ।

दर्शनादर्शनाध्यासात् कचिद् वृत्तसमत्वतः ॥४०३॥

तज्ज्ञानपूर्वकं तत्पर्यमनुमानसमीक्षितम् ।

मानं वस्तुबलादेव सर्ववस्तुनिबन्धनम् ॥४०४॥

[§ ४६८. यद्यपौरुषेयस्यापि पुरुषगुणबलादेव अर्थतत्त्वनिश्चयः, प्रवचनस्य पौरुषेयत्वमेव किञ्च भवतीति मन्वान आह—]

5

आगमः पौरुषेयः स्यात्प्रमाणमतिलौकिकम् ।

संवादासंभवाभावात् समयाविप्रलम्भनः ॥४०५॥

[§ ४६९. किञ्चायमनुपलम्भो वादिनः स्वस्य वा भवेत् सर्वस्य वा गत्यन्तराभावात् । तत्रोभयत्रापि दोषमावेदयन्नाह—]

सकलज्ञस्य नास्तित्वे स्व-सर्वानुपलम्भयोः ।

10

आरेकासिद्धते तस्याप्यर्वागदर्शनतोऽगतेः ॥४०६॥

[§ ४७०. ततो युक्तमक्षानपेक्षं केवलिनः प्रत्यक्षम् तत्र वैशद्यस्य तल्लक्षणस्य पुष्कलत्वात्, तस्य चावरणविवेकनिबन्धनत्वेन अक्षव्यापारपराधीनत्वाभावादेतदेवाह—]

विज्ञानमञ्जसा स्पष्टं विप्रकृष्टे विरुद्धयते ।

न, स्वप्रेक्षणिकादेर्वा ज्ञानावृत्तिविवेकतः ॥४०७॥

15

[§ ४७१. साम्प्रतं प्रतिपादितार्थसङ्ग्रहार्थं श्लोकानाचक्षाणः प्रथमम् आत्मनो ज्ञानात्मकत्वे सर्वस्य सर्वदर्शित्वपर्यनुयोगम् आवरणविवेकवैचित्र्येण परिहरन्नाह—]

ततः संसारिणः सर्वे कथञ्चिच्चेतनात्मकाः ।

तत्तत्स्वभावतो ज्ञानं सर्वत्र शबलायते ॥४०८॥

[§ ४७२. अनादिमूर्तकर्मसम्बन्धात्तत्प्रदेशानुप्रवेशरूपात् कथञ्चिन्मूर्तत्वस्यापि भावा-
20 त्तदेवाह—]

अभिन्नो भिन्नजातीयैर्जीवः स्याच्चेतनः स्वयम् ।

[§ ४७३. स तर्हि कस्मात् सर्वतो न प्रकाशते सर्वविषयतयेति चेदत्राह—]

मलैरिव मणिर्विद्धः कर्मभिर्न प्रकाशते ॥४०९॥

[§ ४७४. यदा तु तदावरणमलानां... निःशेषवृत्त्या जीवतो विश्लेषः तदा प्रकाशत
25 एवासौ समन्ततः सर्वार्थसाक्षात्करणरूपतया च... तदेवाह—]

सर्वार्थग्रहसामर्थ्यात् चैतन्यप्रतिबन्धिनाम् ।

कर्मणां विगमे कस्मात् सर्वानर्थान्न पश्यति ? ॥४१०॥

[§ ४७५. निरवशेषनिर्धूतबोधावरणमलस्यापि केवलिनः पुनः कुतश्चिदभिसम्बन्धसंभवादनर्थोपनिबन्धः किञ्च भवतीति चेदत्राह—]

30

प्रभुः साक्षात्कृताशेषप्रपञ्चभुवनत्रयः ।

अनर्थैः परमात्मानमत एव न योजयेत् ॥४११॥

[§ ४७६. कुतः पुनः प्रभोर्निरवशेषप्रपञ्चभुवनत्रयसाक्षात्करणमिति चेदत्राह—]

एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम् ।

नर्ते तदागमात् सिद्ध्येत्,

[§ ४७७. नन्वेवम् आगमस्य तत्पूर्वकत्वं न भवेत् ततोऽपि पूर्वं तस्य भावादिति चेदत्राह—]

5

न च तेन विनाऽऽगमः ॥४१२॥

[§ ४७८. नचैवमन्योन्यसंश्रयः; हेतुहेतुमद्भावेन परमागमकेवलज्ञानसन्तानस्य बीजाङ्कुर-वदनादित्वात् । एतदेवं दर्शयन्नाह—]

सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः ।

प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥४१३॥

10

[§ ४७९. ग्रहगत्यादयो हि देशकालजातीयविकल्पेन प्राणिनां श्रेयःप्रत्यवायोपनिपा-तपिशुनतया प्रतीयमाना निःशेषानपि देशकालविशेषान् तन्निवासिनः त्रसस्थावराद्यनेकविक-ल्पान् प्राणिनः तदधिकरणानदृष्टविशेषानपि तद्धेतुफलविकल्पेन प्रत्याययन्ति, अन्यथा तत्पिशु-नतया तत्प्रतिपत्तेरनुपपत्तेः । तत्कथमशेषविषयमेव ततस्तत्र साधितं भवेदेतदेवाह—]

ग्रहादिगतयः सर्वाः सुखदुःखादिहेतवः ।

15

येन साक्षात्कृतास्तेन किन्न साक्षात्कृतं जगत् ? ॥४१४॥

[§ ४८०. साम्प्रतं परस्य निर्वन्धाल्लिङ्गवलोपनिबन्धनत्वे सत्यपि तस्य सूक्ष्मादिपदार्थ-साक्षात्करणमवश्यम्भावीति दर्शयन्नाह—]

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।

अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥४१५॥

20

[§ ४८१. भवत्येव तत्प्रसङ्गसाधनं यदि ग्रहगत्यादिक्रममनुमानतः प्रतिपद्य कश्चिदुप-दिशेत्, न चैवम्, तच्छास्त्रस्य वेदाङ्गत्वेनापौरुषेयस्य उपदेष्टुरभावात्, एतदेवाह—]

वेदस्यापौरुषेयस्य स्वतस्तत्त्वं विवृण्वतः ।

आयुर्वेदादि यद्यङ्गम् ;

[§ ४८२. अत्रोत्तरमाह—]

25

यत्नस्तत्र निरर्थकः ॥४१६॥

[§ ४८३. स च पुरुषः तदर्थसाक्षात्कार्येव नापरः...तदेवं दर्शयन्नाह—]

शास्त्रज्ञानं तथैव स्यात् सामग्रीगुणदोषतः ।

[§ ४८४. प्रयत्नसापेक्षत्वेन तत्र नित्यत्वविरोधस्याभिधानात् । तद्विरोधेऽपि दूषणमाह—]

अविरोधेऽपि नित्यस्य भवेदन्धपरम्परा ॥४१७॥

30

तदर्थदर्शिनोऽभावान्मलेच्छादिव्यवहारवत् ।

[§ ४८५. सत्यपि तदर्थाभिमुखे अनादिसम्प्रदायत्वे वेदागमस्य भवितव्यं तदर्थदर्शिना पुरुषेणेति प्रतिपादयिषुः पूर्वपक्षयति—]

अनादिसम्प्रदायश्चेदायुर्वेदादिरागमः ॥४१८॥

५ [§ ४८६. अत्रोत्तरमाह—]

कालेनैतावताऽनाप्तः कथन्न प्रलयं गतः ? ।

[§ ४८७. ततो यत्सिद्धं तदाह—]

सिद्धं श्रुतेन्द्रियातीतं त्रिकालविषयं स्फुटम् ॥४१९॥

[§ ४८८. तर्हि तथाविधस्य तज्ज्ञानस्य संगता (सुगता) दिष्वेव भावात् त एव
10 तद्वेदादेः प्रवर्तकार्यैः (काः स्युः) इति चेदत्राह—]

तथा न क्षणिकादीनां सर्वथाप्तगुणात्ययात् ।

[§ ४८९. उपसंहरन्नाह—]

तद्विरम्य विरम्यैतद् युक्तं शास्त्रप्रवर्तनम् ॥४२०॥

[§ ४९०. तदेवं तस्य शास्त्रं प्रत्युपयोगमभिधाय तत्र प्रवृत्तेरर्थवत्त्वं प्रत्यभिधितुराह—]

15 तादृशोऽभावविज्ञाने शास्त्रे वृत्तिरनर्थिका ।

[§ ४९१. तत्र बाधकवत् साधकस्याप्यसंभवेन संशयस्यैवोपपत्तेरिति चेदत्राह—]

सन्देहेऽपि च सन्देहः ततस्तत्त्वं निरूप्यते ॥४२१॥

[§ ४९२. तदेवं वेदावयवत्वेन आयुर्वेदादेः नित्यत्वे दोषमभिधाय साम्प्रतं शब्दमात्रस्य
नित्यत्वे तं दर्शयन्नाह—]

20 स्वतन्त्रत्वे तु शब्दानां प्रयासोऽनर्थको भवेत् ।

व्यक्त्यावरणविच्छेदसंस्कारादिविरोधतः ॥४२२॥

वंशादिस्वरधारायां सङ्कुलं प्रतिपत्तितः ।

क्रमेणाशुग्रहेऽयुक्तः सकृद्यग्रहणविभ्रमः ॥४२३॥

तात्वादिसन्निधानेन शब्दोऽयं यदि जायते ।

25 को दोषो येन नित्यत्वं कुतश्चिदवकल्प्यते ? ॥४२४॥

[§ ४९३. भवतोऽपि तदुपादानस्य प्राग्भाविनः कुतो नोपलब्धिरिति चेदत्राह—]

उपादानस्य सूक्ष्मत्वाद्युक्तश्चानुपलम्भनम् ।

[§ ४९४. प्रत्यभिज्ञानात्तत्र नित्यत्वमेवोपपन्नं न भेदः, तत्प्रतिपत्तेस्तेनैव प्रतिक्षेपादिति
चेदत्राह—]

30 सादृश्यात्, नैकरूपत्वात् स एवायमिति स्थितिः ॥४२५॥

[§ ४२५. यदि चायं निर्वन्धः तथाभूतयाऽपि प्रत्यभिज्ञया प्रतिक्षेपान्नित्यः शब्द एवेति । तत्राह—]

यदि चैवंविधो नित्यो नित्यास्ते विद्युदादयः ।

प्रत्यभिज्ञाऽप्रमाणं स्याद् युगपद्विन्नदेशयोः ॥४२६॥

[§ ४२६. भवतु ततस्तत्राप्यभेदप्रतिपत्तिरिति चेदत्राह—]

5

सर्वार्थानामनादित्वे स विशेषो निराश्रयः ।

योऽन्यथासम्भवी शब्दघटाद्याख्योऽवभासते ॥४२७॥

[§ ४२७. तदुच्चारणस्य पारार्थ्यान्यथानुपपत्त्या नित्य एव शब्दः इति चेदुत्तरमाह—]

स वर्णपदवाक्यानां कालदेशादिभेदिनाम् ।

सहशानां प्रबन्धोऽयं सर्वेषां न विरुध्यते ॥४२८॥

10

[§ ४२८. कथं पुनरसति नित्यत्वे शब्दस्य प्रामाण्यमिति चेत् ; क एवमाह—तस्य प्रामाण्यमिति, सम्यग्ज्ञानस्यैव तत्त्वात् । शब्दस्य तु तत्त्वं तत्कारणत्वेन उपचारात् । न च तद्धेतुत्वमपि नित्यत्वात्, अपि तु तदर्थवेदिपुरुषपूर्वकत्वात्, एतदेव दर्शयन्नाह—]

वाचः प्रमाणपूर्वायाः प्रामाण्यं वस्तुसिद्धये ।

स्वतः सामर्थ्यविश्लेषात् सङ्केतं हि प्रतीक्षते ॥४२९॥

15

[§ ४२९. तदेवमनेकधा समयप्रतिपत्तिसंभवेनोपपन्नं तत्प्रतीक्षयैवार्थि(वार्थ)प्रत्यायकत्वं वचनस्य । तदनेकत्वमेव दर्शयन्नाह—]

स पुनर्बहुधा लोकव्यवहारस्य दर्शनात् ।

शब्दार्थयोर्विकल्पेन सन्निवेशोऽनुवर्तते ॥४३०॥

[§ ५००. यदि पुनः शब्दस्य वस्तुनि स्वत एव योग्यत्वं को दोषो येन सङ्केतस्तत्रा- 20 पेक्ष्यते ? इति चेदुच्यते—तत्सर्वविषयं नियतविषयं वा ? पूर्वविकल्पे ततो युगपत्सर्वार्थप्रतीति- प्रसङ्गात्, तथा च न ततो नियतविषयप्रवृत्त्यादिरिति व्यवहारविलोपः । तत आह—]

न सर्वयोग्यता साध्वी सङ्केतान्नियमो यदि ।

[§ ५०१. द्वितीयविकल्पे दोषमाह—]

सम्बन्धनियमेऽन्यत्र समयेऽपि न वर्त्तताम् ॥४३१॥

25

[§ ५०२. कस्तर्हि तयोः सम्बन्धः ? इत्याह—]

न हि शब्दार्थसम्बन्धो यतोऽर्थः सम्प्रतीयते ।

तादृशो वाचकः शब्दः सङ्केतो यत्र वर्त्तते ॥४३२॥

[§ ५०३. तत्र सौगतमते शब्दस्य संभवो वर्णस्यैव अनवस्थितो (तेः) तत्क्रमात्मनः पदादेरप्यव्यवस्थितेः । एतदेवाह—]

क्रमेणोच्चार्यमाणेषु ध्वनिभागेषु केपुचित् ।

न वर्णपदवाक्याख्या विकारेष्वेव संभवात् ॥४३३॥

[§ ५०४. स्वमते तु तत्संभवं दर्शयन्नाह—]

शब्दभागाः स्वहेतुभ्यः समानोन्नयहेतवः ।

सकलाग्रहणात्तेषां युक्ता हि श्रोत्रगोचराः ॥४३४॥

[§ ५०५. तथाच पुद्गलपर्यायः शब्दः शरीरावयवमग्न्यन्वेनोपलभ्यमानत्वात् शीतातपा-
दिवत् ...एतदेव दर्शयन्नाह—]

परिणामविशेषा हि भावानां भावशक्तयः ।

ध्वनयस्तत्समर्थानामभावादतिरेकिणाम् ॥४३५॥

[§ ५०६. साम्प्रतं प्रकरणार्थमुपसंहृत्य दर्शयन्नादितः शब्दानामपौरुषेयत्वे दोषमा-
वेदयति—]

वाचामपौरुषेयीणामाविर्भावो न युज्यते ।

[§ ५०७. पौरुषेयस्यापि वाचकत्वमपि (त्वमनमि) मतस्यापि किञ्च स्यादिति चेदत्राह—]

सम्यग्ज्ञानाङ्कुशः सत्यः पुरुषार्थाभिधायकः ॥४३६॥

अत्रापौरुषेयत्वं जातु सिद्धमनर्थकम् ।

[§ ५०८. किं पुनस्तत्सत्यम् यदभिधायित्वेन शब्दः सत्य उच्यते इत्यत्राह—]

सर्वार्थानामनेकात्मपरिणामौ व्यवस्थितौ ॥४३७॥

मार्गस्तद्विषयश्चेति मतं सत्यं चतुर्विधम् ।

[§ ५०९. जीवादीनाञ्च मार्गविषयत्वप्रतिपादनमपरिज्ञाततद्रूपस्य प्रेक्षावतो मोक्षार्थायाः

20 प्रवृत्तेरनुपपत्तेः अत एवाह—]

अहं समाश्रयो बन्धः संवरो निर्जरा क्षयः ॥४३८॥

कर्मणामिति सत्कृत्य प्रेक्षाकारी समीक्षते ।

तत्त्वज्ञानप्रभावेण तपः संवरणं नृणाम् ॥४३९॥

तपसश्च प्रभावेण निर्जीर्णं कर्म जायते ।

रागद्वेषौ विहायैव गुणदोषवतोस्तयोः ॥४४०॥

मोक्षज्ञानात् प्रवर्तन्ते मुनयः समबुद्धयः ।

सज्ज्ञानपरिणामात्मतत्त्वसम्प्रतिपत्तितः ॥४४१॥

पीतदोषाश्रवाकारो विपरीतग्रहक्षयः ।

[§ ५१०. कर्मपुद्गलश्लेषोऽपि जीवस्य अपरमोहादिपूर्वकः तत्त्वात् धत्तूरादिरसोपश्लेषवत्

30 इति सिद्ध आश्रयो बन्धश्च, तदुपश्लेषस्य बन्धत्वात्, तद्वेतोश्च मोहादेराश्रवत्वात् । एतदेवाह—]

रागादयः सजातीयपरिणामाभिवृद्धयः ॥४४२॥

सूचयन्ति हि कर्माणि स्वहेतुप्रकृतीनि च ।

[§ ५११. साम्प्रतं 'तत्त्वज्ञान' इत्यादिना उक्तमपि कर्मनिर्जरणं विनेयजिघृक्षया स्पष्ट-
मभिधित्सुराह—]

सात्मीभावाद्विपक्षस्य सतो दोषस्य सङ्ख्ये ॥४४३॥

कर्माश्लेषः, प्रवृत्तानां निवृत्तिः फलदायिनाम् ।

[§ ५१२. कुतः पुनः विपक्षस्य सात्मीभावः ? इत्याह—]

प्रतिपक्षस्थिरीभावः प्रायः संस्कारपाटवात् ॥४४४॥

[§ ५१३. के पुनस्ते दोषाः येषां तद्भावनाविपक्षभावेनोपेक्ष्यते इति चेदत्राह—]

निर्हासातिशयौ येषां तत्प्रकर्षापकर्षयोः ।

[§ ५१४. तन्न तस्य [नैरात्म्यस्य] भावना, तत्संभवेऽपि न किञ्चित्फलमित्यावेदयति—]

यद्यप्यनात्मविज्ञानभावनासंभवस्ततः ॥४४५॥

न निरोधो निरोधे वा न प्रयोजनमीक्ष्यते ।

[§ ५१५. तन्न सौगतकल्पितो मोक्षः, तदभावान्न तन्मार्गत्वम् । अनात्मविज्ञानाभियोग-
स्य नैरात्म्यज्ञानस्य मिथ्यात्वाच्च न तदभ्यासस्य मार्गत्वमित्यादर्शयति—]

हेयोपादेयतत्त्वार्थविपरीतव्यवस्थितेः ॥४४६॥

मिथ्याज्ञानमनात्मज्ञं मैत्र्यादिप्रतिरोधतः ।

[§ ५१६. साम्प्रतं स्वमते प्रमोदादेर्विषयभावादिना विधानमुपपन्नमिति दर्शयन्नाह—]

तत्त्वार्थदर्शनज्ञानचारित्र्येषु महीयसाम् ॥४४७॥

आत्मीयेषु प्रमोदादिरत एव विधीयते ।

[§ ५१७. न चैवमवस्थितस्यापि सुगतस्य क्वचिन्मैत्र्यादिकं संभवतीत्याह—]

यस्तावत्करुणावत्त्वात्तिष्ठत्येव हि चेतसाम् ॥४४८॥

सन्तानः स परोच्छेदान्न समत्वं प्रपद्यते ।

[§ ५१८. तन्न उच्छेदात्मा मोक्षः संभवति । कस्तर्हि कर्तव्य इत्याह—]

तस्मान्निरास्रवीभावः संसारान्मोक्ष उच्यते ॥४४९॥

सन्तानस्यात्मनो वेति शब्दमात्रं तु भिद्यते ।

[§ ५१९. एकान्तनित्यत्वेन (त्वे) विनश्वरैकान्तवन्निर्वाणस्यैवाभावप्रसङ्गादेतदेवाह—]

नित्यस्येच्छा प्रधानादियोगोऽनित्यः किमात्मनः ॥४५०॥

मिथ्याज्ञानादनिर्मोक्षः तथाऽनेकान्तविद्विषाम् ।

[§ ५२०. तच्च [प्रवचनं] खविपये सप्तभङ्ग्या प्रवर्त्तते इति, तद्विनिश्चयं कुर्वन्नाह—]

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषप्रविभागतः ॥४५१॥

स्याद्विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गी प्रवर्त्तते ।

[§ ५२१. तत्र प्रथमद्वितीयौ तद्वाचाभावयोः प्रत्येकं प्रतिपित्सायाम्, तृतीयस्तु तदुभय-
5 जिज्ञासायाम् । तदेवाह—]

तदतद्वस्तुभेदेन वाचोवृत्तेस्तथोभयम् ॥४५२॥

[§ ५२२. चतुर्थस्तु युगपत्तत्प्रतिपित्सायां वचनप्रवृत्तेरसंभवात्तदाह—]

तदतद्वागवृत्तेश्च,

[§ ५२३. पञ्चमादिभङ्गत्रयं तु प्रथमादेः प्रत्येकं जिज्ञासया चतुर्थेन सम्मीलनात्तदेव
10 निवेदयति—]

सह तद्वागवृत्तिना ।

[§ ५२४. तर्हि किमर्थोऽयं स्यादेवकारप्रयोगः विनापि तेन भङ्गविकल्पानामुपपत्तेरिति
चेदुच्यते—]

प्रयोगविरहे जातु पदस्यार्थः प्रतीयते ॥४५३॥

15 **स हि शब्दार्थतत्त्वज्ञैस्तस्येति व्यपदिश्यते ।**

[§ ५२५. किं स्यात्कारादेः प्रतीतार्थस्य प्रयोगेन इति चेन्नायमुपालम्भो लोक (के)
प्रतीतार्थानामपि प्रयोगप्रतीतेरिदमेवाह—]

अहमस्मीति वाक्यादौ सिद्धावन्यतरस्थितेः ॥४५४॥

उभयोक्तिवदत्रोक्तौ उपालम्भो विरुद्धयते ।

20 [§ ५२६. प्रकारान्तरेणापि स विरुद्धयते इति दर्शयति—]

यदि केचित् प्रवक्तारो वृत्तिवाक्यार्थयोरपि ॥४५५॥

सूत्रेष्वेव तयोरुक्तौ त्रैलोक्यं किन्न वर्त्तते ? ।

[§ ५२७. तर्हि स्यात्कारादिप्रयोगोऽपि सफल एव तद्विषये मन्दमतीनां भावादेतदेवाह—]

केवलं प्रतिपत्तारः स्याद्वादे जडवृत्तयः ॥४५६॥

25 [§ ५२८. परत्रापि जडवृत्तय इति दर्शयति—]

जातितद्वदपोहादिवादश्च न हि जानते ।

[§ ५२९. के तर्हि स्याद्वादमनुरुन्धन्ते यदि सौगतादयो जडवृत्तय इति चेदत्राह—]

सर्वथैकान्तविश्लेषतत्त्वमार्गव्यवस्थिताः ॥४५७॥

व्याख्यातारो विवक्षातः स्याद्वादमनुरुन्धते ।

[§ ५३०. प्रमाणप्रसिद्धत्वादेव अनेकान्ते संशयादिदोषप्रसङ्गोऽपि प्रेक्षावतां नावतर-
तीत्याह—]

अनेकलक्षणार्थस्य प्रसिद्धस्याभिधानतः ॥४५८॥

संशयादिप्रसङ्गः किं स्याद्वादेऽमूढचेतसः ? ।

साकल्येनेह सामान्यविशेषपरिणामधीः ॥४५९॥

5

मिथ्यैकान्तप्रवादेभ्यो विदुषो विनिवर्त्तयेत् ।

[§ ५३१. कथं पुनः शासनत्वाविशेषेऽपि शासनान्तरपरिहारेण भगवदर्हच्छासनस्यैव
प्रामाण्यमित्यारेकायां तथा तद्दर्शयन्नाह—]

आप्तवादः स एवायं यत्रार्थाः समवायिनः ॥४६०॥

प्रमाणमविसंवादात्,

10

[§ ५३२. कथं पुनः दृष्टागमविरोधविकलतया प्रमाणमप्यनेकान्तवादः.....सकलवेदिन
एवेति निश्चयः ? कथं वा यथोक्तगुणोपपन्नोऽपि कचिन्मिथ्यावचनानामप्रणेता इत्येव निर्णयः ?
वीतराणामपि सरागवच्छेदासंभवादेतदेव दर्शयति—]

प्रणेता यदि शङ्क्यते ।

[§ ५३३. प्रथमशङ्कायामुत्तरमाह—]

15

आत्मा योऽस्य प्रवक्ताऽयमपरालीढसत्पथः ॥४६१॥

नात्यक्षं यदि जानाति नोपदेष्टुं प्रवर्त्तते ।

[§ ५३४. द्वितीयशङ्कायामप्याह—]

परीक्षाक्षमवाक्यार्थपरिनिष्ठितचेतसाम् ॥४६२॥

अदृष्टदोषाशङ्कायामन्यत्रापि प्रसज्यते ।

20

[§ ५३५. ततः स्वसंवेदनं प्रमाणयता प्रवचनमपि प्रमाणमभ्युपगन्तव्यम् अविशेषात् ।
एतदेवाह—]

प्रत्यक्षागमयोरिष्टं प्रामाण्यं गुणदोषयोः ॥४६३॥

उपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यां कचिद् वृत्तसमत्वतः ।

[§ ५३६. तदेवं प्रवचनस्य प्रामाण्ये यत्सिद्धं तद्दर्शयन्नाह—]

25

तथा साक्षात्कृताशेषशास्त्रार्थोऽक्षानपेक्षणात् ॥४६४॥

सद्वृत्तकेवलज्ञानः सर्वज्ञः सम्प्रतीयते ।

[§ ५३७. सकलावरणपरिक्षयाविर्भूतमपि कथं तदशेषविषयमिति चेदत्राह—]

ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते ? ॥४६५॥

[§ ५३८. भगवतोऽज्ञानपेक्षदर्शनत्वात्तदाह—]

अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थावलोकनम् ।

[§ ५३९. सर्वार्थावलोकनमेव दर्शयन्नाह—]

शास्त्रे दुरवगाहार्थतत्त्वं दृष्टं हि केवलम् ॥४६६॥

5

ज्योतिर्ज्ञानादिवत्सर्वं स्वत एव प्रणेतृभिः ।

[§ ५४०. तद्वत् अन्यदपि सर्वं तत्तैर्दृष्टमेव अन्यथा तद्विषयानुपदेशालिङ्गानन्वयव्यतिरेकाविसंवादिशास्त्रप्रणयनानुपपत्तेः । अनुपदेशादयः प्रणयनविशेषणत्वेन संहता एक (एव क) स्माद्धेतवो न प्रत्येकमपीति चेदत्राह—]

सङ्घातो हेतुरेतेषां पृथगन्यत्र सम्भवात् ॥४६७॥

10

[§ ५४१. ततो न सुगतादीनां प्रणेतृत्वं तदभावात् । तत्र च दोषमाह—]

एवं हि सुगतादिभ्यो वरमीक्षणीकादयः ।

[§ ५४२. अर्हतामपि किं तत्त्वदर्शित्वकल्पनया शास्त्रादेव अनुष्ठेयार्थप्रतिपत्तेः, तस्य च संवादादेव प्रामाण्यावगमात् इति चेदत्राह—]

शास्त्रं तल्लक्षणव्याप्तं सर्वज्ञादेरबाधनात् ॥४६८॥

15

अपौरुषेयवृत्तान्तोऽप्यत एव विरुद्ध्यते ।

[§ ५४३. सम्प्रति शास्त्रार्थमुपसंहरन्नाह—]

प्रत्यक्षमञ्जसां स्पष्टमन्यच्छ्रुतमविश्वम् ॥४६९॥

प्रकीर्णं प्रत्यभिज्ञादौ प्रमाणे इति सङ्ग्रहः ।

[§ ५४४. साम्प्रतं परोक्षविकल्पानां प्रागुपवर्णितमपि प्रामाण्यमनुस्मरणार्थं पुनरुप-
20 दर्शयिषुः प्रथमं तदाद्यत्वात् स्मरणज्ञानस्योपदर्शयति—]

इदमेवमिति ज्ञानं गृहीतग्रहणेऽपि नः ॥४७०॥

[§ ५४५. साम्प्रतं तर्कस्य प्रामाण्यं दर्शयितुमाह—]

प्रत्यक्षेऽर्थेऽन्यथारोपव्यवच्छेदप्रसिद्धये ।

अनुमानमतो हेतुव्यवच्छेदेऽनवस्थितिः ॥४७१॥

25

[§ ५४६. साम्प्रतमुपमानस्य प्रत्यभिज्ञाविशेषत्वेन प्रमाणान्तरत्वमुपाचिकीर्षुः तदेव तावत्परि (तावत्पर) कल्पनामादर्शयति—]

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् ।

[§ ५४७. तान् प्रति अतिप्रसङ्गं दर्शयन्नाह—]

यदि किञ्चिद्विशेषेण प्रमाणान्तरमिष्यते ॥४७२॥
प्रमितोऽर्थः प्रमाणानां बहुभेदः प्रसज्यते ।

[§ ५४८. तर्हि स्मरणादिकं किन्नाम प्रमाणमिति चेदाह—]

सर्वमेतच्छ्रुतज्ञानमनुमानं तथाऽऽगमः ॥४७३॥

[§ ५४९. कथं पुनरागमः प्रमाणमिति चेदाह—]

5

सम्प्रदायाविघातेन यदि तत्त्वं प्रतीयते ।

[§ ५५०. किं पुनः प्रत्यक्षं किं वा परोक्षमित्यत्राह—]

आद्ये परोक्षमपरं प्रत्यक्षं प्राहुराञ्जसम् ॥४७४॥

[§ ५५१. कथं तर्हि मतिज्ञानस्यैव (वं) अवग्रहादिभेदस्य प्रत्यक्षत्वमुक्तम् आत्ममात्रापेक्ष-
त्वाभावादिति चेदत्राह—]

10

केवलं लोकबुद्धयैव मतेर्लक्षणसङ्ग्रहः ।

[§ ५५२. कथमागमस्य परोक्षत्वमुक्तम्—‘अनुमानं तथागमः’ इति; तस्य अज्ञानत्वात्,
ज्ञानस्यैव चागमे परोक्षत्वकथनादिति चेदत्राह—]

स्याद्वादः श्रवणज्ञानहेतुत्वाच्चक्षुरादिवत् ॥४७५॥

[§ ५५३. तत्किमिदानीं प्रमाणफलमित्याह—]

15

प्रमाणस्य फलं तत्त्वनिर्णयादानहानधीः ।

निःश्रेयसं परं वेति केवलस्याप्युपेक्षणम् ॥४७६॥

प्रत्यक्षं श्रुतविज्ञानहेतुरेव प्रसज्यते ।

[§ ५५४. प्रमाणवन्नयानामपि अधिगमहेतुत्वं……तेऽपि विप्रतिपत्तिनिरासेन निर्णेतव्यम्
(व्याः) इति चेदत्राह—]

20

इष्टं तत्त्वमपेक्षातो नयानां नयचक्रतः ॥४७७॥

[§ ५५५. तदेवं व्यवस्थापितप्रामाण्यस्य प्रवचनस्य शास्त्रान्ते प्रयोजनमाह—]

मिथ्यात्वं सौगतानां कणचरसमयं कापिलीयं प्रमेयम्,
प्रागल्भ्यं शाबराणां जिनपतिविहिताशेषतत्त्वप्रकाशे ।

पर्याप्तत्वं व्यपोहन्नुपहसनमयं प्रस्तुवन्न्यायमार्गे,
स्याद्वादः सर्ववादप्रवणगुणगणः श्रेयसे नोऽस्तु नित्यम् ॥४७८॥

25

[§ ५५६. किं पुनस्तच्छ्रेयो यदर्थत्वं स्याद्वादस्याशास्यते इति चेत् ? सकलावरणपरि-
क्षयविजृम्भितं केवलज्ञानमेव । तदेवाह—]

नैकान्तक्षायिकाणामतिशयमवदन्नैव नानार्थसाध्यम्,
 नैष्किञ्चन्यं तपो वाऽविगलितसकलक्लेशराशेर्विनाशे ।
 निष्पर्यायं प्रवृत्तं सकलविषयगं केवलं वेद नित्यम्,
 योऽयं तस्मै नमामः त्रिभुवनगुरवेशभभवे शान्तये ते ॥४७९॥

5 [§ ५५७. पुनरपि शासनस्यारव्यत्वं फलवत्त्वेन दर्शयन्नाह—]

युक्तायुक्तपरीक्षणक्षमधियामत्यादराराधिनाम्,
 संसेव्यं परमार्थवेदसकलध्यानास्पदं शाश्वतम् ।
 लोकालोककलावलोकनवलप्रज्ञागुणोद्भूतये,
 आभन्यादकलङ्कमङ्गलफलं जैनेश्वरं शासनम् ॥४८०॥

10 इति न्यायविनिश्चये तृतीयः प्रवचनप्रस्तावः ॥

[समाप्तश्चायं ग्रन्थः]



श्रीमद्भट्टकलङ्कविरचितः

॥ प्र मा ण स ड्ड हः ॥

श्रीमद्भट्टाकलङ्कविरचितः

॥ प्र मा ण स ङ्ग हः ॥

१. प्रथमः प्रस्तावः



॥ नमः श्रीवर्द्धमानाय ॥

श्रीमत्परम (त्परम) गम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ १ ॥

[§ १. प्रत्यक्षं विशदज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लवम् ।
परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति संग्रहः ॥ २ ॥]

§ १. प्रत्यक्षं विशदज्ञानं तत्त्वज्ञानं विशदम्, इन्द्रियप्रत्यक्षम् अनिन्द्रिय- 5
प्रत्यक्षम् अतीन्द्रियप्रत्यक्षम् त्रिधा । श्रुतम् अविप्लवम् प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तम् ।
परोक्षं *प्रत्यभिज्ञादि स्मरणपूर्वकम् । हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं द्वे एव प्रमाणे
इति शास्त्रार्थस्य सङ्ग्रहः, प्रतिभासभेदेन सामग्रीविशेषोपपत्तेः ॥छ॥

प्रामाण्यमप्रसिद्धार्थख्यातेरर्थानुकारिणः ।

व्यभिचारादनिर्णीतं व्यावृत्तं सर्वतो गतम् ॥ ३ ॥

10

§ २. प्रमाणम् अच्युत्तन्न (अव्युत्पन्न) सन्दिग्धविपर्यस्तार्थप्रतीतौ विषया-
नुविधायिनोऽकिञ्चित्करारेकाविपर्यासाऽनिवृत्ते (तेः) सर्वथा सारूप्यासंभवात् ।
अर्थोपलम्भाद्यवसायसामर्थ्ये अन्यकल्पनावैयर्थ्यं (ध्या) त् । तज्जन्मसारूप्याध्यव-
सायस्य अन्यत्र वृत्तिः भ्रान्तिकारणवत् । निष्कलानामेतन्न भवति, सकलव्यवच्छेद-
निर्णयाऽनिर्णयादिप्रसङ्गः ॥छ॥

15

अक्षज्ञानमनेकान्तमसिद्धेरत्प (रप) राकृतेः ।

स्पष्टं सन्निहितार्थत्वाद् भावनातो निवर्तते ॥ ४ ॥

§ ३. चक्षुरादिज्ञानं सविकल्पकं सामान्यविशेषात्मविषयं वर्णसंस्थानादिमतः

* प्रत्यभिज्ञा स्मृति ऊह

स्थूलस्य कस्यचिद्दर्शनात्, अन्यथार्थी नियम वैस्यद्येच्छा वृत्तयः (?) सङ्कलनान्तर-
वत् । न तादृशं सञ्चितालम्बनं युक्तम्; विविधान् विधानस्य (विवादानुविवादनस्य)
विकल्पनान्तरीयकत्वात् । तदेकान्ते परत्र को [ऽ] परितोषः ? सकृत्प (त्र) तिभास-
भेदः संविदात्मनः सन्तानान्तरवत् । तत्र भेदाभेदसाधनो न भेदसाधनो न भेद-
5 प्रतिषेधो विषयवत्, विज्ञानसञ्चये पुनरसङ्गमादपरामर्शस्पर्शादिज्ञानयौगपद्ये तदर्थान-
न्तरमानसप्रत्यक्षेऽपि समानः प्रसङ्गः । तन्न अतीतविषयं परिस्फुटं युक्तम् अतिप्रस-
ङ्गात् । तदेवं विप्लुतवद् भावनातो निवर्त्तते । अचिन्तायां विकल्पसंहारे तथादृष्टौ
पुनर्भावयतोऽनिवृत्तेः ॥७॥

[§ २. सदर्थनियतं ज्ञानं फलं तत्त्वार्थनिर्णयः ।

10 तदभावे प्रमाणाभं मानसं सविकल्पकम् ॥ ५ ॥]

§ ४. सदर्थनियतं ज्ञानम्, नहि सतोर्विषयविषयित्वेऽपि अनियमो भ्रातृव-
दुपचारस्यापि तत्रानुपयोगः । सम्भवत्यपि भावानां स्वभावभेदः । फलं तत्त्वार्थ-
निर्णयः, स्वार्थमात्राध्यवसायाभावे दर्शनस्य सन्निधानाभेदेन दृष्टसजातीयाभिला-
पास्मृतेः उभयव्यवसायोऽपि न स्यात् । तदभावे प्रमाणाभम्, तिमिराद्यवग्रहः
15 प्रमाणं चन्द्रादिष्वविसंवादं न पुनः शुक्त्यादौ, तथाऽनभिनि (ऽभिनि) बोधे यथार्थदर्श-
नेऽपि विज्ञवसम्भवात् । मानसं सविकल्पकम्, सुखादिरविकल्पप्रत्यक्षाप्रत्यक्षैकान्ते
न मानसं क्षणपरिमाणादेरप्रतिभासः केशादिविवेकवत् । परोक्षज्ञानार्थपरिच्छेदः परो-
क्षवत् । सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये नानैकसन्तानात्मना (नां) तथाभावसङ्कर-
व्यतिक [र] व्यतिरेकाद् अन्वयिनोरस्वलत्समानैकप्रत्ययविषयत्वं परस्परपरिग्रहपरि-
20 णामाविनाभावी मतिश्रुतयो [ः] स्वार्थविवेको नियतोद्भवेतरविवर्त्तेन गुणवत्, उभयो-
पयोगलक्षणत्वादात्मनः ।

स्वनिश्चयफलापेतं मानाभासं सुषुप्तवत् ।

§ ५. स्वतो निर्णयात्मकं फलम्, प्रमाणान्तरानुभवनिर्णयं पुनर्मानाभम् ।

शास्त्रार्थज्ञानसंवादः तत्प्रत्यक्षप्रसाधनः ॥ ६ ॥

25 § ६. सर्वमिथ्यैकान्तातीजा (ता) तिश्यज्ञानं प्रवचनम्, अतिकरणप्रत्यया-
त्यये सर्वथा सम्बन्धग्रहणायोगादन्धपरम्परयाऽनुपपन्नम् ॥७॥

कालेने (नै) तावता [ऽ] नाप्तः कथं न प्रलयं गतः ? ।

§ ७. नहि शब्दः स्वतः प्रमाणं विप्रतिपत्तिदर्शनेन तदर्थोपलम्भसम्प्रदाया-
पेक्षः संवादसत्यप्रतिपत्तेः । दोषावरणक्षयोपशमप्रयोगातिशयवशाद् विज्ञानविशेषा-
30 नुपपत्तौ तज्ज्ञानमपि न प्रमाणम् । तदर्थदर्शनसमयसंवादे समभिहारेण प्रमाणान्तर-
प्रवर्त्तने 'सम्प्रदायाऽविच्छेदः ।

अन्तरङ्गं स्वतः सिद्धमक्षादेर्व्यभिचारतः ॥ ७ ॥

§ ८. ज्ञानपरिणामव्यतिरेकिणो ज्ञत्वविरोधात् । स्वयंप्रभुरलङ्घनार्हः स्वार्था-
लोकपरिस्फुटमवभासते सत्यस्वप्नवत् ॥७॥

एकत्र निर्णयेऽनन्तकार्यकारणतेक्षणे ।

§ ९. चैतन्यस्वभावस्य शतः (सतः) सहक्रमसंयोगधर्मान्तरेभ्यो व्यावृत्ति- 5
रिति समवग्रहे स्फुटम् आत्मसहभाविना पूर्वापरकोटयोः अनाद्यनन्तयोरनवयवेन
परिज्ञानम् आवरणविगमे ।

परं ज्योतिरनाभासं सर्वतो भासमक्रमम् ॥ ८ ॥

§ १०. नातीन्द्रियमत्येव सर्व [वि] त् सर्वत्र परिस्फुटं यथा ईक्षणिकादे [:]
सकलज्ञानावरणपरिक्षये तु निराभासम्, सामान्यविशेषात्मनोऽयुगपत्प्रतिभासायोगात् । 10

लक्षणं सममेतावान् विशेषोऽशेषगोचरम् ।

अक्रमं करणातीतमकलङ्कं महीयसाम् ॥९॥

इति प्रमाणसङ्ग्रहे प्रथमः प्रस्तावः ॥७॥



२. द्वितीयः प्रस्तावः

प्रमाणमर्थसंवादात् प्रत्यक्षान्वयिनी स्मृतिः ।

15

§ ११. इन्द्रियज्ञानं हिताहितप्रतिपत्तौ न वै साधकतम (मं) स्मृतिव्यवधा-
नात्, दृष्टसञ्ज (सजा) तीयसम्बन्धाव्य (ध्य) वसायनान्तरीयकत्वात् । अनधिगता-
र्थावग्रहेऽपि अर्थातिशयवैधुर्ये प्रवृत्तेरनङ्गमनध्यवसायादिनिमित्तम् । समधिगते पुनः
व्यामोहविच्छेदेन प्रमाणान्तरवत् ।

प्रत्यभिज्ञा फलं तस्याः प्रामाण्यं प्रतिपत्तिः ॥१०॥

20

§ १२. प्रत्यवमर्शः फलमपि प्रमाणम् उपादानादेः तदना (तन्ना) न्तरीय-
कत्वात् ।

द्रव्यसामान्यसंहारविषयः पुरुषादिवत् ।

§ १३. जीवादयो द्रव्यपदार्था विनियततद [त] त्परिणामसतन्व (तत्त्व)-
विवर्त्तग्रन्थिविकाराः कौमारादिवत् । सदृशपरिणामः सामान्यं यमलकवत् । सभाराः 25
(भाग) विसभागयोरसाङ्कर्येण प्रत्यवमर्शः एकानेकस्वभावनियमः ।

तदाभासौ विपर्याससंशयो (यौ) मतिविभ्रमात् ॥११॥

§ १४. न संशयो व्यवसायसादृश्याभिनिबोधनियमादनुद्धूतविकल्पो [५] नध्यवसायः, तदतद्विशेषाध्यवसायानियमप्रत्ययो विमर्शो [५] नध्यवसायः । विपर्यासः प्रत्यक्षप्रतिभासवैकल्येन हिताहितविवेकविरहः ॥छ॥

5 सम्भवप्रत्ययस्तर्कः प्रत्यक्षानुपलम्भतः ।

अन्यथासम्भवासिद्धेरनवस्थानुमानतः ॥१२॥

§ १५. समक्षविकल्पानुसरणपरामर्शसम्बन्धाभिनिबोधस्तर्कः प्रमाणम् । संवादसामर्थ्यभेदेन सहक्रमसंयोगभाविषु तथाभावाऽभावनियमनिश्चये न पुनरवग्रह-
व्यापारो विषयविषयिसन्निपातसमनन्तरलक्षणत्वात् । नहि प्रतिबन्धनिर्णयात् प्राक्
10 सिद्धमनुमानम्, अनवस्था च ॥छ॥

विवर्त्तः सर्वथैकान्ते विरुद्धः पुरुषादिवत् ।

§ १६. प्रधानपुरुषकालपरमाणुस्वभावप्रवादेषु सहक्रमसंयोगवैस्य (वैस)-
रूप्यविरोधिचेतनेतरप्रभेदैकपरिणामे नास्मिन् विवादः सन्मात्राविशेषात् । अन्यथा
सर्वत् (सर्व) सर्वत्र सर्वथा स्यात् ॥छ॥

15 नित्यमेकमनेकत्र निमित्तं समवायिनम् ॥१३॥

निरंशं कर्मसंयोगात् कारणं परिणामिनम् ।

§ १७. निमित्तम् उत्पत्तिमतां यदि नित्यं स्थित्युत्पत्तिविपत्तीनामक्रमः ज्ञाने-
च्छाकरणशक्तीनामव्यतिरेकात्, अन्यथा तदकर्तृत्वम् । तत्करणनियमे तुल्यः प्रसङ्गः,
व्यपदेशनियमाभावः, स्वतः सिद्धेः । तदुत्पत्तिमत्त्वेऽपि देशकालस्वभावानियमो
20 निर्हेतुकत्वात् । तद्वेतुत्वे पुनरक्रमः, तत्करणशक्तेस्तदात्मकत्वात्, व्यतिरेके समानः
प्रसङ्गोऽनवस्था च । सहसिद्धेः तद्वत्तायामात्मादेः तद्गुणत्वं सर्वत्र समवायाऽविशेषात् ।
नित्यानां स्वभावोत्पादवि(दावि)धातादनपेक्षा । तदन्यकरणे पुनरनिवृत्तः प्रसङ्गः ।
न कर्म संयोगकारणं सावयवविरोधात्, सर्वस्य परमाणुमात्रप्रचयो वा । परिणामेऽपि
निमित्तान्तरकल्पनायामनवस्था ।

25 तत्रैकमर्थकृद् बुद्धेरानन्तर्यमनर्थकम् ॥१४॥

§ १८. एकमनेकत्र निष्पर्यायं प्रत्यवयवं न सर्वात्मना प्रत्येकं तत्स्वभावानै-
(वेनै) कत्वविरोधात् । नैकदेशेन निरवयवानाम्, अन्यथा अनवस्था । 'वर्त्तते'
इति विज्ञप्तिमात्रेऽपि सर्वं समानम् । न चैतन्यमित्येव तदवयवविकल्पननिवृत्तिः ।
विभ्रमशून्यप्रतिपत्तिविप्रतिषेधः ।

30 इति तर्कमपेक्षेत नियमेनैव लैङ्गिकम् ।

§ १६. साधनस्य कचिदुपलम्भेऽपि विरोधाविरोधयोः तदर्थत्वात् । दोषा-
वरणपरिक्षये वचनादेः सम्भवो नान्यतः ।

अन्यथा सम्भवज्ञान (नं) कुतकाभ्रान्तिकारणम् ॥१५॥

§ २०. विवक्षातो वाचोवृत्तेरन्यत्रानुपलम्भेन सर्वतः तदभावे व्यतिरेकचिन्ता
मिथ्योहः, सुप्तप्रमत्तयोः तदभावेऽपि दर्शनाद्, हेतुसन्निधानासन्निधानाविशेषः करण- 5
शक्त्यनुविधानात् ।

विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता ।

वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्ध्यः ॥१६॥

§ २१. शरीरं यदि गुणदोषकारणं तन्निर्हासातिशयानुविधानम् । तेषां शरीर-
स्थितिहेतुत्वे तत्रानुपरमः स्यात् । दोषावरणकारणत्वे तत्प्रकर्षार्पकर्षाविरोधः । तदा- 10
त्मकत्वे पुरुषस्यैकभावे निवृत्तिः चैतन्यवत् । तद्गुणदोषानुविधायिनी वर्णपदवा-
क्यानुपूर्वी दोषया (जा) तिं विशेषयेद्, विवक्षायामपि अविषये स्वयमप्रवृत्तेः ।

प्रत्यक्षनिर्णयान्नर्ते सामान्यानुस्मृतिस्ततः ।

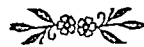
प्रत्यभिज्ञा ततस्तर्कः ततः साध्यपरिग्रहः ॥१७॥

आत्मैव मतिमा (मान्) दृष्टसामान्याभिनिबोधतः ।

15

परोक्षेऽप्यविनाभावमुपैति श्रुतपाटवात् ॥१८॥ ॥छ॥

इति प्रमाणसङ्ग्रहे द्वितीयः प्रस्तावः ॥



३. तृतीयः प्रस्तावः

अनुमानसमासार्थमनुमानमतः परम् ।

प्रमाणं कचिदेकस्य विधानप्रतिषेधयोः ॥१९॥

20

§ २२. साध्याविनाभावे सहक्रमसंयोगलक्षणे साधनस्य साक्षात्कृते साध्य-
(ध्या) र्थसमाक्षिप्तः तत्र स्मृतिविकल्प (ल्पः) कुतश्चित् प्रमाणम्, कथन्न ऊहादिः ?
स्वसंवेदनेऽपि समारोपव्यवच्छेदाभावात्, इव (इत) रथा विप्रतिपत्तेरनन (नु) मानम्,
स्वतो [ऽ] सिद्धस्य साधनान्तरेऽप्यनवस्था । अयुक्तम्- § १.) “ नाऽप्रत्यक्षमनु-
मानव्यतिरिक्तं मानम् ” इति । सर्वत्र संवादाविशेषे तद्विधिप्रतिषेधयोर्विप्रतिषेधः 25
शास्त्रानुमानवत् ।

[§ ३. साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम् ।

साध्याभासं यथा सत्ता भ्रान्तेः पुरुषधर्मतः ॥२०॥]

§ २३. साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम् । अव्युत्पत्तिसंशयविपर्या-
सविशिष्टोऽर्थः साध्यः । तत्र साधनसामर्थ्यम् । यथा सर्वं सामान्ये (न्य) विशेषात्म-
५ क्रमिति । ततोऽपरं साध्याभासम् । यथा सत्ता, सदसदेकान्तयोः साध-
नासम्भवः, तदतदुभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वम् । भ्रान्तेः पुरुषधर्मतः
विप्रतिपत्तयः सदसत्प्रमाणप्रमेयैकान्तात्म (त्मा) नो बहुप्रभेदाः प्रतिपन्नभिप्रायाणां
निरङ्कुशत्वात् ।

साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नं यथा सति ।

प्रमेयत्वं निरंशानां प्रतिभासविरोधतः ॥२१॥

10

§ २४. साध्यार्थाऽसम्भवाभावनियमनिश्चयैकलक्षणो हेतुः, सर्वमनेकात्मकं
प्रमेयत्वात् । नहि चक्षुरादिज्ञानमन्यद्वा स्वभावान्तरविवेकेन ज्ञारुचिदे (जातुचिदे)-
कमाकारं विषयीकरोति । परस्परविश्लेषिणामणूनां भवतामप्यनुपलम्भः । विप्रतिपिद्धं
तादृशां वर्तनं सम्बन्धासिद्धेः, पृथक्सिद्धिप्रसङ्गः । शकला (सकला) वयवोपलम्भा-
15 सम्भवे तदग्रहः, तदवयवान्तरदर्शनादर्शनविरोधः ।

विश्वं सर्वगतं सत्त्वं व्यक्तं चेद् व्यक्तिभिः स्फुटम् ।

§ २५. एकमक्रमं सर्वव्यक्तिसामान्यमन्यतमाभिव्यक्तं स्वाश्रये यदि सतु-
प्र (सत्प्र) त्ययहेतुरविशेषेण सकलं सदै (दे) व प्रमेय (यम्) तद्विशेषे स्वभावहानिः ।

सर्वस्वाश्रयसम्बन्धे सामान्यं स्यात् प्रदेशवत् ॥२२॥

20 § २६. यदि सर्वगतं सामान्यं सर्वत्र विशेषप्रत्यस्तन (म) ये प्रत्ययसङ्करः ।
स्वाश्रयव्यापित्वे तथाऽनेकत्वम् । का श्र विरिणो (आश्रयविरहिणोऽ) वस्तुत्वम् ।
आश्रयाश्रयिभावोऽभिव्यक्त्यनभिव्यक्ती सत्प्रत्ययकर्तृत्वाकर्तृत्वे सहकारिकारणापेक्षा-
विशेषतो निष्कलस्य युगपदनेकत्र वृत्तिः इति दुरन्वयम् । सतोऽपि तदाश्रयादर्शने
दर्शने च सावयवत्वम् ।

25 एकं चलं चलैर्नान्यैर्नष्टं नष्टैर्न चापरैः ।

आवृत्तै (तै) रावृत्तं (तं) रूपं रक्तं रक्तैर्विलोक्यते ॥२३॥

§ २७. विचित्रावयवात्मकमेकं बहिरन्तश्च कैश्चिदेव आत्मभूतैः अन्यैश्च
मात्राभेदैश्चलमचलम्, विनष्टमविनष्टम्, आवृतमनावृतम्, रक्तमरक्तम्, उपलम्भा-
नुपलम्भयोग्यं नापरैः, अनवस्थाप्रसङ्गः । तेनैव तदात्मकं युक्तं येनातिशयेन
30 वस्त्वन्तरं समवैति ।

खलक्षणमसङ्कीर्णं समानं सविकल्पकम् ।
समर्थं स्वगुणैरेकं सहक्रमविवर्त्तिभिः ॥२४॥

§ २८. उदयस्थितिसंहारलक्ष [ण] स्य सतः प्रतिभासादिभेदाभेदाभ्यां भेदा-
भेदप्रसिद्धिः, आत्मप्रतिबन्धेन तथा परिणामात् संशयविरोधवैयधिकरण्योभयदोष-
प्रसङ्गाऽनवस्थासङ्कराभावकल्पनाम् अन्योन्याविवेकप्रतीतिः अतिशेते । जात्यन्त- 5
राधिगमे मेचकादिवत् सत्यपि वैश्वरूपे तथापरिणामेन समानशक्तीनामेकत्वम् ।
तेनैव तत्समं कर्तव्यमिति नियमाभावात् । नहि सहकारिणां शक्तिसङ्करः । व्यक्ति-
वदेकैकस्य सकलशक्तियोगे सहकारिकारणापेक्षा मा भूत् । समग्राणां तदेकाभिव्यक्तौ
युक्तः तदेककार्यः प्रादुर्भावः । प्रधानपुरुषयो [:] शक्तिसङ्करप्रसङ्ग [:] । गुणा-
नाञ्च न कर्तृत्वम्, अन्यत्राभिव्यक्तेः । तदिमे सामान्यविशेषात्मानो न सङ्कीर्यन्ते । 10

विज्ञानस्यैकरूपत्वे विज्ञेयस्याऽविशेषतः ।

§ २९. 'प्रतिभासभेदेऽपि बुद्धेरेकत्वम्' इति विरुद्धं पश्यामः । सर्वस्यैकांशमा-
त्रानुपङ्गः संवित्स्वभावस्य ते तथोत्पत्तिरेव संवेदनम्, अन्यथा एकत्रापि 'क्षणिकत्ववि-
ज्ञप्तिमात्रता सन्तानान्तरविवेक' इति न स्वतो नान्यतः । वितथनिर्भासाऽविशेषे वृक्षादि-
दर्शिनः स्वांशमात्राविग्रहविकल्पैर्न तत्त्वप्रतिपत्तिव्यापारव्याहारप्रतीतिः । विसृजेऽपि 15
सर्वथा विभ्रमे विभ्रमासिद्धिः । अनेकात्मकत्वे बाह्यार्थे कोऽपरितोषः ? सर्वथा
विरोधपरिहारस्य कर्तुमशक्तेः । स्वसंवेदनमात्रस्य कदाचिदनुपलम्भे यथोपलम्भं
विप्रतिषेधेन शून्यताप्रतिपत्तेरशून्यतानुपङ्गः । तथाहि—

नाभावस्य प्रमेयत्वं न भावस्याऽप्रमेयता ॥२५॥

§ ३०. सर्वथा सतः प्रतीतौ अनिवृत्तिः । असदुपलम्भो विप्रतिषेधः । अर्थाभा- 20
वविकल्पस्य स्वविषयत्वम् । कस्यचित् कैवल्यमपरस्य वैकल्यम् । तदेतत् प्रमेयत्वमवि-
तत्त्व (थ) प्रत्ययात्मकं प्रमातरि प्रत्यक्षं प्रमेयधर्मतया तदधिगमयोग्यं स (स्व) भावः,
परोक्षं च । विषयद्वैविध्येन सञ्चवहारलक्षणं प्रमेयमेव । सर्वत्र सर्वथा भावे विरोधः ।

परापरविभागैकपरिणामविशेषतः ।

तान्येव पश्यन् प्रत्येति शाखा वृक्षेऽपि लौकिकः ॥२६॥ 25

प्रमाणमात्मसात्कुर्वन् प्रतीतिमतिलङ्घयेत् ।

वितथज्ञानसन्तानविशेषेषु न केवलम् ॥२७॥

तत्र चित्रं भवेदेकमिति चित्रतरं ततः ।

चित्र (त्रं) शून्यमिदं सर्वं वेत्ति चित्रतमं ततः ॥२८॥

इति प्रमाणसङ्ग्रहे तृतीयः प्रस्तावः ॥छ॥



४ चतुर्थः प्रस्तावः ।

अन्यथा [५] सम्भवो ज्ञातो यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ।

§ ३१ अनित्य आत्मादिः शरीरादेरनित्यत्वात् । नहि तत्परिणाममन्तरेण तद्विकारित्वं युक्तमिति । एतावता यदि प्रतीतिः किं साध्यधर्मकल्पनया धर्मा-
5 न्तरत्वात् ? उद्देप्यति शकटम् उद्गाद्धरणिः कृत्तिकोदयादिति । कालादिधर्मिकल्प-
नायामतिप्रसङ्गः । शब्दानित्यत्वे चाक्षुप्तत्वादिरपि सिद्धः (?) । सात्मकं या (जी)
वच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति । चैतन्योपयोगादन्यत्रावृत्तौ सुषुप्तादिषु दर्शनादयुक्ता
वृत्तिः । न शरीरपरिणामः तदप्रत्यक्षे (क्ष) त्वे प्रत्यक्षः । तथाऽपरिणामिनः तद्गुणत्वे
अनवस्था । सहभावनियमेऽपि अन्योन्यव्यपेक्षातोऽनादिसम्बन्धप्रसङ्गः, तदुभयत्रा-
10 विशेषात् । पूर्वाभ्यस्तस्मरणाविनाभाविनः कचिद् गुणान्तरस्य लिङ्गतो जातिसरसंवा-
देन निरंशस्य वियहव्याप्तिविरोधः । नानात्वे पुनरसम्भवः, प्रभवस्मृतिप्रत्यभिज्ञाद्यं
(दि) विधातः । तथापरिणामे सकलदोषनिवृत्तिरित्यात्मभावसिद्धितः किमन्वयेन
शब्दपरिणामे श्रावणत्वादिवत् ? पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिलक्षणत्वाद् । उपाधि-
प्रतिषेधे कृतकत्वादि वैश्वरूप्यं सत्ताव्यतिरिक्तं मा भूत् । सर्वस्य सतः तथा विप्रतिपत्तौ
15 एकत्रानन्वये कथमुपसंहरेत् ? तद्विशेषानाक्षेपे किं साधनम् ? एकलक्षणानुपलक्षणे
कार्यादेरगमत्व (मकत्वम्) । वचनपुरुषत्वानुपलब्धीनां कचिद् रागादि-सर्वज्ञता-
भावसाधनसामर्थ्यवैधुर्यं (यै) व्याप्तिविशेषः कोऽपरोऽन्यथा [५] सम्भवात् ।

सत्प्रवृत्तिनिमित्तानि स्वसम्बन्धोपलब्धयः ॥२९॥

§ ३२. स्वभावोपलब्धिः—यथा अस्त्यात्मोपलब्धेरिति । ज्ञानस्वभावपरिणा-
20 मिनो विग्रहव्यापिन (नः) स्वसंवेदनेऽन्यवेदनम् । नहि सुखादयो भेदिनः संविद्वत्ते
तथा [५] निर्णयात् । विभ्रमकल्पनातो नान्योन्यमतिशयाते । स्वभावकार्योपलब्धिः—
अभूदात्मा स्मरणात् । सत्यपि प्रभवसाक्षा (वस्या) तिशये तदसम्भवः, जन्यजनक-
वद् विसदृशपरिणामेऽपि बालवृद्धवत् । स्वभावकारणोपलब्धिः—भविष्यति आत्मा
सत्त्वात् । स्वभावान्तरपरिणामात्मकं भावलक्षणम् । सकलशक्तिविरहिणो निरुपा-
25 ख्यत्वम् । स्वपरिणामविकलस्य परत्रासामर्थ्यम् । सहचरोपलब्धिः अस्या (अस्त्या)-
त्मा स्पर्शादिविशेषात् । तादृशं लोको विवेचयति । सहचरकार्योपलब्धिः—अत्र वचनात्
कायव्यापारः । अन्वयव्यतिरेकानुविधानं सहचारिणो व्यापारे साधकतमत्वम् ।
सहचरकारणोपलब्धिः—सकल आत्मा शरीरावयवभेदात् । तद्वृत्तिनान्तरीयकः
संयोगः कार्यकारणयोः तथापरिणामः । तादृशः क्रमवृत्तेरप्रतिधातः । नानात्वेऽप्रति-
30 सन्धानम् । एकस्य कालदेशान्तरव्यापित्वं प्रतिभासभेदेन रूपेतरयोर्दर्शनात् ।
दर्शनवत्तद्वृत्तौ तथा संश्लेषे सर्वथाऽसम्बद्धः प्रसङ्गः ।

तथा [५] सद्ब्यवहाराय स्वभावानुपलब्धयः ।

§ ३३. स्वभावानुपलब्धिः—यथा न क्षणक्षयैकान्तोऽनुपलब्धेः । नहि वहि-
रन्तर्वा भेदनिर्भासविवेकः । परमाणुवच्छल (वत्स्थूल) स्य कस्यचित् प्रतिभासे तदा-
भासविरोधः । कार्यानुपलब्धिः—अत्र कार्याभावात् । सति तादृशे कार्ये यदि अक्रमःप्र-
(मप्र) सङ्गः । कारणानुपलब्धिः—अत्रैव कारणाभावात् । नाशसमकालकार्यकल्पनायां 5
पश्चादपि असतोऽविशेषात् । समनन्तरभावेऽपि अतिप्रसङ्गः । विशेषव्यवस्थायां
तादात्मा (त्म्या) सिद्धिः । उपादानप्रकल्पः (प्तौ) प्रत्यभिज्ञादिहेतोः कोऽपरोऽतिश-
योऽन्यत्र परिणामात् । स्वभावसहचरानुपलब्धिः—नात्रात्मा रूपादिविशेषाभावात् ।
तादृशो [५] विवेके कथं दाहादिसाहसमाचरेत् प्रेक्षापूर्वकारी ? सहचरकार्यानुप-
लब्धिः—अत्र व्यापारव्याहारविशेषाभावात् । निवृत्तिप्रतिबन्धयोः विशेषानुपलक्षणे 10
पुनरविविक्तं स्यात् । सहचरकारणानुपलब्धिः—अत्रैव आहारभा (राऽभा) वात् । स
विचित्रः शरीरस्थितिहेतुर्विज्ञेयः । परिणामि-सहकारिकारणयोः तद्विशेषेऽपि तादात्मो-
(त्म्ये) तदभेदेऽपि युगपद्भाविनामजन्यजनक [क] तृप्तसहभावनियमः । स्वापदोन-
(स्वोपादान) सहकारिविवर्तविकल्पे प्रतिबन्धनियमे किं परस्प (रम्प) रया नियम-
हेतुना ? तदन्यत्रानिवारणे स्वभावान्तरवत् ।

15

सद्वृत्तिप्रतिषेधाय तद्विरुद्धोपलब्धयः ॥३०॥

§ ३४. नानुपलब्धिरेव अभावसाधनी । यथा स्वभावविरुद्धोपलब्धिः—नावि-
चलितात्मा भावः परिणामात् । स्थितिस्वभावैकान्तस्य स्वभावपरिहारविरोधः । स्वतो
[५] नश्वरत्वे कौटस्थ्यप्रसङ्गः । कार्यविरुद्धोपलब्धिः—न लक्षणविज्ञानं प्रमाणं विसंवा-
दात् प्रमाणान्तरापेक्षणे । कारणविरुद्धोपलब्धिः—नास्य परीक्षाफलम् अभावैकान्तग्रह- 20
णात् । संवृतिवादेऽपि समीक्षाविरोधः ।

व्याप्यव्यापकयोरेवं सिद्धयसिद्धी विचारतः ।

सदसद्व्यवहाराय तत्त्वान्यत्वविवेकतः ॥३१॥

§ ३५. सर्वत्र व्याप्यसिद्धिरविशेषेण व्यापकसाधनी । यथा [५] नित्यं
कृतकत्वात् । परिणामाभावे तदनुपपत्तिः । तथा व्यापकस्यानुपलब्धिः व्याप्यवि- 25
निवर्तनी । न निरन्वयविनाशो भावस्य अत्यन्ताभावानुपलब्धेः । इति स्वभावसह-
चरकार्यकारणभेदपरिग्रहः । स्वभावविरुद्धव्याप्तोपलब्ध्योः व्यापकानुपलब्धौ अन्त-
र्भावः । न नित्यः कृतकत्वात्, अकृतकत्वासिद्धिः (द्वेः) । अविशेषेण स्वभाव-
विरुद्धकार्यो (र्या) नुपलब्ध्योः कार्यानुपलम्भे । तत्र प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् इति
नापरो हेतुरनुपलम्भात् । उपलब्धेर्वा अन्योन्यविवेकोपलम्भलक्षणत्वात् । अनयो 30
[:] स्वभावविरुद्धोपलब्ध्योरनुपलम्भलक्षणत्वात् । अन्योपलम्भोऽनुपलम्भः ।

स्वभावविरुद्धव्याप्यव्यापककार्यकारणोपलम्भानुपलम्भप्रयोगभेदाः प्रत्यक्षेऽपि विवादवृत्तयो निर्णये नियमेन परीक्षामपेक्षन्ते । तदर्थमाधनं सर्वत्र ज्ञानशब्दव्यवहारसाधनम् ।

अध्यक्षस्यापरीक्षत्वादनुमानं (न) परम्परा ।

5

अविनाभावस्त्वन्येऽप्यन्तर्व्याप्याऽवनिष्ठते ॥३२॥

§ ३६. बहिर्दर्शनादर्शने धर्मिधर्मस्य न लिङ्गिलक्षणं तन्दुलपाकादिवत् । तन्नैतावता व्याप्तिः अन्यत्र विचारात्, यतो व्यापकं निवर्त्तमानं व्याप्यं निवर्त्तयेत् । कस्यचिद्वग्रहमात्रं नित्यानित्ययोः विरोधाऽविरोधात् नियमं न परीक्षते अतिप्रसङ्गात् । तदनुमानपरम्पराऽपि अनवस्था । परस्य दर्शनपाटवादिमतः स्वतो विवेच-
10 कत्वाद् विप्रतिपत्तिनिवृत्तिः । अविषयेऽन्यस्यावृत्तिः । तदाश्रयत्वाच्च सर्वत्र दृष्टान्तो नावश्यं बहिः ।

अपेक्षः सदनै(ने)कान्तं सम्पद्यद्विः (द्विः) समीक्षकैः ।

अन्यथायोगतः सर्व [ः] तथैवेत्यनुमीयते ॥३३॥

§ ३७. साध्यसाधनयोः स्वभावप्रतिबन्धे साक्षात्कृतेऽपि साकल्येन व्याप्तिः
15 परीक्षातः । तद्विभ्रमकल्पनायां प्रकृतमकृतं म्यात् । तदाभासाविशेषे कादाचित्कसंवाद-
स्याप्रतिबन्धेऽपि सम्भवत्स्वलक्षणयोगे व्यभिचारः, समीक्षाकारिणः पुनरविप्रतिसारः ।
तत्र सर्वत्र विभ्रमोपलम्भो [ऽ] विशेषात् । सतामेकान्तानेकान्तविच्छेदपरिच्छेदयो-
रभेदप्रत्यनीकस्वभावविधिप्रतिषेधप्रतिबद्धे ।

प्रत्यक्षस्यापि सामग्रीप्रतिभासविशेषनः

20 § ३८. मतिश्रुतयोः प्रतिभासभेदेऽपि परमार्थैकतानत्वम् । सामग्रीभेदे प्रत्य-
क्षवश्चांस (वत्स्वांश) मात्राभिनिवोधे नान्यार्थोऽन्यव्यवच्छेदः । अविषये स्वयमप्रवृत्तेः ।
अयथार्थात्मावभासविच्छेदः परोक्षमात्मानं कथञ्चिद् विदधतो विच्छेदेन बहिरर्था-
वलम्बनम् असाधारणनिर्भासविरहिणोऽपि अविरुद्धम् ।

ज्ञस्य विभ्रमसंश्लेषे कथञ्चिद्भ्रान्तिरात्मनि ॥३४॥

25 सर्वथा विभ्रमे तस्य विभ्रमोऽपि न सिद्ध्यति ।

यथा विभ्रमविच्छेदाज्ज्ञानाल्यन्तरितं स्वयम् ॥३५॥

तथाऽर्थजातिधर्माणां तत्र सम्प्रतिपत्तितः ।

§ ३९. चेतनस्य सतः कथाश्चित्स्वभावाप्रतिपत्तौ न वै निमित्तान्तरमन्यत्र
विभ्रमात् । अन्यथा सुप्तप्रबुद्धाविशेषप्रसङ्गमु (ङ्गः । उ) पलचितसुखादिविज्ञानस्वल-
30 क्षणक्षणक्षयादिविशेषानुपलक्षणे दूरासन्नादिदेशस्थपुरुषैकविषयोपलम्भवत् । कचिद्

विभ्रमेऽपि वस्तुमात्रोपग्रहे व्यक्तमनेकान्तसिद्धिः, इति साकारौ विषय-विषयिणौ स्याताम् । एवं हि कालादिव्यवहितात्मपर्यायसमुपग्रहे परत्र कः प्रतिघातः ? व्यामोहविच्छेदाविशेषेण अन्तस्तमोविगमे बहिरकारणं संस्कृतेन्द्रियवत् । मूर्च्छितादौ बहिरङ्ग-साकल्येन अन्तरङ्गं बलीयस्त्वम् । तदतत्कार्यविच्छेदमुपैति न तच्चपरिच्छेदमिति स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । तत्समारोपविधिप्रतिषेधयोस्तादात्म्ये प्रकृतमकृत (तं) 5 स्यात् । समानपरिणामरहितानां (ना) मतत्कार्यव्यावृत्तौ समानप्रत्ययः चक्षुरादिवत् । समे समविकल्पजनकत्वे क्वचित् परामर्शनियमः तादृशो दर्शने सामान्यस्य तैरप्याश्रयणीयत्वम्, अर्थक्रियाविरोधः, कल्पनागौरवतो जातिलक्षणसंवृतेः । स्वसामान्यलक्षणयोर्भेदाभावे प्रत्यक्षेतरयोस्तादात्म्येऽप्यनवस्थादिदोषानुपङ्गः । सविकल्पसिद्धः तदन्यविधिप्रतिषेधविषयमनुमानम् ।

10

अप्रत्यक्षेऽपि देहेऽस्मिन् स्वतन्त्रमवभासनात् ॥३६॥

प्रत्यक्षं तद्गुणो ज्ञानं नो जानिस्मरदर्शनात् ।

सत्यं तमाहुर्विद्वांसो विद्यया विभ्रमेण यः ॥३७॥

यथार्थमयथार्थस्या (र्थं वा) प्रभुरेषोऽवलोकते ।

तुलोज्जाम-रसादीनां तुल्यकालतया नहि ॥३८॥

15

नाम-रूपादिहेतुत्वं तादात्म्यं सहचारतः ।

अन्वयोऽन्यव्यवच्छेदो व्यतिरेकः स्वलक्षणम् ॥३९॥

ततः सर्वा व्यवस्थेति नि (नृ) त्येत् काको मयूरवत् ।

इति प्रमाणसङ्ग्रहे चतुर्थः प्रस्तावः ॥छ॥



५. पञ्चमः प्रस्तावः ।

20

अन्यथानिश्चितं सत्त्वं विरुद्धमचलात्मनि ॥४०॥

निर्व्यापारो हि भावः स्यान्नित्यत्वे वा निरन्वये ।

§ ४०. साध्याभावसम्भवानियमनिर्णयैकलक्षणो विरुद्धो हेत्वाभासः, यथा नित्यः शब्दः सत्त्वात् इति । सर्वथा [ऽ] विचलितात्मनः कचिदनुपयोग [ः] । कस्याचिद्भावे स्वयमनायासयतो भावान्तराऽविशेषिणोऽभावाविशेषसन्निधानेऽप्य- 25

नुपकारः । तथा नित्यानां परस्परतो हेतुफलाभावः । निर्व्यापारेषु व्यापारसमारोपः
क्रमयौगपद्यासम्भवो न कारकज्ञापकव्यवस्था पारमार्थिकी । तदाकस्मिकत्वे देशका-
लस्वभावनियमायोगः । इष्टविधातकृतदे (कृदे) कस्य पूर्वापरस्वभावपरिहाराऽवाप्ति-
नान्तरीयकत्वादर्थसिद्धेः, इत्यनिश्चि (श्चि) तविपक्षव्यावृत्तिरनैकान्तिकः । कौटस्थो
5 (स्थये) विक्रियाविरोधः । क्षणिकत्वे सर्वथानन्वयः । जात्यन्तरे वितर्कयतः सम्मोहः ।
कृतकत्वादिषु समानश्चर्चः ।

जात्यन्तरोपलम्भेन कथञ्चित्सकलग्रहः ॥४१॥

अतर्का (त्का) र्यव्यवच्छेदेऽप्यर्थमात्रोप (प) योगतः ।

§ ४१. स्वतो व्यतिरेके न उपाध्यः स्युरि (र) तिप्रसङ्गात् । तथा दृष्टे प्रमा-
10 णान्तरवृत्तिर्न, एकोपावि(पाधि)प्रतिपत्तेः श(स)कलग्रहनान्तरीयकत्वात् । अन्यथा
अनवस्थाप्रतीतिः । समारोपव्यवच्छेदे समानः प्रसङ्गः तत्परिच्छेदाऽविशेषः ।
इतरथा विपक्षानतिशायनात् । स्वतो निर्णयस्य अतद्वेतुफलापोहनिर्णयः, स्वविषय-
निश्चययोरविनाभावः, परतोऽनवस्था च । नहि निर्णयस्य स्वरूपमन्यदपि निर्णयात् ।
स पुनः अवश्यमात्मानं व्यवसाययत् (यन्) सकलं न्यायविषयीकरोति । सर्वथा
15 तदतद्भ्रान्तिविच्छेद एकत्र निश्चयसमारोपविधातात्, तदेतदपि गण्डूपदभयाद् अज-
गरमुखकुहरपरिपतनमनुसरति । तस्मान्न भेदाऽभेदप्रतिपत्तिः उभयत्र व्याघाता [त्] ।
क्वचिदनयोरवाच्यतायां तद्वैकल्यम् । अतो न दृष्टाद् गरिष्ठमिष्टम् ।

§ ४२. प्राणादीनाम् अन्यथानिश्चितं सत्त्वं विरुद्धमचलात्मनि । स्वय-
मदृश्येऽपि न्यायस्य प्रविजृम्भणात् । प्रभवाभावविरोधप्रसिद्धिः व्याधिभूतग्रहादिवत् ।
20 अतः साकल्येन चलनोन्नान्यः (?) तादृशो विप्रतिषेध इत्यनभि (भिनि) निबोधनैकान्ति-
कत्वम् । अदृश्यानुपलम्भादभावाप्रसिद्धेः घटादीना(नाम्) नैरात्म्यासिद्धौ प्राणादेर-
निवृत्तिः इति तमासा (तमसो) नैर्घृण्यात् ।

§ ४३. चलानां तनुकरणभुवनादीनां सन्निवेशादेः अन्यथा निर्णीतं सर्व
(सत्त्वं) विरुद्धमचलात्मनि । विप्रकृष्टेऽपि न्यायस्य विजृम्भणम् । परिणामिनि संशयः ।
25 सिद्धः संस्थानादिर्विवादास्पदे तथा प्रत्यवमर्शेनाभिधानमात्रम् । विशेषकल्पनायामति-
प्रसङ्गः । तादृशज्ञानपूर्वकत्वाभावेऽप्यविरोधादनैकान्तिकः ।

§ ४४. चलानां चक्षुरादीनां सन्निवेशादेः अन्यथा निर्णीतं सत्त्वम् इष्ट-
विधातकृत् अचलात्मनि । परिणामिनि संशयः । संहतानां पाराध्या (थ्य) नियमा-
भावः । कार्यकारणयोः भेदैकान्ताऽसिद्धेः ।

30 § ४५. चलानां शब्दादीनां सन्निवेशादेः सत्त्वं विरुद्धमचलात्मनि । प्रधान-
पुरुषादौ परिणामिनि संशयः । कार्यकारणानामन्वयादेरनेककारणपूर्वकत्वे सम्भवः ।

§ ४६. चलानां सुखादीनां सत्त्वं विरुद्धमचलात्मनि । प्रधानादौ तेषामनु-
प्रवेशो वा । चलात्मनि चैतन्यपरिणामिनि तदुभयत्र वृत्तेरनैकान्तिकम् ।

सहोपलम्भनियमः स्याद् भेदस्यापि साधकः ॥४२॥

§ ४७. उक्तविधातृकृद् द्रव्यपर्यायपरमाणूनां सहदर्शनम्, यथा भेदः, तद-
न्यथा विधातो भेदप्रतिषेधको न स्यात् । भेदमात्रस्य साधनात् । नहि सर्वचित्तानां 5
सहोपलम्भोऽपरः सहोत्पत्तेः । स्वभावान्तरविरोधकल्पनायां तथोपपत्तिः । सन्दिग्धा
[ः] कर्तुरस्मरणो(णा)दयः । सतः स्मृतेरभावो यद्विरुद्धः सर्वः सर्वज्ञः स्यात् । अन्य-
तमस्यापि सम्भवे तत्प्रतिषेधे विप्रतिषेधः । शास्त्रलिङ्गतः प्रतिपत्तावनियमः । तदविशे-
षण (षेण) वृत्तौ प्रत्यक्षेऽपि कार्यव्यभिचारः । सतो दर्शनसाकल्यनियमे स्मृतिर्न
भवेत् । तदभावे मानान्तराऽसिद्धिः । स्वतः प्रामाण्यविप्रतिषेधे पुनरन्धपरम्परायां 10
न गुणोत्कर्षः । तदर्थसंवादस्मरणव्यतिरेकेऽपि सर्वथा साधकप्रमाणप्रतिक्षेपे च
सन्देहः । इत्यनैकान्तिकभेदाः निश्चितसन्दिग्धव्यभिचारिणोऽनेकप्रकाराः ।

§ ४८. त्रिलक्षणयोगेऽपि 'सर्वज्ञो न वक्तृत्वात्' इति पक्षधर्मस्य सपक्ष एव
दर्शनात् स्वभावप्रतिबन्धेन प्रमाणान्तरं व्याप्तिः अयुक्तप्रतिपत्तिः, अतो न व्यापका-
नुपलब्धिर्व्य (ब्धिव्य) वस्था । तथा च न कश्चिद् विशेषः । तादृशवचनादिगुणो- 15
पपत्तौ अन्तर्व्याप्ति (प्ते) रसिद्धावगमकत्वम्, तत्सिद्धौ अनन्वयेऽपि । न त्वसाधा-
रणा हेतवः, तद्यथा नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् । सर्वथाऽपरिणामिनः तदसम्भवै-
कान्तः, तत्र सर्वहेतूनामसाधारणत्वम् । साकल्येन व्याप्तिदर्शनेऽविप्रतिपत्तिः । अन्यथा
प्रकृतेऽपि कथमुपसंहरेत् ?

सर्वथा भावात् सन्देहेऽप्यन्यथाव्यस्तसंविदः ।

20

§ ४९. असिद्धः चाक्षुषत्वादिः । शब्दस्य परिणामेऽपि चक्षुरादिज्ञानमयु-
क्तम् । रूपादिविवर्त्तस्य तत्त्वव्यतिक्रमेण द्रव्यमनादिनिबन्धनं (निधुनम्) न शब्द-
पर्यायो (यः) चाक्षुषत्वप्रसङ्गादिति हेतुलक्षणं पुष्पाति ।

[§ ४. सहोपलम्भनियमोऽप्यन्योन्यार्थविदां विदाम् ॥४३॥]

§ ५०. सहोपलम्भनियमोऽपि अर्थज्ञानयोः अन्योन्यार्थविदां विदाम् । 25
यदेकार्थोपनिबद्धदृष्टयः परस्परज्ञानं परचित्तविदो वा तदर्थं नावि (नाव) इयं संविदन्ति,
बहिरसति तादृशो [ऽ] सम्भवः । विभ्रमे कुतो विशेषः ? तथा सिद्धो हेतुः कुतश्चिद्
ग्राह्यग्राहकविसृजनिवृत्तेः विप्रतिषेधः । एवमसहानुपलम्भो व्यावृत्तिमात्रं शशवि-
षाणयोरिव बाह्येतरपक्षयोरसिद्धः । सदसतोरसम्बद्धो (न्धो) भेदाभावे भावसिद्धौ किं
वादः ? तन्न एकोपलम्भनियमः, तदात्मकत्वे साध्याऽविशेषः । स्वोपलम्भनियमो 30

विज्ञप्तिमात्रसिद्धेः स्यात् । अतद्रूपस्याप्यतत्परिच्छेदव्यतिरेकनियमेन विषयाकाराविशेषे विज्ञानसन्तानभेदवादो निरालम्बः । तद्विशेषो विभ्रमविवेकनान्तरीयकः । नास्ति सर्वज्ञोऽनुपलब्धेः इति स्वप्रमाणनिवृत्तिरन्यथाऽपि । सर्वोपलम्भनिवृत्तिरसिद्धा । सम्भवेऽपि निर्णेतुमशक्तौ तादृशो विप्रतिपेधे तत्प्रतिपेधयोः स्वयमुपलम्भात्मकत्वाच्च 5 स्वाश्रययोः सन्देहे सन्देहः ।

सिद्धे [५] किञ्चित्करो हेतुः स्वयं साध्यव्यपेक्षया ।

§ ५१. शब्दविनाशादौ सत्त्वेन सिद्धे सिद्धोऽपि कृतकत्वादिः प्रत्यक्षाग्नौ धूमवत् । विशेषाधानमर्थान्तर (!) तत्र धूमदर्शिनः प्रत्यक्षवत् साक्षात्कृतेऽपि कुतसिद्धि (श्चिद्धि) पर्यासनिवृत्तिरज्ञातोऽहेतुः । साध्येऽपि कृतकत्वादिः अज्ञातः साधनाभासः । 10 तदसिद्धलक्षणेन अपरो हेत्वाभासः, सर्वत्र साध्यार्थासम्भवाभावनियमासिद्धेः अर्थज्ञाननिवृत्तिलक्षणत्वात् । अनयोरर्थेऽपि विरुद्धाव्यभिचारिणः सम्भवः, यथा नित्यो भावः तद्भावं प्रत्यनपेक्षणात् । तद्वेतूनामसामर्थ्ये तद [त] त्कारणासम्भवः । कादाचित्कत्वमपेक्षातः स्यात् । नहि भावादव्या (दन्या) र्थक्रिया । कादाचित्कत्वमयुक्तः (क्रम)स्वभादिवत् । क्वचित् प्रतिभासभेदो विरुद्धधर्माध्यासो वा ग्राह्याहकवत् । न चापरं 15 भेदलक्षणमित्यविविक्तं तत्त्वम् । स्वतो जन्मनि सदसतोः प्रभवविरोधः । परतः तुल्यः पर्यनुयोगः । एतेन उभयानुभयविकल्पाः प्रत्युक्ताः । तत्र निर्व्यापारेषु व्यापार-कल्पनायां परत्र को [५] परितोषः ? नित्यसन्निधाने कल्पनागौरवपरिहारेण भाव-धर्मपरिसमाप्तेः । तथा सर्वमनित्यमर्थक्रियाकारित्वात् । तदभावे निरुपाक्ष (ख्य) त्वम् । पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिरयुक्ता तदवस्थस्य । न तावत् क्रमेणः कस्यचिदे- 20 कत्र करणाकरणविरोधात् । पूर्वमसमर्थ पश्चादपि । सहकारिकारणवैकल्यं समानम् । तदपेक्षाऽयोगः । तत्कृतमुपकारमात्मसात्कुर्वतः स्वभावभेदः । अन्यकरणे असम्बन्धाऽनवस्था । न सर्वथा नित्यमुपकर्तुं युक्तम् । अकिञ्चित्करोऽनपेक्ष [:] स्यात् । नापि यौगपद्येनः तत्करणस्वभावस्य पुनस्तदकरणेऽपि स्वभावहानिः । सहकारिवैक-ल्यादि समानं प्रत्यभिज्ञानेऽपि । सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भान्नैकत्वम् । तादृशं भेद- 25 नान्तरीयकम् । न चापरं भेदलक्षणमिति । स्वभावप्रतिबन्धे नैतावन्योन्यमतिशयाते । समुदायोऽहेतु [:] मिथ्यैकान्तपरिग्रहात् ।

सर्वथान्योन्यसम्बन्धे विरुद्धं श (स) कलात्मनि ॥४४॥

§ ५२. प्रत्येकं सह वा सामान्यविशेषार्थसाधनः ।

एकान्ताश्रये विरुद्धः तद्वेदिति सन्देहकृत् ।

संशयाद्धेतुत्वाभावेऽपि साध्येऽकिञ्चित्करोऽखिलः ॥४५॥

30

§ ५३. किं वै व्यभिचारिणः सन्देहः सत्यप्यविनाभावे पक्षविपक्षयोः तद-

वेदिनि सम्भवी ? प्राग् विपर्यासवद्भूतस्यानिराकरणं सर्वत्र समानम् । साध्ये गुणदोषयोः कस्यचिदन्वेषणं सिद्धसाध्यार्थयोः सिद्धासिद्धाऽकिञ्चित्करविस्तरा विरुद्धादयः ।

अन्यथासम्भवासिद्धः साधनः प्रतिरूपकः ।

विरो (रु) द्वोऽकिञ्चित्करो ज्ञातः प्रत्येकमिति सङ्ग्रहः ॥४६॥

विरुद्धाव्यभिचारी स्यात् विरुद्धो विदुषां पुनः ।

5

प्रकृया (प्रक्रिया) व्यतिरेकेण सर्वे सम्मोहहेतवः ॥४७॥

तथाहि सर्वहेतूनां भावना सत्त्वमीक्षते ।

स विरुद्धोऽन्यथाभावाद् असिद्धः सर्वथात्ययात् ॥४८॥

व्यभिचारी विपक्षेऽपि सिद्धेऽकिञ्चित्करोऽग्निलः ।

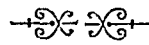
अज्ञातः संशयासिद्धव्यतिरेकान्वयादितः ॥४९॥

10

विरुद्धाव्यभिचारी स्यादर्थमात्रावधारणात् ।

अन्तर्व्याप्तावसिद्धायां बहिरङ्गमनर्थकम् ॥५०॥छ॥

इति प्रमाणसङ्ग्रहे पञ्चमः प्रस्तावः



६. षष्ठः प्रस्तावः

[§ ५. समर्थवचनं वादः शाश्वतं सत्क्रियाश्रयात् ।]

15

§ ५४. समर्थवचनं वादः । प्रकृतार्थप्रत्यायनपरं साक्षिसमक्षं जिगीषतोरे-

कत्र साधन-दूषणवचनं वादः । शाश्वतं सत् क्रियाश्रयात् । 'सर्वं नित्यं कृत-

कत्वात्, यत् कृतकं तन्नित्यं युक्तं यथा आत्मा, तथा च सर्वं कृतकम्, तस्मान्नित्यम्'

इति साधनाङ्गवचनोपालम्भच्छलेन स्वामेव स्थितिं विधुरयं (यन्) सर्वथानर्थनिव-

न्धिनो विजयते । विचित्रा हि परप्रत्यायनोपायाः स्वनिश्चयवत् । प्रत्यक्षेऽपि कुतश्चित् 20

साधनसम्बन्धप्रतिपत्तेः । सम्मोहव्यवच्छेदेन तत्त्वावधारणे स्वयं साक्षात्कृतेऽपि

साधनवचने कथञ्चिन्निश्चित्य विचारे विनिश्चयोपपत्तौ साध्यधर्मसम्बन्धदर्शनस्य

प्रतिज्ञाविशेषेण तदन्यतरवचनप्रतीतौ वाचकम् उपनयादिसमम् । अन्यथा साध्य-

समम् । तदेवमपि 'युक्तं न वा' इति तर्कय तावदक्षिणी विस्फाल्य । यदि युक्तम्; किं-

कृताकृ [त] नियमेन ? तावत् प्रयोक्तव्यं यावता साध्यसाधनमधिकरणं प्रत्येति ॥छ॥ 25

नहि तैः सर्वथाऽसिद्धं कर्तुं युक्तं निरन्वये ॥५१॥

§ ५५. प्रागुत्पत्तेः असतः पूर्वं प्रत्यनपेक्षा, निष्पन्नस्यापि सतः स्वयमनाधे-
यातिशयात्मनो भावान्तरवत् । एतेन उभयावु (नु) भयविकल्पः प्रतिव्यूढः । सत्ता-
सम्बन्धेऽपि समानः प्रसङ्गः । कालाद्यनपेक्षिणः सर्वतो व्यावृत्तेः स्वतन्त्रो भावः
स्यात् । अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः कृतकः । तत्कृतमुपकारमात्मसात्कुर्वतः तन्निय-
5 तवृत्तेः सर्वथा तत्कार्यतया प्रतिक्षणं भेदिनः तद्भावाऽव्यवसायतया तदपेक्षणम् ।
इतरवा (था) कारणस्यापि सतः सामर्थ्ये सकृत् कार्यजनने विश्वमक्रममकार्यकार-
णमनुपाख्यम् । सति समर्थे तत्राभवत् नियमेन पश्चात् स्वयं भवत् किमानन्तर्यम-
पेक्षते ? तदसामर्थ्याविशेषेण प्रागपि स्यादभावानन्तर्याविशेषेण । तदयं प्रभवसमर्था
सतीं विहाय मृतां पुत्राय कामयते । सम्भवत्यपि परिणामिनां शक्तिविचित्रता
10 अभावविलक्षणत्वात् । विरुद्धधर्माध्यासेऽपि नानैकव्यवस्था नानार्थैकज्ञानवत् ।

तदयं भावः स्वभावेषु कुण्डलादिषु सर्पवत् ।

§ ५६. तत्र स्पष्टनिर्भासो विकल्पः सन्निधानापेक्षी भावनातो निवृत्तिः सुखा-
दिवत् । अन्यथा स्मरणप्रत्यभिज्ञाऽभावः । तदेवं परस्परपरिणामपरिग्रहविवर्त्ताहित-
विविधपर्यायैरवस्थान्तरमनुभवति ॥७॥

15 उत्पादविगमध्रौव्यं सत् प्रत्येकमसम्भवात् ॥५२॥

§ ५७. नाशस्यापि कारणे सिद्धं कृतकत्वमुत्तरोदयाऽविशेषेण । पूर्वापरावधि-
परिच्छिन्नसत्तासम्बन्धेऽपि तादात्म्याऽनतिक्रमः । तन्न उत्पात्तिसंहारौ स्थितिरहितौ
स्याताम् । एवं प्रतिक्षणम् उत्पादविगमध्रौव्ययुक्तं सत् । सकृदपि अतत्स्वभावस्य
तन्नियमविरोधः । नाशश्चानपेक्षायां न कदाचिद्भवेत् पूर्वोत्तराविशेषेण । स्वतो
20 हेतोर्नश्वरस्थास्नुरुदेति न पुनरनपेक्षः । परस्परपरिणामाहितविशेषपरिग्रहेऽपि स्वरस-
वृत्तेरप्रतिघातः विषयसन्निधानाहितविशेषविज्ञानवत् । स्वरसभङ्गुरस्यापि विरोधि-
प्रत्ययविहितविशेषलक्षणेन निवृत्तिं पश्यामः । सदसतोः पूर्वापरभावनियमः ।
कथञ्चात् कार्यकारणवत् अचलस्याप्यव्ययादुत्तरीभवति । तादात्म्यपरिणामेन
सत्त्वप्रतिभासनात् । सर्वस्य अनेकान्तात्मकत्वे तदतद्व्यवस्था तथापरिणामात् ।
25 नहि तथा अपरिणतं तत् विप्रतिषेधात् । प्रसिद्धप्रभवसादृश्यप्रत्यासत्तिविप्र-
कर्षयोरपि नानैकस्वभावनियमः पितापुत्रवत् । सन्तानस्य अन्यथाऽसम्भवात् ।
एकप्रत्ययमर्शविशेषव्यवस्थायाम् एकत्वविधानम् । विभ्रमकल्पनाऽनानैकव्य-
वस्था, नैकयोगक्षेमलक्षणमेकम् अतिप्रसङ्गात् । विरुद्धधर्माध्यासाद् बहिरन्तर्मुख-
प्रतिभासविज्ञानैकतानिवृत्तिः । अर्थज्ञानविवेकप्रतिभासयोः अदृश्येतरयोरविरोधे सूक्ष्म-
30 स्थूलकलाकलापस्य प्रतिक्षणमुदयस्थितिसंहारमनुभवतः क्रमवृत्तेरप्रतिघाते विवेक-
कल्पनाविवेकः । आदौ दृष्टापरस्वभावाविधातेन पुनः क्षयदर्शनात् सिद्धेः (द्धः) अन्ताद्योः

पूर्वापरस्वभावाप्तिपरिहारयोः साध्यसाधनभावः । श (स)कलशक्तिविरहिणोऽवस्तुत्वे तदुपादानविच्छेदः, प्रकृतिविकारनान्तरीयकत्वादर्थान्तरप्रसूतेः । त्रिलक्षणं प्रतिक्षण-
मविकल्पितं विकल्पलक्षणम्, अन्यतरव्यतिरेकेऽनुपपन्नम् । समुदायेऽसङ्करप्रसङ्गः ।
एकशः तल्लक्षणान्वये भेदकल्पनानर्थक्यम् । तदयम् उत्पाद एव तिष्ठति, नश्यति ।
नाशयेव तिष्ठति, उदेति । स्थितिरेव नश्यति उदेति ॥छ॥

5

प्रकृताऽशेषतत्त्वार्थप्रकाशपटुवादिनः ।

विब्रुवाणोऽब्रुवाणो वा विपरीतो निगृह्यते ॥५३॥

§ ५८. नित्य आत्मा कथमन्यथा कृतक इति ? न्यूनतया किलायमपि अस्मात्
प्रत्यवस्थातुमकृतज्ञः स्वयमवयवान् कलयति ।

स्यादजग्रं परापेक्षमुदयं प्रलयं प्रति ।

10

अभावस्यानपेक्षत्वं भावस्य परिनिष्ठिते ॥५४॥

§ ५९. न खलु अकृतकस्य नित्यत्वम् । उत्पादविगमक्रियाभावस्यैव क्षणिकस्या-
नपेक्षत्वम् । सिद्धासिद्धयोः तदयोगः । स्वयमात्मलाभं प्रति अपेक्षितपरपरिस्पन्दं नित्यं
कथमकृतकम् ? सर्वदेशकालादिसम्बन्धसातत्ये तत्कृतोपकारापेक्षम् । व्यतिरेकेऽन-
वस्था, सम्बन्धासिद्धिः । स्वयमात्मलाभस्य कथञ्चिद् व्यपदेशः । नित्यानित्ययोरचलयोः 15
अनुपकारेऽपि सत्स्वभावानतिक्रमाविशेषः । ‘कृतकाकृतकयोः नित्यानित्यस्वभाव-
प्रतिषेधः’ इति दूषणोद्धावने भूयस्तथैकान्तप्रतिषेधे श(स)कलकलाकलापसमाश्लेषजा-
त्यन्तरप्रतिपत्तिनान्तरीयके प्रकृतसाधने परं पराक्रमते । तथाऽनित्यं कृतकत्वादित्य-
त्रापि सर्वं समानम् । अविचालिनं (चलिनां) क्रियानिवृत्तिः, स्वभावान्तरलक्षणत्वात्
सत्तायाः । तथाऽप्रतिपादने साधनदूषणसामर्थ्याऽपरिज्ञानम् । अज्ञाताऽकिञ्चित्क- 20
राभिधानेऽपि जयाभावः प्रकृतसाधनशक्तिवैगुण्येन ।

साध्ये परतिरस्कारो जल्पः तच्छक्तितो जयः ।

तत्र मिथ्योत्तरं या (जा) तिः यथाऽनेकात्मविद्विषाम् ॥५५॥

§ ६०. सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वात् इत्यत्र (त्रा) रेकाः प्रत्येकमाहोस्वित् समु-
दितम् ? सिद्धसाधनम् सर्वस्य अनेकात्मकताविज्ञानम् । एकात्मकत्वप्रतिषेध (धे) 25
विरोधः । क्वचिदेकताऽभावे अनेकत्वाऽसिद्धिः । अथ एकैकशः एकात्मकत्वम् अन्यथा
नानात्वम् ; अधिकरणं प्रतिज्ञान्तरं पुनरकिञ्चित्करम् । अथ एकत्वविधेः सामानाधिकर-
ण्यम् ; उभयदोषप्रसङ्गः साध्यसाधनसम्बन्धासिद्धिः । अथ तादात्म्यम् ; सङ्करः, परस्प-
रानुप्रवेशः । विशेषे नैकाधिकरणत्वम् । संश्लेषे पुनरनवस्था । अतो निरू (रु) पाख्यतया

- खपुष्पवत् प्रत्येकमनेकात्मनि संशयः कचिद् ऊर्ध्वतादिवत् । तादात्म्यनिर्णये परस्पर-
 रिहारे (र) स्थितिः एकानेकस्वभावयोः निमित्तभेदात् । निष्प्रत्यनीकत्वे वैयधिकरण्यात् ।
 उभयदोषे सदुभयोपयोगेन भेदसंहारे साङ्ख्येण व्यवस्था सा भूत् । तदनयोरेकस्यापि
 कस्यचिद्रूपस्य अभावात् स्वरूपस्यातद्भाविनः स्वनियतस्याऽभावात् सर्वव्यवहार-
 5 सङ्करः । तदतिशये व्यतिरेकादुभयाभावः । एकमनेकात्मकं स्ववचनविरुद्धम् ;
 शबलाकारज्ञानाभावात् । प्रत्यक्षविरुद्धम् ; कस्यचिदेकस्यानुपलम्भेन । संहारसूत्र-
 नीलादेरपरं न मेचकादिकं प्रमेयम् । तद्वुद्धेरपि तद्रूपत्वे तथाभावः, तदनेकात्म-
 कत्वविरुद्धं द्रव्यान्तरवत् । यदेकं तदेकात्मकमेव नानात्वविरुद्धं तदेकांशवत्,
 तदत्यये धर्मनैरात्म्यम् । तथोपलब्धिः इत्यसिद्धम् । वेद्यवेदकैकाकारज्ञानेऽपि अनैका-
 10 न्तिकत्वम्, यथोपलम्भं भावस्वभावनियमाभावः स्वभवत् । तथोपलम्भस्य तद्भावा-
 नियम इष्टविधातृत् । परिणामविधातः तदन्यथोपलम्भाभावः, साधनान्तरं तदपि
 प्रकरणसमम्, तथाऽन्यथा सम्भवसमारेकतः प्रक्रियाप्रवृत्तेः । नहि दृष्टाद् गरिष्ठमिष्टं
 यतोऽयं तथादर्शी प्रमापणीयः । साध्यसाधनव्यवस्थायां पुनः सन्देहो यथा किंश्चि
 (स्त्रि) दयं स्थाणुः स्यात् इति । निपातस्य पूर्वप्रयोगनियमे विरुद्धञ्च परनियमोपलब्धेः ।
 15 उच्चैर्दर्शने व्यभिचार इत्यनेकवा (धा) जञ्जपूके परस्य तद्विप्रतिपत्तौ अप्रतिपत्तौ
 प्रकृतार्थविधानप्रतिषेधविधुरे गुणदोषविशेषामवस्थातो (?) जयपराजयाऽसम्भवे
 राजकुलवत् जल्पानारम्भेऽपि निग्रहस्थानम् आकस्मिकम्, अतिशयान (अतिशयने)
 कथमस्थानं स्यात् । भूतदोषोद्भावेऽपि तत्त्वं प्रतिपित्सवो निगृह्यते (न्ते) सन्मार्ग-
 स्थायिनो वा प्रस्तुतानुपयोगप्रलापैरिति प्रकृतार्थप्रत्यायने वाग्दोषेऽपि जल्पकं
 20 विजयते, यथाऽनित्यः सत्त्वात् इति ।

असिद्ध [:] सिद्धसेनस्य विरुद्धो देवनन्दिनः ।

द्वेधा समन्तभद्रस्य सत्त्वादिरचलात्मनि ॥५६॥

- § ६१. यावान् कश्चित्स्वभावो मिथ्यैकान्ते स सर्व आश्रयासिद्धः । तदत्यये
 तेषां च तत्राभावः तदात्मकत्वात् । नहि अस्ति सम्भवः यन्निर्गो भावः परस्पर-
 25 विश्लेषविधातात् तत्रासिद्धिः अनेकान्तसिद्धिः । तत्प्रतिविधानं हि तत्, कश्चित्
 कश्चित् प्रसिद्धो धर्मः प्रतिपक्षापेक्षी । तदतत्परिणामलक्षणोऽर्थः स्वभावान्तरविरोधी
 परस्परविवेकस्थितेः अर्थान्तरवत् । तदयम् अन्तरङ्गवहिरङ्गप्रत्यनीकस्वभावप्रतिक्षेप-
 विकलतया विरुद्धम् । व्यभिचारी प्रभवसामान्यसहचरप्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरपि
 तदर्थान्तरभावयोः तथापरिणामव्यवस्थायाम् । साध्यसाधनभेदेऽपि तादात्म्यम् ।
 30 निष्कलस्य तथाप्रतिभासविक्रियाविरोधः । गुणपर्ययवद्द्रव्यम् । व्यतिरेके पृथगुप-
 लम्भसहभावेऽपि समवायिनो नैकयोगक्षेमलक्षणो गुणभावः । तादात्म्ये कथञ्चि-

द्भेदः स्पर्शादेः संख्यादिवत् । प्रत्ययभेदिनोऽप्येकत्वं सामग्रीभेदेन कार्यकारणवत् ।
वर्णसंस्थानादेरकत्वे विप्रतिभासः, क्वचिद् दूरासन्नादिकरणगुणवैगुण्यतारतम्यभेदेन
मुक्तादिविशेषस्य रूपज्ञानस्य प्रतीतिः, अन्यथा देशादिनियमेन चन्द्रादौ तथा संवादः
कथञ्चिदविप्रतिसारः सामग्रीवैकल्येऽपि न स्यात् । वितण्डात्मतिरस्कारः सं (स)
वैतण्डिको मिथ्यादृष्टिः नियमेन परतिरश्चिकीर्षया स्ववचनप्रतिघाती यथा सदस- 5
दात्मा क [श्चित्] ।

स्वभावपरभावाभ्यां वाचोवृत्तिरनेकधा ।

§ ६२. यदि स्वरूपेण अस्ति पररूपेणापि भावरस्य क्वचिदभावविरोधः ।
चेतनेतरविकल्पेऽपि न वस्तुविकल्पः । सत्ताविशेषेण प्रमाणस्य अप्रमेयत्वे स्वरूपं न
स्यात् । प्रमेयस्याऽप्रामाण्येऽपि संवादाविशेषेण वेद्यवेदकयोः परस्परपरिहारेऽपि बहिर- 10
न्तश्च वेद्यता । विशेषेण व्यापारनिर्भासस्य केवलस्य दर्शनात् आत्मनः स्वयम् आत्मा-
न्तरेण सत्त्वम् अनन्यवेद्यनियमात् । निर्व्यापारस्य व्यापारतो वृत्तिः उदयस्थिति-
संहारविरहे एकाकारस्याऽदृष्टौ पुनः अनेकस्य तथा विरोधेन भावलक्षणवैधुर्यम् ।
सर्वे (र्व) विकल्पातीतं तत्त्वमिति स्वामेव कृतिं स्ववाचा विडम्बयति । यदि
पररूपेण असत्; तद्विविक्तस्वरूपस्य कथञ्चिदनुपलब्धौ पररूपाऽविशेषेण स्वरूपेणापि 15
इति; सोऽयमात्मानं विडम्बयतितराम् । संवृत्या स्वपरपक्षसाधनदूषणव्यवस्थां
समारभयन् सुतरां विडम्बयति परमार्थविपर्ययेण । तथाऽपरपर (तथा पर) प्रसिद्धप्रमा-
णेन § २.) “नाप्रत्यक्षं प्रमाणं न परलोकादिकं प्रमेयम् अनुमानमनागमं च” इति
लोकविसंवादशास्त्रागमनिकायादयोऽधिकरणभेदेऽपि केवलम् आत्मोत्कर्षणार्थं लाभ-
लोकपूजाख्यातिहेतवो वाग्वृत्तयोऽनेकधा, वर्णपदवाक्यानुपूर्वीनियमः तत्त्वप्रति- 20
पत्तेरनङ्गम्, अन्यत्र आहोपुरुषिकातः । कल्पनातोऽनवस्था ।

शून्यसंवृतिविज्ञानकथानिष्फ (ष्क) लदर्शनम् ॥५७॥

सञ्चयापोहसन्तानाः श (स) सैते जाद्य (ज्य) हेतवः ।

प्रतिज्ञाऽसाधनं यत्तत्साध्यं तस्यैव निर्णयः ॥५८॥

यदहङ्गमसंज्ञानं त्रिकमज्झी (ह्री) कलक्षणम् ।

प्रत्यक्षं निष्कलं शेषं भ्रान्तं सारूप्यकल्पनम् ॥५९॥

क्षणस्थानमसत्कार्यमभाष्यं पशुलक्षणम् ।

प्रेत्यभावात्ययो मानमनुमानं मृदादिवत् ॥६०॥

शास्त्रं सत्यं तपो दानं देवतानि (ने) त्यलौकिकम् ।

शब्दः स्वयंभुः सर्व [त्र] कार्याकार्येष्वतीन्द्रिये ॥६१॥

न कश्चिच्चेतनो ज्ञाता तदर्थस्येति तामसम् ।

पदादिसत्त्वे साधुत्वन् (न्यू) नाधिक्यक्रमस्थितिः ॥६२॥

प्रकृतार्थाविघातेऽपि प्रायः प्राकृतलक्षणम् ॥छ॥

इति प्रमाणसङ्ग्रहे षष्ठः प्रस्तावः ॥



5

७. सप्तमः प्रस्तावः ।

सिद्धं प्रवचनं सिद्धपरमार्थानुशासनम् ॥६३॥

§ ६३. सर्वमिथ्यैकान्तातीतं शासनम् अनवयवेन प्रमाणम्, साक्षात्कृतसमय-
संवादेन तादृशोऽबाधनं प्रत्यक्षादिवत् । प्रसिद्धसंज्ञानसामग्रीप्रभवतया प्रमाणान्तर-
सम्भवासम्भवेऽपि कारणगुणदोषसाकल्यवैकल्याभ्यां प्रवृत्तेरङ्गम् । सर्वत्र शङ्कानिवृत्तेः
10 स्वतः प्रतिबन्धवैधुर्ये प्रणेतुरनुभवैरनादित्वेऽपि कायविज्ञप्तिवत् । स्वतः प्रामाण्यमती-
न्द्रिये न वै बुद्धेर्विप्रतिपिद्धं वचनवत् । स्वविषये प्रकर्षनियमेन दोषावरणपरिक्षयाभावे
तदर्थेष्वनाश्वासः । प्रकारान्तरासम्भवेन तदर्थज्ञानाभ्यासप्रकर्षप्रभवपरिस्फुटप्रत्यये
प्रियमनुष्ठितम् । क्वचित्तत्त्वपरिच्छेदव्यामोहविच्छेदयोस्तादात्म्येन सर्वहेयोपादेयोपा-
यपरिज्ञाने किमपरिज्ञानं (तं) स्यात् ? तद्विशेष (तद्विशेष) व्यामोहे तदर्थसिद्धे [?]
15 सर्वस्य प्रकरणोपयोगः । साकल्येन वृत्तौ प्रवचनं विप्रकृष्टेऽपि स्पष्टमवितथं प्रतिवि-
शिष्टस्वभावं स्वप्नादिवत् । प्रतिबन्धवैकल्ये स्वप्रभवकायवाग्व्यवहारानुमेया रागादि-
प्रतिपक्षाः ।

पुरुषातिशयोऽज्ञेयो विप्रलम्भी किमिष्यते ? ।

§ ६४. यदि ज्ञानविशेषो दुरवगाहः प्रेक्षावतः कथमागमार्थेषु प्रवृत्तिः ?
20 सर्वविशेषाणां शक्यक्रियत्वात् । सिद्धेऽप्यकृतकस्य प्रामाण्ये तद्विशेषापरिज्ञानम् ।
श्रुतेः प्रायशो विपर्ययैः सर्वथा व्यवस्था न स्यात् । तदयं त्रिपुरदहनादिवद् आत्म-
घातोऽपि सितासनपुरःसरो मिथ्यैकान्तप्रलापी प्राकृतप्रज्ञाविगाहार्थदिग्मूढः स्वय-
मङ्गीकृतातीन्द्रियार्थप्रत्यक्षदेशनातः सत्यतपःप्रभावरहितो मनुष्यधर्मा करणादिच्छलेन
सम्भावितोऽवृत्तिः । प्रसिद्धहिंसानुतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहस्वविषयगुणोत्कर्षमांसं (शं)-
25 समानः यथार्थदर्शनादिगुणो नेति निःशङ्कं नश्चेतः । § ३.) “क्षीणावरणः समधिगतलक्ष-
णोऽपि सन् विचित्राभिसन्धिः अन्यथा देशयेत्” इति विप्रलम्भशङ्की तादृशं प्रकरणा-
नुपयोगविशेषं किमर्थं प्रवृत्तिकामो मृगयतो (ते) ? दृष्टेष्टयुक्त (क्ति) विरुद्धार्थप्रव-
चनसमयान्तराणां प्रणेतारो विप्रकर्षेऽपि विशेषतो निर्णयन्ते शास्त्रकारा इव शास्त्रैः
यथार्थदर्शनादिसाकल्यवैकल्यप्रतिबन्धेन ।

समानपरिणामार्थं सङ्केताच्छब्दवृत्तितः ॥ ६४ ॥

§ ६५. क्वचित् समयानपेक्षणे शास्त्रमपौरुषेयमनर्थवद् । अनादित्वे व्यवहारवद् व्याख्याविप्रतिपत्तौ परमगहने कः साक्षी यतो निःशङ्कं चेतः पुरुषः ? स्वयंकृतसमये तदर्थदर्शी कथञ्छिद् व्यवहारिणः प्रवर्त्तयेत् । नित्येऽपि शब्दार्थसम्बन्धे अनवस्था-प्रसङ्गः । सङ्केतदर्शिनः तत्प्रतिपत्तौ तदन्यतमे चलत्यचलति वा अचलश्चलो वा विप्र- 5 तिपिद्धः । नित्यानामनित्यानां वा सव (सम्ब) न्धोऽनुपकारविशेषणे सिद्धस्य परतन्त्रतायोगो व्यतिरेकाव्यतिरेकयोरनवस्थासङ्करप्रसङ्गः । तत्सङ्केताद्यभिव्यक्तौ अन्यकल्पनासामर्थ्यम्, उभयोरव (च) लात्मतया देशकालावस्थाभेदेन उपलम्भासम्भवः अन्यत्र प्रतिपत्तेः । अन्यत्र सङ्केते अतिप्रसङ्गः । सामान्यसन्निवेशिनि तथा समवायाविशेषेण नियतवृत्तेर्विशेषाविशेषव्यपोहवत् । स्वभावभेदानुपलब्धेर्ज्ञानाभिधानानु- 10 प्रवृत्तेः, अन्यथा सम्भवो द्रव्यगुणसमवायेषु प्रसङ्गः । समानप्रत्ययजनकेषु तदव्यतिरेकेण समविषमतया सम्प्रज्ञायमानेषु जातिधर्मपरिसमाप्ता च त (प्तावत) त्कारणव्यावृत्तावसाधारणत्वम् । अभावविशेषे जातिवत् समानप्रत्ययः, समानो नाम एकज्ञाननीलादिवत् । चक्षुरादिज्ञानेऽपि सर्वत्र सर्वथा सारूप्यव्यभिचाराभावः, ताद्रूप्यनियम-सम्भवः । दर्शनेतरयोः सर्वथा भेदे पश्यतो [S] स्मृतिरस्मृतेरपरामर्श इति विषयज्ञानवत् 15 समनन्तरयोर्मतिश्रुतयोः स्वभावभेदे वेद्यवेदकलक्षणम्, तदेकार्थविषये (य) योरभिन्नात्मना बहिरपि शब्दार्थसङ्केते तदर्थप्रत्यभिज्ञाने वा सत्यार्थता, समानैकात्मप्रतिपत्तौ सत्यानृतार्थताभेदः । समवायसाकल्यवैकल्याभ्यां शाब्देऽपि आभिनिवोधिकवद् भिन्नप्रतिभास एकतानत्वम् । यथार्थदर्शनादिगुणवैगुण्याभ्यां प्रवचनेतरव (वं) शसंद्वत्तौ सर्वविशेषकल्पनायामाप्तागमपदार्थप्रमाणप्रवृत्तिफललिङ्गचारित्रं मा भूत् । स्वांशमात्रा- 20 वलम्बिनो नार्थप्रतिपत्तिः ।

§ ६६. एकत्र बहुभेदासम्भवे मिथ्याविकल्पो न स्यात् । सर्वथा विभ्रमे नीलादिविशेषवद् देशकालादिभेदेऽपि दृष्टसमानार्थ विकल्पयतः तद्विषयताप्रत्यक्षवद् देशादिनियमः, अन्यथा स्वप्नवद् दूरासन्नकार्यकारणभावप्रतिविधावनानैकं समनन्तरसाधारणमात्मानं संविदत् (न्) स्वरूपतत्त्वविभ्रमं वा साधारणं प्रतिलक्ष(तिक्ष)णं त्रिका- 25 लगोचरानन्तपर्यायदर्शी दोषावरणक्षयोपशमवशाद् दर्शनविषयसामान्यविशेषात्मानं समासादयेत् स्थापनादिवत् । प्रतिमादौ यथासमारोपं व्यवस्थापिते तत्समानविकल्पमात्मानं धारयति, समानेऽपि सर्वत्र तथाऽर्थदर्शनादिगुणयोगवियोगः तत्त्वमिथ्याप्रतिपत्तिः । सत्यां प्रतीतौ तदनुमानं श्रेयोऽवाप्तिपरिहरत्तद्गुणदोषविवेको वा सन्निधिवत् तत्स्थाया (तच्छाया) प्रतिपत्तौ तदनुमानं स्वरूपप्रतिभासातिशये तथा- 30 परिणतम्, न चैतद् युगपद्विन्नदेशोपलम्भे स्वपरप्रत्यक्षं विभ्रमकल्पनाविरुद्धम् ।

§ ६७. सन्निकर्षाद् रूपज्ञानं यदि स्पष्टावग्रहः, तदर्थप्रतिघाते दीपराश्मवद्
अनियमप्रकाशप्रसङ्गः । स्फटिकाद्युपहितार्थप्रतिविम्बोघ (प) लम्भवच्छ (च्छु)
तौ तदार्थाधिगमे प्रमाणान्तरेऽपि तदयमर्थमभिनिवृध्य श्रुतविवक्ष्ये द्रव्यपर्यायसामा-
न्यविशेषविषयमधिगच्छति । व्यामोहविच्छेदे सति मतिश्रुतयोरेकत्वेऽपि कथञ्चित्
5 प्रतिभासभेदो अवग्रहादिवत् । तदेतदसद्रूपत्वेऽपि तत्समाधिगमनिमित्तम् । तन्न
तदधिगम एव सत्यपि सारूप्ये स्थापनादिवत् ।

परञ्ज्योतिरनाकारं पर्यायानुक्रमरिच्यति ।

§ ६८. स्थापनाश्रुतिरेव व्यापिनी सर्वत्र समानाकारसम्भवः । सतोऽपि
क्वचिदसद्विशेषो व्यतिरेकासिद्धिः, समयस्मरणाभावे तदार्थाप्रतिपत्तिः । असत्यर्थज्ञा-
10 पने तदभ्यासमात्रेऽपि श्रेयोऽतिशयप्राप्तिः । विचित्राभि [स] न्धयः प्रतिपत्तारः ।
स्वाध्यायतपःप्रभावमूलं सकलमलं तदर्थज्ञानं तत्परिच्छेदसामर्थ्यं प्रतिनियतभेदमेत-
दाकारातिरेकेण व्यभिचारदृष्टौ तदावरणपरिक्षये निरुपाधिकप्रवृत्तिः, यथाप्रतिबन्ध-
क्षयोपशमं वर्णपदवाक्यानुपूर्वीसंहारातिशयः परमाणुक्रमनिमेषलक्षणपर्यायसमासतः
ताल्वादिव्यापाराहितसंस्काराः सदृशापरपरिणामेन शब्दवा (धा) राः शरीरावयव-
15 संस्पर्शिन्यः प्रत्यवभासेरन् ।

§ ६९. श्रोत्रं हि नाप्राप्यकारि चक्षुरिव प्रत्यासन्नाग्रहणप्रसङ्गः । तदभिघाते
विशेषोपलम्भे दिग्विभागप्रतीतिः । अवगृहीतस्याप्रत्यक्षगुणत्वमयुक्तम्, अनाहित-
विशेषगुणोत्पत्तिविनाशाऽसम्भवात् । निरंशानां क्रमवृत्तौ अर्थान्तरव्यक्तिवद् अर्थो-
पयोगः स्यात् । कुतश्चिदक्रमस्य व्यक्तावनभिव्यक्तौ तदन्यवैयर्थ्यम् । ध्वनिविशे-
20 षाहितसंस्कारश्रुतिपरिणामी तदर्थमधिगच्छेत् । गुणपर्ययवद्द्रव्यम् । स्पर्शवतः क्रम-
वृत्तेः द्रव्यत्वं न कस्यचिदपरिणामिनः, पौर्वापरयोर्भागस्य परपरिणामे वर्णान्तर-
परावृत्तौ असकलप्रतिपत्तिः । उभयपरिणामे अनुक्रमग्रहणनियमानुपपत्ति [:] प्रतिवर्ण-
प्रयत्नभेदेन कस्याचित्तिरोभावे परोऽपि तादृशपरिणामः समनन्तरमाविर्भवति कारण-
सामग्रीसन्निधौ । प्रत्यभिज्ञानेऽपि नानात्वम् । युगपद्भिन्नदेशोपलब्धैः (बधेः) सर्व-
25 गतत्वे सर्वत्र सर्वदोषलब्धिः । अपरिणामिनः ताल्वादेरभिव्यक्ता [वा] वरणविच्छेदात्
क (क्क) संस्कारादिवियोगः ? सकृन्नानादेशोपलम्भो व्यापिनः प्रयासेऽपि न स्यात् ।
व्यञ्जकव्यापारे व्यञ्ज्यविशेषानियमः । करणसन्निपातौ (तो) पनीतश्रावणस्वभावः
पूर्वापरकोट्योः दीपादिद्रव्यवद् अनुपादानानुत्पत्तिरपरिणामविघातः । तथाऽनुपाल-
म्भेऽपि नित्यस्वभावान्तरप्रतिबन्धी । तथाहि—द्रव्यमेव भावाव्यभिचारि तदात्मक-
30 त्वाद्युराप (त्वाद् युगपत्) क्रमभावेऽपि तदेकयोगक्षेमलक्षणवन्नामसदृशोपलम्भतः ।

तथा द्वि (तद्वि) शेषाप्रतिपत्तेरात्मा स्वामी तदर्थकृत् ॥६५॥

§ ७०. सर्वस्य निर्दिष्टस्य सर्वथा नोपकारकत्वम् । शरीरादिपरिणामोपयोग-
साधनेन गतिस्थितिकरणविधाते तदनुपकार्ये भोक्तृत्वविरोधः । सम्बन्धासिद्धिः उपकारः
परिणामाव्यतिरेकेणानवस्था । सर्वत्र तद्गुणोपलब्धावधिध्यानातिरेकः तन्नियतवृत्ता-
वतिरेकव्यतिकरसङ्करप्रसङ्गः । तद्गुणान्तरसमवायाविशेषस्वात्मान्तरस्यापि कालाद्य-
विशेषेणेच्छादिसमवायनियमः कुतः संसारः ? चेतनस्यापि नित्यमदृश्यस्य स्वयं विज्ञाने 5
न बुद्धिरचेतना अतीतकार्यकारणतया विकारिणमात्मानं न कथं दर्शयते ? तदुपलम्भा-
निवृत्तेरविशेषेण तद्भूतिसङ्करः । तदात्मानतिशायनं (?) यदि विग्रहमात्रव्यापी न भवेत्
सहव्याप्तिरुपभोगे न स्यात् । परस्यैव संसारे नात्मनः कर्मफलसम्बन्धः । सन्तान-
स्यापि निरू (रु) पाख्यतया न संसारः ।

साधनं न त्व (तत्त्व) विज्ञानं चारित्र्यं समयस्थितिः ।

10

§ ७१. आत्मेतरसम्बन्धवियोगकारणतत्त्वबुद्धेररित कायाधिकरणस्य तदनुष्ठान-
विशेषतो मोक्षः, तन्निसर्गादवि (धि) गमः, तद्विपक्षवृत्तेः संसार आत्मसुखदुःखतर्पणा-
दिप्रवृत्तिनिवृत्त्योरकारणविशेषोपधवत् । अन्यतरवैकल्येन परस्याप्यपरिसमाप्तिः ।
साध्यसाधनयोरनवयवेन विज्ञानस्वभावव्याप्तौ प्रकृतविषयव्यापारविशेषापेक्षया
साधनस्य त्रैविध्यम्, सकलात्मपरिज्ञानेऽपि विरतविग्रहसम्बन्धस्य परत्वम् । 15

सम्बन्धयोगतः स्थानप्रस्थाने तद्विशेषतः ॥६६॥

§ ७२. चेतनस्यार्थान्तरसम्बन्धवैकल्ये न शरीरस्थितिः । संयोगपरिणामतः
कार्यकारणवद् अनादिसम्बन्धविवर्त्ती सुवर्णपापाणादिवद् विशेषोपपत्तेः [:] ज्ञानस्व-
भावस्य मोहादिमूर्त्तानुप्रवेशे मदिरादिवत् । मन्त्रादेस्तादृशोपयोगाविरोधः । धर्मादेर-
ज्ञानस्वभावे तदविशेषः । चेतनस्य हीनस्वाप (स्थान) प्रापणं बन्ध [:] संस्कारवशात् 20
देशान्तरप्राप्तिः देवदत्तादिवत्, परापरकर्मप्रबन्धात् परवंसो (शो) त्पत्तिः वितटपात-
(बीजपादप) वत् । सत्यपि परस्परं दे (स्परं भेदे) योग्यतालक्षणः सम्बन्धः ।
मूर्त्तानां च स्निग्धरूक्षताभावे तादृशो वृत्तेः । नायं प्रज्ञागुणः तत्प्रकर्षापकर्षनिर्हासा-
तिशयजातीयाभ्यासविवर्त्ती क्रोधादिकर्मोपादानयोग्यताम् आत्मनः सूचयेत् । युगप-
द्भाविनोर्वासनानियमः । परिणामान्तरेऽपि तदन्वयेन अविकलतया युगपदुपलम्भ- 25
प्रसङ्गः । तदुद्भवाऽभिभवस्वभावप्रतिषेधे तिरोभावाऽसम्भवः । इतरस्यापि तदात्म-
कत्वात् । चेतनोपतापहेतवः कर्मणो न विशिष्यन्ते । तदयं दोषप्रभवः सति हेतौ न
कदाचिदुपरमते ।

आत्मनो दोषसम्बन्धम् आत्मज्ञः सन्निवर्त्तयेत् ।

§ ७३. निसर्गतोऽनवरतव्यामोहसमुदयवशात् स्वरसतो वृत्तप्रसादवृत्तदोष- 30
प्रसरस्य प्रतीकारो न आत्मात्मीयप्रज्ञाप्रकर्षप्रतिषेधः प्रथमवत् । ज्ञानदर्शनोपयोग-

लक्षणम् अन्तर्ज्योतिर्मयम् अनादिनिधननिर्भासमात्मीयतत्त्वम् अर्थान्तरानपेक्षं चैत-
न्यवत्, मोहादिसम्बन्धान्वयस्व (व्य) तिरेकानुविधायिनः तादृशोऽज्ञानादयः तिमि-
रादिवत् स्वहेतुप्रतिपक्षपाटवे निवर्त्तेरन् । आलोकादयो दोषसंश्लेषविश्लेषहेतवः अण्ड
[ञ्ज] नादिवत्, न्मा (मा) र्गाविगमाद् दूरेऽयोग्यानां परिनिवृत्तिः । साध्यसाधनमिध्या-
5 सङ्कल्पाभिनिवेशो निसर्गतः पापीयान्, यथा आत्मज्ञस्वभावस्य व्यतिरेकिणी बुद्धिः
अपरिणामिनोऽर्थोपलम्भेऽकर्तुः करणतया संविद्विषयं व्यवस्थापयन्ती स्वयमन्वय-
व्यतिरेकौ संसारमोक्षौ अनुया (मा) पयति । सर्वथा विशिष्टा गुणसम्बन्धविवेकतः
पुरुषार्थसिद्धिरिति परस्परविरुद्धम् । तादृशो भावान्तराविशेषः । सत्त्वादिसामान्यगुण-
सम्बन्धेन चेतनानिवृत्तिरन्तःकरणसन्निधावदृष्टकल्पना अनवस्था, सामान्यविशेष-
10 समवायव्यपदेशे चेतनाव्यतिरेकेणात्मा मा भूदुपयोगलक्षणातिरेकतो अचेतनादिवत् ।
परस्परपरिहारस्थित (ति) लक्षणतया चेतनेतरात्मनोः चेतनेतरसमवायिविवेकतः
समधिगमः परं निर्वाणम् ।

§ ७४. स्वांशमात्रविषयेन (ण) निरंशपरमार्थेन सर्वथान्या(न्य)वेद्यविरोधे पर-
दुःखमजानतः करुणैव तावन्न भवेत् । विभ्रमतो भावे विभ्रमो न स्यात् । दुःखविन-
15 श्वरस्य भावोपलम्भेऽपि सिद्धसाधनी [य] परतन्त्रो देवानां प्रियः । सन्तानाभावसाधने
समानः प्रसङ्गः । प्रभवसादृश्यप्रत्यासत्तेः अन्यथाभावः स्वपूर्वापरस्वभावमतद्वेतुफल-
व्यावृत्तं मानसं तत्त्वं तत्परं विच्छिनत्ति स्वयमुपेक्षमाणः कृपात्यु (कृपालु) रिति कष्ट-
मनात्मज्ञतापरिगतं तमः । तदीदृशे संज्ञान्तरविकल्पेऽपि स्वपरसन्तानभावनया
क्वचिदुपकारापकारसङ्कल्पहेतवः स्नेहादयः प्रवर्त्तेरन् । भेददर्शने सङ्कल्पाभावकल्पनायां
20 संज्ञान्तरसमावेशे ममः समाधिः । आत्मवतां विशेषतः तत्स्वभावगुणदोषविवेकतो हिता-
हितप्राप्तिपरिवर्जनं यथा विपरीतचेतसां सकलदोषसन्ततयः कारणपरतन्त्रेऽपि कार्य-
जन्मनि तत्करणनियमवैधुर्यं (यै) सङ्कीर्येरन् । निरभिप्रायवृत्तौ अनिवारणे वंशवत् आदौ-
त्रिलक्षणस्यान्तेऽप्यनन्ता जीवराशयः प्रदीपादेः अन्ते क्षयं (य) दर्शनेनार्थाभावसिद्धिः ।
एकत्र दृश्यादृश्यस्वभावप्रसिद्धे निर्णयेऽनिर्णयवत्, भावस्वभावोऽयं यत् कथञ्चिद्
25 भवित्येव (भवत्येव) मध्यवत् सदैवान्यथा न भवेत्पर्यवसाने परिणामिनः कारणपर-
म्पराभावप्रसङ्गः । स्वतौ (तो) विवर्त्तशक्तिविरहिणो बहिरङ्गे सुतरामसामर्थ्यम् । उपका-
र्योप [का] रकसन्निधानात् सन्निधानसाम्ये परस्परविवर्त्तग्रन्थीनां देशकालाद्यपेक्षिणां
प्रभवनियमः । तन्निरपेक्षाणां संयोगविरोधः । प्रत्यासत्ति (त्ति) विप्रकर्षविकल्पप्रत्य-
स्तमयेन व्यवधानेऽपि प्रसङ्गोऽनवस्था च । तदयम् अर्थप्रवृत्तिनिमित्तप्रदेशादिसहचारी
30 विनश्वरविकल्पविषयः निवर्त्ताते (निवर्त्तते) न प्रवर्त्तते इति दुस्तरं दौस्थ्यमापद्यते ।
तादृशः पुरुषपरिणामस्वभावेषु तदभावप्रसङ्गात्तदधिकारे जन्ममरणादिर्मा भूत् । विभ्रमे
तद्विकल्पविभ्रमेण विभ्रमोऽपि न सिद्ध्येत् । परिणामे यथा कार्यकारणनानैकत्वं युक्तम्

उपलम्भव्यवस्थायाः सामग्रीभेदेऽपि एकत्र प्रत्यवमर्शे बालादिवद्, भावान्तरस्मरणाच्च । निरंशस्याऽनेकत्र वृत्तिविरोधः । आत्मवृत्तेरर्थान्तरसम्बन्धाभावे साकल्यवैकल्यतः यामः स्वयमर्शे स्ववृत्तिरनवस्था च । वा (क) स्यचित् सकलपरिणामिनः कर्मावरणचित्रात्मनोऽधिष्ठानभेदे सकृत् सम्भवप्रसङ्गेन देवदत्तवत् । पुद्गलानाम् असङ्ख्येयं तत्त्वं शब्दादिभेदतः, परिणामादेरेककारणप्रत्यनीकनियमे भेदानामविरोधः 5 चैतन्येषु प्रसङ्गः, तदत्यये निरू (रु) पाख्यत्वं संविदान्न (दां त) दीक्षणव्याप्तेः ।

§ ७५. सुखादिसंविद्विषयस्य तत्परिणामविज्ञानात्मनः परत्रावृत्तावचेतनज्ञानसङ्गम आत्मकार्यपरिसमाप्तिः । अज्ञानस्य वा सुखादित्वे शब्दादिव्यतिरेकिणोऽभावः । क्वचिद् भावनाविशेषे विशेषदृष्टौ तदेतव (तद) निमित्तमिति नियोगासिद्धौ चैतन्यपरितापवत् परापरभाविनियमभेदाभेदयोः कुतः प्रकृतिविकारव्यवस्था ? स्वयमवि- 10 कारिणो विकारकल्पनायाम् आत्मनोऽपि गुणान्तरस्य तथापरिणामे निमित्तमात्राविशेषेण समवायनियमो मा भूत् ; समाचार्या (समवाया) विशेषतो द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषनियमो वा । न खल्वारम्भकावयवान्योन्यावाप्तिर्जनद (?) तिरेकेण प्रभवप्रध्वंसो यतः पदार्थभेदः । सम्बन्धविशेषस्पर्शादिमतामनियतस्निग्धरूपाणां भावात्, येन सूक्ष्मकठिनादिविशेषाः स्थूलद्रव्यादिकमारभन्ते, तत्समस्थाने न तथा भवेयुरलर (लम्) 15 र्थान्तरकल्पनया । तूलोपलादिस्पर्शवैश्वरूप्ये क्वचिद् विशेषः, जातिभेदे कथमानन्त्यं न स्यात्, भूतानामत्यन्तसम्बन्धगन्धादिरसङ्करे चित्रः समाधिः ।

§ ७६. पार्थिवादिविशेषेषु पुद्गलः स्पर्शादिमान् खलस्नेहो घृ (धा) रणादिभिर्गुणपर्यायैः स्पर्शादिस्वभावान्वयैः अयं सुखदुःखादिविज्ञानोपयोगवद्वावृत्त्यनुगमात्मकः । तथाहि—नायं स्पर्शः संस्थानादिमान् नापि तत्स्वभावः स्पर्शादिमान् तद्व्यति- 20 रिको निरुपाख्यः । परस्परविवेके स्वभावप्रतिबन्धो मा भूत् । तदुद्भूतवृत्तौ दृश्येतरस्वभाव अनुभूतविरोधे स्वभावस्य स्वभावपरिहारे अत्यन्तनिवृत्तिप्रसङ्गः । परापरपर्यायावाप्तिपरिहारस्थितिलक्षणोऽर्थः स्पर्शादिविशेषक्रमवर्त्तिं तद्विद्रमा (ताद्विगमा) सम्भवे अस्त्यन्तरम् उत्पादविगमध्रौव्यवत् प्रगलेतरयोः सम्भवस्थानपरिणामविरोधेऽपि । न वै दु (दृ) ष्टाद् गरिष्ठमिष्टम् । तद्विशेषोपपत्तौ— 25

अन्त [:] ज्योतिः स्वतः सिद्धमनुमानानुरोधतः ॥६७॥

§ ७७. स्वतः सिद्धं चै [त] न्यं भूतेभ्यः परम् । विरुद्धकर्मविशेषकल्पनायां सम्भवानुपपत्तितः तत्त्वव्यवस्थितेरन्यथाऽपरिसंख्यानम् । परस्परपरिणामस्थितौ समुदायं (ये) तत्स्वभावाभावो व्योमादिवत् । शरीरादेः पुंगल (पुद्गल) स्वभावानतिरेकः । तथा च स्कन्धवदनिवृत्तिः प्राणादीनां सामग्रीसाकल्येन वृत्तेरसक्ति (?) क्षयोपलक्षणादौ 30 प्रमाणान्तरं विरुद्धम्, तन्मात्रानुबन्धिनि तदयोगः । परिणामादेः तुल्यः पर्यनुयोगः ।

तथा संसाररिथतेरेवानुमानात्मभूताविशेषेऽपि प्रज्ञादिगुणनियमवत् वरमागमात् प्रवृत्तौ
प्रत्यक्षाद्यविरुद्धात् प्रवृत्तिरिति ।

सम्यग्ज्ञानाङ्कुशः सत्यः पुरुषार्थाभिधायकः ।

अहेतुरन्यहे (?) क्यार्थपरिनिष्ठितचेतसाम् ॥६८॥

5 अदृष्टदोषशङ्कायामन्यत्रापि प्रसह्यते ।

अहं समाश्रयो बन्धः संवरो निर्जरा क्षयः ॥६९॥

कर्मणामिति संव्या (सत्कृत्य) प्रेक्षाकारी समीहते ।

कृपा स्वपरसन्तानस्थानसंहारकारणम् ॥ ७० ॥

अचेतः करुणात्यन्तमन्यदुःखमजानतः ।

10 कूटस्थस्य सतः साक्षाददृश्यानुभवात्मनः ॥७१॥

सुखादि विषयः शब्दाद्यविशेषोवि (षधि) योन्यतः ।

गुणयोगवियोगाभ्यां संसारपरिनिर्वृती ॥७२॥

सम्प्लवः सर्वभावानां शास्त्रं दृष्टेष्टवाधितम् ।

॥ [इति] प्रमाणसङ्ग्रहे सप्तमः प्रस्तावः ॥



15 द. अष्टमः प्रस्तावः ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविधानप्रतिषेधतः ॥७३॥

सहक्रमविवक्षायां सप्तभङ्गी तदात्मनि ।

§ ७८. सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि स्वपरभावानुगमव्यावृत्तिवत् परापरस्व-
भावानुगमपरावृत्तिप्रसङ्गेन तत्त्वमवकिरन् कथमविचार्यः ? तदाऽनानैकत्वं कारकज्ञा-
20 पकव्यवस्था [प] कत्वम् । विभ्रमे विभ्रमः । स्वाभिलाष्यानभिलाष्यत्वम् अभिलाष्या-
नभिलाष्यबहुवच्चात् । प्रतिभासभेदेऽपि मतिश्रुतयोः अन्वयव्यतिरेकार्थविषयत्वं
शब्दार्थग्रहणं प्रत्यभिज्ञानादेरात्मनो विशेषे प्रत्यक्षवत्तदभावः, अन्यथा सन्तानान्त-
रवत्तस्य इतरथा भावः । तदेकार्थाविषयत्वं धर्मभेदेऽपि तदविशेषात् । स्वभावाभेदे
जात्यन्तरं स्यात् । तत्र अर्थभेदाऽभेदौ सदसन्तौ व्यतिरेकेण निरामयत्वात् । वृत्ति-
25 विकल्पविरोधे सम्बन्धोपकाराद्यनवस्थादोषैः स एव सर्वथाऽखण्डिताकारस्य प्रत्यक्ष-
वत् शब्दबुद्धावप्रतिभासने तदभेदाभावमवधारयन् वा तत्प्रत्यक्षप्रतिभासभेदनिदर्श-
नेन तद्विषयावि (धि) गमविकलविकल्पेन तत्प्रतिपत्तिविप्रतिषेधेन ध्रुवत्वापरिणामिनि

विविधधर्माध्यासविकल्पविषयताऽविरोधेन प्रमाणानुसारेण लोकोऽयं स्वयमेव विलो-
पयन्तं व्यवस्थापयेत् ।

§ ७६. स्वतः सतां सामान्यविशेषाणाम् असताश्च द्रव्यगुणकर्मणां स्वभावभेदं
प्रकल्पा (लप्य) प्रयोजनसामर्थ्यसम्बन्धिनियमव्यतिरेकेण परिणामिनः कथाश्चात् सद-
सदसन (दन) भिलापतद्योगविकल्पविधानतः प्रकृतिं क्रमयेत् । स्वभावान्तरग्रहत्यागतः 5
क्रमयौगपद्यविवक्षायामभिलाषाऽनभिलाषौ, तदुपाधिभेदेन जात्यन्तरस्य तथा प्रति-
पादने सम्बन्धो ग्रहणनियमासम्भवः । सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रार्थन [य] संश्रयात् सामान्येन
तच्चप्रत्यवस्थितोऽभेदौकान्नप (भेदैकान्तप) रिग्रहः सर्वविशेषाणां सत्ताविशेषात्, सदेव
प्रत्यक्षं सर्वतो व्यावृत्तस्य बुद्धावप्रतिभासने कालादिविशेषस्य विकल्पविषयत्वम् । नहि
कालादयः प्रत्यक्षाः, तेषामविशेषे परापरभावासिद्धेः, उपाध्यन्तरकल्पनायाम् अनवस्था- 10
ऽप्रतीतिरित्यतिरेके नीलादयो न स्युः । एकत्रानेकधर्मानुपपत्तेः । समुदायस्य परस्परप-
रिग्रहाव्यवधानानुपपत्तिर्नार्थान्तरवृत्तेः, निर्व्यापारे चेतनादिविकल्पे संहताविकल्पा-
वस्थायां सन्मात्रानिवृत्तेरिति कारकज्ञापकव्यवस्थाविलोपे क्षणिक वक्षिं (?) वादः स्यात् ।
सदसत्प्राप्तित्यागेतरविकल्पविशेषेण तदतत्प्रवृत्तिसङ्करः । विभ्रमेतरविवेकस्य प्रमाणेतर-
भेदनिष्ठाता (मृता) दृशः सकलतत्त्वप्रतिष्ठापने स्वपरभेदव्यवहारपरिग्रहः । स्वलक्षणम् 15
आत्मानं यदि परैर्मिश्रयति सर्वथां परत्वम् । अनेकधर्मसम्बन्धेऽप्येकत्वहानिरनानैकत्वं
अतो [ऽ] न्वयो भावलक्षणं परिकल्पितपरार्थान्वयवत् । क्वचित् सामर्थ्यासिद्धिभेदेषु
नैरन्तर्यादिव्यतिरेके [ऽ] निष्ठा कार्यस्य सूक्ष्मस्यादर्शने न कार्यदर्शनं स्थूलादिप्रतिपत्तिः ।

§ ८०. इमे नैरन्तर्येऽपि व्यावृत्तिस्वभावा भावाः शक्तिप्रतिभासादिभेदे, ते शुद्धा-
शुद्धद्रव्यपर्यायपरिग्रहविभागतोऽर्थनयाः । सर्वे सर्वेषामर्थरूपत्वे समयात् परतः स्मृतिः । 20
न वै शब्दमर्थं प्रतिपादयति । सत्यप्रतिपत्तेः स्वभावोपलम्भेऽपि समयस्मरणभावे
भावात् तदनुस्मरणेऽपि लिङ्गवत् प्रतिबन्धासिद्धिः । स्मरणहेतुरर्थोऽपि लिप्यादिवत्
वस्तुदर्शने नाम संस्काराभिव्यक्तेः समाने विज्ञातेतरस्वभावे निमित्तनैमित्तिकभावेऽप्य-
विचारे वा न कश्चिद्विशेषः । सङ्केतस्मरणकरणनियमाभावे अर्थोऽर्थम् अविनाभा-
विनं गमयेत् । सदसद्विषयविवेकिनो अर्थक्रियां प्रति स्मरणेऽप्यविशेषः । प्रयत्नतो- 25
विशेषेषु समयावृत्तिरसमितविशेषाधिगमे अतिप्रसङ्ग इत्यवाच्यता शब्दपर्यायतः तत्तत्त्वं
सदृशापरदर्शने हि शब्दपर्यायोऽर्थः, स्वभावानन्वयात् श्रवणग्रहणयोग्यताव्यावृत्तिः,
यदि नार्थपर्यायः तत्स्वभावनिवृत्तिः उपलम्भविषयस्य पूर्वापरकोट्योरसम्भवः, तत्तद्-
व्यान्तरकारकधर्मो यं यं नियमेन ताल्वादयः तादृशं सन्निधापयेयुः प्रदीपादिवत् । सर्वत्र
सर्वस्य सर्वदा व्यक्तिः सन्निधानो (ना) विशेषेण प्रतिनियतवृत्तीनां प्रकाशनियमा- 30
भावः । सर्वत्रोपादानसम्भवेऽपि कारणानां प्रत्यर्थव्यापारभेदः । तदयमर्थः अनादिर्न

शब्दपर्यायः शावलेयादिवत् प्रकृतिभेदेऽपि देशकालादिभेदानुविधायिनां गवादिवि-
कल्पोपजननं समानवर्णभागानां परपरिहारस्थितिः । पदविभागवद् अनवस्थितानाम्
एकवस्तुभावसम्बन्धविवेकेऽपि वर्णपदवाक्यानुपूर्वीनियमवत् सतो न समुदायसमुदाय-
(यि) नियोगः । तथाहि—गोशब्दार्थयोरश्वादिव्यावृत्तेः गोबुद्धिजनकत्वं तुल्यम् वाक्या-
5 न्तरवत्, वाच्यवाचकव्यावृत्तावपि शावलेयादिभेदान्वये तदर्थाभिधानप्रत्ययानाम् अत-
द्वावृत्तितुल्यरूपं गवादिवत् । कचिदेकत्र ऐक्यव्यवहारासम्भवः परत्र कल्पनावृत्तेः ।

नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः तथा सङ्केतसम्भवः ॥७४॥

§ ८१. स्वतो योग्यताविधेरयोगः, प्रयत्नतोऽपि चन्द्रदेशकालगतिनियमवत्
सम्मोहविच्छेदः, प्रकरणादिवशात् नानार्थवाक्यानामेकार्थनियमः, सिद्धे तदर्थसम्बन्धे
10 समयव्यपदेशः, तदवचनोऽपि यथाभिप्रायगंत (गत) जल्पव्यवसायशृङ्गग्राहिकया तर्हि
सम्मोहनिवृत्तिः सम्बन्धाभिज्ञा [न] स्याभ्यासातिशयविवर्त्ते साधारणासाधरणविष [य]
योः सम्भवत्सङ्केतेतरयोः समये फलाभावः । स्वयमकृतसङ्केतार्थप्रतीतिः तत्कालभा-
विनोरन्वयः, तदयं स्व (स्वा) भाविको ज्ञानज्ञेयसम्बन्धवत् सामग्रीविशेषोपपत्तेः ।

सम्बन्धान्तरतो नास्ति साध्यसाधनसंस्थितिः ।

15 § ८२. सत्यपि शब्दार्थयोः कार्यकारणभावे अयोग्यतायां न तत्प्रतिपत्तिरर्था-
न्तरवत्, विप्रकृतार्थविवक्षाविशेषसम्बन्धासिद्धेः, अर्थज्ञानविवक्षाप्रयत्नवायूदीरणाकरण-
व्यापाराविशेषे व्योमादिविशेषसम्बन्धवत् । तदेते प्रत्यर्थनियताः प्रतिनियतवृत्तयः स्वयं
यत्र योग्याः तसर्थमवगमयेयुः, नर्ते सम्प्रदायात् ग्रहादिगतिनियमो रसवीर्यविपाका-
दिर्वा संवादयितुमशक्यो यतः तत्प्रतिबद्धजन्मनि विवक्षामेव प्रतिपादयेयुरिति ।

20 शब्दाः शब्दान्तरं सङ्ख्याकालकारकलिङ्गतः ॥७५॥

§ ८३. पदवाक्यान्तरेषु वर्णपदसारूप्येऽपि भेदः तदर्थवत् । नहि सङ्ख्यासङ्ख्ये-
ययोरभेदो विप्रतिभासात् । कचिद् गुणगुणिनोरन्यतरदर्शनेऽपि तददृष्टेः द्विचन्द्रादिव-
देकत्वाऽनेकत्वयोः परस्परपरिहारेण गुणिनो विशेषणात् । कालस्य कचिदभेदकत्वे पूर्वा-
परस्वभावप्राप्तिपरिहारेणान्वयिनाऽपि निरुपाख्यत्वम्, कारकभेदभेदिनोऽभिधाना-
25 योगः । सकृदपि कार्यविशेषोपलक्षितार्थशक्तिभेदानां शक्तिमतोऽर्थान्तरत्वे अन्यतरवि-
लोपः । कारकभेदानुविधायित्वे कार्याणां वैश्वरूप्यमकारणं स्यात्, अन्यथा स्त्रीपुरुषा-
दिभेदिनोपयोगः (?) । कचिद् विशेषनिर्णयाभावे ब्राह्मणत्वादिवत् तदभिधा [ना] त्
तदभिधानयोग्यतालक्षणं सम्प्रदायाविच्छेदे समक्रियाविशेषेण शब्दप्राधान्यतो नया
वस्तुनो [ऽ] साधारणस्य विजातीयव्यवच्छेदनिबन्धनाः पर्याया न सङ्कीर्यन्ते । अभावा-
30 न्तराख्यातो भावान्तरासिद्धौ कृतकानित्यादिवत् व्यापारव्यतिरेकिणोऽभावाऽविशेषेण
तावता सर्वार्थपरिसमाप्तौ कारककल्पनाऽभिलापिनी निष्कलेषु भावेषु वेद्यवेदकनिर्भा-

सेन व्यापारयति द्रव्यपर्यायनयद्वयप्रविभागे प्रमाणप्रमेयभेदेषु परस्परं प्रतिक्षेपैकान्तपरिग्रहः । स्वहेतोरेव निर्वृत्तस्य कार्यतोऽनुपकारे कारणस्य पारतन्त्र्यानुपपत्तिः, अर्थ एव ज्ञानं गमयेत् सन्निधाने तथानिर्भासनात् । संवादनिरपेक्षस्य प्रामाण्यासिद्धेः ।

प्रत्यक्षं सर्वविज्ञानं स्वरूपस्य स्वतो गतेः ।

§ ८४. अर्थाधिगमस्य तादात्मा (तस्य) मनात्मविदोऽन्यत्र प्रामाण्याविशेष- 5
पात् । परस्यार्थविदः तुल्यः प्रसङ्गोऽनवस्था च । स्वविषयनिर्भासाविवेकेन कचिद-
स्पष्टं प्रमाणसामग्रीविशेषतः प्रमाणान्तरव्यवस्था मा भूत् । विषयव्यवधानेऽपि सन्नि-
कर्षाऽविशेषः सुखादिवत् । तदतद्रूपज्ञानं तद्विषयतानुपपत्तेः सकलनिष्क [ल] स्ववि-
कल्पितेतरस्वभावनियमः । साक्षात् सा (स्वा) कारमर्पयतः तत्प्रतिपक्षेऽतिप्रसङ्गः ।

परोक्षपरतन्त्राणां स्पष्टाकारविवेकतः ॥७६॥

10

§ ८५ यथास्वं विभ्रमविवेकविकलं तदपरिस्फुटं प्रतिसंवेदनेऽपि भेदानामवग्र-
हादेः परतो निश्चयं कचिदवगृहीते संशयादेरभावः समीहितेऽप्यनधिगमे निर्णयस्य
विगते वाऽवधारणाभावे न स्मृतेः इत्यकिञ्चित्कारेक (का) विपर्यासपराक्रमः ।
परिणामपाटवातिशये संवादशक्तेः सदा विभ्रमेण तथाभावस्यापि कुतश्चिदकस्माद्वाहि-
णामाकाङ्क्षाऽनिवृत्तिः ।

15

प्रक्रमार्थाविशेषेण श्रुतौ भेद [:] परिस्फुटः ।

§ ८६. कचिद् यथाश्रुतमवगृह्णाति, पुनः समीहमानो निर्णीतिं स्मृतिबीजमा-
धत्ते वा स्वभावोपलम्भोपयोगसंस्कारविशेषः, संहतविषयसाद्या हि समुपलक्षितविशेष-
सङ्ख्यानेऽपि शब्दः प्रत्ययः संशयादिवत् । अभिलापानपेक्षो मतिविकल्पः सन्निहितविष-
यावग्रहसमीहावायधारणासमानानुस्मरणसंकलनपरामर्शाभावे तन्नामविकल्पविकलतया 20
वर्णपदवाक्यानुपूर्वीवत् वर्णवियवानुस्मरणविकल्पे तदाख्याकल्पनायामनिष्ठानुपज्ञः ।
समक्षसजातीयसम्बन्धानुस्मरणचिन्ताप्रकर्षेण तद्विशेषाभिनिबोधः तदभिधानमपि
सन्निवेशयेत् । साक्षादनुभवात्मनः स्मृत्यादेरभ्यासविशेषे पाटवोपपत्तेः । दूरदूरतरा-
दिभेदेन स्वतोऽर्थं प्रति संयोगसमवायतदनुदयमनुभवस्वभावनिरणये परापेक्षः कथमर्थं
निष्ठापयेत् । सकलनियमग्रहेऽविकलसामग्रीजन्मनां सर्वथा विषयत्वं प्रतिविम्बोदयवत् 25
तथा परिणतेरन्यथा प्रतिभाससम्भवे बुद्धेरपरत्र न कश्चिद्विरोधः ।

आत्मज्ञानादिभेदानामानन्त्यं नयचक्रतः ॥७७॥

§ ८७. द्रव्यपर्यायभेदे तद्भावे उत्पादविगमध्रौव्यविरहे वर्णव्यतिरेकवद् । उभ-
यकल्पनायामुभयदोषः, अनुभयवद् अन्योन्यविधिप्रतिपेक्षलक्षणानुगमे प्रमाणप्रमेय-
व्यवहारनिवृत्तिः अनवस्था । सर्वथाऽवक्तव्यकल्पनायां सर्वदोषप्रसङ्गः सर्वथा वक्त- 30

व्यवत् । जात्यन्तरकल्पनायां च तद्विधिप्रतिषेधात्मकत्वम्, तदतदुभयानुभयविकल्पेन प्रत्येकमपि चक्रकम्, सर्वनयाभासप्रतिपादख्यातिसंख्येयत्वेऽपि वर्णानुपूर्वीभेदानां तद्विशेषवस्तुविकल्पानन्त्यम् ।

अन्योन्यनिरपेक्षाणामप्रमाणप्रमेयता ।

5 § ८८. सकलकलाकलापमया सत्ता परस्परविधिप्रतिषेधपरमार्था सूक्ष्मस्थूलसंरथानादिभेदमूर्तिवत् प्रमाणप्रमेयैकान्तप्रभेदपरिहारेण परस्परपरिग्रहपरिणामसिद्धिरिति ।

द्रव्यपर्याययोर्भेदमेकान्तेन प्रपञ्चयन् ॥७८॥

नैगमः सप्तधा शास्ति हि भावानां व्यवस्थितिम् ।

सर्वमेकं सतो [५] भेदादिभिर्मिथ्यार्थसङ्ग्रहः ॥७९॥

10 स प्रत्यस्तमिताशेषद्रव्यपर्यायभेदतः ।

आत्मादिभेदमाश्रित्य व्यवहारं प्रतिक्षिपेत् ॥८०॥

पर्यायाद् व्यतिरेकाणामन्वयप्रतिपत्तिः ।

अक्रमं स च भेदानां ऋजुसूत्रो विधारयन् ॥८१॥

कार्यकारणसन्तानसमुदायविकल्पतः ।

15 शब्दो लिङ्गादिभेदेन वस्तुभेदं समुद्दिशन् ॥८२॥

अभिरूढस्तु पर्यायैरित्थम्भूतः क्रिता (या) श्रयः ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषप्रविकल्पतः ॥८३॥

नयद्वयविभागेन नैगमादिरनेकधा ।

मतिश्रुतादौ भेदानां स्वपरप्रतिवेदिनाम् ॥८४॥

20 कल्पना चार्थसम्बन्धेनान्वेति नयलक्षणम् ।

प्रमाणनयनिक्षेपैरात्मादिप्रविभागतः ॥८५॥

सम्प्रेक्षे नितरा [रां] सिद्धं तत्त्वज्ञानमनन्तरम् ।

॥ इति प्रमाणसङ्ग्रहे अष्टमः प्रस्तावः ॥



६. नवमः प्रस्तावः ।

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इव्यते ॥८६॥

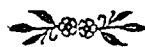
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ।

§ ८६. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्, तदेव प्रमाणं न शब्दादिः
अन्यत्रोपचारात् । प्रमाणमेव हि ज्ञान (नं) मत्यज्ञानादेरनधिगतेः । चैतन्येऽपि तल्ल- 5
क्षणविशेषे बालादिवत् ज्ञानवान् न विसंवादयेत् । ज्ञानं प्रमाणं भवत्येव, व्यपेक्षातः
तद्विधिकरणादिपरापेक्ष (क्षं) परोक्षम् । आत्मनियतं प्रत्यक्षम् । परिणामविशेषाविरोधे
दोषावरणक्षयोपशमोदयवृत्ते [ः] त्रसं (स) स्थावरादिगुणप्रकर्षाप्रकर्षेऽपि स्य (?) स्यादिव-
शाद् आत्मस्वभावाऽव्यतिरेकेण हिताहितप्राप्तिपरिहारोपयोगसामर्थ्यविरहेऽपि गर्भाण्ड-
मूर्च्छितादिव [त्] स्वतो जीवतीति वृत्तेऽपि नार्द्रकाप्यादौ प्राणादिपरिणामविशेषेऽपि 10
चैतन्यविलक्षणतया मूर्त्तिमतः कायादिप्रवृत्तश्रोतसः कर्मणो वा सकलश्रुतभावनानासं-
वरणविगलितनिखिलक्लेशविजृम्भितकेवलज्ञानाधिगमफलस्य प्रागपि तच्चज्ञानात्
प्रत्यक्षादिः उपायः । स्वयमनिक्षिप्तविषयः कथञ्चिद् वितर्कयन्तो निदर्शनाद्य-
भावेऽपि क्षयोपशमविशेषापेक्षया मार्गप्रतिपत्तिनिक्षिप्तेतरवस्तुस्वभावेऽपि तद्विषयवि-
ज्ञानवत् । तदुपायाऽविशेषेऽपि अनुपयोगादिवत् प्रत्यासत्तिविप्रकर्षतारतम्यम् इव्यते । 15
साक्षादुपायानाधिगमेऽपि तत्प्रतिपत्त्युपायतया तत्त्वं स्वविषये सर्वस्य गुणदोषविचारेण
अतिप्रसङ्गनिवृत्तिः । नयः कपिलादेरभ्युपगमः, प्रमेयधर्मतया विरुद्धाव्याभिचारिणं
स्वभावप्रतिबन्धपरिच्छेदेन तदतिरेकव्यवच्छेदः तच्चाधिगमः प्रतिपत्र (त्र) भिप्रायः
तर्हि वस्तुमात्रानिरोधे किं वै सन्दिग्धादिपरिग्रहः साकल्येनेष्यते ? समानो हि तेषामर्था-
श्रयः तत्प्रतिषेधेन युक्तितोऽर्थपरिग्रहः सर्वथैकान्तव्यतिक्रमः श्र (ऋ) मभावनया 20
चिन्तामयबुद्धिः आत्मेतरत्वमनुसरति ।

प्रामाण्यं यदि शास्त्रगम्यमथ न प्रागर्थसंवादनात्,
सङ्ख्यालक्षणगोचरार्थकथनं किं चेतसां कारणम् ।

आ ज्ञातं सकला [गमा] र्थविषया (य) ज्ञानाविरोधं बुधाः,
प्रेक्षन्ते तदुदीरितार्थगहने सम्मोहविच्छिन्नये ॥८७॥ 25

॥ इति प्रमाणसङ्ग्रहं नाम प्रकरणं समाप्तम् ॥८७॥



श्रीमद्भुवाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती ।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥

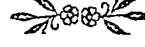
-शुभचन्द्रः

॥ टिप्पणानि ॥

[Notes.]

लघीयस्त्रयस्य

टिप्पणानि



अकलङ्कं जिनं नत्वा तात्पर्यैतिह्यतोलनैः ।

न्यायोऽयमाकलङ्को वै विशदीक्रियते मया ॥

पृ० १. पं० ६. 'सन्तानेषु'—सन्तानशब्दोऽयं बौद्धैः अपरामृष्टभेदेषु कार्य-
कारणभूतेषु पूर्वोत्तरक्षणेषु सम्प्रयुज्यते । स च सन्तानो न पारमार्थिकः कश्चित् मालाङ्गभूत-
मौक्तिकेषु सूत्रवत्, अपि तु "सन्तानः समुदायश्च पङ्क्तिसेनादिवन्मृषा । सन्तानो नाम न 5
कश्चिदेकः परमार्थसन् सम्भवति । किं तर्हि ? कार्यकारणभावप्रवृत्तक्षणापरम्पराप्रवाहरूप एवायं
ततो व्यतिरिक्तस्यानुपलम्भात् । तस्मादेषामेव क्षणानामेकपदेन प्रतिपादनाय सङ्केतः कृतो
बुद्धैः व्यवहारार्थं 'सन्तानः' इति ।" [बोधिचर्याव० पृ० ५० पृ० ३३४ । शिक्षासमु० पृ० ३५९ ।
तत्त्वस० पृ० ५२३] इत्यादिवचनात् व्यवहारार्थं क्रियमाणः सङ्केतरूप एवायम् । अयञ्च तत्त्वा-
न्यत्वादिविकल्पैरवाच्य एव अवस्तुत्वात् "तत्त्वान्यत्वप्रकाराभ्यामवाच्यमथ वर्ण्यते" इति 10
तत्त्वसङ्ग्रहकारवचनात् [पृ० ५१०] ।

पृ० १. पं० ८. 'सत्त्वार्थं व्यवतिष्ठते करुणया'—सम्प्राप्तबोधेरपि बुद्धरय न
सद्यः निर्वाणमपि तु बुद्धत्वसंवर्तककर्मवशात्ते सत्त्वार्थं करुणया तिष्ठन्ति । "तिष्ठन्त्येव परा-
धीना येषां तु महती कृपां ।" [प्रमाणवा० २।१९८] "अकल्पकल्पासङ्ख्येयभावनापरिवर्द्धिता ।
तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा ॥" [अभिसमयालङ्कारालो० पृ० १३४] इत्यादि वचनात् । 15

यथाहि—दर्शनविशुद्ध्यादिभिः भावनाविशेषैः जैनतीर्थकराः पुराकृतसंसारिजीवोद्ध-
रणाध्यवसायसमुपार्जिततीर्थकरनामकर्मोदयं यावत् तिष्ठन्ति, देशनया च सन्तर्पयन्ति भव्य-
जीवान् तथैव—"अनेन पुण्येन तु सर्वदर्शितामवाप्य निर्जित्य च दोषविद्विषः । जरारुजामृत्यु-
महोर्मिसङ्कुलात् समुद्धरेयं भावसागराज्जगत् ॥" [अभिसमयालङ्कारालो० पृ० १३२] "अनेन
चाहं कुशलेन कर्मणा भवेयं बुद्धो न चिरेण लोके । देशेयं धर्मं जगतां हिताय मोचेयं सत्त्वान् 20
बहुदुःखपीडितान् ॥" [अद्वयवज्रसङ्ग्रह पृ० ९] "उत्पादयामि वरबोधिचित्तं निमन्त्रयामि बहु-
सर्वसत्त्वान् । इष्टां चरिष्ये वरबोधिचारिकां बुद्धो भवेयं जगते हिताय ॥" [अद्वयवज्रसङ्ग्रह
पृ० ५] "अतीर्णान् तारयिष्यामि अमुक्तान् मोचयाम्यहम् । अनाथान्नाथयिष्यामि स्थाप-
यिष्यामि निर्वृतौ ॥" [बुद्धवेद पृ० ८२] इत्यादिभिः जगद्बुद्धरणभावनाविशेषैः बुद्धा अपि
तादृशं संस्कारविशेषं समुपार्जयन्ति, येन सम्यक्सम्बोधिपरिणता अपि अनन्तकल्पं करु- 25
णया तिष्ठन्ति देशनया च सन्तारयन्ति भवनिदाघपरिपीडितान् प्राणिनः ।

पृ० १. पं० १२. 'प्रत्यक्षं विशदज्ञानं'—समग्रेयं कारिका 'तदुक्तमकलङ्कदेवैः'
इति कृत्वा प्रमाणपरीक्षायाम् (पृ० ६९) अष्टसहस्रान्त्र (पृ० १३४) समुद्धृता । "प्रत्यक्षं विशदं

ज्ञानं प्रमाणं ज्ञानमित्यपि । अकलङ्कवचोः” [पत्रपरी० पृ० ५] “प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः” [न्यायवि० वि० पृ० ४८A.]

प्रत्यक्षस्य विशदज्ञानात्मकत्वेन लक्षणस्थानुसरणं तु निम्नग्रन्थेषु दृश्यते—प्रमाणसं० पृ० ९७ । सिद्धिवि० टी० पृ० ७१ A. ९६ B. । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८१ । प्रमाणप० पृ० ६७ ।
5 परीक्षामु० २।१ । जैनतर्कभा० पृ० ९३ । प्रमाणनि० पृ० १४ । प्रमाणनय० २।२ । प्रमाणमी० १।१३ । जैनतर्कभा० पृ० २ ।

तुलना—“साक्षात्कारित्वमेव प्रत्यक्षार्थः ।” [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० ४१०, ४३९। मु० पृ० १३०] “मुख्यसंव्यवहारेण संवादि विशदं मतम् । ज्ञानमध्यक्षमन्यद्वि परोक्षमिति सङ्ग्रहः॥” [सन्मति० टी० पृ० ५९५] पङ्क० वृह० पृ० ८५ A.

10 पृ० १. पं० १२. ‘मुख्यसंव्यवहारतः’—आगमिकज्ञानचर्चायाम् इन्द्रियानिन्द्रियजरय प्रत्यक्षस्य मतिज्ञानान्तर्गतत्वान् परोक्षत्वं सुस्पष्टम् । आर्थरक्षिताचार्यैः (अनु० १४४) नन्दीसूत्रकारैश्च (नन्दिमू० ३) इन्द्रियप्रत्यक्ष-नोइन्द्रियप्रत्यक्षरूपेणापि इन्द्रियानिन्द्रियजमतिज्ञानस्य निर्देशः कृतः । अतश्च आगमिकपरम्परायामेव इन्द्रियानिन्द्रियजमतिज्ञानस्य प्रत्यक्ष-परोक्षेतिविरुद्धरूपतया निर्देशात् सम्प्राप्तो विरोधः । स च जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणैः विशेषा-
15 वश्यकभाष्ये (गा० ९५) “इन्द्रियमणोभवं जं तं संव्यवहारपञ्चकम् ।” इति इन्द्रियानिन्द्रियज-मतिज्ञानं संव्यवहारप्रत्यक्षतया स्वीकृत्य परिहृतः ।

नागार्जुनप्रभृतिवौद्धाचार्यैः माध्यमिकमतानुसारिभिः “द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना । लोकसंवृत्तिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥” [माध्यमिकका० पृ० ४०२] इत्या-
दिवचोभिः ज्ञानज्ञेयादिभेदापदेशेन शून्यतायां समायातस्य विरोधस्य परिहारः तदुपदेशानां
20 लोकसंवृत्तिसत्यत्वमुररीकृत्य विधीयते । एवमेव धर्मकीर्तिना “प्रमाण्यं व्यवहारण” [प्रमा-
णवा० २।५] प्रज्ञाकरगुप्तेन च “तत्र पारमार्थिकप्रमाणलक्षणमेतन् पूर्वं तु सांध्यवहारिकस्य” [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० ७६] इति व्यवहार-सांध्यवहारिकादिभिरेव शब्दैः संवेदना-
द्वैते भेदविरोधः समाधीयते । संव्यवहारशब्दोऽयं माध्यमिककारिकायामपि (पृ० ४८९) प्रयुक्तः । वादन्यायटीकाया (पृ० १४) तत्त्वसग्रहपजिकायाञ्च (पृ० ७८४) सुस्पष्टमुद्धृतम् यत्
25 “सांध्यवहारिकस्येदं प्रमाणस्य लक्षणं यदुत प्रमाणमविसंवादिज्ञानमिति ।” इति संव्य-
वहारशब्दस्य जैनवौद्धदर्शनसाधारणत्वं संसूच्यते । जैनागमे व्यवहारनयस्यापि एतदर्थ-
कत्वमेव बोध्यम् ।

मुख्यसंव्यवहारतया प्रत्यक्षस्य द्विधा विभागः निम्नग्रन्थेषु द्रष्टव्यः—प्रमाणप० पृ० ६८ । परीक्षामु० २।५ । प्रमाणनय० २।४ । प्रमाणमी० १।१।१५, २० । प्रमाणनि० पृ० २३ ।
30 न्यायदी० पृ० ९ । जैनतर्कभा० पृ० २ ।

पृ० १. पं० १२. ‘परोक्षं शेष’—तुलना— प्रमाणप० पृ० ६९ । परीक्षामु० ३।१ । सन्मति० टी० पृ० ५९५ । प्रमाणनय० ३।१ । प्रमाणमी० १।२।१ । जैनतर्कभा० पृ० ८ ।

पृ० १. पं० १३. ‘प्रमाणे इति’—“तत्प्रमाणे” [तत्त्वार्थसू० १।१०] इति सूत्रार्थं समन्वेत्ता ग्रन्थकृता लघीयस्त्रयवत् न्यायविनिश्चये (का० ४६९) प्रमाणसङ्ग्रहे च (का० २)
35 इदमेवोक्तमिति ।

पृ० १. पं० १४. ‘सन्निकर्पादे’—तुलना—“ज्ञानं प्रमाणं नाज्ञानमिन्द्रियार्थसन्नि-

कर्षादि” [प्रमाणवा० मनोरथ० पृ० ३] “न वै सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमुपपन्नं तस्या-
र्थान्तरस्यैव स्वार्थव्यवसितौ साधकतमत्वानुपपत्तेः ।” [प्रमाणनय० १४]

पृ० २. पं० ३. ‘तन्नाज्ञानस्य’—तुलना—‘तन्नाज्ञानं प्रमाणमन्यत्रोपचारात् ।’
[प्रमेयक० पृ० ७ B.]

पृ० २. पं० ४. ‘प्रत्यक्षत्वम्’—तुलना—‘तस्मात् इदं स्पष्टं व्यवसायात्मकं 5
स्वार्थसन्निधानान्वयव्यतिरेकानुविधायि प्रतिसंख्यानिरोध्यविसंवादकं प्रत्यक्षं प्रमाणं युक्तम् ।’
[सिद्धिवि० पृ० ९६ A.]

पृ० २. पं० ६. ‘अनुमानाद्यतिरेकेण’—तुलना—‘अनुमानाद्याधिक्येन विशेष-
प्रकाशनं स्पष्टत्वम्” [प्रमाणनय० २।३] जैनतर्कभा० पृ० २ । “प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन
विशेषवत्तया वा प्रतिभासनम् वैशद्यम् ।” [परीक्षामु० २।४] न्यायवि० वि० पृ० ४२ B. 10
‘वैशद्यमिदन्त्वेनावभासनम्” [जैनतर्कवा० वृ० पृ० ९५] प्रमाणमी० १।१।१४ । “एतदेव
स्पष्टत्वं यत् सर्वाकारप्रतिभासः” [प्रमाणवार्त्तिकाल लि० पृ० ३०६]

समुद्धृतेयम्—स्याद्वादरन्ता० पृ० ३१६ । शास्त्रवा० टी० पृ० ३१० B.

पृ० २. पं० ८. ‘तत्र सांव्यवहारिकम्’—तुलना—परीक्षामु० २।६ । प्रमाणनय०
२।५ । जैनतर्कभा० पृ० २।

15

पृ० २. पं० ९. ‘तदस्ति सुनिश्चिता’—तुलना—‘अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चिता-
संभवद्वाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्, शास्त्रप्रामाण्यात् ।” [सिद्धिवि० पृ० ४२१ B.] अष्टश०,
अष्टसह० पृ० ४४ । आप्तप० पृ० ५६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८५ । प्रमाणनि० पृ० २९ । षड्द०
वृह० पृ० ५३ । प्रमाणमी० पृ० १४ ।

पृ० २. पं० १०. ‘यावज्ज्ञेयव्यापि’—तुलना—‘ज्ञानं नो चेन्निरुपममं विशदं 20
सर्वगतं स्वतः । लोकान् वेद कुतः...सर्वज्ञविकलानिति ॥” [सिद्धिवि० पृ० ४२३] “सर्वज्ञा-
भावसंवित्तेरन्यथानुपपत्तितः । पुरुषातिशयः सिद्धः ।” [सिद्धिवि० पृ० ४२८] प्रमाणमी०
पृ० १४ प० १६—१७ ।

पृ० २. पं० ११. ‘सत्त्वपुरुषत्ववक्तृत्वादेः’—कुमारिलेन सर्वज्ञनिराकरणाय
उक्तम् यत्—“प्रत्यक्षाद्यविसवादि प्रमेयत्वादि यस्य च । सद्भाववारणे शक्तं को नु तं कल्पयि- 25
ष्यति ॥” (मी० श्लो० पृ० ८५) तत्त्वसंग्रहपत्रिकायाम् (पृ० ८८१) “अयं च वक्तृत्वाख्यो
हेतुः ‘यस्य ज्ञेयप्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणः’ इत्यत्र आदिशब्देन आक्षिप्त एवेति...‘तदत्रादि-
पदाक्षिप्ते वक्तृत्वे योऽभिमान्यते ।’ इत्युक्त्वात् अनुमीयते यत् मीमांसाश्लोकव्याख्यातारः
‘प्रमेयत्वादि’ इत्यत्र आदिपदेन वक्तृत्वादिकान् हेतून् समुच्चिन्वन्ति । तानेव वक्तृत्वादीन्
हेतून् ग्रन्थकारः प्रतिबन्ध्या सर्वज्ञाभावज्ञानस्य अशक्यत्वसाधने प्रयुनक्ति । 30

तुलना—नयचक्रवृ० पृ० १२३ । “...उत्तयादेर्दोषसंक्षयो नेत्येके व्यतिरेकोऽस्य सन्दिग्धो
व्यभिचार्यतः ॥” [प्रमाणवा० १।१४४] सिद्धिवि० पृ० ४२९ ।

पृ० २. पं० १३. ‘अत्रानुपलम्भ’—तुलना—प्रमाणमी० पृ० १४ ।

पृ० २. पं० १४. ‘साधकवाधकप्रमाणा’—‘साधकवाधकप्रमाणाभावात् सन्देहो
जायते’ इति विचारस्य तुलना—“साधकवाधकप्रमाणाभावमात्रं चात्र सन्देहेन लक्ष्यते ।” 35

[प्रमाणवार्तिकालं० लि० पृ० १२८] “सेयं साधकवाधकप्रमाणानुपपत्तौ सत्यां समानधर्मो-
पलब्धिः विनश्यदवस्था विशेषस्मृत्या सहाविनश्यदवस्थयैकस्मिन् क्षणे सती संशयदानस्य
हेतुरिति सिद्धम् ।” [न्यायवा० ता० टी० पृ० २४७] “न हि साधकवाधकप्रमाणाभावमवश्यं
समानधर्मादिदर्शनादेवासौ ।” [न्यायकुसु० स्त० २, पृ० ८] “यत्पुनरुक्तं धर्मक्रीतिना-साधक-
5 वाधकप्रमाणाभावात्तर्हि सन्देहोऽस्तु इति तत्राह-” [सिद्धिवि० टी० पृ० ४३१ A.] “साधक-
वाधकप्रमाणयोर्निर्णयात् भावाभावयोरविप्रतिपत्तिरनिर्णयादारेका रयान् ।” [अष्टमं
अष्टसह० पृ० ४९] प्रमाणनय० ११२ । प्रमाणमी० पृ० ५ पं० ९ । “साधकवाधकप्रमाणाभावात्
सर्वज्ञे संशयोऽस्तु इत्युक्तम् ।” [अष्टसह० पृ० ४९] प्रमेयरत्नमा० ३१२९ ।

पृ० २. पं० १६. ‘अक्षार्थयोगे’-तुलना-“अक्षार्थयोगजाद्वस्तुमात्रग्रहणलक्ष-
10 णात् । जातं यद्वस्तुभेदस्य ग्रहणं तदवग्रहः ।” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१९] “अक्षार्थयोगे
दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः ।” [प्रमाणमी० १११२७] “अक्षार्थयोगे इत्यादि व्याचक्षाणः
भाष्यकारैरेव” [न्यायवि० वि० पृ० ३२ A.]

अवग्रहादीनां चतुर्णां लक्षणानि निर्युक्ति-भाष्ययोः इत्थं द्रष्टव्यानि-“अत्राणं
उगग्रहणं अवग्रहं तह विथालणं ईहं । ववसायं च अवायं धरणं पुण धारणं वेति ॥” [आव०
15 नि० गा० १७९] “सामण्यत्वावग्रहणमुग्राहो भेयमग्रणमहेहा । तस्सावगमोऽवाओ अविजुई
धारणा तस्स ॥” [विशेषा० गा० १८०]

पृ० २. पं० २१. ‘विषयविषयि’-तुलना-“तत्र अव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैः
विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः ।” [तत्त्वार्थाधि० भा० ११५] “विषयविषयिसन्निपात-
समयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः । विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति, तदनन्तरमर्थस्य
20 ग्रहणमवग्रहः ।” [सर्वार्थसि० ११५] राजवा० ११५। धवलाटी० सत्प्ररू० । प्रमाणप० पृ० ६८ ।
सन्मति० टी० पृ० ५५२ । प्रमाणनय० २१७ । न्यायदी० पृ० १० ।

इदमेव अवग्रहलक्षणं समुद्धृतं न्यायविनिश्चयविवरणे (पृ० ३२ A.)

पृ० २. पं० २१. ‘विषयस्तावत्’-तुलना-“विषयस्य तावत् द्रव्यपर्यायात्मनो-
र्थस्य विषयिणश्च निर्वृत्त्युपकरणलक्षणस्य द्रव्येन्द्रियस्य लब्ध्युपयोगस्वभावस्य च भावेन्द्रियस्य
25 विशिष्टपुद्गलपरिणतिरूपस्य अर्थग्रहणयोग्यतास्वभावस्य च यथाक्रमं सन्निपातः योग्यदेशा-
वस्थानं तदनन्तरोद्भूतं सत्तामात्रदर्शनस्वभावं दर्शनमुत्तरपरिणामं स्वविषयव्यवस्थापनवि-
कल्परूपं प्रतिपद्यमानमवग्रहः ।” [सन्मति० टी० पृ० ५५३] षड्द० बृह० पृ० ८४ A. प्रमा-
णमी० पृ० २१ ।

पृ० २. पं० २२. ‘द्रव्येन्द्रियं’-तुलना-“निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ।”
30 [तत्त्वार्थसू० २१७] प्रमाणमी० १११२२ ।

पृ० २. पं० २२. ‘लब्ध्युपयोगौ’-तुलना-“लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।”
[तत्त्वार्थसू० २१८] प्रमाणमी० १११२३ ।

पृ० २. पं० २३. ‘अर्थग्रहणशक्ति’-तुलना-“लम्भनं लब्धिः । का पुनरसौ ?
ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषः ।” [सर्वार्थसि० २१८] राजवा० २१८ । तत्त्वार्थसा० पृ० १११ ।
35 प्रमाणमी० पृ० १८ । “स्वार्थसंविद्योग्यतैव च लब्धिः ।” [तत्त्वार्थश्लो० २१८] “आवर-
णक्षयोपशमप्राप्तिरूपा अर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः ।” [स्या० रत्ना० पृ० ३४४] जैनतर्कभा० पृ० १ ।

पृ० २. पं० २३. 'उपयोगः पुनः—तुलना—“उपयोगः प्रणिधानम् ।” [तत्त्वार्थाधि० भा० १।१९] “तन्निमित्त आत्मनः परिणाम उपयोगः ।” [सर्वार्थसि० २।१८] राजवा० २।१८ । तत्त्वार्थश्लो० २।१८ । तत्त्वार्थसा० पृ० १११ । प्रमाणमी० पृ० १८ । जैनतर्कभा० पृ० १ । “उपयोगस्तु रूपादिग्रहणव्यापारः ।” [स्या० रत्ना० पृ० ३४४]

पृ० २. पं० २५. 'पुनरवगृहीत'—“अवगृहीतेऽर्थे विपर्ययैकदेशाच्छेषानुगमनं 5 निश्चयविशेषजिज्ञासा चेष्टा ईहा ।” [तत्त्वार्थाधि० भा० १।१५] “अवग्रहगृहीतेऽर्थे तद्विशेषा-काङ्क्षणमीहा ।” [सर्वार्थसि० १।१५] राजवा० १।१५ । धवला टी० सत्प्र० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२० । प्रमाणप० पृ० ६८ । सन्मति० टी० पृ० ५५३ । प्रमाणनय० २।८ । पड्द० बृह० पृ० ८४A. प्रमाणमी० १।१२३ । न्यायदी० पृ० ११ । जैनतर्कभा० पृ० ५ ।

पृ० २. पं० २६. 'तथेहितविशेष'—“अवगृहीते विषये सम्यगसम्यगिति गुणदो- 10 पविचारणाध्यवसायापनोदोपायः ।” [तत्त्वार्थाधि० भा० १।१५] “विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्या-वगमनमवायः ।” [सर्वार्थसि० १।१५] राजवा० १।१५ । धवलाटी० सत्प्र० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२० । प्रमाणप० पृ० ६८ । सन्मति० टी० पृ० ५५३ । प्रमाणनय० २।९ । पड्द० बृह० पृ० ८४A. प्रमाणमी० १।१२८ । न्यायदी० पृ० ११ । जैनतर्कभा० पृ० ५ ।

पृ० २. पं० २६. 'कथञ्चिदभेदेऽपि'—तुलना—सन्मति० टी० पृ० ५५३ । प्रमा- 15 णमी० पृ० २२ । पड्द० बृह० पृ० ८४ A. “कथञ्चिदभेदेऽपि परिणामविशेषादेपां व्यपदेशभेदः ।” [प्रमाणनय० २।१२]

पृ० २. पं० २८. 'धारणा'—“धारणा प्रतिपत्तिर्यथास्वं मत्यवस्थानमवधारणं च धारणा प्रतिपत्तिः अवधारणमवस्थानं निश्चयोऽवगमः अवबोधः इत्यनर्थान्तरम् ।” [तत्त्वार्थाधि० भा० १।१५] “अथैतस्य कालान्तरं विस्मरणकारणं धारणा” [सर्वार्थसि० १।१५] 20 राजवा० १।१५ । धवलाटी० सत्प्र० । प्रमाणप० पृ० ६८ । सन्मति टी० पृ० ५५३ । प्रमाणनय० २।१० । प्रमाणमी० १।१२९ । पड्द० बृह० पृ० ८४ A. न्यायदी० पृ० ११ । जैनतर्कभा० पृ० ५ । “महोदये च कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानम्” अतन्तवीर्योऽपि तथा निर्णयितुं कालान्तरं तथैव स्मरणहेतुः संस्कारो धारणा इति ।” [स्या० रत्ना० पृ० ३४९]

पृ० ३. पं० १. 'ईहाधारणयोरपि'—तुलना—“अज्ञानात्मकतायां तु संस्कारस्येह तस्य वा । ज्ञानोपादानता न स्याद्रूपादेरिव सास्ति च ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२१] विशेषा० 25 गा० १८२ । प्रमाणमी० पृ० २१ प० २५, पृ० २२ पं० ५, पृ० ३० प० २३ ।

पृ० ३. पं० ५. 'ब्रह्माद्यग्रहा'—तुलना—“बहुबहुविधक्षिप्रानिस्तानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम्” [तत्त्वार्थश्लो० १।१६] “अवग्रहादयश्चत्वारो मतिज्ञानविभागा एषां ब्रह्मादीनामर्थानां सेतराणां भवन्त्येकशः ।” [तत्त्वार्थाधि० भा० १।१६] धवलाटी० सत्प्र० । 30

पृ० ३. पं० ६. 'पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं'—तुलना—“पूर्वपूर्वं प्रमाणमुत्तरोत्तरं फलमिति क्रमः ।” [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० ४] “तथा पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलमिति” [न्यायवि० टी० टि० पृ० ४०] “साम्प्रतं पूर्वं पूर्वं प्रमाणं स्यात् फलं स्यादुत्तरोत्तरम् इत्यभिस-मीक्ष्य” [सिद्धिवि० टी० पृ० १८४A.] “केचिदाहुः— पूर्वं ज्ञानं प्रमाणमुत्तरं ज्ञानं प्रमा- 35 णफलमिति ।” [तर्कभा० मो० पृ० ११] सन्मति० टी० पृ० ५५३ प० ६ । पड्द० बृह० पृ० ३५

८४ A. “अवग्रहादीनां क्रमोपजनधर्माणां पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम् ।” [प्रमाणमी० १११३९]

पृ० ३. पं० ७. ‘परमार्थैकसंविक्ते’—अत्रायं पूर्वपक्षः—संवेदनाद्वैतवादिनः खलु निरंशं संविद्वयं मन्यमानाः कल्पिते संवेद्याकारे—सारूप्ये प्रमाणव्यवस्थां संवेदकाकारे—
5 अधिगतिस्वरूपे फलव्यवस्थाञ्जोररीकुर्वन्ति । तथा चोक्तम्—“स्वसंविक्तिः फलं वात्र तद्रूपा-
दर्थनिश्चयः । विषयाकार एवारय प्रमाणं तेन मीयते ॥” [प्रमाणसमु० १११०] “अर्थसारू-
प्यमस्य प्रमाणम् । तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेरिति ॥” [न्यायवि० १११९, २०] “विषयाधिगति-
श्चात्र प्रमाणफलमिष्यते । स्ववित्तिर्वा प्रमाणं सारूप्यं योग्यतापि वा ॥” [तत्त्वस० पृ० ३५८]

पृ० ३. पं० ७. ‘क्षणभङ्गादेरपि’—तत्रोत्तरम्—यतः निरंशसंवेदनं वस्तु तत् एव
10 तन्निष्ठक्षणिकत्वस्यापि स्वरूपवत् प्रत्यक्षविषयतैव स्यात् इति । ततश्च यथा प्रत्यक्षगृहीतक्ष-
णिकत्वग्राहिणः अनुमानस्य प्रामाण्यं स्वीकुर्वन्ति बौद्धाः तथैव प्रत्यक्षगृहीतनीलाद्यर्थग्राहिणः
संवृत्यपरनाम्नो विकल्पस्यापि प्रामाण्यं स्वीकुर्युः । न च तेषां मते विकल्पस्य प्रामाण्यता “गृही-
तग्रहणाच्चेष्टं सांवृतम्—दर्शनोत्तरकालं सांवृतं विकल्पज्ञानं प्रमाणं नेष्टं दर्शनगृहीतस्यैव
ग्रहणात् तेनैव च प्रापयितुं शक्यत्वात् सांवृतमकिञ्चित्करमेव ॥” [प्रमाणवा० मनोरथ० २१५]
15 इत्यभिधानात् ।

पृ० ३. पं० ११. ‘अर्थक्रियार्थी हि’—तुलना—‘अर्थक्रियार्थी हि सर्वः प्रेक्षावान्
प्रमाणमप्रमाणं वाऽन्वेपते ॥” [हेतुवि० लि० प्र० परि०] तत्त्वस० प० पृ० ७७८ ।

पृ० ३. पं० ११. ‘रूपादिक्षणक्षयादि’—अत्रायं भावः—सौगतानामिदमभिमतं
यत् निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण सर्वात्मना वरतुनः स्वलक्षणस्य ग्रहणं भवति । “तस्मात् दृष्टस्य
20 भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः ॥” [प्रमाणवा० ११४६] इति वचनात् । तत्र यद्यपि नीलं वस्तु
सर्वात्मना प्रत्यक्षेण गृहीतं तथापि यस्मिन्नंशे विकल्पोत्पादकता निर्विकल्पकस्य तस्मिन्नेव
अंशे प्रामाण्यम् अथ च प्रवृत्तिजनकत्वम् । तथा चोक्तम्—“प्रत्यक्षेण गृहीतेऽपि विशेषेण-
विवर्जिते । यद्विशेषावसायोऽस्ति प्रत्ययः सः प्रतीयते ॥” [प्रमाणवा० ११५९] “अविक-
ल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमत् । निःशेषव्यवहाराङ्गं तद्द्वारेण भवत्यतः ॥ १३०६ ॥
25 प्रत्यक्षमुत्पन्नमपि यत्रांशोऽवसायं जनयति स एवांशो व्यवहारयोग्यो गृहीत इत्याभिधीयते ।
यत्र तु भ्रान्तिनिमित्तवशात् समारोपप्रवृत्तेर्न व्यवसायं जनयितुमीशं स व्यवहारयोग्यत्वाद्
गृहीतोऽप्यगृहीतप्रख्य इति तत्र अनुमानस्य प्रवृत्तसमारोपव्यवच्छेदाय प्रवर्तमानस्य प्रामाण्यं
भवति, न पुनः प्रत्यक्षानन्तरभाविविकल्पस्य तस्य प्रवृत्तसमारोपव्यवच्छेदाभावात् ॥”
[तत्त्वस० पं० पृ० ३९०] अतः नीलनिर्विकल्पकं नीलांशे व्यवसायं जनयत् तस्मिन्नेवांशे
30 प्रमाणम्, न पुनः क्षणक्षयाद्यंशे तत्र व्यवसायजनकत्वाभावात् इति पूर्वपक्षतात्पर्यम् ।

उत्तरपक्षस्यायं भावः—यदा हि नीलनिर्विकल्पके नीलांशस्य क्षणक्षयाद्यंशस्य च
स्फुटः प्रतिभासः संजातः तदा किं कारणं यत् निर्विकल्पके खण्डशः—नीलांशे प्रामाण्यं न
क्षणक्षयांशे । यदि नीलविकल्पवशात् नीलांशे प्रामाण्यं तदा तदेव विकल्पज्ञानं मुख्यरूपतया
फलं स्वीकर्तव्यम् । यदि च निर्विकल्पकात् विकल्पः संजायते तदा कुतो न अखण्डशः—नीलां-
35 शवत् क्षणक्षयाद्यंशेऽपि विकल्पोत्पत्तिः इति ?

पृ० ३. पं० १७. ‘तथैकत्वम्’—तुलना—“क्रमोपलब्धिनियमात् स्यादभेदः स्वसं-
विदाम् । सुखदुःखादिभेदेऽपि सहवीक्ष्यानियामवत् ॥” [सिद्धिवि० पृ० ३५९]

पृ० ३. पं० १८. 'प्रमाणफलयोः'—“इत्युक्तं लघीयस्त्रये प्रमाणफलयोः क्रम-
भावेऽपि तादात्म्यं प्रत्येयम् ।” [सिद्धिवि० टी० पृ० ९९ B.]

इति प्रमाणप्रवेशे प्रथमः परिच्छेदः ॥



पृ० ३. पं० २३. 'तद्द्रव्यपर्याया'—तुलना—“तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपम्”
[युक्त्यनुशा० श्लो० ४७] “अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम्” [न्यायाव० श्लो० २९] 5
परीक्षामु० ४१ । प्रमाणनय० ५१ । प्रमाणमी० ११३० । “द्रव्यपर्यायात्मार्थः इत्यकलङ्कदेवैर-
भिधानात्” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२४]

पृ० ३. पं० २४. 'स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा'—“तत्र यदर्थक्रियासमर्थं
तदेव वस्तु स्वलक्षणमिति । सामान्यलक्षणं च ततो विपरीतम् ।” [प्रमाणसमु० टी० पृ० ६]
“यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदः तत्स्वलक्षणम् । तदेव परमार्थसत्” 10
[न्यायवि० ११३, १४] “स्वमसाधारणं लक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणम् ।” [न्यायवि० टी० पृ० २२]
“अर्थक्रियासमर्थं यत्तदत्र परमार्थसत् । अन्यत्संवृत्तिसत् प्रोक्तं ते स्वसामान्यलक्षणे ॥”
[प्रमाणवा० ३३] “अन्यत् सामान्यलक्षणम् । सोऽनुमानस्य विषयः ।” [न्यायवि० ११६,
१७] “...सामान्येन लक्षणं सामान्यलक्षणम्, साधारणं रूपमित्यर्थः ।” [न्यायवि० टी०
पृ० २४] “यदाह—न हि स्वसामान्यलक्षणाभ्यामपरं प्रमेयमस्ति, स्वलक्षणविषयं प्रत्यक्षं 15
सामान्यविषयमनुमानमिति । यदा साक्षाज्ज्ञानजननं प्रति शक्तत्वेन प्रतीयते तदाऽसौ स्वेन
रूपेण लक्ष्यमाणत्वात् स्वलक्षणम् । यदा तु पारम्पर्येण शक्तता तस्यैव प्रतीयते तदा सामा-
न्यरूपेण लक्षणमिति सामान्यलक्षणम् ।” [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० २७३]

तुलना—“न हि वहिरन्तर्वा स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा तथैवोपलभामहे यथैकान्त-
वादिभिराम्नायते ।” [अष्टश०, अष्टसह० पृ० १७५]

20

पृ० ४. पं० ३. 'अर्थक्रिया'—सौगतैः नित्यपक्षस्य असत्त्वसिद्धयर्थं 'क्रमयौगप-
द्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वाभावात्' इति हेतुः प्रयुज्यते । तथाहि—“यदि न सर्वं सत् कृतकं वा
प्रतिक्षणविनाशि स्यादक्षणिकस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाऽयोगात् अर्थक्रियासामर्थ्यलक्ष-
णमतो निवृत्तमित्यसदेव स्यात् ।” [वादन्याय पृ० ७] “क्रमयौगपद्याभ्यामित्यादि—नैव प्रत्यक्षतः
कार्यविरहाद्वा शक्तिविरहोऽक्षणिकत्वे उच्यते किन्तु तद्व्यापकविरहात्; तथाहि—क्रमयौग- 25
पद्याभ्यां कार्यक्रिया व्याप्ता प्रकारान्तराभावात् । ततः कार्यक्रियाशक्तिव्यापकयोः तयोरक्ष-
णिकत्वे विरोधान्निवृत्तेः तद्व्याप्तायाः क्रियाशक्तेरपि निवृत्तिः इति सर्वशक्तिविरहलक्षणमस-
त्त्वमक्षणिकत्वे व्यापकानुपलब्धिराकर्षति विरुद्धयोरेकत्रायोगात् । ततो निवृत्तं सत्त्वं क्षणिके-
ष्वेव अवतिष्ठमानं तदात्मतामनुभवति इति यत् सन् तत् क्षणिकमेव ।” [हेतुवि० टी० लि०
पृ० १४२ B.] ‘क्रमेण युगपच्चापि यस्मादर्थक्रियाकृतः । न भवन्ति स्थिरा भावाः निःस- 30
त्वास्ते ततो मताः ॥” [तत्त्वसं० पृ० १४३] क्षणभगसि० पृ० २० । इत्यादि ।

नित्यवस्तुवादिभिः अनेनैव हेतुना क्षणिकेऽर्थक्रियाऽभावः प्रतिबन्धा प्रसाध्यते ।
तथाहि—“क्षणिकस्यापि भावस्य सत्त्वं नास्त्येव सोऽपि हि । क्रमेण युगपद्वापि न कार्यकरणे
क्षमः ॥” [न्यायम० पृ० ४५३] न्यायवा० ता० टी० पृ० ५५४ । विधिवि० न्यायकणि० पृ० १३० ।

तत्त्वसंग्रहे 'क्षणिकेष्वपि इत्यादिना भदन्तयोगसेनमतमाशङ्कते' इत्युक्त्वा 'क्षणिकोऽपि 35
१८

भावः क्रमेण युगपद्वा न अर्थक्रियां कर्तुं क्षमः' इति मतं पूर्वपक्षीकृतम् । तथाहि—“क्षणिके-
ष्वपि भावेपु ननु चार्थक्रिया कथम् ।” क्रमेण युगपच्चापि यतस्तेऽर्थक्रियाकृतः । न भवन्ति
ततस्तेषां व्यर्थः क्षणिकताश्रयः ॥” [तत्त्वसं० पृ० १५३]

जैनैः तेनैव हेतुना सर्वथा क्षणिके नित्ये च अर्थक्रियाकारित्वाभावं प्रसाध्य कथञ्चि-
5 न्नित्यानित्यात्मन्यर्थे अर्थक्रियाकारित्वं संसाध्यते । द्रष्टव्यम्—शास्त्रवा० श्लो० ४३७ ।
अष्टसह० पृ० २०२ । प्रमेयक० पृ० १४७ A. न्यायकुमु० पृ० ३७९ ।

समुद्धृतेयम्—न्यायवि० वि० पृ० ५२७ A. प्रमाणमी० पृ० १४ ।

पृ० ४. पं० ५. ‘अर्थक्रियासमर्थ’—“अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुनः” [न्याय-
वि० १।१५] प्रमाणवा० ३।३।

10 पृ० ४. पं० ६. ‘स्वभूतिमात्रम्’—“तथा—क्षणिकाः सर्वसंस्काराः स्थिराणां कुतः
क्रिया । भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥” [बोधिचर्या० पृ० पृ० ३७६]

पृ० ४. पं० ७. ‘विषयाकारस्यैव’—पूर्वपक्षः—“अत्रापि फले विषयाकारतैव प्रमा-
णम् । यदाह आचार्यः—नन्वव्यतिरेकाद् ग्राहकाकारोपि कस्मान्न प्रमाणम् ? अत्रोच्यते—
तदार्थाभासतैवास्य प्रमाणं न तु सन्नपि । ग्राहकात्माऽपरार्थत्वाद्वाह्येष्वर्थेष्वपेक्ष्यते ॥”
15 [प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ७०]

इति प्रमाणप्रवेशे द्वितीयः परिच्छेदः ॥



पृ० ४. पं० २३. ‘ज्ञानमाद्यं’—अस्यां कारिकायां ग्रन्थकारः मतिस्मृतिसंज्ञेत्यादि
सूत्रे [तत्त्वार्थसू० १। १३] अनर्थान्तरत्वेनोक्तानां मत्यादीनाम् अवस्थाविशेषापेक्षया मतित्वं
श्रुतत्वञ्च निरूपयति ।

20 अत्र व्याख्याभेदः—प्रभाचन्द्राः “किं यत् नामयोजनात् जायतेऽविशदं ज्ञानं तदेव
श्रुतमुतान्यदपि ? इत्याह—प्राङ्नामयोजनात् । नाम्नः अभिधानरय योजनात् पूर्वमुपजायते
यदस्पष्टं ज्ञानं तच्छ्रुतम् नामयोजनाजनितास्पर्शज्ञानसाधर्म्यात् इत्यभिप्रायः । ‘चिन्ता च’
इत्यत्र चशब्दो भिन्नप्रक्रमः ‘शब्दानुयोजनात्’ इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । तेन न केवलं नाम-
योजनात् पूर्वं यदस्पष्टं ज्ञानमुपजायते तदेव श्रुतं किन्तु शब्दानुयोजनाच्च यदुपजायते तदपि
25 श्रुतमिति संगृहीतं भवति ॥” [न्यायकुमु० लि० पृ० २२२ B.] इत्यादिसन्दर्भेण स्मृत्यादिज्ञा-
नान्युभयथा शब्दयोजनात् प्राक् अनन्तरञ्च श्रुतेऽन्तर्भावयन्ति । कारिकायामायातस्य
आद्यशब्दस्य कारणार्थकताञ्च सूचयन्ति ।

विद्यानन्दास्तु—शब्दयोजनात् प्राक् मतिज्ञानादाद्यादाभिनिबोधिकपर्यन्तज्ञानानां मतित्वं
शब्दानुयोजनाच्च तेषामेव श्रुतत्वं स्वीकुर्वन्ति । तथाहि—“अत्र अकलंकदेवाः प्राहुः—ज्ञानमाद्यं
30 स्मृतिः संज्ञा.....तत्रेदं विचार्यते—मतिज्ञानादाद्यादाभिनिबोधिकपर्यान्ताच्छेषं श्रुतं शब्दानु-
योजनादेवेत्यवधारणम्, श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति वा ? (पृ० २३९) इत्युक्ता मतिः
प्राङ्नामयोजनात् । शब्दानुयोजनादेव श्रुतमेवं न न बाध्यते” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४१]

सन्मतिटीकाकारास्तु विद्यानन्दाभिमतव्याख्यानमेव प्रतीयन्ति, तथाहि—“अत्र च यत्
शब्दसंयोजनात् प्राक् स्मृत्यादिकमविसंवादिव्यवहारनिर्वर्तनक्षमं प्रवर्तते तन्मतिः, शब्दसंयोज-
35 नात् प्रादुर्भूतं तु सर्वं श्रुतमिति विभागः ॥” [सन्मति० टी० पृ० ५५३] षड्द० बृह० पृ० ८४ B.

पृ० ५. पं० १. 'अविसंवादस्मृतेः'—तुलना—“धारणारूपा च मतिः अविसंवाद-
स्वरूपस्मृतिफलस्य हेतुत्वान् प्रमाणम् ।” [सन्मति० टी० पृ० ५५३] षड्द० बृह० पृ० ८४ A.

पृ० ५. पं० २. 'प्राक्शब्द'—तुलना—“मतिस्मृत्यादयः शब्दयोजनमन्तरेण न
भवन्तीत्येकान्तो न, तदेकान्ते पुन. न कचित् स्युः तन्नामस्मृतेरयोगात् अनवस्थानादेः ।”
[सिद्धिवि० पृ० १०० A.] “ प्राक्शब्दयोजनात् मतिज्ञानमेतत् शेषमनेकप्रभेदं शब्दयोजनादु- 5
पजायमानमविशदं ज्ञानं श्रुतम् इति केचित् ।” [सन्मति० टी० पृ० ५५३] षड्द० बृह० पृ० ८४ A.

पृ० ५. पं० १०. 'नहि प्रत्यक्षं'—तुलना—“नहि कस्यचित् साकल्येन व्याप्तिज्ञानं
प्रत्यक्षं कचित् कदाचिद्भूविमुमर्हति सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात् ।” [सिद्धिवि० पृ०
१५६] अष्टश०, अष्टसह० पृ० ११९। “यथाहुः—न हीदमियतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितवि-
षयबलेनोत्पत्तेरविचारकत्वात् ।” [शा० भा० भामती पृ० ७६६] न्यायवा० ता० टी० पृ० १३७ । 10

पृ० ५. पं० ११. 'तन्नाप्रत्यक्षम्'—उद्धृतमिदम्—प्रमाणसं० पृ० १०१ ।

पृ० ५. पं० १२. 'प्रमाणान्तरत्वात्'—तुलना—“सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोः साकल्ये-
नेदन्तया नेदन्तया वा व्यवस्थापयितुकामस्य तर्कः परं शरणम् ।” [सिद्धिवि० पृ० २९३ A.]

पृ० ५. पं० १६. 'तादात्म्यतदुत्पत्ती'—बौद्धा हि तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव
अविनाभावनियमं वर्णयन्ति, तथाहि—“स च प्रतिबन्धः साध्येर्थे लिङ्गस्य वस्तुतस्तादात्म्या- 15
त्साध्यादर्थादुत्पत्तेश्च ।” [न्यायवि० पृ० ४१] “कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् ।
अविनाभावनियमः” ।” [प्रमाणवा० १।३२]

पृ० ५. पं० २०. 'चन्द्रादेः'—तुलना—“चन्द्रादौ जलचन्द्रादि सोऽपि तत्र तथा-
विधः । छायादिपादपादौ च सोऽपि तत्र कदाचन ।” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०१]

पृ० ५. पं० २३. 'भविष्यत्प्रतिपद्येत'—तुलना—“कृतिकोदयमालक्ष्य रोहिण्या- 20
सत्तिकलुप्तिवत् ।” [मी० श्लो० पृ० ३५१] प्रश्न० व्यो० पृ० ५७१ । “प्रतिबन्धपरिसंख्यायाम्
उद्देष्यति शकटं कृतिकोदयादिति किं प्रमाणम् ?” [सिद्धिवि० पृ० ३१७ B.] प्रमाणप० पृ० ७१।
परीक्षामु० ३।६३ । प्रमाणनय० ३।८० । प्रमाणमी० पृ० ४१ । जैनतर्कभा० पृ० १६ ।

पृ० ६. पं० ५. 'अदृश्यानुपल'—“विप्रकृष्टविषयानुपलब्धिः प्रत्यक्षानुमाननिवृ-
त्तिलक्षणा संशयहेतुः प्रमाणनिवृत्तावप्यर्थाभावाऽसिद्धेः ।” [न्यायवि० पृ० ५९] वादन्याय 25
पृ० १८ । “अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धेः संशयहेतुतया अगमकत्वादिति भावः ।”
[वादन्यायटी० पृ० १९]

तुलना—अष्टश०, अष्टसह० पृ० ५२ ।

पृ० ६. पं० २०. 'प्रत्यक्षानुपलम्भ'—“प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः ।”
[हेतुवि० टी० लि० पृ० ७३] 30

पृ० ६. पं० २८. 'सर्वविज्ञानानां'—अत्रायं पूर्वपक्षः—“सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवे-
दनम् । चित्तमर्थमात्रग्राहि । चैत्ता विशेषावस्थाग्राहिणः सुखादयः । नास्ति सा काचि-
चित्तावस्था यस्यामात्मनः संवेदनं प्रत्यक्षं न स्यात् ।” [न्यायवि० पृ० १९]

पृ० ७. पं० ६. 'उपमानं'—पूर्वपक्षः—“प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ।”
[न्यायसू० १।१।६] 35

तुलना-“साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेवं प्रसज्यते ।” [न्यायकुसु० ३।९] “सादृश्यं चेत् प्रमेयं स्यात् वैलक्षण्यं न किं तथा ।” [जैनतर्कवा० पृ० ७६]

समुद्धृतेयम्—स्या० रत्ना० पृ० ४९८ । रत्नाकराव० ३।४ । प्रमेयरत्नमा० ३।५ । प्रमाणमी० पृ० ३५ ।

5 पृ० ७. पं० २३. ‘इदमल्पं’—तुलना-“एकविपाणी खड्गः सप्तपर्णो विषमच्छदः इत्याहितसंस्काराणां पुनस्तत्प्रत्यक्षदर्शनामभिज्ञानं किञ्चाम प्रमाणं स्यात् । तथा स्यादिलक्षणाश्रवणात् तथादर्शिनः समभिज्ञानम्, संख्यादिप्रतिपत्तिश्च पूर्वापरनिरीक्षणात्, पश्यतां च नामयोजना उपमानवत् सर्वं प्रमाणान्तरम् ।” [सिद्धिवि० पृ० १५० B.] परीक्षामु० ३।५-१० । प्रमाणनय० ३।५, ६ । प्रमाणमी० १।२।४ ।

10 उद्धृतेयम्—स्या० रत्ना० पृ० ४९८ । प्रमेयरत्नमा० ३।५ । प्रमाणमी० पृ० ३५ ।

पृ० ७. पं० २६. ‘अर्थापत्तिः’—“अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थकल्पना । यथा जीवति देवदत्ते गृहाभावदर्शनेन वह्निर्भावस्यादृष्टस्य कल्पना ।” [शावरभा० १।१।५] मी० श्लो० अर्था० श्लो० १ ।

पृ० ८. पं० १. ‘परोक्षेऽन्तर्भावात्’—तुलना-“अनुमानोपमानागमार्थापत्तिसंभवा-
15 भावान्यपि च प्रमाणानीति केचित् मन्यन्ते तत्कथमेतदिति ? अत्रोच्यते—सर्वाण्येतानि मति-श्रुतयोरन्तर्भूतानि इन्द्रियार्थसन्निकर्षनिसिद्धत्वात् ।” [तत्त्वार्थाधि० भा० १।१२] “उपमानार्थापत्त्यादीनामत्रैवान्तर्भावात्” [सर्वार्थसि० १।११] “अर्थापत्त्यादेरनुमानव्यतिरेकेऽपि परोक्षेऽन्तर्भावात् ।” [अष्टश०, अष्टसह० पृ० २८१]

इति प्रमाणप्रवेशे तृतीयः परिच्छेदः ॥



20 पृ० ८. पं० ६. ‘यद्यथैवाविसंवादि’—तुलना-“यथा यत्र विशदं तथा तत्र प्रत्यक्षम् । यथा यत्राविसंवादः तथा तत्र प्रमाणता । (पृ० ६५ B.) तथा च सर्वस्थभावे परभावे वा कथञ्चिदेव प्रमाणं न सर्वथा ।” [सिद्धिवि० पृ० ८६ A.] “यथा यत्राविसंवादः तथा तत्र प्रमाणता ।” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७०] सिद्धिवि० टी० पृ० ६९ B. “यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणतेत्यकलंकदेवैरप्युक्तत्वात् ।” [अष्टसह० पृ० १६३] “यद्यथैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा
25 मतम् । विसंवाद्यप्रमाणं च तदध्यक्षपरोक्षयोः ॥” [सन्मति० टी० पृ० ५९५]

पृ० ८. पं० १०. ‘तिमिराद्युपप्लव’—तुलना-“येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदः तदपेक्षया प्रामाण्यमिति । तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या, प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्, तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात् । तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्ध-
30 द्रव्यादिवत् ।” [अष्टश०, अष्टसह० पृ० २७७] “अनुपप्लुतदृष्टीनां चन्द्रादिपरिवेदनम् । तत्संख्यादिषु संवादि न प्रत्यासन्नतादिषु ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७०] “तिमिराद्युपप्लवज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकत्वात् प्रमाणं तत्संख्यादौ तदेव विसंवादकत्वादप्रमाणं प्रमाणेतरव्यवस्थायास्तल्लक्षणत्वात् । यतो ज्ञानं यदप्यनुकरोति तत्र न प्रमाणमेव समारोपव्यवच्छेदापेक्षत्वात् । अन्यथा दृष्टे प्रमाणान्तरवृत्तिर्न स्यात् कृतस्य करणायोगात् तदेकान्तहानेः कथञ्चित्करणा-

निष्ठेः, तदस्य विसंवादोप्यवस्तुनिर्भासात् चन्द्रादिवस्तुनिर्भासादविसंवादोऽपीत्येकस्यैव ज्ञानस्य यत्राविसंवादः तत्र प्रमाणता इतरत्र तदाभासतेति ।” [सन्मति० टी० पृ० ५९५]

पृ० ८. पं० १८. ‘सर्वतः संहृत्य’—धर्मकीर्तिना उक्तं यत्—शान्तचेतस्कृतया चक्षुषा यत् रूपदर्शनं भवति तन्निर्विकल्पकम् । तस्मिंश्च रूपस्वलक्षणं क्षणिकपरमात्मात्मकं प्रतिभाति । तथाहि—“संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना । स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽ- 5
क्षजा मतिः ।” [प्रमाणवा० ३।१२४] ग्रन्थकृता तत्प्रतिविहितम्—यत् तदवस्थायामपि सविकल्पकमेव ज्ञानं स्थिरस्थूलाद्यर्थग्राह्यनुभूयते ।

तुलना—“संहृत्य सर्वतश्चित्तं स्तिमितेनान्तरात्मना । स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं स्वं च स्पष्टं व्यवस्यति ।” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८६]

पृ० ८. पं० १९. ‘न पुनरसाधारणैकान्तम्’—तुलना—“नहि जातुचिदसहाय- 10
माकारं पश्यामो यथा व्यावर्ण्यते तथैवानिर्णयात् । नानावयवरूपाद्यात्मनो घटादेः बहिः सम्प्रतिपत्तेः न परमाणुसंचयरूपस्य ।” [सिद्धिवि० पृ० ३६ B.]

पृ० ८. पं० २०. ‘प्रतिसंहार’—“प्रतिसंहारः पुनर्विकल्पप्रवृत्तिः” [न्यायकुमु० लि० पृ० २७० A.]

पृ० ९. पं० १. ‘प्रतिसंविदितो’—तुलना—“नहि संवित्तेः बहुबहुविधप्रभृत्या- 15
कृतयः स्वयमसंविदिता एव उदयन्ते अत्ययन्ते वा यतः सत्योऽपि अनुपलक्षिताः स्युः कल्पनावन् ।” [सिद्धिवि० टी० पृ० ९८ B.]

पृ० ९. पं० ३. ‘सदृशापरापरो’—“तां पुनरनित्यतां पश्यन्नपि मन्दबुद्धिः नाध्यवस्यति, सत्तोपलम्भेन सर्वदा तद्भावशंकाविप्रलब्धः सदृशापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा . . .” [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० २३७] 20

पृ० ९. पं० २१. ‘अभ्रान्त’—अभ्रान्तं विशेषणं बौद्धापेक्षया “कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम् ।” [न्यायवि० १।४] इत्यभिधानात् । अव्यभिचारीति विशेषणं नैयायिकापेक्षया ज्ञेयम् “इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।” [न्यायसू० १।१।४] इत्युक्तत्वात् ।

पृ० ९. पं० २३. ‘नहि दृष्टेऽनुपप’—तुलना—“स्वभावेऽध्यक्षतः सिद्धे परैः 25
पर्यनुयुज्यते । तत्रोत्तरमिदं वाच्यं न दृष्टेऽनुपपन्नता ॥” [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० ६८]

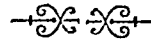
पृ० ९. पं० २४. ‘वक्त्रभिप्रायेऽपि’—तुलना—“विवक्षाप्रभवं वाक्यं स्वार्थे न प्रतिबध्यते, यतः कथं तत्सूचितेन लिङ्गेन तत्त्वव्यवस्थितिः । वक्त्रभिप्रायमात्रं वाक्यं सूचयन्तीति अविशेषेणाक्षिपन् न पारम्पर्येणापि तत्त्वं प्रतिपद्येत । नच वक्त्रभिप्रायमेकान्तेन सूचयन्ति श्रुतिदुष्टादेः अन्यत एव प्रसिद्धेः ।” [सिद्धिवि० पृ० २६४] 30

पृ० ९. पं० २६. ‘सत्येतरव्यवस्था का’—तुलना—“वाक्यानामविशेषेण वक्त्रभिप्रेतवाचिनाम् । सत्यानृतव्यवस्था न तत्त्वमिथ्यार्थदर्शनात् ॥ मिथ्यादर्शनज्ञानात् मिथ्यार्थत्वं गिरां मतम् ।” [सिद्धिवि० पृ० ५०२]

पृ० १०. पं० ३. ‘वक्तुरभिप्रेत’—“वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते । प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबन्धनम् ॥ वक्तृव्यापारो विवक्षा तस्य विषयो योऽर्थः 35
समारोपितवहीरूपो ज्ञानाकारः प्रकाशते बुद्धौ विवक्षात्मिकायां तत्र शब्दस्य प्रामाण्यं लिङ्गत्वम्

शब्दादुच्चरिताद्विवक्षितार्थप्रतिभासी विकल्पोऽनुमीयत इत्यर्थः ।” [प्रमाणवा० मनोरथ० पृ० ४]
 “यद्यथा वाचकत्वेन वक्तृभिर्विनिगम्यते । अनपेक्षितवाह्यार्थं तत्तथा वाचकं मतम् ॥” [प्रमाण-
 वा० १।६७] “परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना । न स्यात्प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु ॥
 अतोताजातयोर्वापि न च रयादनृतार्थता । वाचः कस्याश्चिदित्येषा बौद्धार्थविषया मता ॥”
 5 [प्रमाणवा० १।२०९-१०] “विवक्षापरतन्त्रत्वान्न शब्दाः सन्ति कुत्र वा । तद्वावादर्थसिद्धौ तु
 सर्व सर्वस्य सिद्ध्यति ॥” [प्रमाणवा० २।१६] “यथोक्तम्-वक्तुरभिप्रायं सूचयेयुः शब्दाः ॥”
 [तर्कभा० मो० पृ० ४]

इति प्रमाणप्रवेशः प्रथमः ॥



पृ० १०, पं० २३, ‘भेदाभेदात्मके’—“तथा चाहाकलङ्कः-भेदाभेदाः यतोऽपेक्षा-
 10 नपेक्षाभ्यां...” [आव० नि० मलय० पृ० ३७० B.] गुस्तत्त्ववि० पृ० १६ B.

पृ० १०, पं० २४, ‘अपेक्षाऽनपेक्षा’—“निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः
 सापेक्षत्वमुपेक्षा ॥” [अष्टश०, अष्टसह० पृ० २९०]

पृ० १, पं० २४, ‘नयदुर्नयाः’—“निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वरतु तेऽर्थकृत् ॥”
 [आप्तमी० श्लो० १०८] “तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिद्वी सपक्खपडिवद्धा । अण्णोण्णणि-
 15 सिञ्चा उण हवन्ति सम्मत्तसम्भावा ॥” [सम्मति० १।२१] “नयाः सापेक्षा दुर्नया निरपेक्षा
 लोकतोऽपि सिद्धाः” [सिद्धिवि० पृ० ५३७ B.] “तथा चोक्तम्-अर्थस्यानेकरूपस्य धीः
 प्रमाणं तदंशधीः । नयो धर्मान्तरापेक्षा दुर्नयस्तन्निराकृतिः ॥” [अष्टश०, अष्टसह० पृ० २९०]
 “धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्नयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च, प्रमाणात्तद-
 तत्त्वभावप्रतिपत्तेः तत्प्रतिपत्तेः तदन्यनिराकृतेश्च ॥” [अष्टश०, अष्टसह० पृ० २९०] “सदेव
 20 सन् स्यात्सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नोतिनयप्रमाणैः ॥” [अन्ययोगव्य० श्लो० २८]

पृ० १०, पं० २५, ‘उत्पादव्यय’—“उत्पन्ने वा विगए वा धुवे वा” [स्थानांग०
 स्था० १०] “सद्रव्यं वा” [व्या० प्र० श० ८ उ० ९ सत्पदद्वार] “सद्रव्यलक्षणम्, उत्पादव्य-
 यध्रौव्ययुक्तं सत्” [तत्त्वार्थसू० ५।२९, ३०] “द्रव्यं पञ्जयविउयं द्रव्यविउत्ता य पञ्जवा एत्थि ।
 उप्पायद्विइभंगा हंदि दवियलक्खणं एयं ॥” [सम्मति० गा० १।१२] “नोत्पादस्थितिभंगानां
 25 मभावे स्यान्मतित्रयम् ॥” [मी० श्लो० पृ० ६१९] “उत्पादस्थितिभंगानां स्वभावादनुबन्धिता ।
 तद्धेतूनामसामर्थ्यात् अतस्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥” [सिद्धिवि० पृ० १६७]

पृ० १०, पं० २५, ‘द्रव्यपर्याया’—“द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या । कथं ज्ञायेत ?
 एवं हि दृश्यते लोके मृत् कयाचिद् आकृत्या युक्तः पिण्डो भवति । पिण्डाकृतिमुपमृद्य घटिकाः
 क्रियन्ते । घटिकाकृतिमुपमृद्य कुण्डिकाः क्रियन्ते । तथा सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तः पिण्डो
 30 भवति । पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते । रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते । कटकाकृ-
 तिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरया आकृत्या युक्तः खदिराङ्गा-
 रसदृशो कुण्डलो भवतः । आकृतिरन्या चान्या च भवति द्रव्यं पुनस्तदेव । आकृत्युपमर्देन
 द्रव्यमेवावशिष्यते ॥” [पात० महाभा० १।१।१] योगभा० ३।१३।

पृ० १०, पं० २६, ‘नयो’—“नयाः कारकाः साधका निर्वर्तका निर्भासका उप-
 35 लम्भका व्यञ्जका इत्यनर्थान्तरम् । जीवादीन् पदार्थान् नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साध-
 यन्ति निर्वर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्तीति नयाः ॥” [तत्त्वार्थाधि० भा०
 १।३५] “सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः । स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः ॥”

[आप्तमी० श्लो० १०६] “वस्तुन्यनेकान्तात्मनि अविरोधेन हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य याथा-
 त्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो नयः ।” [सर्वार्थसि० १।३३] “ज्ञातृणामभिसन्धयः खलु नयास्ते द्रव्य-
 पर्यायतः... नयो ज्ञातुर्मतं मतः ।” [सिद्धिवि० पृ० ५१७ A. ५१८ A.] “प्रमाणप्रकाशितार्थ-
 विशेषप्ररूपको नयः ।” [राजवा० १०।३३] “नयन्ते अर्थान् प्रापयन्ति गमयन्तीति नयाः, वस्तुनो-
 ऽनेकात्मकस्य अन्यतमैकात्मैकान्तपरिग्रहात्मका इति ।” [नयचक्रवृ० पृ० ५२६ A.] “यथोक्तम्- 5
 द्रव्यस्यानेकात्मनोऽन्यतमैकात्माधारणम् एकदेशनयनान्नयाः ।” [नयचक्रवृ० पृ० ६ B.]
 “एणेण वत्थुणोऽणो गधम्मणो जमवधारणेणोव । नयणं धम्मेण तन्नो होई नन्नो सत्तहा सो य ।”
 [विशेषा० गा० २६७६] “नयन्तीति नयाः, अनेकधर्मात्मकं वस्तु एकधर्मेण नित्यमेवेदम-
 नित्यमेवेति वा निरूपयन्ति ।” [तत्त्वार्थहरि० १।६] तत्त्वार्थसिद्ध० १।६। “उक्तं हि-एयदि त्ति
 ण्यो भणिन्नो बहूहि गुणपज्जएहिं जं दव्वं । परिणामखेत्तकालंतरेसु अविण्णट्टसन्भावं ॥ 10
 ... प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशवस्त्वध्यवसायो नयः ।” [धवलाटी० सत्प्ररूप०] “स्वार्थैकदेश-
 निर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः ।” (पृ० ११८) “नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः ।”
 [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६८] नयविव० श्लो० ४। “अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभि-
 प्रायो नयः ।” [प्रमेयक० पृ० २०५ A.] “जं णाणीण वियप्पं सुयभेयं वत्थुयंससंगहणं ।
 त इह णयं पडत्तं णाणी पुण तेहि णाणेहि ॥” [नयचक्रगा० २] “वरतुनोऽनन्तधर्मस्य प्रमाणं 15
 (ण) व्यञ्जितात्मनः । एकदेशस्य नेता यः स नयोऽनेकधा स्मृतः ।” [तत्त्वार्थसार पृ० १०६]
 “तद्द्वारायातः पुनरनेकधर्मनिष्ठार्थसमर्थनप्रवणः परामर्शः शेषधर्मस्वीकारतिरस्कारपरिहार-
 द्वारेण वर्तमानो नयः ।” [न्यायावता० टी० पृ० ८२] “नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृत-
 स्यार्थस्यांशः तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः ।” [प्रमाणनय० ७।१]
 स्या० म० पृ० ३१०। “प्रमाणपरिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः एकदेशग्राहिणः तदित- 20
 रांशाप्रतिक्षेपिणः अध्यवसायविशेषो नयाः ।” [जैनतर्कभा० पृ० २१] “प्रकृतवस्त्वंशग्राही
 तदितरांशाप्रतिक्षेपी अध्यवसायविशेषो नयः ।” [नयरहस्य पृ० ७९] नयप्रदीप पृ० ९७ B.

मलयगिर्याचार्यमतेन सर्वेऽपि नयाः मिथ्या एव; तथाहि—“अनेकधर्मात्मकं वस्त्ववधा-
 रणपूर्वकमेकेन नित्यत्वाद्यन्यतमेन धर्मेण प्रतिपाद्यस्य बुद्धिं नीयते प्राप्यते येनाभिप्रायविशेषेण 25
 स ज्ञातुरभिप्रायविशेषो नयः । ... इह हि यो नयो नयान्तरसापेक्षतया रयात्पदलाञ्छितं
 वस्तु प्रतिपद्यते स परमार्थतः परिपूर्णं वस्तु गृह्णाति इति प्रमाण एवान्तर्भवति, यस्तु नयवा-
 दान्तरनिरपेक्षतया स्वाभिप्रेतेनैव धर्मेण अवधारणपूर्वकं वस्तु परिच्छेत्तुमभिप्रैति स नयः
 वस्त्वेकदेशपरिग्राहकत्वात्, ‘‘स च नियमान्मिथ्यादृष्टिरेव ।’’ [आव० नि० मलय० पृ० ३६९ A]

पृ० १०. पं० २६. ‘स द्रव्यार्थिकः’—“तच्च सच्चतुर्विधम्, तद्यथा द्रव्यास्तिकं मातृका-
 पदास्तिकम् उत्पन्नास्तिकम् पर्यायास्तिकमिति ।” [तत्त्वार्थाधि० भा० ५।३१] “इत्थं द्रव्यास्तिकं 30
 मातृकापदास्तिकं च द्रव्यनयः । उत्पन्नास्तिकं पर्यायास्तिकं च पर्यायनयः ।” [तत्त्वार्थहरि०
 ५।३१] तत्त्वार्थसिद्ध० ५।३१। “दव्वट्ठिन्नो य पज्जवणन्नो य सेसा वियप्पासि ।” [सन्मति०
 १।३] “नयो द्विविधः द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च ।” [सर्वार्थसि० १।६] “द्वौ मूलभेदौ द्रव्यास्तिकः,
 पर्यायास्तिक इति । अथवा ‘द्रव्यार्थिकः... पर्यायार्थिकः ।’ [राजवा० १।३३] “तत्र
 मूलनयौ द्रव्यपर्यायार्थगोचरौ । मिथ्यात्वं निरपेक्षत्वे सम्यक्त्वं तद्विपर्यये ।” [सिद्धिवि० 35
 पृ० ५२१ A.] “तेषां वा शेषशासनाराणां द्रव्यार्थपर्यायार्थनयौ द्वौ समासतो मूलभेदौ
 तत्प्रभेदा संग्रहादयः ।” [नयचक्रवृ० पृ० ५२६ A.] “दव्वट्ठियस्स दव्वं वत्थुं पज्जवनयस्स
 पज्जात्तो ।” [विशेषा० गा० ४३३१] धवलाटी० सत्प्ररूप० । प्रमाणनय० ७।५।

पृ० ११. पं० १. 'द्रवति'—“तुलना-द्वियदि गच्छदि ताडं ताडं सवभावपज्ज-
याडं जं । द्वियं तं भण्णंते अण्णणभूदं तु सत्तादो ।” [पचास्ति० गा० ९] “यथास्वं पर्या-
यैर्द्रव्यन्ते द्रवन्ति वा तानि द्रव्याणि ।” [सर्वार्थसि० ५।२] “द्रवति द्रोष्यति दुद्रवति (अद्रुद्रवत्)
द्रुः द्रोर्विकारोऽवयवो वा द्रव्यम् ।” [नयचक्रवृ० पृ० ९ B.] “द्रोर्विकारां द्रव्यम्, द्रोऽवयवो
5 वा द्रव्यम्, द्रव्यं च भव्ये भवतीति भव्यम् द्रव्यम्, द्रवतीति द्रव्यम् द्रव्यं वा, द्रवणात् गुणानां
गुणसन्द्रावो द्रव्यम् ।” [नयचक्रवृ० पृ० ४४१ B.] “द्विण दुयण द्रोऽवयवो विगारो गुणाण
संदावो । द्रवं भवं भावस्स भूअभावं च जं जोगं ।” [विणेपा० गा० २८] “अथवा यस्य
गुणान्तरेष्वपि प्रादुर्भवत्सु तत्त्वं न विहन्यते तद् द्रव्यम् । किं पुनस्तत्त्वम् ? तद्वावस्तत्त्वम् ।
तद्यथा आमलकादीनां फलानां रक्तादयः पीनादयश्च गुणाः प्रादुर्भवन्ति आमलकं वदरमि-
10 त्येव भवति । अन्वर्थं खन्वपि निर्वचनं गुणसन्द्रावो द्रव्यमिति ।” [पात० महाभा० ५।१११९]

पृ० ११. पं० १. 'द्रव्यार्थिक'—“द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिकः ।”
[सर्वार्थसि० १।६] “पज्जवणस्सामणं वयणं दव्वद्वियस्स अत्थित्ति । अवसेसो वयणविही
पज्जवभयणा सपडिवक्खो ॥” [सन्मति० गा० १।७] “द्रव्येणार्थः द्रव्यार्थः, द्रव्यमर्थो यस्येति
वा, अथवा द्रव्यार्थिकः द्रव्यमेवार्थो यस्य सोऽयं द्रव्यार्थः ।” [नयचक्र वृ० पृ० ४ B.]
15 धवलाटी० सत्प्रह० ।

पृ० ११. पं० १०. 'संग्रह'—“संगहिय पिडिअत्थं संगहवयणं समासओ विति ।”
[अनुयोग० ४ द्वा०] आव० नि० गा० ७५६ । विणेपा० गा० २६९९ । “अथानां सर्वैकदेशसं-
ग्रहणं संग्रहः ।” “आहच-यत्संगृहीतवचनं सामान्ये देशतोऽथ च विशेषे । तत्संग्रहनयनितं
ज्ञानं विद्यान्नयविधिज्ञः ॥” [तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५ ।
20 “स्वजात्यविरोधेनैकव्यमुपनीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात् संग्रहः ।”
[सर्वार्थसि० १।३३] राजवा० १।३३ । “विधिव्यतिरिक्तप्रतिपेधानुपलम्भाद्विधिमात्रमेव तत्त्व-
मित्यध्यवसायः समनस्य (मस्तस्य) ग्रहणात् संग्रहः । द्रव्यव्यतिरिक्तपर्यायानुपलम्भाद्
द्रव्यमेव तत्त्वमित्यध्यवसायो वा संग्रहः ।” [धवलाटी० सत्प्रह०] “शुद्धं द्रव्यमभिप्रेति
सन्मात्रं संग्रहः परः । स चाशेषविशेषेषु सदौदासीन्यभाविह ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० ७०]
25 नयविव० श्लो० ६७। प्रमेयक० पृ० २०५B. “शुद्धं द्रव्यं समाश्रित्य संग्रहस्तदशुद्धितः ।” [सन्मति०
टी० पृ० २७२ ।] नयचक्र गा० ३४ । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ । प्रमाणनय० ७।१३ । स्या० मं० पृ०
३११ । जैनतर्कभा० पृ० २२ ।

पृ० ११. पं० १२. 'सर्वमेकं'—तुलना-“यथा सर्वमेकं सदविशेषात् ।” [तत्त्वार्थाधि०
भा० १।३५] “अह्व महासामन्नं संगहियं पिडियत्थमियरं ति । सव्वविसेसानन्नं सामन्नं
30 सव्वहा भण्णियं ॥” [विणेपा० गा० २७०१] “विश्वमेकं सदविशेषात् इति यथा ।”
[प्रमाणनय० ७।१६]

पृ० १२. पं० ७. 'न च क्षणिकानाम्'—तुलना-“कार्यकारणता नास्ति वहिरन्तः
सन्ततिः कुतः । निरन्वयात् कुतस्तेषां सारूप्यमितरार्थवत् ॥ सति क्षणिके कारणे यदि कार्यं
स्यात् क्षणिकमक्रमं जगत् निःसन्तानि स्यात् । तस्मिन्नसति भवतः कुतः पुनः कारणानन्त-
रोत्पत्तिनियमः ? सदेव कारणं स्वसत्ताकालमेव कार्यं प्रसह्य जनयेत् । स्वरसत एव कार्योत्पत्ति-
35 कालनियमे स्वतन्त्रस्य कुत एव कार्यत्वम् । नैरन्तर्यमात्रात् प्रभवनियमे सर्वत्र सर्वेषामविशेषे
कुतः प्रभवनियमः । द्रव्यस्य प्रभवनियमे न किञ्चिदतिप्रसज्यते स्वहेतोः परप्रत्ययतायाम् ।”
[सिद्धिवि० पृ० ३६३-६४]

पृ० १२. पं० ८. 'यस्मिन् सत्येव'—तुलना—“किं रूपः पुनरसौ कार्यकारणभावः
अनुपलम्भसहायप्रत्यक्षनिबन्धनः ? इत्याह—तद्भावे भावः तदभावेऽभावश्चेति ।” [हेतुवि०
टी० लि० पृ० ६९]

पृ० १२. पं० १४. 'कार्योत्पत्ति'—तुलना—“कार्योत्पत्तिर्विरुध्येत न वै कारणसत्तया ।
यस्मिन् सत्येव यद्भावेः तत्तस्य कार्यमितरत् कारणम् इति क्षणिकत्वे न संभवत्येव सहोत्पत्ति- 5
प्रसङ्गात् कुतः सन्तानवृत्तिः।” [सिद्धिवि० पृ० १६०, ३२६]

पृ० १३. पं० ५. 'ब्रह्मवादस्तदाभासः'—“निराकृतविशेषस्तु सत्ताद्वैतपरायणः ।
तदाभासः समाख्यातः सद्भिर्दृष्टेष्टवाधनात् ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७०] नयविव० श्लो० ६८।
प्रमेयक० पृ० २०५ B. न्यायावता० टी० पृ० ८५। प्रमाणनय० ७।१५-२१। जैनतर्कभा० पृ० २४।

पृ० १३. पं० ११. 'नैगमः'—“एगेहि माणेहि मिणइत्ति एगेमस्स य निरुत्ती । 10
सेसाणं पि नयाणं लक्खणमिणमो सुणह वोच्छं ॥” [अनुयोग० ४ द्वा०] आव० नि० गा०
७५५। विशेषा० गा० २६८२। “निगमेपु येऽभिहिताः शब्दास्तेषामर्थः शब्दार्थपरिज्ञानं च
देशसमग्राही नैगमः ।” आह च—नैगमशब्दार्थानामेकानेकार्थनयगमापेक्षः । देशसमग्राही
व्यवहारी नैगमो ज्ञेयः ॥” [तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५।
“अभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः ।” [सर्वाथसि० १।३३] राजवा० १।३३। “यदस्ति न 15
तद्द्वयमतिलङ्घ्यं वर्तत इति नैकं गमो नयः संग्रहासंग्रहस्वरूपद्रव्यार्थिको नैगम इति
यावत् ।” [धवलाटी० सत्प्ररू०] “तत्र संकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः । यद्वा नैकं गमो
योऽत्र स सतां नैगमो मतः । धर्मयोः धर्मिणोर्वापि विवक्षा धर्मधर्मिणोः ॥” पर्यायनैगमादि-
भेदेन नवविधो नैगमः । [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६९] नयविव० श्लो० ३३-३७। प्रमेयक० पृ०
२०५ A. सन्मति० टी० पृ० ३१०। नयचक्र गा० ३३। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। “धर्मयोः धर्मिणोः 20
धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्ष्यं स नैकं गमो नैगमः ।” [प्रमाणनय ७।७]
स्या० म० पृ० ३११। जैनतर्कभा० पृ० २१।

पृ० १३. पं० ११. 'नैगमाभास'—“जं सामन्नविसेसे परोप्परं वत्थुओ य सो
भिन्ने । मन्नइ अचन्तमओ मिच्छद्विद्वी कणादोव्व ॥” [विशेषा० गा० २६९०] “तयोरत्यन्त-
भेदोक्तिरन्योऽन्यं स्वाश्रयादपि । ज्ञेयो व्यञ्जनपर्यायनैगमाभो विरोधतः ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० 25
२७०] नयविव० श्लो० ६३। प्रमेयक० पृ० २०५ A. न्यायावता० टी० पृ० ८२। प्रमाणनय०
७।११। जैनतर्कभा० पृ० २४।

पृ० १३. पं० १५. 'वृत्तिविरोधात्'—तुलना—“वृत्तिश्च कृत्स्नांशविकल्पतो न...।”
[युक्त्यनुशा० श्लो० ५५] “एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद्बहूनि वा । भागित्वाद्वास्य नैकत्वं
दोषो वृत्तेरनार्हते ॥” [आप्तमी० श्लो० ६२] अष्टश०, अष्टसह० पृ० २१४। “तस्य तेषु 80
सर्वात्मनाऽन्यथा वा वृत्त्ययोगो बाधकं प्रमाणम्...।” [बादन्यायटी० पृ० ३०] “यद्वा
सर्वात्मना वृत्तावनेकत्वं प्रसज्यते । एकदेशेन चानिष्टा नैको वा न क्वचिच्च सः ॥” [तत्त्वस०
पृ० २०३] “यदि सर्वेषु कायोऽथमेकदेशेन वर्तते । अंशा अंशेषु वर्तन्ते स च कुत्र स्वयं
स्थितः ॥ सर्वात्मना चेत् सर्वत्र स्थितः कायः करादिषु । कायास्तावन्त एव स्युर्यावन्तस्ते
करादयः ॥” [बोधिचर्यावि० पृ० ४९५]

95

पृ० १३. पं० १६. 'स्वतोऽर्थाः'—“सत्ताजोगादसओ सओ व सत्तं ह्वेज्ज
दव्वस्स । असओ न खपुप्फस्स थ सओ व कि सत्तया कज्जं ॥” [विशेषा० गा० २६९४]

उद्धृतेयं कारिका-सूत्रकृतागशी० पृ० २२७ A. ।

पृ० १४. पं० ६. 'गुणानां परमं'—कारिकेयं निम्नग्रन्थेषु समुद्धृताऽस्ति—“तथा च

शास्त्रानुशासनम्-गुणानां...।” [योगभा० ४।१३] “पष्ठितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः-गुणानां...”

[योगभा० तत्त्ववै० ४।१३] योग० भास्वती, पात० रह० ४।१३। “भगवान् वार्पण्यः-गुणानां...”

5 [शा० भा० भामती पृ० ३५२] नयचक्रवृ० पृ० ४३ A. तत्त्वोपप्लव० पृ० ८०। “गुणानां सुमहद्रूपम्...” [प्रमाणवार्त्तिकालं परि० ४ पृ० ३३] अष्टसह० पृ० १४४। सिद्धिवि० टी० पृ० ७४ B.

पृ० १४. पं० ११. 'समवायेन'—“पटस्तन्तुष्विवेत्यादिशब्दाश्चेमे स्वयंकृताः।

शृङ्गं गवीति लोके स्यात् शृङ्गे गौरित्यलौकिकम् ॥” [प्रमाणवा० १।३५०] “वृक्षे शाखाः

शिलाश्चाग इत्येपा लौकिका मतिः। शिलाख्यपरिशिष्टांगनैरन्तर्योपलम्भनात् ॥ तौ पुनस्ता-

10 स्थिति ज्ञानं लोकातिक्रान्तमुच्यते।” [तत्त्वसं० पृ० २६७]

पृ० १४. पं० १७. 'नयः'—“वच्चइ विणिच्छिअत्थं ववहारो सव्वदव्वेसु।”

[अनुयोग० ४ द्वा०] आव० नि० गा० ७५६। विशेषा० गा० २७०८। “लौकिकसम उपचार-

प्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः...आह च-लोकोपचारनियतं व्यवहारं विस्तृतं विद्यात्।”

[तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। “संग्रहन्याक्षिप्तानामर्थानां

15 विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः।” [सर्वार्थसि० १।३३] राजवा० १।३३। धवलाटी० सत्प्रह०।

तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१। नयविव० श्लो० ७४। प्रमेयक० पृ० २०५ B. सन्मति० टी० पृ० ३१०।

नयचक्र गा० ३५। तत्त्वार्थसारपृ० १०७। प्रमाणनय० ७।२३। स्या० सं० पृ० ३११। जैनतर्क-

भा० पृ० २२।

पृ० १४. पं० १७. 'दुर्नयः'—“कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागभाक्। प्रमाण-

20 वाधितोऽन्यस्तु तदाभासोऽवसीयताम् ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१] नयविव० श्लो० ७६। प्रमेयक०

पृ० २०५ B. न्यायावता० टी० पृ० ८६। प्रमाणनय० ७।२५, २६। जैनतर्कभा० पृ० २४।

पृ० १४. पं० २८ 'ऋजुसूत्र'—“पच्चुप्पन्नगाही उज्जुसुओ णयविही मुणेअव्वो।”

[अनुयोग० ४ द्वा०] आव० नि० गा० ७५७। विशेषा० गा० २७१८। “सतां साम्प्रतानामर्थानाम-

भिधानपरिज्ञानमृजुसूत्रः। आह च-साम्प्रतविषयग्राहकमृजुसूत्रनयं समासतो विद्यात्।”

25 [तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। “ऋजुं प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयत

इति ऋजुसूत्रः।” [सर्वार्थसि० १।३३] “सूत्रपातवद् ऋजुसूत्रः।” [राजवा० १।३३] “ऋजुं

प्रगुणं सूत्रयति नयत इति ऋजुसूत्रः। सूत्रपातवद् ऋजुसूत्र इति।” नयचक्रवृ० पृ० ३५४ B.]

धवलाटी० सत्प्रह०। “ऋजुसूत्रं क्षणध्वंसि वस्तुसत्सूत्रयेहजु। प्राधान्येन गुणीभावाद् द्रव्य-

स्यानर्पणात् सतः॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१] नयविव० श्लो० ७७। प्रमेयक० पृ० २०५ B.

30 सन्मति० टी० पृ० ३११। नयचक्रगा० ३८। तत्त्वार्थसारपृ० १०७। प्रमाणनय० ७।२८। स्या०

सं० पृ० ३१२। जैनतर्कभा० पृ० २२।

पृ० १५. पं० ४. 'दुर्नयः'—“निराकरोति यद् द्रव्यं वहिरन्तश्च सर्वदा। सतदाभोऽ

भिमन्तव्यः प्रतीतरेपलापतः॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१] नयविव० श्लो० ७८। प्रमेयक० पृ०

२०६ A. न्यायावता० टी० पृ० ८८। प्रमाणनय० ७।३०, ३१। जैनतर्कभा० पृ० २४।

35 पृ० १५. पं० ७. 'शब्दः'—“इच्छइ विसेसियतरं पच्चुप्पणं णओ सद्दो।”

[अनुयोग० ४ द्वा०] आव० नि० गा० ७५७। विशेषा० गा० २७१८। “यथार्थाभिधानं शब्दः...

आह च-विद्याद्यथार्थशब्दं विशेषितपदं तु शब्दनयम् ॥” [तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५] तत्त्वार्थहरि०,

तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। “लिंगसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दः ।” [सर्वार्थसि० १।३३]
 राजवा० १।३३। “शब्दपृष्ठतोऽर्थग्रहणप्रवणः शब्दनयः, लिङ्गसंख्याकालकारकपुरुषोपग्रहव्य-
 भिचारनिवृत्तिपरत्वात् ।” [धवलाटी० सत्प्र०] “कालादिभेदतोऽर्थस्य भेदं यः प्रतिपादयेत् ।
 सोऽत्र शब्दनयः शब्दप्रधानत्वादुदाहृतः ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७२] नयविव० श्लो० ८४।
 प्रमेयक० पृ० २०६ A. सन्मति० टी० पृ० ३१२। नयचक्र गा० ४०। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। 5
 प्रमाणनय० ७।३२, ३३। स्या० म० पृ० ३१३। जैनतर्कभा० पृ० २२।

पृ० १५. पं० ८. ‘अभिरूढ’—“वत्थूओ संकमणं होइ अवत्थू नण समभिरूढे ।”

[अनुयोग० ४ द्वा०] आव० नि० गा० ७५८। “सत्त्वर्थेष्वसङ्क्रमः समभिरूढः ।” [तत्त्वार्थाधि०
 भा० १।३५] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। “जं जं सण्णं भासइ तं तं चिय समभिरूढण-
 जम्हा । सण्णंतरत्थविमुहो तओ तओ समभिरूढोत्ति ॥” [विशेषा० गा० २७२७] “नानार्थ- 10
 समभिरूढणात् समभिरूढः ।” अथवा यो यत्राभिरूढः स तत्र समेत्याभिमुख्येनारोहणात्
 समभिरूढः ।” [सर्वार्थसिद्ध० १।३३] राजवा० १।३३। धवलाटी० सत्प्र० । “समभिरूढः एवं
 मत्त्वैकीभावेन आभिमुख्येन एक एव रूपादिरर्थ एवेति या या संज्ञा नानां (?) समभिरूढः ।”
 [नयचक्रवृ० पृ० ४८३ A.] “पर्यायशब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात् । नयः समभिरूढः स्यात्
 पूर्ववच्चास्य निश्चयः ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७३] नयविव० श्लो० ९२। प्रमेयक० पृ० २०६ A. 15
 सन्मति० टी० पृ० ३१३। नयचक्र गा० ४१। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। प्रमाणनय० ७।३६। स्या० म०
 पृ० ३१४। जैनतर्कभा० पृ० २२।

पृ० १५. पं० ८. ‘इत्थम्भूतः’—“वंजण अत्थ तदुभयं एवंभूओ विसेसेइ ।”

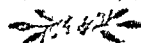
[अनुयोग० ४ द्वा०] आव० नि० गा० ७५८। “व्यञ्जनार्थयोरिवम्भूतः ।” [तत्त्वार्थाधि० भा०
 १।३५] तत्त्वार्थ हरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। “येनात्मना भूतस्तनेवाध्यवसाययति इत्थेवम्भूतः । 20
 अथवा येनात्मना येन ज्ञानेन भूतः परिणतः तेनेवाध्यवसाययति ।” [सर्वार्थसि० १।३३]
 राजवा० १।३३। “वंजणमत्थेणत्थं च वंजणोभयं विसेसेइ । जह वटमद्दं चंप्रावया तद्दा
 तं पि तेणेव ॥” [विशेषा० गा० २७४३] “एवं भेदे भवनादेवम्भूतः । न पदानां समासोऽस्ति
 भिन्नकालवर्तिनां भिन्नार्थवर्तिनां चैकत्वविरोधान् । न परस्परव्यपेक्षाप्यस्ति वर्णार्थमग्न्याका-
 लादिभिर्भिन्नानां पदानां भिन्नपदापेक्षायोगात् । ततो न वाक्यमप्यस्तीति सिद्धम् । ततः 25
 पदमेकार्थस्यैव वाचकमित्यध्यवसाय एवम्भूतनयः ।” [धवलाटी० सत्प्र०] “तत्क्रिया-
 परिणामोऽर्थस्तथैवेति विनिश्चयान् । एवम्भूतेन नीयत क्रियान्तरपराऽमुख्यः ॥” [तत्त्वार्थ-
 श्लो० पृ० २७४] नयविव० श्लो० ९६। प्रमेयक० पृ० २०६ B. सन्मति० टी० पृ० ३१४। नयचक्रगा०
 ४३। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। प्रमाणनय० ७।४०। स्या० म० पृ० ३१५। जैनतर्कभा० पृ० २३।

पृ० १५. पं० ९. ‘कालभेदात्तावत्’—तुलना-प्रमाणनय० ७।३३। जैनतर्क- 30
 भा० पृ० २२।

पृ० १६. पं० ५. ‘तदुत्पत्तिगारूप्य’—तुलना—“तन्मास्त्व्यतदुत्पत्ती यदि संवेद्य-
 लक्षणम् । संवेद्यं स्यात्समानार्थं विज्ञानं समनन्तरम् ॥” [प्रमाणवा० ३।३२३] प्रमाणनय० ८।८७।

पृ० १६. पं० १८. ‘स्त्यायत्यस्यां’—“संन्यासप्रमर्शो लिंगमात्रेभ्यो म्यक्रान्ततः ।

...अधिकरणसाधना लोके स्त्री स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति । कर्तृमाधनश्च पुमान् मूने पुमानिति । 35
 ...संस्त्यानविवक्षायां स्त्री, प्रमवविवक्षायां पुमान्, उभयविवक्षायां नपुंसकमिति ॥ पा०
 महा० ८।१।३]



पृ० १७, पं० ३, 'दुर्नय'—“एवं शब्दादयोऽपि सर्वथा शब्दाव्यतिरेकमर्थं समर्थ-
यन्तो दुर्नयाः ।” [न्यायावता० टी० पृ० ९० ।] “तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः ।”
[प्रमाणनय० ७।३४] जैनतर्कभा० पृ० २४ । “पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणः
तदाभासः ।” [प्रमाणनय० ७।३८] जैनतर्कभा० पृ० २४ । “क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया
5 प्रतिक्षिपंस्तु तदाभासः ।” [प्रमाणनय० ७।४२] जैनतर्कभा० पृ० २४ ।

पृ० १८, पं० ८, 'ज्ञानं प्रमाण'—तुलना—प्रमाणस० पृ० १२७ । “उक्तञ्च—ज्ञानं
प्रमाणमित्याहुरुपायो...” [धवलाटी० सत्प्ररू०]

पृ० १८, पं० २७, 'तिमिराशुभ्रमण'—“तिमिराशुभ्रमणनौयानसंज्ञाभायनाहि-
तविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । तिमिरमन्दोर्विस्वः, इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम् । आशुभ्रमण-
10 मलातादेः, मन्दं हि भ्राम्यमाणेऽलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते तदर्थमाशुग्रहणेन विशेष्यते
भ्रमणम् । एतच्च विषयगतं विभ्रमकारणम् । नावा गमनं नौयानम् । गच्छन्त्यां नावि स्थितस्य
गच्छद्वृत्तादिभ्रान्तिरुत्पद्यते इति यानग्रहणम् । एतच्च बाह्याश्रयस्थितं विभ्रमकारणम् । संज्ञोभो
वातपित्तश्लेष्मणाम् । वातादिषु हि क्षोभं गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्तिरुत्पद्यते । एतच्चाध्यात्म-
गतं विभ्रमकारणम् ।” [न्यायवि० टी० पृ० १६]

15 पृ० १६, पं० १, 'इन्द्रियमनसी'—“इन्द्रियमनसी विज्ञानकारणमिति वचनात् ।”
[न्यायवि० वि० पृ० ३२ A.] “तस्मादिन्द्रियमनसी विज्ञानस्य कारणं नार्थोऽपीत्यकलंकैरपि...”
[तत्त्वार्थ श्लो० पृ० ३३०]

पृ० १६, पं० ११, 'आलोकोऽपि'—तुलना—“ नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्य-
त्वात्तमेवत् । तदन्धयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च ।” [परीक्षामु०
20 २।६, ७] प्रमाणमी० १।१।२५ ।

पृ० १६, पं० १६, 'तमो निरोधि'—“उद्धृतेयम्—सिद्धिवि० टी० पृ० १८७ B
“तमोनिरोधे वीक्षन्ते तमसा नावृतं परम् । घटादिकम्...” [सन्मति० टी० पृ० ५४४]

पृ० १६, पं० २४, 'मलविद्धमणि'—उद्धृतेयम्—सिद्धिवि० टी० १९३ A आव०
नि० मलय० पृ० १७ । इष्टोपदेशटी० पृ० ३०। कर्मग्रथटी० पृ० ८ ।

25 तुलना—“मलावृतमणोर्व्यतिर्यथाऽनेकविधेदयते । कर्मावृतात्मनस्तद्वद्योग्यता विविधा
न किम् ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९१]

पृ० २०, पं० ६, 'न तज्जन्म'—पूर्वपक्षः—“तरमाच्चक्षुश्च रूपञ्च प्रतीत्योदेति नेत्र-
धीः ॥ (३।१९०) भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः । हेतुत्वमेव युक्तिज्ञाः ज्ञाना-
कारार्पणक्षमम् ॥ कार्यं ह्यनेकहेतुत्वेऽप्यनुकुर्वदुदेति यत् । तत्तेनाप्यत्र तद्रूपं गृहीतमिति
30 चोच्यते ॥ (३।२४७—४८) अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम् ।” तस्मात् प्रमेया-
धिगतेः साधनं मेयरूपता ।” [प्रमाणवा० ३।३०५]

तुलना—“ तत्पुनः तज्जन्मसारूप्यादिलक्षणं समानार्थनानैकसन्तानेषु संभवात् व्यभि-
चरति, तदध्यवसायहेतुत्वं च । तथा चार्थग्रहणे न कश्चिद्व्याघातः । अनागतस्य सम्प्रत्यभावेऽ-
पि विषयतोपपत्तेः प्रत्यक्षस्यापि अविशंवादः ।” [सिद्धिवि० पृ० ५६६—६८]

35 पृ० २, पं० १६, 'स्वहेतुजनितो'—उद्धृतेयम्—“स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः स्वयं ग्राह्यो

यथा मतः । तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं स्वयं तद्ग्राहकं मतम् ॥” [सिद्धिवि० टी० पृ० १० B.]
न्यायवि० वि० पृ० ३३ A.

पृ० २१. पं० १४. ‘उपयोगौ’—“तदुक्तम्—उपयोगौ श्रुतरय द्वौ प्रमाणनयभेदतः ।”
[सिद्धिवि० टी० पृ० ४ A.]

पृ० २१. पं० १६ ‘स्याद्वादः’—‘स च तिङन्तप्रतिरूपको निपातः । तस्याने- 5
कान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु संभवत्सु इह विवक्षावशादनेकान्तार्थो गृह्यते ॥” [राजवा०
पृ० १८१] “निर्दिश्यमानधर्मव्यतिरिक्ताशेषधर्मान्तरसंसूचकेन रयाता युक्तो वादोऽभिप्रेतधर्म-
वचनं स्याद्वादः ।” [न्यायावता० टी० पृ० ९३]

पृ० २१. पं० १७. ‘ज्ञानदर्शन’—तुलना—“स्यात्प्रदप्रयोगात्तु ये ज्ञानदर्शनसुखा-
दिरूपा असाधारणा ये चामूर्तत्वासंख्यातप्रदेशसूक्ष्मत्वलक्षणा धर्मा धर्माधर्मगगनास्तिकाय- 10
पुद्गलैः साधारणाः येषां च सत्त्वप्रमेयत्वधर्मित्वागुणित्वादयः सर्वपदार्थैः साधारणास्तेऽपि च
प्रतीयन्ते ॥” [आव० नि० मलय० पृ० १७० A.]

पृ० २१. पं० २०-२१. ‘साकल्य...वैकल्य’—सकलादेश-विकलादेशयोः स्वरूपे
प्रायः ऐकमत्येऽपि केचिदकलकाद्याचार्याः सर्वानपि भंगान् एकधर्ममुखेन अशेषधर्मात्मकवस्तु-
प्रतिपादनकाले सकलादेशरूपान् एकधर्मप्रधानतया अन्यधर्माश्च गौणतयाऽभिधानसमये 15
विकलादेशात्मकान् स्वीकुर्वन्ति । केचिच्च सिद्धसेनगणिप्रभृतयः सदसदवक्तव्यरूपं भंगत्रयम्
सकलादेशत्वेन शिष्टांश्च चतुरो भंगान् विकलादेशरूपेण मन्यन्ते । तथा च तेषां ग्रन्थाः—

“तथा चोक्तम्—सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति ॥” [सर्वार्थसि०
१।६] “तत्र यदा यौगपद्यं तदा सकलादेशः ॥” एकगुणमुखेनाशेषवरतुरूपसंग्रहान् सकलादेशः ॥”
“तत्रादेशवशात् सप्तभंगी प्रतिपदम् ।” यदा तु क्रमं तदा विकलादेशः (पृ० १८०) निरंश- 20
स्यापि गुणभेदादंशकल्पना विकलादेशः । “तत्रापि तथा सप्तभंगी ॥” [राजवा० पृ० १८१]
नयचक्रवृ० पृ० ३४८ B. “सकलादेशो हि यौगपद्येनाशेषधर्मात्मकं वस्तु कालादिभिरभेदवृत्त्या
प्रतिपादयति अभेदोपचारेण वा, तरय प्रमाणाधीनत्वात् । विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचारेण
भेदप्राधान्येन वा ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३६] प्रमेयक० पृ० २०७ A. सप्तभंगि० पृ० ३२ ।
प्रमाणनय० ४।४४, ४५। जैनतर्कभा० पृ० २० ।

25

“इयं सप्तभंगी प्रतिभंगं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च ॥” [प्रमाणनय० ४।
४३] जैनतर्कभा० पृ० २० । गुरुतत्त्ववि० पृ० १५ A. शास्त्रवा० टी० पृ० २५४ A. “यदा मध्य-
रथभावेनार्थित्ववशात् किञ्चिद्धर्म प्रतिपादयिष्यः शेषधर्मस्वीकरणनिराकरणविमुखया धिया
वाचं प्रयुञ्जते तदा तत्त्वचिन्तका अपि लौकिकवत् सम्मुग्धाकारतयाचक्षते—यदुत जीवोऽस्ति
कर्त्ता प्रमाता भोक्तेत्यादि, अतः सम्पूर्णवस्तुप्रतिपादनाभावात् विकलादेशोऽभिधीयते नयमतेन 30
संभवद्धर्माणां दर्शनमात्रमित्यर्थः ।” यदा तु प्रमाणव्यापारमविकलं परामृश्य प्रतिपादयितु-
मभिप्रयन्ति तदाङ्गीकृतगुणप्रधानभावा अशेषधर्मसूचककथञ्चित्पर्यायस्याच्छब्दभूपितया साव-
धारण्या वाचा दर्शयन्ति ‘स्यादस्त्येव जीवः’ इत्यादिकया, अतोऽयं स्याच्छब्दसंसूचिताभ्य-
न्तरीभूतानन्तधर्मकस्य साक्षादुपन्यस्तजीवशब्दक्रियाभ्यां प्रधानीकृतात्मभावस्यावधारणव्य-
वच्छिन्नतदसंभवस्य वस्तुनः सन्दर्शकत्वात् सकलादेश इत्युच्यते । प्रमाणप्रतिपन्नसम्पूर्णार्थ- 35
कथनमिति यावत् । तदुक्तम्—सा ज्ञेयविशेषगतिर्नयप्रमाणात्मिका भवेत्तत्र । सकलग्राहितु मानं
विकलग्राही नयो ज्ञेयः ॥” [न्यायावता० टी० पृ० ९२]

“एवमेते त्रयः सकलादेशा भाष्येणैव विभाविताः संग्रहव्यवहारानुसारिण आत्मद्रव्ये । सम्प्रति विकलादेशाश्चत्वारः पर्यायनयाश्रया वक्तव्यास्तत्प्रतिपादनार्थमाह भाष्यकारः—देशादेशेन विकल्पयितव्यमिति” विवक्षा यत्ता च वचसः सकलादेशता विकलादेशता च द्रष्टव्या । द्रव्यार्थजात्यभेदात् तु सर्वद्रव्यार्थभेदान्नैवेकं द्रव्यार्थं मन्यते, यदा पर्यायजात्यभेदांश्चैकं पर्यायार्थं सर्वपर्यायभेदान् प्रतिपद्यते, तदा त्वविवक्षितस्वजातिभेदत्वात् सकल वस्तु एकद्रव्यार्थभिन्नम् एकपर्यायार्थभेदोपचरितं तद्विशेषैकाभेदोपचरितं वा तन्मात्रमेकमद्वितीयांशं ब्रुवन् सकलादेशः स्यान्नित्य इत्यादिस्त्रिविधोऽपि नित्यत्वानित्यत्वयुगपद्वैकत्वरूपैकार्थाभिधायी । यदा तु द्रव्यपर्यायसामान्याभ्यां तद्विशेषाभ्यां वा वस्तुन एकत्वं तदतदात्मकं समुच्चयाश्रयं चतुर्थविकल्पे स्वांशयुगपद्वृत्तं क्रमवृत्तं च पञ्चमपष्टसप्तमेपूच्यते तथाविवक्षावशात् तदा तु तथा प्रतिपादयन् विकलादेशः ।” [तत्त्वार्थभा० टी० पृ० ४१६]

“तत्र विवक्षाकृतप्रधानभावसदाद्येकधर्मात्मकरयापेक्षितापराशेषधर्मक्रांटीकृतस्य वाक्यार्थस्य स्यात्कारपदलाञ्छितवाक्यात् प्रतीतेः स्यादस्ति घटः स्यान्नास्ति घटः स्यादवक्तव्यो घटः इत्येते त्रयो भङ्गा सकलादेशाः । विवक्षाविरचितद्वित्रिधर्मानुरक्तस्य स्यात्कारपदसंसूचितसकलधर्मस्वभावस्य धर्मिणो वाक्यार्थरूपस्य प्रतिपत्तेः चत्वारो वक्ष्यमाणका विकलादेशाः—स्यादस्ति च नास्ति घट इति प्रथमो विकलादेशः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च घट इति द्वितीयः, स्यान्नारित चावक्तव्यश्च घट इति तृतीयः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति चतुर्थः ।” [सन्मति० टी० पृ० ४४६]

उ० यशोविजयैः यद्यपि शास्त्रवा० टी०-जैनतर्कभा०-गुस्तत्वविनिश्चयादी सर्वेषु भगेषु सकलादेशविकलादेशोभयरूपता सिद्धान्तीकृता । तथापि तैः अष्टसहस्रीविवरणे ‘आद्याः त्रयो भङ्गाः सकलादेशाः शिष्टाश्च चत्वारो विकलादेशाः’ इत्यपि कृतान्तीकृतम् । तथाहि—“... किन्त्वाद्यभङ्गद्रव्यघटकनिजपररूपयोः शृंगग्राहिकया व्यवस्थापन एव नयभेदो मतभेदो वोपयुज्यते, तृतीयभङ्गस्त्ववक्तव्यत्वलक्षणः ताभ्यां युगपदादिष्टाभ्यां तद्वेदादनेकभेद इत्येते त्रयो निरवयवद्रव्यविषयत्वात् सकलादेशरूपाः, सदसत्त्व-सदवक्तव्यादयश्चत्वारस्तु चरमाः सावयवद्रव्यविषयत्वाद्विकलादेशरूपाः, देशभेदं विनैकत्र तु क्रमेणापि सदसत्त्वविवक्षा सम्प्रदायविरुद्धत्वात् नोदेतीति न निरवयवद्रव्यविषयत्वमेवामित्यस्मदभिमतोक्तमेव युक्तमिति मन्तव्यम् ।” [अष्टसह० विव० पृ० २०८ B.] शास्त्रवार्ताटीकायाम् अयमेव सिद्धान्तः ‘केचित्तु’ इति कृत्वा निर्दिष्टः । तथाहि—“केचित्तु—अनन्तधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादकत्वाविशेषेऽपि आद्यास्तय एव भङ्गा निरवयवप्रतिपत्तिद्वारा सकलादेशाः अग्रिमस्तु चत्वारः सावयवप्रतिपत्तिद्वारा विकलादेशाः इति प्रतिपन्नवन्तः ।” [शास्त्रवा० टी० पृ० २५४ B.]

पृ० २१. पं० २५. ‘स्याज्जीव एव’—मलयगिर्याचार्याः स्यात्पदप्रयोगं प्रमाणवाक्ये एव उररीकुर्वन्ति । एतन्मतानुसारेण सर्वेषां नयानां मिथ्यारूपत्वात् । अतस्तैः ‘स्यात्पदलाञ्छितो नयः सम्यग्’ इत्यकलङ्कमतस्य समालोचना कृता । समन्तभद्र-सिद्धसेनदिवाकरादिभिः उपज्ञातम् अकलंकमतं हेमचन्द्रादयः समर्थयन्ति । (द्रष्टव्यम्—टिप्पणं पृ० १४२ प० १३)

मलयगिरिकृता समालोचना इत्थम्—“नयचिन्तायामपि च ते दिगम्बराः स्यात्पदप्रयोगमिच्छन्ति तथा चाकलङ्क एव प्राह—‘नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्’ इति । अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता—नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्यं न केवलं प्रमाणवाक्यमित्यपिशब्दार्थः, तथैव स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्, यथा स्यादस्त्येव जीव इति । स्यात्पदप्रयोगाभावे तु मिथ्येकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यादिति । तदेतदयुक्तम्—

प्रमाणनयविभागाभावप्रसक्तेः; तथाहि—‘स्याज्जीव एव’ इति किल प्रमाणवाक्यम् ‘स्यादस्त्येव जीवः’ इति नयवाक्यम् । एतच्च द्वयमपि लघीयस्त्रयलङ्कारे साक्षादकलङ्केनोदाहृतम्, अत्र चोभयत्राप्यविशेषः, तथाहि—स्याज्जीव एवेत्यत्र जीवशब्देन प्राणधारणनिबन्धना जीवशब्द-वाच्यताप्रतिपत्तिः, अस्तीत्यनेनोद्भूताकारशब्दप्रयोगादजीवशब्दवाच्यतानिषेधः, स्याच्छब्द-प्रयोगतोऽसाधारणसाधारणधर्माक्षेपः । ‘स्यादस्त्येव जीवः’ इत्यत्र जीवशब्देन जीवशब्द-वाच्यताप्रतिपत्तिः, अस्तीत्यनेनोद्भूतविवक्षितास्तित्वावगतिः, एवकारप्रयोगात्तु यदाशङ्कितं सकलेऽपि जगति जीवस्य नास्तित्वं तद्व्यवच्छेदः, स्यात्प्रदप्रयोगात् साधारणासाधारणप्रति-पत्तिरित्युभयत्राप्यविशेष एव ।” [आव० नि० मलय० पृ० ३७१ A.]

उ० यशोविजयैः सर्वमेतत् मलयगिरिमतं पूर्वपक्षीकृत्य इत्थं समाहितम्—“अत्रेदमव-धेयम्—यो नाम नयो नयान्तरापेक्षस्तस्य प्रमाणान्तर्भावे व्यवहारनयः प्रमाणं स्यात्, तस्य तपः-संयमप्रवचनग्राहकत्वेन संयमग्राहिनिश्चयविषयकत्वेन तत्सापेक्षत्वात् । शब्दनयानाञ्च निक्षेपच-तुष्ट्याभ्युपगन्तृणां भावाम्युपगन्तृशब्दनयविषयविषयकत्वेन तत्सापेक्षत्वात्प्रमाणत्वापत्तिः । नयान्तरवाक्यसंयोगेन सापेक्षत्वे च ग्राह्ये स्यात्पदप्रयोगेण सप्रतिपक्षनयद्वयविषयावच्छेदकस्यैव लाभात् तेनानन्तधर्मात्मकत्वापरामर्शः । न चेदेवं तदानेकान्ते सम्यगेकान्तप्रवेशानुपपत्तिः, अव-च्छेदकभेदं विना सप्रतिपक्षविषयसमावेशस्य दुर्वचत्वात् । इष्यते चायम्, यदाह महामतिः—‘भयणा वि हु भइयव्वा जह भयणा भसइ सव्वदव्वाइ’ । एवं भयणानियमो वि होइ समयाविरा-हण्या ॥’ (सन्मति० गा० ३।२७) इति । समन्तभद्रोऽप्याह—‘अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणन-यसाधनः । अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥’ (बहत्स्वय० श्लो० १०३) इति । पारमर्पेऽपि—‘इमा णं भंते रयणप्पभा पुढवी कि सासया असासया ? गोयमा । सिय सासया मिय असासया । से केणट्ठेणं भंते । एवं बुच्चइ । गोयमा । दव्वट्ठयाए सासया पज्जवट्ठयाए असासया ।’ (भगवतीसू०) इति प्रदेशे स्यात्पदमवच्छेदकभेदप्रदर्शकतयैव विवृतम्, अत एव स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकमेव तान्त्रिकैरुच्यते, सम्यगेकान्तसाधकस्यानेकान्ताक्षेपकत्वान्, न त्वनन्तधर्मपरामर्शकम्, अतो न स्यात्पदप्रयोगमात्राधीनमादेशसाकल्यं येन प्रमाणनयवाक्य-योर्भेदो न स्यात्, किन्तु स्वार्थोपस्थित्यनन्तरमशेषधर्माभेदोपस्थापकविधेयपदवृत्त्यधीनम्, सा च विवक्षाधीनेत्यादेशसाकल्यमपि तथेति नयप्रमाणवाक्ययोरित्थं भेद एव । मलयगिरिपादवचनं तु अप्रतिपक्षधर्माभिधानस्थलेऽवच्छेदकभेदाभिधानानुपयुक्तेन स्यात्पदेन साक्षादनन्तधर्मात्मक-त्वाभिधानात्तत्र प्रमाणनयभेदानभ्युपगन्तृदुर्विदग्धिगम्बरनिराकरणाभिप्रायेण योजनीयम् ।” [गुरुतत्त्ववि० पृ० १७ B.]

पृ० २२. पं० १. ‘अप्रयुक्तोऽपि’—“विधौ निषेधेऽन्यत्रापि ..” [आव० नि० मलय० पृ० ३६९ B.] गुरुतत्त्ववि० पृ० १६ A.

तुलना—“सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात् प्रतीयते । यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छे-दप्रयोजनः ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३७] स्या० रत्ना० पृ० ७१८ । रत्नाकरावता० पृ० ६१ । सप्तमंगि० पृ० ३१ । स्या० मं० पृ० २७९ । नयप्रदीप पृ० ९६ A.

पृ० २२. पं० ३. ‘क्वचित् स्यात्कार’—तुलना—“अत्रान्यत्रापि इति .. अनुवादा-तिदेशादिवाक्येषु ..” [आव० नि० मलय० पृ० ३६९ B.]

पृ० २२. पं० १६. ‘लोको हि अर्थाप्त्यनाप्तिषु’—तुलना—“बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं वाह्यार्थे सति नासति । सत्यानृतव्यवस्थैवं युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु ॥” [आप्तमी० वा० ८७]

पृ० २२. पं० २४. ‘नयाः सप्त’—“सत्त मूलण्या पणत्ता तं जहा—गंगमे, संगहे,

व्यवहारे, उज्जुमूए, सद्धे, समभिरुढे, एवंभूए ।” [स्थाना० ७।१९] अनुयोग० १३६। “नैगमसंग्र-
हव्यवहारजुसूत्रशब्दसमभिरुढेवम्भूताः नयाः ।” [तत्त्वार्थसू० १।३३] “नैगमसंग्रहव्यवहारुज्जु-
सुए होई वोधव्वे । सद्धे य समभिरुढे एवंभूए य मूलनया ॥” [आव० नि० गा० ७५४] “नैगमसं-
ग्रहव्यवहारजुसूत्रशब्दा नयाः । आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ।” [तत्त्वार्थाधि० १।३४, ३५]

5 सिद्धसेनदिवाकरास्तु पड् नयान् स्वीकुर्वन्ति, तन्मतानुसारेण नैगमस्य संग्रहव्यव-
हारयोरन्तर्भावात् । (सम्मति० १।४, ५)

पृ० २३. पं० ६. ‘व्यतिरेकः’—तुलना—“अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यति-
रेको गोमहिपादिवत् ।” [परीक्षामु० ४।९]

पृ० २३. पं० १६. ‘ततस्तीर्थकर’—तुलना—“मित्थयरवयणसंगहविसेसपत्था-
10 रमूलवागरणी । दव्वद्विओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासि ॥” [सम्मति० गा० १।३]

पृ० २३. पं० १८. ‘न नैगमस्य प्रमाणता’—तुलना—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६९ ।

पृ० २४. पं० ६. ‘व्यवहारानु’—“व्यवहारानुकूल्येन . . .” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१]

तुलना—“प्रामाण्यं व्यवहारेण . . .” [प्रमाणवा० ३।५]

पृ० २४. पं० २३. ‘चत्वारोऽर्थ’—तुलना—“चत्वारोऽर्थाश्रयाः शेषास्त्रयं शब्दतः ।”
15 [सिद्धिवि० पृ० ५१७ B.] राजवा० पृ० १८६ । “अत्थप्पवरं सद्धोवसज्जणं वत्थमुज्जुसुत्तं ता ।
सद्धप्पहाणमत्थोवसज्जणं सेसया विति ॥” [विशेषा० गा० २७५३] प्रमाणनय० ७।४४, ४५ ।
जैनतर्कभा० पृ० २३ । नयप्रदीप पृ० १०४ B. “तत्रजुसूत्रपर्यन्ताश्चत्वारोऽर्थनया मताः । त्रयः
शब्दनयाः शेषाः शब्दवाच्यार्थगोचराः ॥” [नयविव० पृ० २६२]

उद्धृतमिदम्—“जीवाद्यर्थविनिश्चयात् ।” [आव० नि० मलय० पृ० ३८१ B.] सूत्रकृताग
20 टी० पृ० ३२६ A.

पृ० २५. पं० २६. ‘न्यासः’—“विस्तरेण लक्षणतो विधानतश्चाधिगमार्थं न्यासो
निक्षेपः ।” [तत्त्वार्थाधि० भा० १।५] “णिच्छए णिएणए खिवदि त्ति णिवखेवो । सो वि छव्विहो
णामट्ठवणादव्वखेत्तभावमंगलमिदि ।” [धवलाटी० सत्प्र०]

पृ० २५. पं० २६. ‘चतुर्धा’—“जत्थ य जं जाणेज्जा निक्खेवं निक्खिखे निरवसेसं ।
25 जत्थवि अ न जाणेज्जा चउक्कगं निक्खिखे तत्थ ॥ आवस्सयं चउव्विहं पएणत्ते । तं जहा-
नामावस्सयं ठवणावस्सयं दव्वावस्सयं भावावस्सयं ।” [अनु० सू० ८] “नामस्थापनाद्रव्य-
भावतस्तन्न्यासः ।” [तत्त्वार्थसू० १।४]

मूलाचारे पडावश्यकाधिकारे (गा० १७) सामायिकस्य निक्षेपः नामस्थापनाद्रव्य-
क्षेत्रकालभावैः पड्विध उक्तः । आवश्यकनिर्युक्तौ (गा० १२९) नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालव-
30 चनभावविकल्पात् सप्तविधो निक्षेपः प्ररूपितः ।

पृ० २६. पं० १. ‘नाम’—“नाम संज्ञाकर्म इत्यनर्थानन्तरम् ।” [तत्त्वार्थाधि०
भा० १।५] “अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषाकारान्नियुज्यमानं संज्ञाकर्म नाम ।”
[सर्वार्थसि० १।५] राजवा० पृ० २०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९८। “पज्जायाणभिधेयं ठिअमएणत्थे
तयत्थनिरवेक्खं । जाइच्छिअं च नामं जावदव्वं च पाएणं ॥” [विशेषा० गा० २५] जैनतर्कभा०
35 पृ० २५ । “अत्ताभिप्पायकया सन्ना चेयणमचेयणे वा वि । ठवणादी निरविकखा केवल
सन्ना उ नामिदो ॥” [बृहत्कल्पभा० गा० ११] “तत्थ णाममंगलं णामणिमित्तंतरणिरवेक्खा
मंगलसएणा । तत्थ णिमित्तं चउव्विहं जाइ दव्व गुण किरिया चेदि ॥” [धवलाटी० सत्प्र०]

पृ० २६. पं० २. 'स्थापना'—“यः काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स्थापनाजीवः देवताप्रतिकृतिवद् इन्द्रो रुद्रः स्कन्दो विष्णुरिति ।” [तत्त्वार्थाधि० भा० १।५] “काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना ।” [सर्वार्थसि० १।५] राजवा० पृ० २० । “जं पुण तयत्थसुन्नं तयभिप्पाएण तारिसागारं । कीरइ व निरागारं इत्तरमियरं व सा ठवणा ॥” [विशेषा० गा० २६] “सम्भावमसम्भावे ठवणा पुण इंदके- 5 उमाईया । इत्तरमणित्तरा या ठवणा नामं तु आवकहं ॥” [बृहत्कल्पभा० गा० १३] ‘सद्भाव-स्थापनया नियमः, असद्भावेन वाऽतद्रूपेति स्थूणेन्द्रवत् ।’ [नयचक्रवृ० पृ० ३८१ A.] जैनतर्कभा० पृ० २५ । “आहिदणामस्स अणणस्स सोयमिदिद्वणं ठवणा णाम । सा दुविहा-सम्भावसम्भावद्ववणा चेदि । तत्थ आगारवंतए वत्थुम्मि सम्भावद्ववणा । तत्थिवरीया असम्भावद्ववणा ।” [धवलाटी० सत्प्ररू०] “वस्तुनः कृतसंज्ञरय प्रतिष्ठा स्थापना मता । सद्भाव- 10 वेतरभेदेन द्विधा तत्त्वाविरोधतः ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११]

पृ० २६. पं० ३. 'द्रव्य'—“द्रव्यजीव इति गुणपर्यायवियुक्तः प्रज्ञास्थापितोऽनादि-पारिणामिकभावयुक्तो जीव उच्यते ।” [तत्त्वार्थाधि० भा० १।५] “गुणैः द्रोष्यते गुणान् द्रोष्यतीति वा द्रव्यम् ।” [सर्वार्थसि० १।५] “अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम् । अतद्भवं वा ।” [राजवा० पृ० २०] धवलाटी० सत्प्ररू० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११ । 15 “द्वे पुण तल्लद्धी जस्सातीता भविस्सते वा वि । जो वावि अणुवजुत्तो इंदस्स गुणे परिकहेइ ॥” [बृहत्कल्पभा० गा० १४] विशेषा० गा० २८ । जैनतर्कभा० पृ० २५ । “भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके । तद् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम् ॥” [आव० नि० मलय० पृ० ६ B.]

पृ० २६. पं० ३. 'भावनिक्षेपः'—“वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः ।” 20 [सर्वार्थसि० १।५] राजवा० पृ० २१ । धवलाटी० सत्प्ररू० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ११३ । “जो पुण जहत्थजुत्तो सुद्धनयाणं तु एस भाविदो । इंदस्स वि अहिगारं वियाणमाणो तदुवउत्तो ॥” [बृहत्कल्पभा० गा० १५] “भावो विवक्षितक्रियानुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः । सर्वज्ञैरिन्द्रा-दिवदिहेन्दनादिक्रियानुभवात् ॥” [आव० नि० मलय० पृ० ९ A.]

पृ० २६. पं० ४. 'अप्रस्तुतार्था'—तुलना—“स किमर्थः ? अप्रकृतनिराकरणाय 25 प्रकृतनिरूपणाय च ।” [सर्वार्थसि० १।५] तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९८ । “अथ किमिति निक्षेपः क्रियते ? इति चेदुच्यते—त्रिविधाः श्रोतारः अव्युत्पन्नः, अवगताशेषविवक्षितपदार्थः, एकदेश-तोऽवगतविवक्षितपदार्थ इति । तत्र प्रथमोऽव्युत्पन्नत्वान्नाध्यवस्यतीति विवक्षितपदस्यार्थम् । द्वितीयः संशेते कोऽर्थोऽस्य पदस्याधिकृत इति, प्रकृतार्थादन्यमर्थमादाय विपर्यस्यति वा । 30 द्वितीयवृत्ततीयोऽपि संशेते विपर्यस्यति वा । तत्र यद्यव्युत्पन्नः पर्यायार्थिको भवेन्निक्षेपः; अव्युत्प-न्नव्युत्पादनमुखेन अप्रकृतनिराकरणाय । अथ द्रव्यार्थिकः, तद्द्वारेण प्रकृतप्ररूपणायशे-पनिक्षेपा उच्यन्ते, व्यतिरेकधर्मनिर्णयमन्तरेण विधिनिर्णयानुपपत्तेः । द्वितीयवृत्ततीययोः संशयविनाशायाशेषनिक्षेपकथनम् । तयोरेव विपर्यस्यतोः प्रकृतार्थावधारणार्थं निक्षेपः क्रियते । उक्तं हि—अवगयणिवारट्ठं पयदस्स परूवरणाणिमित्तं च । संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च ॥” [धवलाटी० सत्प्ररू०] उद्धृतमिदं वाक्यम्—जैनतर्कभा० पृ० २५ । 35

पृ० २६. पं० ५. 'निर्देशादिभिः'—“निर्देशे पुरिसे कारण कहिं केसु कालं कइविहं ।” [अनु० सू० १५१] “निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ।” [तत्त्वार्थसू० १।७] “किं केण कस्स कत्थवि केवचिरं कदिविधो य भावो य । छहि अणिआगद्वारे ॥” [मूलाचार ८।१५] २०

पृ० २६. पं० ५. 'सदादिभिः'—'से किं ते अणुगमे? नवविहं पण्णत्ते तं जहा-

संतपयपरूवणया, दव्वपमाणं च, खित्त, फुसणा य. कालो य, अंतरं. भाग, भाव, अप्पावहुं
चेव।" [अनु० सू० ८०] "सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावान्पवहुत्वेच्च ।" [तत्त्वार्थमू० १।८]

पृ० २६. पं० ६. 'जीवस्थान'—'सुहुमा वादरकाया ते खलु पज्जत्तया अपज्जत्ता ।

5 एइंदिया दु जीवा जिणेहि कहिया चटुवियप्पा ॥ पज्जत्तापज्जत्ता वि होंति विगलिदिया दु
छब्भेया । पज्जत्तापज्जत्ता सण्णि असण्णी य सेसा दु ॥" [मूलाचारपर्या० गा० १५२-१५३]
जीवकांड गा० ७२ । कर्मग्र० ४।२ ।

पृ० २६. पं० ६. 'गुणस्थान'—'मिच्छादिद्वी सारादणो य मिरमो असंजदो चेव ।

देसविरदो पमत्तो अपमत्तो तह य णायव्वो ॥ एतो अपुव्वकरणो अणियद्वी सुहुमसंपगाओ य ।
10 उव्वसंतखीणमोहो सजोगकेवलजिणो अजोगी य ॥" [मूलाचारपर्या० गा० १५४-१५५]
जीकाण्ड गा० ९-१० । कर्मग्र० २।२ ।

पृ० २६. पं० ६. 'मार्गणास्थान'—'गइ इंदिये च काये जोगे वेदे कसायणाणे य ।

संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥" [मूलाचारपर्या० गा० १५६] जीवकाण्ड
गा० १४१ । कर्मग्र० ४।१ ।

15 पृ० २६. पं० १०. 'नहि गुणादिविनाशात्'—तुज्जना—'आत्मलाभं विदुर्मोक्षं
जीवस्यान्तर्मलक्षयात् । नाभावं नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥" [सिद्धिवि० पृ० ३८४]

पृ० २६. पं० १०. 'जडः'—नैयायिकाः जडरूपत्वमात्मनो मुक्तौ स्वीकुर्वन्ति ।

तथाहि—'नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते सन्तानत्वात्, यो यः सन्तानः
स सोऽत्यन्तमुच्छिद्यमानो दृष्टो यथा प्रदीपसन्तानः ।" [प्रश० व्यो० पृ० २० क] "तदेवं
20 नवानामात्मगुणानां निर्मूलच्छेदोऽपवर्ग इति यदुच्यते तदेवेदमुक्तं भवति तदत्यन्तवियोगो-
ऽपवर्ग इति ।" [न्यायम० पृ० ५०८]

पृ० २६. पं० १० 'शून्यः'—'बौद्धाः शून्यात्मकत्वमपि मुक्तौ मन्यन्ते । तथाहि—

"इह हि भगवता उपितब्रह्मचर्याणां तथागतशासनप्रतिपन्नानां धर्मानुधर्मप्रतिपत्तिशुक्लानां
पुद्गलानां द्विविधं निर्वाणमुपवर्णितं सोपधिशेषम्, निरुपधिशेषं च । तत्र निरवशेषरथाविद्या-
25 रागादिकस्य क्लेशगणस्य प्रहाणान् सोपधिशेषं निर्वाणमिष्यते । तत्रोपधीयतेऽस्मिन्नात्मस्तेह
इत्युपधिः । उपधिशब्देन आत्मज्ञप्तिनिमित्ताः पञ्चोपादानस्कन्धा उच्यन्ते । शिष्यत इति शेषः ।
उपधिरेव शेष उपधिशेषः । सह उपधिशेषेण वर्तते इति सोपधिशेषम् । किं तन्निर्वाणम् । तच्च
स्कन्धमात्रकमेव केवलं सत्कायदृष्ट्यादिक्लेशतस्कररहितमवशिष्यते निहताशेषचौरगणग्राम-
मात्रावस्थानसाधर्म्येण, तत्सोपधिशेषं निर्वाणम् । यत्र तु निर्वाणे स्कन्धमात्रकमपि नास्त
30 तन्निरुपधिशेषं निर्वाणम् । निर्गतं उपधिशेषोऽस्मिन्निति कृत्वा । निहताशेषचौरगणस्य ग्राममा-
त्रस्यापि विनाशसाधर्म्येण ।" [माध्यमिकवृ० पृ० ५१९]

पृ० २६. पं० ११. 'तदभोक्ता'—सांख्या हि विरते प्रकृतिसंयोगे मुक्त्यवरथायां

पुरुषमभोक्तारं साक्षिणमामनन्ति । तथाहि—'प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मेरुतिर्भवति ।
या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
35 प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः ॥" [सांख्यका० ६।१, ६५]

इति लघीयस्त्रयस्य टिप्पणानि ।

न्यायविनिश्चयस्य

॥ टिप्पणानि ॥



पृ० २६, पं० ३. 'प्रसिद्धाशेष'—तुलना—“प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थबोधः” [आप्तप० का० १] पत्रपरी० का० १ ।

पृ० २६, पं० ६. 'वालानां हितकामिनाम्'—तुलना—प्रमाणवा० १।२। श्लोकोऽयं नयविवरणे (कारि० ११९) मूलरूपेण उपलभ्यते ।

पृ० २६, पं० १४. 'प्रत्यक्षलक्षणं'—‘आकलंकावबोधने’ इति कृत्वा समग्रेयं ५ कारिका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके (पृ० १८४) विद्यते । ‘तदुक्तं भगवद्भिरकलङ्कदेवैर्न्यायविनिश्चये’ इति कृत्वा पूर्वार्द्धं न्यायदीपिकायाम् (पृ० ८) उद्धृतम् ।

पृ० २६, पं० १५. 'द्रव्यपर्यायसामान्य'—‘तुलना—द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषास्तस्य गोचराः ।’ [जैनतर्कवा० पृ० १०१]

पृ० २६, पं० १५. 'सामान्यविशेष'—तुलना—“...सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य 10 ...” (पृ० २७) “सामान्यविशेषसमुदायोऽत्र द्रव्यम् ।” [योगसू० व्यासभा० पृ० ३६६] “सर्ववस्तुषु बुद्धिश्च व्यावृत्त्यनुगमात्मिका । जायते द्रव्यात्मकत्वेन विना सा च न सिद्ध्यति ॥ ...तेन नात्यन्तभेदोऽपि स्यात् सामान्यविशेषयोः ॥” [मी० श्लो० पृ० ५४६-४८] “सर्वेष्वपि वस्तुषु इयमपि गौरियमपि गौः अयमपि वृक्षोऽयमपि इति व्यावृत्तानुवृत्ताकारं प्रत्यक्ष देशकालावस्थान्तरेष्वविपर्यस्तमुदीयमानं सर्वमेव तर्काभासं विजित्य द्वयाकारं वस्तु व्यवस्थापयत् 15 केनान्येन शक्यते बाधितुम् ।” [शास्त्रदी० पृ० ३८७]

पृ० ३०, पं० ७. 'एकत्र निर्णये'—पूर्वार्द्धं प्रमाणसंग्रहे (का० ८) उपलभ्यते ।

पृ० ३०, पं० १०. 'अभिलापतदंशानाम्'—अस्यां कारिकायां बौद्धाभिमतस्य 'अभिलापवत्त्वं विकल्पस्य लक्षणम्' इति मतस्य खण्डनं कृतम् । तन्मतञ्चेत्थम्— “अथ कल्पना च कीदृशी चेदाह—नामजात्यादियोजना । यदच्छाशब्देषु नाम्ना विशिष्टाऽर्थ उच्यते 20 ङित्थ इति । जातिशब्देषु जात्या गौरयमिति । गुणशब्देषु गुणेन शुक्त इति । क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति । द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विपाणीति ।” [प्रमाणसमु० टी० पृ० १२] “अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना” [न्यायवि० पृ० १३] “...अभिलापिनी प्रतीतिः कल्पना” । शब्दार्थघटनायोग्या वृत्त इत्यादिरूपतः । या वाचामप्रयोगेऽपि साभिलापेव जायते ॥” [तत्त्वस० पृ० ३६६]

25

अष्टसहस्र्याम् अस्य सोद्धरणं व्याख्यानमित्थम्—“नाम्नो नामान्तरेण विनापि स्मृतौ केवलार्थव्यवसायः किन्न स्यात् ? स्वाभिधानविशेषापेक्षा एवार्था निश्चयेर्व्यवसोयन्ते इत्येका-

न्तस्य त्यागात्, नाम्नः स्वलक्षणस्यापि स्वाभिधानविशेषानपेक्षस्यैव व्यवसायवचनेनात् । तदवचने
वा न कचिद्व्यवसायः स्यात्, नामतदंशानामव्यवसाये नामार्थव्यवसायायोगात् । दर्शनेना-
व्यवसायात्मना दृष्टस्याप्यदृष्टकल्पत्वात् सकलप्रमाणाभावः प्रत्यक्षस्याभावेऽनुमानान्थाना-
भावात् । तत एव सकलप्रमेयापायः, प्रमाणापाये प्रमेयव्यवस्थानुपपत्तेः इत्यप्रमाणप्रमेयत्वम-
शेषस्यावश्यमनुपपज्येत । तदुक्तं न्यायविनिश्चये-‘अभिलापः’ इति । ‘अभिलापविवेकतः’ इति
अभिलापरहितत्वादिति व्याख्यानात् । प्रथमपक्षोपपत्तिप्रदोपपरिजिहीर्षया तन्नामान्तरपरिकल्प-
नायामनवस्था । नामतदंशानामपि नामान्तरस्मृतौ हि व्यवसाये नामान्तरगतदंशानामपि
व्यवसायः स्वनामान्तरस्मृतौ सत्यामित्यनवस्था स्यात् । तथा च तदेवाप्रमाणप्रमेयत्वमवश्य-
मनुपपज्येत । अत्रापि इयमेव कारिका योज्या ‘अभिलापविवेकतः’ इति अभिलापविनिश्चयान्
इति व्याख्यानात् ।” [अण्डसह० पृ० १२०] तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४० ।

पृ० ३०, पं० १८. ‘आत्मनाऽनेकरूपेण’-“तदुक्तं न्यायविनिश्चये-आत्म ना-
ऽनेकरूपेण इत्यादि ।” [सिद्धिवि० टी० पृ० ५६ B. ५१२ A.]

पृ० ३१, पं० ३. ‘परोक्षज्ञानविषय’-अत्र हि परोक्षज्ञानवादिना मीमांसकस्य
खण्डनम् । तन्मतञ्चेत्थम्-“न ह्यज्ञातेऽर्थं कश्चिद्बुद्धिमुपलभते, ज्ञाते तु अनुमानादवगच्छति”
तस्मादप्रत्यक्षा बुद्धिः ।” न चार्थव्यपदेशमन्तरेण बुद्धे रूपोपलम्भनम् । तस्मान्न बुद्धिवि-
षयं प्रत्यक्षम्, अर्थविषयं हि तत् । अतः सिद्धमानुमानिकत्वं बुद्धेः फलतः ।” [शाबरभा०
बृहती पृ० ८७]

तुलना-“परोक्षज्ञानार्थपरिच्छेदः परोक्षवत् ।” [प्रमाणस० पृ० ९८ पं० १७]

पृ० ३१, पं० ६. ‘अन्यथानुपपन्नत्व’-उद्धृतं पूर्वार्द्धं प्रमेयरत्नमालाया (३।१५)
प्रमाणनिर्णये च (पृ० १२)

तुलना-“तथा चान्यथानुपपन्नत्वमसिद्धस्य न सिद्धयति ।” [सिद्धिवि० पृ० १३४ A.]

पृ० ३१, पं० १३. ‘अध्यक्षमात्मनि’-तुलना-“प्रत्यक्षमात्मनि ज्ञानमपरत्रा-
नुमानिकम् । प्रत्यात्मवेद्यमाहन्ति तत्परोक्षत्वकल्पनाम् ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १६६]

पृ० ३१, पं० २५. ‘विषयेन्द्रिय’-तुलना-“अपि चाध्यक्षताभावे धियः स्याल्लि-
गतो गतिः । तच्चाक्षमर्थो धीः पूर्वो मनस्कारोऽपि वा भवेत् ॥ कार्यकारणसामग्र्यामस्यां सम्ब-
न्धिता परम् । सामर्थ्यादर्शनात्तत्र नेन्द्रियं व्यभिचारतः ॥ तथार्थो धीमनस्कारौ ज्ञानं तौ च
न सिद्धयतः । नाप्रसिद्धस्य लिगत्वं व्यक्तिरर्थस्य चेन्मता ॥...” [प्रमाणवा० ३।४६१-६३]

पृ० ३१, पं० २५. ‘मनस्कारादि’-“मनस्कारश्चेतस आभोगः । आभुजनमा-
भोगः, आलम्बेन येन चित्तमभिमुखीक्रियते । स पुनरालम्बेन चित्तधारणकर्म । चित्तधारणं
पुनः तत्रैवा (तत्रैवा) लम्बने पुनः पुनश्चित्तस्यावर्जनम् । एतच्च कर्म चित्तसन्ततेरालम्बन-
नियमेन विशिष्टं मनस्कारमधिकृत्योक्तम् ।” [त्रिशिकाभा० पृ० २०] “विषये चेतस आवर्जनं
(अवधारणं) मनस्कारः मनः करोति आवर्जयतीति ।” [अभिधर्मको० व्या० २।२४]

पृ० ३२, पं० ७. ‘असञ्चारोऽनवस्थानम्’-तुलना-“ज्ञानान्तरेणानुभवेऽनवस्था
तत्र च स्मृतिः । विषयान्तरसञ्चारस्तथा न स्यात् स चेष्ट्यते ॥” [प्रमाणसमु० १।१३]
“ज्ञानान्तरेणानुभवो भवेत्तत्रापि च स्मृतिः । दृष्ट्वा तद्वेदनं केन तस्याग्रन्देन चेदिमाम् ॥ मालो
ज्ञानविदां कोऽयं जनयत्यनुबन्धिनीम् । पूर्वा धीः सैव चेन्न स्यात्सञ्चारो विषयान्तरे ॥”

[प्रमाणवा० ३।५१३-१४] “ ज्ञानान्तरेणानुभवे सोऽर्थः स्वानुभवे सति । प्र (अ) सिद्धः सिद्धयसंसिद्धेः कदा सिद्धो भवेत्पुनः ॥ तज्ज्ञानज्ञानजातौ चेदसिद्धः स्वात्मसंविदि । परसंविदि सिद्धस्तु स इत्येतत्सुभाषितम् ॥ तस्याप्यनुभवे (ऽसिद्धे) प्रथमस्याप्यसिद्धता । तत्रान्यसंविदुत्पत्तावनवस्था प्रसज्यते ॥ गोचरान्तरसञ्चारस्तथा न स्यात् स चेप्यते । गोचरान्तरसञ्चारे यदन्त्यं तत्स्वतोऽन्यतः ॥ न सि (द्ध्येत्तस्य चा) सिद्धौ सर्वेषामप्यसिद्धता । अतश्चान्वयम- 5 शेषस्य जगतः सम्प्रसज्यते ॥ ” [तत्त्वसं० पृ० ५६४] तत्त्वार्थश्लो० पृ० १६७ ।

पृ० ३३. पं० ६. ‘सारूप्येऽपि’—पूर्वपक्षः—“हेतुभावादृते नान्या ग्राह्यता नाम काचन । तत्र बुद्धिर्यदाकारा तस्यास्तद् ग्राह्यमुच्यते ॥ ” [प्रमाणवा० ३।२२४] “अर्थेन घटय- 10 त्येनां न हि मुक्त्यर्थरूपताम् । अन्यत्स्वभेदो ज्ञानस्य भेदकोऽपि कथञ्चन ॥ तस्मात् प्रमेया- धिगतेः साधनं मेयरूपता । ” [प्रमाणवा० ३।३०५]

पृ० ३४. पं० १५. ‘सत्यं तमाहुः’—“तदुक्तं न्यायविनिश्चये—सत्यं तमाहुः” सदर्थमसदर्थ वा [सिद्धिवि० टी० पृ० १८९] “सत्यं तमाहुर्विद्वांसो विद्यया विभ्रमेण यः । ” [प्रमाणसं० पृ० १०७]

पृ० ३४. पं० १६. ‘विषयज्ञान’—स्वसंवेदनज्ञानवादिभिः बौद्धैः हि विषयज्ञान- तज्ज्ञानयोः भेददर्शनात् तदाकारता प्रसाध्यते । ग्रन्थकृता उक्तं यत्—विषयज्ञानतज्ज्ञानभेदः 15 निराकारत्वेऽपि सुघटः । बौद्धानां तदाकारतासाधनप्रकारः इत्थं द्रष्टव्यः—

“विषयज्ञानतज्ज्ञानभेदाद् बुद्धेर्द्विरूपता । स्मृतेरप्युत्तरे काले नह्यसाधविभावितः ॥ ” [प्रमाणसमु० १।१२] “ननु चाकारः प्रमाणं स्वसंवेदनं फलमिति साकारसिद्धौ स्यात्, तदेव तु कथं सिद्धयति ? उक्तमत्र, अपि च—

विषयज्ञानतज्ज्ञानविशेषाद् बुद्धिरूपता ।

20

विषये रूपादौ यज्ज्ञानं तदर्थस्वाभासम्, विषयज्ञाने तु यज्ज्ञानं तदर्थानुरूपज्ञानाभासम् स्वाभासञ्च । अन्यथा यदि विषयज्ञानमर्थकारमेव स्यात् स्वाकारमेव वा विषयज्ञानज्ञानमपि तदविशिष्टं स्यात् । विषये यत् ज्ञानं तदर्थस्वाभासमिति साध्यम्, उत्तरं हेतुः, अन्यथेत्यादि वाधकप्रमाणम् । ” [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ८३]

तुलना—“विषयज्ञानतद्विज्ञानयोरविशेषः—विषयाकारपरिच्छेदात्मनि ज्ञाने यदि स्वाकार- 25 परिच्छेदो न स्यात् तद्विषये विज्ञाने विषयाकाररूपतैवेति तयोरविशेषः स्यात् । ” [राजवा० पृ० ३५] “घटविज्ञानतज्ज्ञानविशेषस्तेन दुर्लभः । ” [मी० श्लो० पृ० ३२४]

पृ० ३४. पं० २५. ‘अर्थज्ञानस्मृता’—बौद्धा हि विषयसंकलितज्ञानस्मृत्यन्य- थानुपपत्त्या तदाकारतां प्रसाधयन्ति । केनचिदाशङ्कितम्—‘यन् मास्तु तदाकारता, केवलं ज्ञानमर्थकार्यम्, अतः अर्थसंकलितज्ञानस्मरणं जायते, न तु तदाकारतया’ तत्र समाहितं 30 बौद्धैः—‘यत् तदाकारतां विनापि यदि अर्थकार्यतामात्रेण अर्थसंकलितस्मरणं रयात्तदा ज्ञानम् आलोकस्य मनस्कारस्य वा कार्यं भवति, अतः आलोकसंकलितस्य मनस्कारसंकलितस्य वा ज्ञानस्य स्मरणं स्यात् । न च दृश्यते अतः स्वीकार्यम्—यत् यदाकारं ज्ञानं तदाकारानुरक्तस्य स्मरणमिति ।’ यदि कारणत्वादेव अर्थस्य संकलनं ज्ञाने तदा घटेऽपि कुलालस्य कारणभूतस्य संकलनं रयात्, तथा च घटस्मृतौ कुलालोऽपि स्मर्येत इत्यादि । ग्रन्थकृता अत्र तदाकारता- 35 स्थापनाय बौद्धैः य अतिप्रसङ्ग आपादितः स ज्ञानं निराकारं स्वीकृत्यापि शक्तिप्रतिनियमादेव समाहितः । अतिप्रसङ्गापादकः बौद्धग्रन्थस्त्वयम्—

“अर्थकार्यतया ज्ञानस्मृतावर्थस्मृतेर्यदि । भ्रान्त्या संकलनं ज्योतिर्मनस्कारेऽपि सा भवेत् ॥”

भ्रान्तिरिति सम्बन्धः । यद्यर्थस्य कार्यं विज्ञानम् अथापि अर्थे कार्यं व्यापारो यस्येति ज्ञानस्मृतौ नियमेन अर्थस्मरणम्, अतस्तदेव मूढमतिसन्तानस्य तथा भवति प्रतिपत्तिः । एवन्तर्हि ज्योतिर्मनस्कारेऽपि तथा प्रतीतिः स्यात् । यथा विषयकार्यता विज्ञानस्य तथा
5 आलोककार्यता मनस्कारकार्यतापि तेन द्वयसंकलनेनापि प्रतीयेत । न हि कार्यत्वे कश्चिद्विशेषः । अथ विषये व्यापृतत्वात् तत्संकलनं मनस्कारे तत्राव्याप्ति [पृ] तत्वात् तदा तर्हि आलोकेऽपि समान एव व्यापारः । न ह्यालोकमपहाय रूपे व्याप्तिर्यते । तदसदेतत् । तस्माद्यथा आलोकप्रतिभासमिति न भवति तथा रूपप्रतिभासमिति न स्यात् । ‘‘‘‘‘ ‘‘तस्माद्रूपाद्याकारमेव विज्ञानम् । कार्यतया तु तथा प्रतिपत्तौ—

10 सर्वेषामपि कार्याणां कारणैः स्यात्तथा ग्रहः । कुलालादिविवेकेन न स्मर्येत घटस्ततः ॥

तेनापि कार्योऽपि घटादिः स्वकारणविवेकेन न स्मर्येत । अथ अर्थकृतः कश्चिदतिशयो येन ज्ञानस्मरणे अर्थोऽपि (पि) स्मर्यते, ज्ञानग्रहणे चार्थग्रहः, केवलस्य ज्ञानस्य न ग्रहणस्मरणे, घटादिस्तु केवलोऽपि गृह्यते तेनादानादिकञ्च । तदपि स्वपक्षबाधनाय । तथाहि—

‘यस्मादतिशया (यो) ज्ञानमर्थसंसर्गभाजनम् । सारूप्यात्तत्किमन्यत्स्याद् दृष्टश्च यमलादिषु ॥

15 यदि तस्य विज्ञानस्य नार्थाकारता तदाऽर्थग्रहणेनैव सह विज्ञानं गृह्यते स्मर्यते चेति कोऽयं नियमः । तदर्थान्तर्गतं तु नियमेन तद्ग्रहणेनैव गृह्यत इति भवति नियमः । तस्मादर्थस्वरूपमेव विज्ञानमर्थग्रहणानन्तरीयकग्रहणं तत्स्मरणानन्तरीयकस्मरणञ्च ॥” [प्रमाणवार्त्तिकालं० पृ० ८८-८९]

पृ० ३६. पं० ६. ‘अन्तःशरीर’—प्रज्ञाकरो हि स्वप्रावस्थायां सूक्ष्मशरीरं

20 स्वप्रान्तिकनामानं स्वीकरोति । तस्मिन्नेव त्रासलङ्घनधावनादयो भवन्ति । तदेव स्वप्रान्तिकं शरीरमत्र ग्रन्थकृता ‘अन्तःशरीर’ शब्देन आक्षिप्तम् । तन्निर्देशश्चेत्थम्—“यथा स्वप्रान्तिकः कायः त्रासलङ्घनधावनैः । जाग्रद्वेड्विकारस्य तथा जन्मान्तरेष्वपि ॥” [प्रमाणवार्त्तिकालं० लि० पृ० १४८] “प्रज्ञाकरस्तु स्वप्रान्तिकशरीरवादी स्वप्रदशायामपि व्यवहारादिनिर्भासज्ञानस्य साक्षात् चिकीर्षादिप्रभवनियममभ्युपगच्छति” [सिद्धिवि० टी० पृ० १३८ B.]

25 पृ० ३६. पं० १०. ‘विप्लुताक्षा’—विज्ञानवादिनः विप्लुताक्षबुद्धिः=तैमिरिकचन्द्रद्वयबुद्धि-दृष्टान्तेन सर्वेषां प्रत्ययानां निरालम्बनत्वं साधयन्ति । तथाहि—“विज्ञप्तिमात्रमेवेदम् असदर्थोपभासनात् । यथा तैमिरिकस्यासत्केशचन्द्रादिदर्शनम् ॥” [विज्ञप्तिमात्र० विंगतिका पृ० १] “अत एव सर्वे प्रत्ययाः अनालम्बनाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवदिति प्रमाणस्य परिशुद्धिः ।” [प्रमाणवार्त्तिकालं० पृ० २२]

30 तुलना—“विप्लुताक्षा यथा बुद्धिः वितथप्रतिभासिनी । तथा सर्वत्र किञ्चेति जडाः सम्प्रतिपेदिरे ॥ सर्वज्ञानानां स्वयमविषयीकृतानां निर्विषयतासिद्धिः इष्टविघातकृत् विरुद्धः स्याद्वादलङ्घने ।” [सिद्धिवि० पृ० ३३७]

पृ० ३६. पं० १६. ‘प्रमाणमात्मसात्कुर्वन्’—“तदुक्तं न्यायविनिश्चये—प्रमाणमात्मसात्कुर्वन्’ इत्यादि ।” [सिद्धिवि० टी० पृ० २६८ B.] प्रमाणस० पृ० १०३।

35 पृ० ३६. पं० २८. ‘इन्द्रजालादिषु’—“तथा चोक्तमकलंकदेवैः—इन्द्रजालादिषु” [आप्तप० पृ० ४९] सिद्धिवि० टी० पृ० २०८ B.

पृ० ३७. पं० १. 'तत्र शौद्धोदनेरेव'—“तदुक्तं न्यायविनिश्चये—तत्र शौद्धोद-
नेरेव तत्राद्यापि जडासक्तास्तमसो” [अष्टसह० पृ० ११६]

तुलना—“शौद्धोदनेरेव प्रज्ञापराधोऽयं लोकातिक्रान्तः कथं बभूवेत्यतिविस्मयमास्महे ।
तन्मन्ये (तमन्ये) पुनरद्यापि कीर्तयन्तीति किं वत परमन्यत्र मोहनीयप्रकृतेः । ” [अष्टसह०,
अष्टसह० पृ० ११६] “कथञ्चिद् यथात्म्यप्रतिपत्तिमन्तरेण यथादर्शनमेवेत्यादि ब्रुवतः क्षणिः 5
कभ्रान्तैरान्तचित्तसन्तानान्तराणि स्वभावनैरात्म्यं वा ब्रुवतः शौद्धोदनेः तावदयं प्रज्ञापराधः
कथमिति सविस्मयं सकरुणं नश्चेतः । सन्त्यस्यापि अनुवक्तार इति किमन्यदनात्मज्ञतायाः । ”
[सिद्धिवि० पृ० ७४] “आचार्यस्तस्यैव तावदिदमीदृशं प्रज्ञास्खलितं कथं वृत्तमिति सविस्म-
यानुकम्पन्नश्चेतः । तदपरेऽन्यनुवदन्तीति निर्दयाक्रान्तभुवनं दिग्ग्यापकं तमः । ” [वादन्या-
यटी० पृ० ५१]

10

पृ० ३७. पं० ६. 'विभ्रमे विभ्रमे'—तुलना—“भ्रान्तावपि यदि भ्रान्तिः भ्रान्तिरेव
विशीर्यते । भ्रान्तावभ्रान्ततावित्तौ भ्रान्तिः सेति प्रतीयते ॥ ” [प्रमाणवार्त्तिकाल० लि०पृ० ३०३]

“तदुक्तं न्यायविनिश्चये—विभ्रमे” [सिद्धिवि० टी० पृ० ६२ A.] अष्टसह०पृ० ११६ ।
“सर्वथा विभ्रमे तस्य” [प्रमाणसं० पृ० १०६]

पृ० ३८. पं० ३. 'परितुष्यति'—अत्रायं पूर्वपक्षः—“मणिप्रदीपप्रभयोः मणि- 15
बुद्ध्याभिधावतोः । मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥ ” [प्रमाणवा० ३।५७]

पृ० ४०. पं० ६८. 'विज्ञप्तिर्वितथा'—पूर्वपक्षः—“यथा [स्वप्न] त्ययापेक्षाद-
विद्योपप्लुतात्मनाम् । विज्ञप्तिर्वितथाकारा जायते तिमिरादिवत् ॥ असंविदिततत्त्वा च सा
सर्वापरदर्शनैः । ” [प्रमाणवा० ३।२१७]

पृ० ४१. पं० ६. 'सहोपलम्भ'—विज्ञानवादिनः अर्थसंविदो. सहोपलम्भनि- 20
यमादभेदं साधयन्ति । तथाहि—“सकृत्संवेद्यमानस्य नियमेन धिया सह । विषयस्य ततोऽन्यत्वं
केनाकारेण सिद्ध्यति ॥ विषयस्य हि नीलादर्धिया सह सकृदेव संवेदनम् । धिया सह न
पृथक् । ततः संवेदनादपरो विषय इति कथम् ? ” [प्रमाणवार्त्तिकाल० पृ० ९१] “यद्
यस्मादपृथक् संवेदनमेव तत्तस्मादभिन्नं यथा नीलधीः स्वस्वभावात् । यथा वा तैमिरिकज्ञान-
प्रतिभासी द्वितीय उडुपः—चन्द्रमा । नीलधीवेदनञ्चेदम् इति पक्षधर्मोपसंहारः । धर्म्यत्र 25
नीलाकारतद्विधौ, तयोरभिन्नत्वं साध्यधर्मः, यथोक्तः सहोपलम्भनियमो हेतुः । ईदृश
एवाचार्योऽपि प्रयोगे हेत्वर्थोऽभिप्रेतः । ” [तत्त्वसं० पृ० ५६७]

तुलना—“सहोपलम्भनियमात् स्याद्धेदो नीलतद्विधोः । असहानुपलम्भश्चेत् असिद्धः
पृथगीक्षणात् ॥ सहोपलम्भनियमादभेदैरान्तसाधने न कचिद्भ्रान्तिज्ञानं स्यात् सुपुत्रवन्
भ्रान्तिप्रत्यक्षयोः तेन तदेकान्तः, भ्रान्तिविविक्तप्रत्यक्षस्वभावोपपत्तेः । वहिरन्तश्च नीलतद्वि- 30
योर्दर्शनात् कुतः सहोपलम्भनियमः सिद्धः ? सकृदेकार्थोपनिबद्धद्वितीयां परज्ञानानुपलम्भेऽपि
तदर्थदर्शनात् कुतो नियमः ? तदेकक्षणवर्तिनां सहोपलम्भनियमात् स्वयं वा उत्पत्तेः सकल-
जगदेकसन्तानं प्रसज्येत । यदि पुनरेकज्ञानोपलम्भनियमः; असिद्धो हेतुः अन्यैकान्तिकश्च,
नीलस्य अनेकज्ञानोपलम्भवन् बहूनामपि द्रव्याणामेकज्ञानोपलम्भाप्रतिषेधात् । यद्यसहानु-
पलम्भः; को विशेषः ? प्रसज्यप्रतिषेधमात्रमसाध्यसाधनम् अस्येव (?) अर्थार्थगतिलक्षणात् ॥ 35
[सिद्धिवि० पृ० ३३३-३३६] प्रमाणसं० पृ० १०९ ।

“तत्र भदन्तशुभगुप्तस्त्वाह—विरुद्धोऽयं हेतुः यस्मान् सहशब्दशब्दश्च लोकेऽन्यो (स्या)

- त्रैवान्येन विना क्वचित् । विरुद्धोऽयं ततो हेतुर्यद्यस्ति सहवेदनम् ॥... पुनः स एवाह-यदि सहशब्द एकार्थः तदा हेतुरसिद्धः; तथाहि-नटचन्द्रमल्लप्रेक्षासु न ह्येकेनैवोपलम्भो नीलादेः । नापि नीलतटदुपलम्भयोः एकेनैवोपलम्भः । तथाहि-नीलोपलम्भेऽपि तदुपलम्भानामन्यसन्तानगतानामनुपलम्भान् । यदा च सत्त्वं प्राणभृतां सर्वे चित्तक्षणाः सर्वज्ञेनावसीयन्ते तदा कथमेकेनैवोपलम्भः सिद्धः स्यात् । किंच, अन्योपलम्भनिषेधे सत्येकोपलम्भनियमः सिद्धयति । न चान्योपलम्भप्रतिषेधसंभवः; स्वभावविप्रकृष्टस्य विधिप्रतिषेधायोगात् । अथ सहशब्द एककालविवक्षया; तदा बुद्धविज्ञेयचित्तेन चित्तचैतैश्च सर्वथाऽनैकान्तिकता हेतोः । यथा किल बुद्धस्य भगवतो यद्विज्ञेयं सन्तानान्तरचितं तस्य बुद्धज्ञानस्य च सहोपलम्भनियमोऽप्यस्त्येव च नानात्वम्, तथा चित्तचैतानां सत्यपि सहोपलम्भे नैकत्वमित्यतोऽनैकान्तिको हेतुरिति ।... स्या-
- 10 देतत् यद्यपि विपक्षे सत्त्वं न निश्चितं सन्दिग्धं तु ततश्चानैकान्तिको हेतुः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वात् ।... [तत्त्वसं० पृ० ५६७-६९] शावरभा० बृहतीपं० १।५। शा० भा० भामती २।२।२८। योगसू० तत्त्ववै० ४। १४। न्यायकणि० पृ० २६४। अष्टाग०, अष्टसह० पृ० २४२। प्रमेयक० पृ० २१। न्यायकुमु० पृ० १२२। सन्मति० टी० पृ० ३५२। स्या० रत्ना० पृ० १५२।

- पृ० ४१. पं० २२. 'तत्र दिग्भाग'—तुलना—“पट्केन युगपद्योगात् परमाणोः पडंशता । पण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः ॥” [विज्ञप्ति० विशिका पृ० ७] चतुर्गतक पृ० ४८ । “यद्वा सर्वात्मना वृत्तौ अनेकत्वं प्रसज्यते । एकदेशेन चानिष्टा नैको वा न क्वचिच्च सः ॥” [तत्त्वसं० पृ० २०३] न्यायकुमु० पृ० २२७ ।

- पृ० ४१. पं० २७. 'न चैकमेकरागादौ'—तुलना—“एकस्य चावृत्तौ सर्वस्यावृत्तिः स्यादनावृत्तौ । दृश्येत रक्ते चैकस्मिन् रागोऽरक्तस्य वाऽगतिः ॥” [प्रमाणवा० २।८५] “रक्ते च भाग एकस्मिन् सर्वं रज्येत रक्तवत् । विरुद्धधर्मभावे वा नानात्वमनुपज्यते ॥” [तत्त्वसं० पृ० १९८] अवयविनिरा० पृ० ८७। न्यायकुमु० पृ० २२८।

- पृ० ४२. पं० ५. 'चित्रं तदेकमिति'—अत्रायं पूर्वपक्षः—“चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः । नैकस्वभावं चित्रं हि मणिरूपं यथैव तत् ॥” [प्रमाणवा० ३।२००] तुलना—“तत्र चित्रं भवेदेकमिति...वेत्ति...” [प्रमाणसं० पृ० १०३]

- 25 पृ० ४३ पं० १८ 'अत्यासन्नानसंसृ'—पूर्वपक्षः—“अर्थान्तराभिसम्बन्धाज्जायन्ते येऽणवोऽपरे । उक्तास्ते संचितास्ते हि निमित्तं ज्ञानजन्मनः ॥” [प्रमाणवा ३।१९५]

- पृ० ४३. पं० २५. 'कारणस्याक्षये'—“तदुक्तं न्यायविनिश्चये-कारणस्या...” [सिद्धिवि० टी० पृ० ४६ B. ३१४ A. ३४३ A.]

- पृ० ४३. पं० २६. 'समवायस्य'—अत्रायं पूर्वपक्षः—अयुतसिद्धानामाधारधार-
30 भूतानां यः सम्बन्धः इहप्रत्ययहेतुः स समवायः ।... इह तन्तुपु पटः इह वीरणे कट इह द्रव्ये गुणकर्मणी... [प्रश० भा० पृ० ६६९]

- पृ० ४४. पं० ३. 'शाखा वृक्षेऽपि'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४६ पं० ७ ।

- पृ० ४४. पं० ६. 'तुलितद्रव्यसंयोगे'—तुलना—“गुरुत्वाधोगती स्यातां यद्यस्य स्यात्तुलानतिः ।” [प्रमाणवा० ४।१५४]

- 35 पृ० ४४. पं० ११. 'आसूक्ष्मतः'—तुलना—“आसूक्ष्माद् द्रव्यमालायारतौल्य-त्वादंशुपातवत् । द्रव्यान्तरगुरुत्वस्य गतिर्नैत्यपरोऽब्रवीत् ॥” [प्रमाणवा० ४।१५६]

पृ० ४४. पं० १५. 'ताम्रादि'—तुलना—“ तस्य क्रमेण संयुक्ते पांशुराशौ सङ्घ-
द्युते । भेदः स्याद्गौरवे तरमात् पृथक् सह च तोलिते ॥ क्रमेण मापकादीनां संख्यासाम्यं न
युज्यते । सर्पपादेर्महाराशेरुत्तरोत्तरोत्तरवृद्धिमत् ॥ ” [प्रमाणवा० ४१५७-५८]

पृ० ४४. पं० २६. 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्'—तुलना—“ गुणाणमासत्रो द्रव्यं एक-
द्रव्यस्सिया गुणा । लक्ष्णं पञ्चवाणं तु उभयो अस्सिया भवे ॥ ” [उत्तरा० २८१६] “ द्रव्यं ५
सल्लक्ष्णियं उपादव्ययधुवत्तसंजुतं । गुणपञ्चयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥ ”
[पचास्ति० गा० १०] “ गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ” [तत्त्वार्थसू० ५१३८] “ तं परियाणहु दव्वु
तुहु जं गुण-पञ्चयजुत्तु । सहभुव जाणहि ताहं गुण कम-भुव पञ्जउ वुत्तु ॥ ” [परमात्मप्र०
गा० ५७] लघी० टि० पृ० १४२ पं० २७ ।

पृ० ४५. पं० ७. 'भेदज्ञानात्'—तुलना—“ भेदज्ञानात् प्रतीयन्ते यथा भेदाः 10
परिस्फुटम् । तथैवाभेदविज्ञानादभेदस्य व्यवस्थितिः ॥ ” [जैनतर्कवा० पृ० ११०] “ तथा
चोक्तं न्यायविनिश्चये-भेदज्ञानात् ” [सिद्धिवि० टी० पृ० १६९ A.]

पृ० ४५. पं० ११. 'सदोत्पाद'—द्रष्टव्यम्—लघी० टि० पृ० १४२ पं० २१ ।

पृ० ४५. पं० १६. 'प्रत्यक्षप्रतिसंवेद्यः'—तुलना—“ तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्य-
नुगमात्मकः । पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥ ” [मी० श्लो० पृ० ६९५] 15
“ तदयं भावः स्वभावेपु कुण्डलादिषु सर्पवत् । ” [प्रमाणसं० पृ० ११२]

पृ० ४५. पं० २४. 'स्वलक्षण'—तुलना—प्रमाणसं० पृ० १०३ ।

पृ० ४६. पं० ५. 'तद्भावः'—तुलना—“ तद्भावः परिणामः । ” [तत्त्वार्थसू० ५१४२]

पृ० ४६. पं० ११. 'भेदानां'—अत्रायं पूर्वपक्षः—“ नैकस्मिन्नसंभवात् ” [ब्रह्मसू०
२।२।३३] “ भेदानां बहुभेदानां तत्रैकस्मिन्नयोगतः । ” [प्रमाणवा० ११९१] 20

पृ० ४६. पं० १३. 'अन्वयो'—तुलना—प्रमाणसं० पृ० १०७ ।

पृ० ४६. पं० २३. 'उत्पादविगम'—तुलना—“ उत्पादविगमध्रौव्यद्रव्यपर्याय-
संग्रहम् । कृत्स्नं श्रीवर्धमानस्य वर्धमानस्य शासनम् ॥ ’ [सिद्ध० द्वाविं० २०।१]

पृ० ४६. पं० १८. 'नौयानादिषु'—नौयानादीनि विभ्रमकारणानि । द्रष्टव्यम्—
लघी० टि० पृ० १४८ पं० ८ । 25

पृ० ४६. पं० २२. 'तस्माद् दृष्टस्य'—अत्रायं पूर्वपक्षः—“ तस्माद् दृष्टस्य भावस्य
दृष्ट एवाखिलो गुणः । भ्रान्त्या न निश्चय इति साधनं सम्प्रवर्तते ॥ ” [प्रमाणवा० ११४६]

पृ० ४६. पं० २५. 'प्रत्यक्षं कल्पना'—अत्रायं पूर्वपक्षः—“ प्रत्यक्षं कल्पनापोदं
प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति । ” [प्रमाणवा० ३।१२३]

पृ० ५०. पं० १४. 'अविकल्पक'—पूर्वपक्षः—“ प्रत्यक्षं कल्पनापोदम् ” 30
[प्रमाणसमु० १।३] “ यज्ज्ञानमर्थे रूपादौ नामजात्यादिकल्पनारहितं तदक्षमक्षं प्रति वर्तत इति
प्रत्यक्षम् । ” [न्यायप्रवे० पृ० ७] “ तत्र कल्पनापोदमभ्रान्तं प्रत्यक्षम् । ” [न्यायवि० पृ ११]
तत्त्वसं० पृ० ३६६ । “ तत्रायं न्यायमुखग्रन्थः—यज्ज्ञानमर्थरूपादौ विशेषणाभिधायकाभेदो-
चारेणाविकल्पकं तदक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षम् । ” [तत्त्वसं० पं० पृ० ३७२]

पृ० ५०. पं० २३. 'मानसम्'—“तस्मादिन्द्रियविज्ञानानन्तरप्रत्ययोद्भवः । मनः”

Sampath, Ebooks

[प्रमाणवा० ३।२४३] “स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तत् मनोविज्ञानम् ।” [न्यायवि० पृ० १७] “इदमित्यादि यज्ज्ञानमभ्यासात् पुरतः स्थिते । साक्षात्करणतस्तत्तु प्रत्यक्षं मानसं मतम् ॥” [प्रमाणवार्तिकालं लि० पृ० ४१०]

5

पृ० ५१. पं० १६. 'प्रोक्षितम्'—“प्रोक्षितं—यज्ञादौ मन्त्रादिसंस्कृतं मांसादि ।”

[शब्दकल्पद्रुमः]

पृ० ५१. पं० २७. 'चतुःसत्य'—“चत्वार्यसत्यानि । तद्यथा—दुःखं समुदयो निरोधो मार्गश्चेति ।” [धर्मसं० पृ० ५] “सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुःखं समुदयस्तथा । निरोधो मार्ग एतेषां यथाभिसमयं क्रमः ॥” [अभिधर्मको० ६।२]

10

पृ० ५१. पं० २६. 'योगिविज्ञानम्'—“प्रागुक्तं योगिनां ज्ञानं तेषां तद्भावना-मयम् । विधूतकल्पनाजालं स्पष्टमेवावभासते ॥” [प्रमाणवा० ३।२८१] “भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति ।” [न्यायवि० पृ० २०] तत्त्वसं० पृ० ३९८ ।

पृ० ५२. पं० १. 'श्रोत्रादिवृत्तिः'—पूर्वपक्षः—“इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम् ।”

15 [योगसू० व्यासभा० पृ० २७]

तुलना—“कापिलास्तु श्रोत्रादिवृत्तेः प्रत्यक्षान्वमिच्छन्ति ।” [प्रमाणसमु० पृ० ६४] न्यायवा० पृ० ४३ । “वार्पण्यस्यापि लक्षणमयुक्तमित्याह—श्रोत्रादिवृत्तिरिति ।” [न्यायवा० ता० टी० पृ० १५५] न्यायम० पृ० १०० । “श्रोत्रादिवृत्तिः भ्रान्तेऽपि नहि नाम न विद्यते । न च ज्ञानं विना वृत्तिः श्रोत्रादेरुपपद्यते ॥” [प्रमाणवार्तिकालं लि० पृ० ४४०] तत्त्वोप० लि० पृ० ७७ । “श्रोत्रादिवृत्तिरध्यक्षमित्यप्येतेन चिन्तितम् । तस्या विचार्यमाणाया विरोधश्च प्रमाणतः ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८७] नयचक्रवृ० पृ० ७३ A. षड्द० बृह० पृ० ४३ । प्रमाणमी० पृ० २४ ।

20

पृ० ५२. पं० ४. 'तथाक्षार्थ'—पूर्वपक्षः—“इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यप-
देश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।” [न्यायसू० १।४] प्रश० भा० पृ० ५५३ ।

25

पृ० ५२. पं० १०. 'लक्षणं'—तुलना—प्रमाणसं० पृ० ९९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८४ ।

इति प्रथमः प्रत्यक्षप्रस्तावः ।



पृ० ५२. पं० २१. 'साधनात्'—तुलना—“साध्याविनाभुवो लिगात् साध्यनि-
श्चायकं स्मृतम् । अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत् ॥” [न्यायवा० श्लो० ५] लघी० का०
१२ । “साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्वुधाः । प्रधानगुणभावेन विधानप्रतिषेधयोः ॥”
30 [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०७] प्रमाणप० पृ० ७० । परीक्षामु० ३।१४ । प्रमाणनय० ३।९ । प्रमाणमी०
१।२।७ । न्यायदी० पृ० २० । जैनतर्कभा० पृ० १२ ।

पृ० ५३. पं० २. 'साध्यं'—“एवं हि यैरुक्तम्—साध्यं” [तत्त्वार्थश्लो० पृ०
२१४, १९७] “तदुक्तमकलंकदेवैः—साध्यं” [प्रमाणप० पृ० ७२] “साध्याभासं यथा सत्ता
भ्रान्तेः पुरुषधर्मतः ।” [प्रमाणसं० पृ० १०२] प्रमाणनि० पृ० ६१ । “तदुक्तं न्यायविनि-

35 श्रये—साध्यं” [न्यायदी० पृ० २१]

तुलना—“पक्षः प्रसिद्धो धर्मी, प्रसिद्धविशेषेण विशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः, प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यशेषः ।” [न्यायप्रवे० पृ० १] “साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः ।” [न्यायवा० श्लो० १४] “स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्षः इति ।” [न्यायवि० पृ० ७९] “इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ।” [परीक्षा० ३।१५] “अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम् ।” [प्रमाणनय० ३।१२] जैनतर्कभा० पृ० १३ । “सिसाधयिषितमसिद्धमबाध्यं साध्यं पक्षः ।” [प्रमाणमी० १।२।१३] 5

पृ० ५३. पं० १५. ‘भ्रान्तेः’—तुलना—“ भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वात् ” [न्यायवा० पृ० २०] प्रमाणसं० पृ० १०२ ।

पृ० ५४. पं० ७. ‘व्याधिभूत’—तुलना—“ व्याधिभूतग्रहेन्द्रियप्रवृत्तिनिवृत्त्योः मन्त्रौपधादिशक्तेश्च कुतः सिद्धिः ? ” [सिद्धिवि० पृ० ३४९ A.] 10

पृ० ५७. पं० १४. ‘नो चेद्विभ्रम’—तुलना—“नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन संयोज्येत गुणान्तरम् ।” [प्रमाणवा० १।४५]

पृ० ५६. पं० २. ‘मेचकादिवत्’—तुलना—“यथा कल्माषवर्णस्य यथेष्टं वर्णनिग्रहः । चित्रत्वाद्वस्तुनोऽप्येवं भेदाभेदाधारणम् ॥ यदा तु शबलं वस्तु युगपत्प्रतिपद्यते । तदान्यानन्यभेदादि सर्वमेव प्रलीयते ॥ ” [मी० श्लो० पृ० ५६१] नरसिंहमेचकवद् वस्तुनो जात्यन्तरात्मकत्वाभ्युपगमात् ।” [अनेकान्तजय० पृ० २८१] 15

पृ० ५६. पं० १६. ‘प्रत्यभिज्ञा’—“ प्रत्यभिज्ञा द्विधा इत्यादिवचनात् ।” [सिद्धिवि० टी० पृ० १७८ B.]

पृ० ६२. पं० ३. ‘अप्रत्यक्षेऽपि’—“अप्रत्यक्षेऽपि” ‘तद्गुणो ज्ञानं नो जातिस्मरदर्शनान् ।” [प्रमाणसं० पृ० १०७] 20

पृ० ६२. पं० २८. ‘विकृतेरविकारिणी’—तुलना—“प्रसुप्तिकाद्यवस्थासु शरीरविकृतावपि । नान्यथात्वं मनोबुद्धेस्तस्मान्नेयं तदाश्रिता ॥” [तत्त्वसं० का० १९३४] “न च यस्य-विकारेऽपि यन्न विक्रियते तत्तत्कार्यं युक्तमतिप्रसङ्गात् ।” [तत्त्वसं० पं० पृ० ५२७] न्यायकुमु० पृ० ३४६ ।

पृ० ६२. पं० २६. ‘निर्हासा’—तुलना—“बुद्धिव्यापारभेदेन निर्हासातिशयावपि । प्रज्ञादेर्भवतो देहनिर्हासातिशयैर्विना ॥” [प्रमाणवा० २।७३] 25

पृ० ६३. पं० २४. ‘जातिस्मराणां’—तुलना—“जाइस्सरो न विगञ्जो सरणाञ्जो वालजाइसरणोव्व । जह वा सदेसवत्तं नरो सरंतो विदेसम्मि ॥” [विशेषा० गा० २।५०] “जाइसरणं च इहं दोसई केसिचि अवितहं लोए । पुव्वभवणवियसेवियसंवादातो अणोगभवं ॥” [धर्मसंग्र० गा० १४६] “नात्मापि लोके नोऽसिद्धो जातिस्मरणसंश्रयात् ।” [शास्त्रवा० १।४०] 30

पृ० ६३. पं० २८. ‘नास्मृतेऽभिलापो’—“न स्मृतेरभिला” ‘इत्यकलंकवचनम्’ ।” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३२९]

पृ० ६३. पं० ३१. ‘जातमात्रेऽपि’—तुलना—“पूर्वानुभूतस्मृत्यनुबन्धात् जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः ।” [न्यायभा० ३।१।१९] न्यायम० पृ० ४७० । तत्त्वसं० पं० पृ० ५३२ ।

“पढमो थणाहिलासो अण्णाहाराहिलासपुव्वोऽयं । जह वालहिलासपुव्वो जुवाहिलासो य 35

देहिह्रिओ ॥” [विशेषा० गा० २१४०] “जो बालथणभिलासो पढमो अहिलासपुठ्वगो सोवि ।
अहिलासत्ता जूणो जह विलयाहारअहिलासो ॥” [धर्मसंग्र० गा० १४५]

पृ० ६४. पं० १५. ‘तथा रागादयो’—तुलना—“रागद्वेपादयश्चामी पटवोऽभ्या-
सयोगतः । अन्वयञ्चयतिरेकाभ्यां भवन्तः परिनिश्चिताः ॥” [तत्त्वसं० पृ० ५४६]

5 पृ० ६६. पं० २. ‘न चेत्स’—तुलना—“तदुक्तम्—स्वतोऽन्यतो वा विवर्त्तत क्रमाद्वे-
तुफलात्मना ।” [सिद्धिवि० टी० पृ० ३५९ A.]

पृ० ६६. पं० २०. ‘साधनं’—तुलना—प्रमाणसं० पृ० १०२ । “अन्यथानुपपत्त्ये-
कलक्षणं तत्र साधनम् ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१४] ‘परीक्षामु० ३।१५। “तथा चाभ्यधायि
कुमारनन्दिभट्टारकैः—अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिंगमङ्ग्यते । प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानु-
10 रोधतः ॥” [प्रमाणप० पृ० ७२]

पृ० ६६. पं० २३. ‘विरुद्धासिद्ध’—तुलना—“हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानै-
कान्तिकाकिञ्चित्कराः ।” [परीक्षामु० ६।२१]

पृ० ६७. पं० १. ‘एकं चलं’—तुलना—“एकं आवृतैरावृतं रूपं रक्तं
रक्तैः” [प्रमाणसं० पृ० १०२]

15 पृ० ६८. पं० २७. ‘रूपादीनि’—तुलना—“नीलादीनि निरस्यान्यच्चित्रं चित्रं
यदीक्षसे ।” [प्रमाणवा० ३।२०२]

पृ० ७३. पं० २७. ‘शिलास्रवः’—तुलना—“स्वलक्षणानि परिस्फुटम् अचचुद्धौ
प्रतिभासन्ते इति शिलास्रवं कः श्रद्धधीत ?” [सिद्धिवि० पृ० १२५ B.]

पृ० ७४. पं० १. ‘अन्यथानुपपन्न’—श्लोकोऽयं सिद्धिविनिश्चयेऽपि विद्यते । तद्वी-
20 काकृता चायं पात्रस्वामिकर्तृकत्वसमालोचनपुरस्सरं भगवत्सीमन्धरस्वामिकर्तृकतया निर्दिष्टः ।
[सिद्धिवि० टी० पृ० ३०० A.] न्यायविनिश्चयविवरणे आराधनाकथाकोशे च अस्य पद्मावतीदेव्या
भगवत्सीमन्धरस्वामिसकाशादानीय पात्रस्वामिने समर्पणञ्च समुल्लिखितम् । श्लोकोऽयं तत्त्वा-
र्थश्लोकवार्तिके चार्त्तिककार (राजवार्त्तिककार) कर्तृकतया तत्त्वसंग्रहादिषु च पात्रस्वामिप्रणे-
रुक्ततया समुद्धृतः । तथाहि—

25 “तथाह च—अन्यथानुपपन्न” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३] “हेतुलक्षणं वार्त्तिककारेणै-
वमुक्तम्—अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् । इति ।” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०५] प्रमाणप०
पृ० ७२ । जैनतर्कवा० पृ० १३५ । सूत्रकृतांगटी० पृ० २२५ । प्रमाणमी० पृ० ४० । “अन्यथेत्यादीनां
पात्रस्वामिमतमाशङ्कते—अन्यथानुपपन्नत्वे ननु दृष्टा सुहेतुता । नासति त्र्यंशकस्यापि तस्माक्ती-
वांस्त्रिलक्षणाः ॥ ...नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र ...अन्यथानुपपन्नत्वं” [तत्त्वसं० पृ० ४०६]
30 “तदुक्तं जैनैः—अन्यथानुपपन्नत्वं” [संमति० टी० पृ० ५६०] न्यायदी० पृ० ३२ । “तदुक्तं
पात्रस्वामिना—अन्यथानुप” [स्या० रत्ना० पृ० ५२१]

तुलना—“अन्यथाऽसम्भवो ज्ञातो यत्र तत्र त्रयेण किम् ।” [प्रमाणसं० पृ० १०४]

पृ० ७५. पं० २४. ‘तुलोन्नाम’—तुलना—“तुलोन्नाम तादात्म्यं सहचारतः ।”
[प्रमाणसं० पृ० १०७] “परस्परविनाभूतौ नामोन्नामौ तुलान्तयोः ।” [सिद्धिवि० पृ० ३१५ A.]

पृ० ७५. पं० २६. 'चन्द्रार्वाक्परभागयोः'—तुलना—“तदेतस्मिन् प्रतिबन्ध-
नियमे कथं चन्द्रादेरर्वाग्भागदर्शनात् परभागोऽनुमीयेत नानयोः कार्यकारणभावः सहैव
भावात् । न च तादात्म्यलक्षणो भेदात् ।” [सिद्धिवि० पृ० ३०६ B.]

पृ० ७६. पं० ७. 'एतेन पूर्ववत्'—अत्रायं पूर्वपक्षः—“अथ तत्पूर्वकं त्रिविधम-
नुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च ।” [न्यायसू० १।१।५] 5

पृ० ७६. पं० ७. 'वीत'—पूर्वपक्षः—“तत्र प्रथमं तावत् द्विविधं धीतमवीतं च ।
तत्र अन्वयमुखेन प्रवर्तमानं विधायकं वीतम् । व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमवीतम् ।
तत्र अवीतं शेषवत् । वीतं द्वेधा पूर्ववत्, सामान्यतोदृष्टञ्च ।” साख्यतत्त्वकौ० पृ० ३० ।

पृ० ७६. पं० ७. 'संयोग्यादौ'—पूर्वपक्षः—“अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि
समवायि चेति लैङ्गिकम् ।” [वेशे० सू० १।२।१] 10

पृ० ७६. पं० १०. 'अन्यथानुपपन्नत्व'—तुलना—“अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्ल-
क्षणमीरितम् । तदप्रतीतिसन्देहविपर्यासैस्तदाभता ॥” [न्यायाव० श्लो० २२]

पृ० ७६. पं० १८. 'निर्व्यापारो'—तुलना—प्रमाणस० पृ० १०७ ।

पृ० ७६. पं० २८. 'सत्त्वमर्थ'—तुलना—“अन्यथा निश्चितं सत्त्वं विरुद्धमच-
लात्मनि ।” [प्रमाणस० पृ० १०७] 15

पृ० ७६. पं० ३१. 'सर्वज्ञप्रतिषेधे'—तुलना—“सर्वज्ञवीतरागयोर्विप्रकर्षाद्वचना-
देस्तत्र सत्त्वमसत्त्वं वा सन्दिग्धम्, अनयोरेव द्वयो रूपयोः सन्देहेऽनैकान्तिकः ।” [न्यायवि०
पृ० १०५] “उक्त्यादेर्दोषसंक्षयो नेत्येके व्यतिरेकोऽस्य सन्दिग्धो व्यभिचार्यतः ॥” [प्रमाणवा०
२।१४२] परीक्षामु० ६।३३ । प्रमाणनय० ६।५७ ।

पृ० ७८. पं० २२. 'परदुःखपरिज्ञानात्'—तुलना—“सर्ववेदने तु परसन्तान- 20
रागादिवेदने रागादिमत्त्वमिति न सत्; तथाहि—परसन्तानसंविक्तौ वीतरागित्ववेदने । तस्य
रागित्वमप्यस्तीत्येतदत्यन्तदुर्घटम् ॥ यदैवासौ रागी पररागवेदने तथा परवीतरागवेदने
वीतरागोऽपि । उभयमपि तदैवेति चेन्न; एकेनाप्यनुभूतत्वाभावे रागी कथं मतः । तटस्थस्य हि
संविक्तौ न रागित्वादिसंभवः ॥ तथाहि—न घटवेदने घटीभवति । एवं रागादयोऽपि परसन्ता-
नान्तर्गतास्तटस्थतया अवगम्यमाना न रागित्वं निर्वर्तयन्ति ।” [प्रमाणवार्तिककाल० लि० पृ० ४३४] 25

पृ० ७८. पं० ३०. 'असिद्धश्चाक्षु'—तुलना—“तत्र शब्दानित्यत्वे साध्ये चाक्षुष-
त्वादित्युभयासिद्धः ।” [न्यायप्रवे० पृ० ३] “अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दः चाक्षुष-
त्वात् ।” [परीक्षामु० ६।२३ ।] प्रमाणनय० ६।५० ।

पृ० ७९. पं० ३. 'विरुद्धा'—“एकलक्षणमाहात्म्याद्धेत्वाभासा निवर्तिताः ।
विरुद्धानैकान्तिकासिद्धाज्ञाताकिञ्चित्करादयः ॥ अन्यथानुपपत्त्या निर्णीतो हेतुः । अन्यथैवोप- 30
पत्त्या विरुद्धः । अन्यथा वोपपत्त्याऽनैकान्तिकः । तथा अन्यथा च सम्भूषणुरसिद्धः । अज्ञाने
पुनरज्ञातोऽकिञ्चित्करः तथैव । न ह्येकलक्षणाभावे त्रिलक्षणं गमकम् । अनुपलब्धस्तावच्चित्रा
निश्चेतुमशक्यैव ।” [सिद्धिवि० पृ० ३४३-४४]

पृ० ७९. पं० २७. 'तत्र मिथ्योत्तरं'—तुलना—“दूषणाभासास्तु जातयः ।”

[न्यायवि० पृ० १३३] न्यायप्रवे० पृ० ९ । प्रमाणमी० २।१।२९ । “अस्तु मिथ्योत्तरं जातिर-
कलङ्कोक्तलक्षणा ।” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३०९, ३१०]

पृ० ७६. पं० ३०. ‘दध्युष्ट्रादेः’—पूर्वपक्षः—“सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनि-
राकृतेः । चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ।” [प्रमाणवा० १।१८३]

पृ० ८०. पं० २. ‘विदूषकः’—तुलना—“मिथ्यार्थाभास्थिरज्ञानचित्रसन्तानसाधकः ।
तत्त्वज्ञानगिराङ्गं (?) दूषकस्त्वं विदूषकः ॥” [सिद्धिवि० पृ० ३३० B.]

पृ० ८०. पं० १५. ‘साधर्म्यादिसमत्वेन’—“साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण-
वर्णविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुपपत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युप-
लब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः ।” [न्यायसू० ५।१।१]

वादविधि-प्रमाणसमुच्चय-न्यायमुख-तर्कगास्त्रोपायहृदयादिषु साधर्म्यादिसमानां जातीनां
वर्णनमस्ति । द्रष्टव्यम्—प्रमाणमी० भाषाटि० पृ० ११३ । न्यायकुमु० टि० पृ० ३२३ ।

पृ० ८०. पं० १५. ‘नेह प्रतन्यते’—तुलना—“छलजातिनिग्रहस्थानभेदलक्षणं
नेह प्रतन्यते विस्तरभयात् अन्यत्र तद् द्रष्टव्यम् ।” [सिद्धिवि० पृ० २५६ B.]

पृ० ८०. पं० २०. ‘असाधनाङ्ग’—पूर्वपक्षः—“असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं
द्वयोः । निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते ॥” [वादन्याय पृ० २]

तुलना—“असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः । निग्रहस्थानमिष्टं चेत् किं पुनः साध्य-
साधनैः ॥” [सिद्धिवि० पृ० २७२ A.] तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८१ । प्रमेयक० पृ० २०३ A.
प्रमाणमी० २।१।३५ ।

पृ० ८०. पं० २८. ‘दृष्टान्तः’—तुलना—“साध्यसाधनयोर्व्याप्तिर्यत्र निश्चीयते
तराम् । साधर्म्येण स दृष्टान्तः सम्बन्धस्मरणान्मतः ॥ साध्ये निवर्तमाने तु साधनस्याप्य-
संभवः । ख्याप्यते यत्र दृष्टान्ते वैधर्म्येणेति स स्मृतः ॥” [न्यायाव० श्लो० १८-१९] परी-
क्षामु० ३।४७-४९ । प्रमाणनय० ३।४०-४४ ।

पृ० ८०. पं० २८. ‘तदाभासाः’—तुलना—“साधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायवि-
दीरिताः । अपलक्षणहेतूत्थाः साध्यादिविकलादयः ॥” [न्यायाव० श्लो० २४] परीक्षामु० ६।
४०-४५ । प्रमाणनय० ६।५८-७९ । प्रमाणमी० २।१।२२-२७ ।

पृ० ८१. पं० ३. ‘वादः’—तुलना—“विरुद्धयो धर्मयोरेकधर्मव्यवच्छेदेन स्वीकृत-
तदन्यधर्मव्यवस्थापनार्थं साधनदूषणवचनं वादः ।” [प्रमाणनय० ८।१] प्रमाणमी० २।१।३० ।

पृ० ८१. पं० ५. ‘आस्तां तावद्’—उद्धृतेयं कारिका—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७९ ।

पृ० ८१. पं० ८. ‘वितण्डादिः’—“यथोक्तोपपन्नः छलजातिनिग्रहस्थानसाध-
नोपालम्भो जल्पः । स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ।” [न्यायसू० १।२।१, २]

पृ० ८१. पं० ११२. ‘ग्रामाण्यं यदि’—श्लोकोऽयं प्रमाणसंग्रहेऽपि (पृ० १२७) विद्यते ।

इति द्वितीय अनुमानप्रस्तावः ।



पृ० ८१. पं० २७. 'सिद्धं प्रवचनं'—तुलना—“कृत्स्नं श्रीवर्धमानस्य वर्धमानस्य शासनम् ।” [सिद्ध० द्वात्रिं० २१११] प्रमाणसं० पृ० ११६ ।

पृ० ८२. पं० ५. 'पुरुषातिशयो'—पूर्वपक्षः—“पुरुषातिशयापेक्षं यथार्थमपरे विदुः । इष्टोऽयमर्थः [प्रत्येतुं शक्यः] सोऽतिशयो यदि ॥ अयमेवं नवेत्यन्यदोषा निर्दोषतापि वा । दुर्लभत्वात् प्रमाणानां दुर्बोधेत्यपरे विदुः ॥” [प्रमाणवा० ११२०-२१] 5

तुलना—“पुरुषातिशयोऽज्ञेयो विप्रलम्भी किमिष्यते ॥” [प्रमाणसं० पृ० ११६] “विप्रलम्भशङ्कानुबन्धात् इत्यधिकारिकारिकां विप्रलम्भो वचनं तस्याशङ्का तस्या अनुबन्धात् कारणात् पुरुषातिशयः किमिष्यते ? नेष्टव्य इत्यर्थः... तदनुबन्धिकारणं दर्शयन्नाह—चेष्टते व्याप्रियते वेद्यादि यथाकृतम्, क इत्याह—वीतदोषो वीतरागः, क इव दोषवदिति । दूषणान्तरमाह पुरुषातिशयः सन्नपि ज्ञातु यद्यशक्यः किमिष्यते ? [सिद्धिवि० टी० पृ० ३९३ B.] 10

पृ० ८२. पं० १२. 'सिद्धहिंसा'—तुलना—“प्रसिद्धहिंसानृतस्तेयाव्रह्मपरिग्रहस्वविपक्षगुणोत्कर्षमाशंसमानः यथार्थदर्शनादिगुणो नेति निःशङ्कं नश्चेतः ।” [प्रमाणसं० पृ० ११६]

पृ० ८२. पं० १५. 'हेयोपादेयतत्त्वस्य'—पूर्वपक्षः—“हेयोपादेयतत्त्वस्य सोपायस्य प्रसिद्धितः । प्रधानार्थाविसंवादनमानम्परत्र वा ॥” [प्रमाणवा० ११२१९]

पृ० ८२. पं० २८. 'भावनापरिपाकतः'—पूर्वपक्षः—“तस्माद् भूतमभूतं वा यद् यदेवाभिभाव्यते । भावनापरिनिष्पत्तौ तत्तत्फुटाकल्पधीफलम् ॥” [प्रमाणवा० ३१२८५] “भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानम् ” [न्यायवि० पृ० २०] “किञ्च, ये ये विभाव्यन्ते ते ते भान्ति परिरफुटम् । भावनापरिनिष्पत्तौ कामादिविषया इव ॥ .. भूतार्थभावनोद्भूतेः प्रमाणं तेन तन्मतम् ।” [तत्त्वसं० पृ० ८९६] 15

तुलना—“चतुःसत्यभावनोपायं निर्वाणं सकलं कथम् मिथ्याज्ञानतः तत्त्वप्रतिपत्तिः । कथमतत्त्वभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं तत्त्वज्ञानञ्च । मिथ्यैकान्ताविशेषे नैरात्म्येतरपक्षयोः न कश्चिद्विशेषः ।” [सिद्धिवि० पृ० ३५४-५५] “यदि पुनः चिन्तामयीमेव प्रज्ञामनुशीलयतां विभ्रमविवेकनिर्मलमनःप्राप्तिः निर्वाणम्, तच्च कथम् अतत्त्वभावनातः, मिथ्याभावनायां तत्त्वज्ञानं कामशोकभयोन्मादादिवत् ।” [सिद्धिवि० पृ० ३८७] 20

पृ० ८३. पं० ३. 'निरुपद्रवभूतस्य'—तुलना—“निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः । न बाधा यत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः ॥” [प्रमाणवा० ११२२३, २१२१०] 25

पृ० ८३. पं० ६. 'यस्तावत् करुणा'—तुलना—लघी० टि० पृ० १३१ प० १२ ।

पृ० ८३. पं० १०. 'सन्तानः'—तुलना—लघी० टि० पृ० १३१ प० ३ ।

पृ० ८३. पं० २४. 'विश्वलोकाधिक'—पूर्वपक्षः—“सर्वदा चापि पुरुषाः प्रायेणानृतवादिनः । यथाऽद्यत्वे न विस्मम्भस्तथाऽस्तीतार्थक्रीर्त्तने ॥” [मी० श्लो० पृ० ८८] “ज्ञानवान् मृश्यते कश्चित्तुक्तप्रतिपत्तये । अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥ तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम् । कीटसंख्यापरिज्ञाने तस्य नाक्षोऽपि युज्यते ॥” [प्रमाणवा० २१३०, ३१] 30

पृ० ८४. पं० ६. 'सकलज्ञस्य'—तुलना—“सर्वादृष्टिश्च सन्दिग्धा स्वादृष्टिर्व्यभिचारिणी । विन्ध्याद्रिरन्ध्रदूर्वादेरदृष्टावपि सत्त्वतः ॥” [तत्त्वसं० पृ० ६५] प्रमाणसं० पृ० १०० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३, १४ । “सर्वादृष्टेश्च सन्देहात् स्वादृष्टेर्व्यभिचारतः ॥” 35

[आत्मतत्त्ववि० पृ० ९४] “यथोक्तम्—सर्वाहृष्टिश्च सन्दिग्धा स्वाहृष्टिर्व्यभिचारिणी । खलविला-
न्तर्गतस्यापि वीजस्य सत्त्वदर्शनात् ॥ ” [तर्कभा० मो० लि० पृ० २२]

पृ० ८४. पं० १४. ‘स्वमेक्षणादेर्वा’—तुलना—“स्वमे च मानसं ज्ञानं सर्वा-
र्थानुभवात्मकम् । (पृ० ८८६) अतीन्द्रियार्थविज्ञानयोगो नाप्युपलभ्यते । प्रज्ञादिगुण-
योगित्वं पुंसां विद्यादिशक्तिः ॥ अस्ति हीक्षणाद्याख्या विद्या या सुविभाविता । परचित्तप-
रिज्ञानं करोतीहैव जन्मनि ॥ आदिशब्देन गान्धारीप्रभृतीनां ग्रहणम् । ” [तत्त्वसं० पृ० ८८८]

पृ० ८४. पं० १४. ‘ज्ञानावृत्तिविवेकतः’—तुलना—“एवं क्लेशावरणप्रहाणं
प्रसाध्य ज्ञेयावरणप्रहाणं प्रतिपादयन्नाह—साक्षात्कृतिविशेषाच्च दोषो नास्ति सवासनः । सर्वज्ञ-
त्वमतः सिद्धं सर्वावरणमुक्तिः ॥ ” [तत्त्वसं० पृ० ८७५]

10 पृ० ८५. पं० २. ‘एवं यत्केवलज्ञानं’—पूर्वपक्षः—“एवं येः केवलज्ञानमिन्द्रि-
याद्यनपेक्षिणः । सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ॥ नर्ते तदागमात् सिद्धयेन च
तेनागमो विना । ” [मी० श्लो० पृ० ८७]

पृ० ८५. पं० १५. ‘ग्रहादिगतयः’—तुलना—“धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत् पुंसां
कुतः पुनः । ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादः श्रुताच्चेत् साधनान्तरम् ॥ ” [सिद्धिवि० पृ० ४१३ A.]
15 चन्द्रसूर्योपरागादेरततः संवाददर्शनात् । अप्रत्यक्षेऽपि पापादौ न प्रामाण्यं न युज्यते ॥ ”
[शास्त्रवा० २।३] प्रमाणमी० पृ० १२ ।

धर्मकीर्तिना ज्योतिर्ज्ञानोपदेशस्य सर्वज्ञत्वसाधकत्वे सन्दिग्धव्यतिरेकितोक्ता । तथाहि—
“सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकमुदाहर्तुमाह—यथाऽसर्वज्ञाः कपिलादयोऽनाप्ता वा अविद्यमानसर्वज्ञ-
ताम्रतालिगभूतप्रमाणातिशयशासनत्वादिति । अत्र वैधर्म्योदाहरणं यः सर्वज्ञ आप्तो वा स
20 ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् तद्यथा ऋषभधर्मानादिरिति । ” [न्यायवि० पृ० १२६] “तदिह
वैधर्म्योदाहरणाद् ऋषभभादेरसर्वज्ञत्वस्यानाप्ततायाश्च व्यावृत्तिः सन्दिग्धा । यतो ज्योतिर्ज्ञानं
चोपदिशेदसर्वज्ञश्च भवेदनाप्तो वा, कोऽत्र विरोधः ? नैमित्तिकमेतज्ज्ञानं व्यभिचारि न सर्वज्ञत्व-
मनुमापयेत् । ” [न्यायवि० टी० पृ० १२७]

पृ० ८५. पं० १६. ‘सूक्ष्मान्तरित’—कारिकेयं मूलतः स्वामिसमन्तभद्रोक्ता ।
25 तुलना—आप्तमी० का० ५ । प्रमाणमी० पृ० १२ । ‘तदुक्तं स्वामिभिः महाभाष्यस्यादावाप्त-
मीमांसाप्रस्तावे सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः.....’ [न्यायदी० पृ० १३]

पृ० ८६. पं० १. ‘स्लेच्छादिव्यवहारवत्’—तुलना—“तस्मादपौरुषेयत्वे स्याद-
न्योऽपुरुषाश्रयः । स्लेच्छादिव्यवहाराणां नास्तिक्यवचसामपि ॥ अनादित्वाद् भवेदेवं पूर्वसंस्का-
रसन्ततेः । तादृशेऽपौरुषेयत्वे कः सिद्धेऽपि गुणो भवेत् ॥ ” [प्रमाणवा० १।२४७-४८]
30 “सिद्धेऽपि तदनादित्वे पौरुषेयत्वाभावे वा कथमविसंवादकत्वं प्रत्येतव्यम्, स्लेच्छादिव्यवहा-
रादेस्तादृशो बहुलमुपलम्भात् । ” [अष्टश०, अष्टसह० पृ० २३८] “कर्तुरस्मरणेऽपि प्रवन्धा-
नादित्वं स्यान्न पुनः नित्यत्वमेव, तथापि कथं प्रामाण्यं तद्राशेः स्लेच्छादिव्यवहारवत् । ”
[सिद्धिवि० पृ० ४०८ A.]

पृ० ८६. पं० ६. ‘कालेनैतावता’—तुलना—प्रमाणसं० पृ० ९८ ।

35 पृ० ८६. पं० २०. ‘स्वतन्त्रत्वे तु शब्दानाम्’—तुलना—“नित्यत्वेऽपि शब्दानां
सर्वेषां स्यात् सकृच्छ्रुतिः । समाक्षग्रहयोग्यत्वात् व्यापिनां समवस्थितेः ॥ तत्कृतमुपकारमा-

त्मसात्कुर्वतः तद्देशवृत्तिनियमात् कूटस्थस्य न संभवति । सर्वगतत्वेऽपि विवक्षितैकशब्दश्रुतिर्न स्यात् । न हि समानदेशानां समानाक्षविषयाणामेतन्न्याय्यम् । प्रत्येकं व्यञ्जकनियमे कलकल-श्रुतेरनुपपत्तेः । व्यक्ताव्यक्तस्वभावप्राप्तिपरिहारमन्तरेण कुतो व्यक्तिः । तत्त्यागोपादानमृते कुतस्तिरोधानम् ? सत्यां च व्यञ्जकव्यापृतौ न स्याद्व्यङ्ग्यस्य नियमाद्गतिः, नावश्यम्भावनियमः उच्चारणात् श्रुतेस्ततः । ” [सिद्धिवि० पृ० ५५४]

5

पृ० ८६. पं० २५. ‘नित्यत्वम्’—पूर्वपक्षः—“नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात् । नित्यः शब्दो भवितुमर्हति । कुतः ? दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनमुच्चारणम् तत्परार्थम् । परमर्थं प्रत्याययितुम् । उच्चरितमात्रे हि विनष्टे शब्दे न चान्योऽन्यानर्थं प्रत्याययितुं शक्नुयात् अतो न परार्थमुच्चार्येत । अथाविनष्टः; ततो बहुश उपलब्धपूर्वत्वादेवार्थाधिगमः इति युक्तम् । ” [शाबरभा० १।१।१८]

10

पृ० ८६. पं० ३०. ‘स एवायमिति’—पूर्वपक्षः—“एवमन्येऽपि प्रत्यभिजानन्ति स एवायमिति । प्रत्यभिजानानां वयमिवान्येपि नान्य इति वक्तुमर्हन्ति । अथ मतम्—अन्यत्वे सति सादृश्येन व्यामूढाः ‘सः’ इति वक्ष्यन्ति; तत्र, नहि ते सदृश इति प्रतियन्ति, किं तर्हि ? ‘स एवायम्’ इति । ” [शाबरभा० १।१।२०]

पृ० ८८. पं० १४. ‘सम्यग्ज्ञानाङ्कुशः’—तुलना—प्रमाणस० का० ६८ ।

15

पृ० ८८. पं० २१. ‘अहं ममाश्रवो’—तुलना—प्रमाणस० का० ६९ । “जीवाजीवा-स्त्ववबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् । ” [तत्त्वार्थसू० १।४] “नव सवभावपयत्था पण्यत्ते । तं जहा-जीवा अजीवा पुण्यं पावो आसवो संवरो णिज्जरा बंधो मोक्खो । ” [स्थानागसू० १।६६५]

पृ० ८६. पं० ५. ‘सात्मीभावाद्भि’—तुलना—“सर्वेषां सविपक्षत्वाग्निर्ह्रासातिश-यश्रिताः । सात्मीभावात्तदभ्यासाद् हीयेरन्नास्त्रवाः कचित् ॥ ” [प्रमाणवा० १।२२२]

20

पृ० ८६. पं० १२. ‘यद्यप्यनात्मविज्ञान’—पूर्वपक्षः—“तस्मादनादिसन्तानतुल्य-जातीयबीजिकाम् । उत्खातमूलां कुरुत सत्त्वदृष्टिं मुमुक्षवः ॥ २५६ ॥ तत्रैव तद्विरुद्धात्मत-त्वाकारानुबोधिनी । हन्ति सानुचरां तृष्णां सम्यग्दृष्टिः सुभाविता ॥ २७१ ॥ ” [प्रमाणवा० १।२५६, २७१] “अद्वितीयं शिवद्वारं कुट्टीनां भयङ्करम् । विनेयेभ्यो हितायोक्तं नैरात्म्यं तेन तु स्फुटम् ॥ ” [तत्त्वस० पृ० ८६६]

25

पृ० ८६. पं० १७. ‘मैत्र्यादि’—तुलना—“मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् । ” [योगसू० १।३३] “मैत्रीप्रमोदकारुण्य-माध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकलिश्यमानाविनयेषु । ” [तत्त्वार्थसू० ७।११] “चत्वारो ब्रह्म-विहाराः—मैत्री करुणा मुदितोपेक्षा चेति । ” [धर्मस० पृ० ४] “मैत्र्यद्वेषः करुणा च मुदिता सुमनस्कता । उपेक्षाऽलोभः । ” [अभिधर्मको० ८।३०]

30

पृ० ६०. पं० ३. ‘सप्तभंगी’—तुलना—“सिय अत्थि एत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तदियं । दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥ ” [पचास्तिका० गा० १४] प्रवचनसा० २।२३ । “अत्थंतरभूएहि य णियएहि य दोहि समयमाईहि । वयणविसेसाईयं दव्वमवत्तव्वयं पडइ ॥ ” [सन्मति० १।३६-४०] “कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत् । तथोभयमवाच्यञ्च नययोगान्न सर्वथा ॥ ” [आप्तमी० का० १४] “विधिर्निषेधोऽनभिलाष्यता च त्रिरेकशस्त्रि द्विश एक एव । त्रयो विकल्पास्तव सप्तधामी स्याच्छब्दनेयाः सकलेऽर्थभेदे ॥ ” [युक्त्यनु० ग्लो० ४६] “अत्थि त्ति य एत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं । पज्जाएण दु केणवि तदुभयमादिट्ठमएणं वा ॥ ” [विशेषा० गा० २२३२] “प्रश्नवशादेकत्र

35

वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी ।” [राजवा० १।६] “द्रव्यपर्यायसामान्य-
विधानप्रतिषेधतः । सहक्रमविवक्षायां सप्तभङ्गी तदात्मनि ॥” [प्रमाणसं० पृ० १२२]
तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२८ । प्रमेयरत्नको० पृ० ५ । प्रमाणनय० ४।१३-२१ । जैनतर्कभा० पृ० १९ ।
नयोप० पृ० ९४ A. । स्याद्वादसं० का० २३ । सप्तभङ्गित० पृ० २ ।

5 पृ० ६०, पं० १४, ‘प्रयोगविरहे’—तुलना—लघी० टि० पृ० १५१ पं० २९ ।

पृ० ६१, पं० ४, ‘संशयादिप्रसङ्गः’—पूर्वपक्षः—“अथोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं
यत्तत्सदिष्यते । एषामेव न सत्त्वं स्यात् एतद्भावावियोगतः ॥ यदा व्ययस्तदा सत्त्वं कथं
तस्य प्रतीयते । पूर्वं प्रतीते सत्त्वं रयात्तदा तस्य व्ययः कथम् ॥ ध्रौव्येपि यदि नास्मिन् धीः
कथं सत्त्वं प्रतीयते । प्रतीतेरेव सर्वस्य तस्मात् सत्त्वं कुतोऽन्यथा ॥ तस्मान्न नित्यानित्यस्य
10 वस्तुनः संभवः क्वचित् । अनित्यं नित्यमथवास्तु एकान्तेन युक्तिमतम् ॥” [प्रमाणवार्तिकालं०
लि० पृ० २३५] “उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदित्येतदप्ययुक्तम्; ध्रौव्येण उत्पादव्यययोर्विरो-
धात्, एकस्मिन् धर्मिण्ययोगात् । कथञ्चिदुत्पादव्ययौ कथञ्चिद् ध्रौव्यमिति चेत्; यथा उत्पाद-
व्ययौ न तथा ध्रौव्यम्, यथा च ध्रौव्यं न तथोत्पादव्ययौ इति नैकं वस्तु यथोक्तलक्षणं
स्यात् ॥” [हेतुवि० टी० लि० पृ० २१६] द्रष्टव्यम्—न्यायकुमु० पृ० ३६० टि० १, ३६१ टि० १ ।

15 तुलना—“न चास्य विरोधसङ्करानवस्थाप्रसङ्गदोषानुग्रहण...” [नयचक्रवृ० लि० पृ०
५८ B.] अष्टग०, अष्टसह० पृ० २०६ । प्रमाणसं० पृ० १०३ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४३५ ।
प्रमेयक० पृ० १५८ A. । न्यायकुमु० पृ० ३७० । सन्मति० टी० पृ० ४५१ । स्या० रत्ना० पृ०
७४१ । प्रमेयरत्नमा० ४।१। प्रमाणमी० पृ० २८ । गास्त्रवा० टी० पृ० २६५ । सप्तभङ्गित० पृ० ८१ ।

पृ० ६२, पं० २, ‘अप्राप्यकारिणः’—तुलना—“ज्ञस्वभावस्य अप्राप्यकारिणः प्रति-
20 वन्धाभावे त्रिकालगोचरमशेषं द्रव्यं कथञ्चिज्ज्ञानतो न कश्चिद्विरोधः ॥” [सिद्धिवि० पृ० १९४ B.]

पृ० ६३, पं० १, ‘यदि किञ्चिद्विशेषेण’—तुलना—लघी० का० १९ । लघी०
टि० पृ० १३९ पं० ३४ ।

पृ० ६३, पं० ८, ‘आद्ये परोक्ष’—तुलना—“आद्ये परोक्षम् । प्रत्यक्षमन्यत् ॥”
[तत्त्वार्थसू० १।११, १२]

25 पृ० ६३, पं० ११, ‘केवलं लोक’—तुलना—“केवलं लोकबुद्ध्यैव बाह्यचिन्ता
प्रतन्यते ।” [प्रमाणवा० ३।२१९]

पृ० ६३, पं० १६, ‘प्रमाणस्य फलं’—तुलना—“उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादा-
नहानधीः । पूर्वा वाज्ज्ञाननाशः सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥” [आप्तमी० का० १०२] “प्रमाणस्य
फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम् । केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहानधीः ॥” [न्यायाव० श्लो०
30 २८] “उपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम् ॥” [सर्वार्थसि० १।१०] “प्रमाणस्य फलं साक्षात्सिद्धिः
स्वार्थविनिश्चयः ॥” [सिद्धिवि० पृ० १२६ A.] तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२७ । परीक्षामु० ५।१, २ ।
प्रमाणनय० ६।१-५ । प्रमाणमी० १।१।३४-४० ।

पृ० ६३, पं० २१, ‘नयचक्रतः’—तुलना—“आत्मज्ञानादिभेदानामानन्त्यं नय-
चक्रतः ॥” [प्रमाणसं० पृ० १२५] “तद्विशेषाः प्रपञ्चेन मन्त्रित्या नयचक्रतः ॥” [तत्त्वार्थ-
35 श्लो० पृ० २७६] अष्टसह० पृ० २८८ । नयविव० पृ० २६४ । प्रमेयरत्नमा० ३।७४ ।

इति न्यायविनिश्चयस्य टिप्पणानि ।

प्रमाणसङ्ग्रहस्य

॥ टिप्पणानि ॥



पृ० ६७, पं० १. 'श्रीमत्परम'—कारिकेयं निम्नशिलालेखेषु वर्तते—चन्द्रगिरिपर्व-
तस्य ३६, ४२, ४३, ४४, ४५, ४८, ५१, ५२, ५३, ५५, ५६, ६८ । विन्ध्यगिरिपर्वतस्य
८१, ८२, ८३, ८०, ८६, ८६, १०५, १११, ११३, १२४, १३०, १३७, १३८, १४१, १४४,
२२६, ३६२, ४८६, ४८३, ४८४, ४८५, ४८६, ५०० । [जैनशिलालेखसं०]

तुलना—“जीयान्निरस्तनिःशेषसर्वथैकान्तशासनम् । सदा श्रीवर्द्धमानस्य विद्यानन्दस्य 5
शासनम् ॥” [पत्रपरी० पृ० १३]

पृ० ६७, पं० ३. 'प्रत्यक्षं'—अस्या व्याख्यानं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके इत्थम्—
“..... अकलङ्कैरभ्यधापि यः ॥१७८॥ प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा श्रुतमविष्णु (प्लु) तम् ।
परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति सङ्ग्रहः ॥ १७९ ॥ 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा' इति ब्रुवाणे-
नापि मुख्यमतीन्द्रियं पूर्णं केवलमपूर्णमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं चेति निवेदितमेव, तस्याक्ष- 10
मात्मानमाश्रित्य वर्तमानत्वात् । व्यवहारतः पुनः इन्द्रियप्रत्यक्षमनिन्द्रियप्रत्यक्षमिति वैशद्यांश-
सङ्गावात् ततो न सूत्रव्याहतिः । श्रुतं प्रत्यभिज्ञादि च परोक्षम् इत्येतदपि न सूत्रविरुद्धम्
'आद्ये परोक्षम्' इत्यनेन तस्य परोक्षत्वप्रतिपादनात् । अवग्रहेहावायधारणानां स्मृतेश्च परोक्षत्व-
वचनात् तद्विरोध इति चेन्न; प्रत्यभिज्ञादीत्यत्र वृत्तिद्वयेन सर्वसङ्ग्रहात् । कथम् ? प्रत्यभि-
ज्ञाया आदिः पूर्वं प्रत्यभिज्ञादि इति स्मृतिपर्यन्तस्य ज्ञानस्य सङ्ग्रहात् प्राधान्येन अवग्रहादेरपि 15
परोक्षत्ववचनात्, प्रत्यभिज्ञा आदिष्वस्य इति वृत्त्या पुनः अभिनिबोधपर्यन्तसङ्गृहीतेन का-
चित् परोक्षव्यक्तिसङ्गृहीता स्यात् । तत एव प्रत्यभिज्ञादि इति युक्तम् व्यवहारतः, मुख्यतः
स्वेष्यस्य परोक्षव्यक्तिसमूहस्य प्रत्यायनात्, अन्यथा 'स्मरणादि परोक्षं तु प्रमाणे इति सङ्ग्रहः'
इत्येवं स्पष्टमभिधानं स्यात्, ततः शब्दार्थाश्रयणान्न कश्चिद्वोपोऽत्रोपलभ्यते ।” [तत्त्वार्थश्लो०
पृ० १८५.]

20

तुलना—“प्रमाणसङ्ग्रहादौ 'प्रमाणे इति सङ्ग्रहः' इत्यभिधाय” [सिद्धिवि० टी०
पृ० ४ A.] “तदुक्तम्—प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधाश्रितं” [अष्टसह० पृ० २८१] “प्रत्यक्षं
विशदं ज्ञानं त्रिधा इति शास्त्रान्तरे प्रतिपादनात् ।” [न्यायवि० वि० पृ० ५३ A.] “प्रत्यक्षं
विशदं ज्ञानं त्रिधैन्द्रियमनैन्द्रियम् । योगजं चेति ” [जैनतर्कवा० पृ० ९३]

पृ० ६७, पं० ६. 'श्रुतमविस्त्वं'—अकलङ्केन श्रुतं प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तं 25
कतया त्रिधा विभक्तम् । जैनतर्कवार्तिककृता तु लिङ्ग-शब्दसमुद्भूततया द्विधा परोक्षं स्वीकृत्य
अकलङ्कमतं निरस्तम् । तथाहि—“परोक्षं द्विविधं प्राहुर्लिङ्गशब्दसमुद्भवम् । लैङ्गिकप्रत्यभिज्ञादि
भिन्नमन्ये प्रचक्षते ॥—नन्वन्यदपि प्रत्यभिज्ञादिकं परोक्षं मन्यन्ते, तदेव लैङ्गिकप्रत्यभिज्ञादि-

भिन्नमन्ये चक्षते समानतन्त्राः । 'परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि त्रिधा श्रुतमविस्रवम्' इति वचनादिति । तदयुक्तम्; 'त्रिविधं भवति श्रौतं न त्वविस्रवं प्रमाणमित्यर्थः । प्रत्यक्षे हि परोपदेशस्य अनर्थकत्वात् । 'तन्नेदं श्रुतस्य लक्षणम् । किं तर्हि ? इत्याह-परोपदेशजं श्रौतमिति । परोपदेशजं श्रौतमति शेषं जगुर्जिनाः । परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि त्रिधा श्रौतं न युक्तिमत् ॥' [जैनतर्कवा० पृ० १३१]

5 पृ० ६७. पं० ७. 'हिताहितप्राप्ति'-तुलना-"हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ॥" [परोक्षामु० ११२] प्रमाणनय० ११३ । "हिताहितार्थसम्प्राप्तित्यागयोर्यन्निबन्धनम् तत्प्रमाणं" [जैनतर्कवा० पृ० १]

पृ० ६७. पं० १६. 'अक्षज्ञान'-'तदुक्तम्-अक्षज्ञानमनेकान्तमसिद्धेरपराकृतः ॥' [सिद्धिवि० टी० पृ० ४७२ A.]

10 पृ० ६८. पं० २. 'विविधान्'-"तथा चात्र देवस्य वचनम्-विवादानुविवादनस्य विकल्पनान्तरीयकत्वात् ॥" [न्यायवि० वि० पृ० ८३ A.]

पृ० ६८. पं० १३. 'स्वार्थमात्राध्य'-तुलना-"अधिगमोऽपि व्यवसायात्मैव, तदनुत्पत्तौ सतोऽपि दर्शनस्य साधनान्तरापेक्षया सन्निधानाभेदात् सुपुत्रचैतन्यवत् । सन्निधानं हि इन्द्रियार्थसन्निकर्षः ॥" [अष्टश०, अष्टसह० पृ० ७५, १२३]

15 पृ० ६८. पं० १४. 'तिमिराद्य'-तुलना-लघी० टि० पृ० १४० पं० २६ ।

पृ० ६८. पं० १७. 'परोक्षज्ञानार्थ'-तुलना-न्यायवि० टि० पृ० १५६ पं० १३ ।

पृ० ६८. पं० २७. 'कालेनैतावता'-अस्य व्याख्यानं न्यायविनिश्चयविवरणे इत्थम्-"एतावताऽनादिरूपेण कालेन कथं न प्रलयं गतः तदागमः । कीदृशोऽनाप्तः, अविद्यमानः तदर्थभिमुखे साक्षात्कारिपुरुषः प्रलयङ्गतोपपत्त्येव रागाद्युपहतचेतस्कृतया प्रज्ञाबलवैकल्यादिना चार्वाकदर्शनामनुपदेशान्यथोपदेशादेरप्रतिवेदनादेश्च प्रतिपुरुषमुपक्षीयमाणस्य सर्वत्रापि देशादिना कालेन निर्मूलान्मूलनस्य सम्भवात् । दृश्यते हि इदानीन्तनानामपि नैपथ्यादिव्यवहाराणां बहुजनपरिगृहीतानामपि निर्मूलप्रलयः ॥" [न्यायवि० वि० पृ० ५६२ A.]

पृ० ६६. पं० ३. 'सत्यस्वभवत्'-"तद्धि सत्यस्वप्रज्ञानम् इन्द्रियासंसृष्टं व्यवहितं चार्थमवैति इति प्रमाणसङ्ग्रहे निरूपितम् ॥" [सिद्धिवि० टी० पृ० ४३० B.]

25 तुलना-"इहापि सत्यस्वप्रदर्शिनोऽस्तीतादिकं विदन्त्येव । (पृ० ३९६) सत्यस्वप्रदर्शनवत्-सत्यस्वप्रदर्शनं हि तत्कालानुयातेनैव ग्राहकमीक्षते ॥" [प्रमाणवार्तिकाल लि० पृ० ४१०] "एतदुक्तम्-यथाहि सत्यस्वप्रदर्शिनो ज्ञानं परमार्थतोऽविषयमपि प्रतिनियतविषयाकारं लिङ्गागमानपेक्षज्जाश्रयविशेषादुत्पद्यमानमुपदर्शितार्थप्रापकत्वेनाविसंवादि भवति तथा योगिज्ञानं प्रज्ञापारमितायोगाभ्यासवलेन यथैव तदभूद्भवति भविष्यति च अतीतं वर्तमानमनागतं वस्तु 30 परेण परिकल्पितं तथैवोपदर्शितविविधाकारप्रकारप्रभेदप्रपञ्चं वहिरिव परिस्फुट्रूपं स्फुटप्रतिभासं लिङ्गागमानपेक्षमविसंवादितयोत्पन्नं प्रत्यक्षं प्रमाणमिष्यते । अतश्चैवं भगवतः सर्वत्र साक्षाद्दर्शित्वाभ्युपगमात् यत्र प्राप्तं न विज्ञातं साक्षात्कृतं तदभावेन सर्वज्ञज्ञानमुच्यते । यतो भ्रान्तिनिवृत्तावध्याकारनिवृत्तेः प्रतिबन्धाभावेनासंभवः इति मध्यमकनयानुसारेणार्थनागार्जुनपादप्रभृतयः ॥" [अभिसमयालङ्कारालो० पृ० १७७]

35 सत्यस्वप्रज्ञानदृष्टान्तस्य समालोचनं निम्नग्रन्थेषु दृश्यते-"ये तु पुनः सर्वमेव योगिविज्ञानमनालम्बनं सत्यस्वप्रदर्शनवद्वस्तुसंवादितया प्रमाणमिति प्रतिपन्नाः; तान् प्रत्यन्तवत्त्वचोद्यं

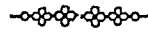
दूरीकृतावकाशमेव ।” [तत्त्वसं० पं० पृ० ९३२] “सत्यस्वप्रदर्शनं तु यदि वर्तमानस्य...”
[विधिवि० पृ० १५९]

पृ० ६६. पं० ४. ‘एकत्र निर्णये’—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १५५ पं० १७ ।

पृ० ६६. पं० ६. ‘ईक्षणिकादेः’—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६८ पं० ३।

पृ० ६६. पं० ११. ‘लक्षणं’—अस्य व्याख्यानं न्यायविनिश्चयविवरणे इत्थम्— 5
“लक्षणं स्पष्टं प्रत्यक्षम् इत्येतत् समं सदृशं त्रिष्वपि प्रत्यक्षेषु । कस्तर्हि इन्द्रियप्रत्यक्षात्
अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य विशेष इति चेत्; एतावान् विशेषः अशेषगोचरं निःशेषद्रव्यपर्यायपरि-
च्छेदरूपमतीन्द्रियप्रत्यक्षम् । क्रमेण तद्गोचरमपीतरवदपि प्रत्यक्षमिति चेदत्राह—अक्रमम् इति ।
इन्द्रियायत्तत्वे कथमितरवत् तदप्यक्रमं तद्गोचरमिति चेदत्राह—करणातीतं करणानि इन्द्रियाणि
अतीतमतिक्रान्तं तन्निरपेक्षत्वात् । तस्यैव समर्थनमकलङ्कम् इति, अविद्यमानज्ञानावरणादिकल्म- 10
षमित्यर्थः । तत्केपां प्रत्यक्षम् इत्याह—महीयसाम् महतामिति ।” [न्यायवि० वि० पृ० ३९९ A.]
तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६२ पं० २५।

इति प्रथमः प्रस्तावः ।



पृ० ६६. पं० १५. ‘प्रमाणमर्थ’—तुलना—“प्रमाणमविसंवादात् मिथ्या तद्विप-
र्ययात् । गृहीतग्रहणान्नो चेन्न प्रयोजनभेदतः ॥” [सिद्धिवि० पृ० १४६ A.] 15

पृ० ६६. पं० २५. ‘सदृशपरिणामः’—तुलना—“सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्ड-
मुखादिषु गोत्ववत् ।” [परीक्षामु० ४।४] प्रमाणनय० ५।४ ।

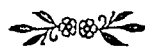
पृ० १००. पं० २६. ‘एकमनेकत्र’—तुलना—लघी० टि० पृ० १४५ पं० २८ ।

पृ० १००. पं० ३०. ‘इति तर्क’—अस्य व्याख्यानं न्यायविनिश्चयविवरणे इत्थम्—
“इति एवं तर्कमेव एवकारस्यात्र सम्बन्धात् नापरं तस्य प्रतिबन्धाविषयत्वादपेक्षितम्, कि 20
लैङ्गिकम् अनुमानं लिङ्गादागतत्वात्, कथमपेक्षेत नियमेन अवश्यम्भावेन, तदनपेक्षेत्वे तदनु-
त्पत्तेः ।” [न्यायवि० वि० पृ० ५०४ B.]

पृ० १०१. पं० ७. ‘विज्ञानगुणदोषाभ्याम्’—“तदुक्तम्—विज्ञानगुणदोषाभ्यां...”
[अष्टसह० पृ० ७४] “विवक्षाभ्यन्तरेणापि वागवृत्तिर्जातु वीक्षते । वाञ्छन्तो वा न वक्तारः
शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥” [न्यायवि० पृ० ७७] “न च दोषजातिस्तद्वेतुर्यतस्तां वाणी नातिवर्त्तेत 25
तत्प्रकर्षापकर्षानुविधानाभावात् बुद्ध्यादिवत्...” [अष्टश० अष्टसह० पृ० ७३]

तुलना—“वचनस्य विज्ञानमेव कारणम् असति तस्मिन्निच्छायामपि तदभावात्...”
[न्यायवि० वि० पृ० ५२० A]

इति द्वितीयः प्रस्तावः ।



पृ० १०२. पं० १. ‘साध्यं शक्य’—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६२ पं० ३२ । 30

पृ० १०२. पं० २. ‘आन्तेः पुरुष’—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६३ पं० ७ ।

पृ० १०२. पं० ६. ‘साधनं’—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६४ पं० ७।

पृ० १०२. पं० २५. 'एकं चलं'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६४ पं० १३।

पृ० १०३. पं० १. 'स्वलक्षण'—अरय व्याख्यानं न्यायनिनिश्चयविवरणे इत्थम्—“स्वलक्षणम् असङ्कीर्णपदेन स्वलक्षणारयविशेषात्मकत्वं समानपदेन च सामान्यात्मकत्वमुक्तम् अतः सामान्यविशेषात्मकत्वात् सर्वं वस्तु सविकल्पकमेव नाऽसहायस्वभावमत एवाह—सविकल्पकमिति (पृ० ३५२A.) समर्थमिति यस्मात् स्वकार्ये समर्थं शक्तं स्वलक्षणं तस्मादसङ्कीर्णमिति। स्वलक्षणस्य स्वरूपमाह स्वगुणैरेकम् इति। स्वग्रहणेन परगुणैरेकत्वाभावमावेदयन् 'चोदितोदधि खादेति' इत्यादेरनवकाशत्वं दर्शयति। गुणशब्देन च तस्य सामान्यवाचित्वान् गुणपर्यययोरुभयोरपि ग्रहणम्। अत एवाह—सहकर्मविवर्तिभिः इति ।” [न्यायवि० वि० पृ० ३५४ B.]

पृ० १०३. पं० ४. 'संशयविरोध'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १७० पं० ६।

10 पृ० १०३. पं० १५. 'विस्तवेऽपि'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १५९ पं० ११।

पृ० १०३. पं० २१. 'कस्यचित्कैवल्यं'—तुलना—“तस्य कैवल्यमेव अपरस्य वैकल्यमिति ।” [हेतुवि० लि०] अष्टश० अष्टसह० पृ० ५३। “पूर्वस्य कैवल्यम् अपरस्य वैकल्यम् ।” [सिद्धि० पृ० ३६२]

15 पृ० १०३. पं० २४ 'परापरविभागैक'—तुलना—“अध ऊर्ध्वविभागादिपरिणामविशेषतः। तानेव पश्यन् प्रत्येति शाखा वृक्षेऽपि लौकिकः ॥ जयश्च (अधश्च) ऊर्ध्वं च ये विभागा मूलशाखारूपा अवयवास्ते आदयो येषां पार्श्वमध्यविभागानां तैः सह परिणामविशेषः कथञ्चिदभेदपरिणामः तत इति, अभेदपरिणामाद्धि शाखाभिरिह शाखिनः शाखासु वृक्ष इत्येव प्रत्ययः परिहृश्यते ‘‘यदि च शाखासु वृक्ष इति प्रत्ययात् तत्र वृक्षस्य कार्यत्वेन वृत्तिः वृक्षे शाखा इत्यपि प्रत्ययात् तासामपि तत्र तथा वृत्तिः प्राप्नुयात्, एवं च न यावच्छाखा न तावद् वृक्षः न यावच्च वृक्षो न तावच्छाखा इति परस्पराश्रयादुभयाभावः परस्यापत्तेः इति आवेदयन्नाह—तानेव पश्यन् प्रत्येति शाखा वृक्षेऽपि लौकिकः इति। तानेव प्रकृतानवयवान् अवयविनं च पश्यन् प्रत्येति प्रतिपद्यते शाखा आधेयभूता वृक्षे आधारभूते न केवलं तासु वृक्षम् अपि तु तत्रापि ताः प्रत्येतीत्यपिशब्दार्थः। कः प्रत्येति ? लौकिकः ‘‘ ।” [न्यायवि० वि० पृ० २२७ A.]

25 पृ० १०३. पं० २६. 'प्रमाणमात्मसात्कुर्वन्'—व्याख्या इत्थं द्रष्टव्या—“प्रमाणमवितथनिर्भासं ज्ञानम् आत्मसात्कुर्वन् प्रतीति यथार्थपरिच्छिन्तितिलङ्घयेत् प्रत्याचक्षीत सौगतो ब्रह्मवादिवत् तामतिलङ्घयेत्। वितथा मिथ्याभिमतता ये ज्ञानानां सन्तानविशेषाः कामिन्यादिविषयाः तरङ्गचन्द्रादिविषयाश्च प्रवाहभेदास्तेषु न केवलं न प्रमाणमन्तरेण तदनतिलङ्घनस्यापि तथाप्राप्तेः। न च तदात्मसात्करणं परस्योपपन्नम् ।” [न्यायवि० वि० पृ० १६७ B.]

30 तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १५८ पं० ३३।

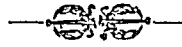
पृ० १०३ पं० २८ 'चित्रं तदेक'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६० पं० २२।

व्याख्यानं त्वस्य न्यायविनिश्चयविवरणे इत्थम्—“चित्रं नानारूपं तद् बाह्यं चित्रपतङ्गादि एकमभिन्नमित्येवं चेत् यदि मन्यते जैन इदमनन्तरोक्तं ततश्चित्रादतिशयेन चित्रं चित्रतरं विस्मयनीयतरम्। तथाहि—यदि नानारूपं नैकं विरोधात् इत्यसदेव एकत्वम्, तद्भावे च नानारूपं तस्यापि परमाणुरूपस्याबुद्धिगोचरत्वात् इत्यसन्नेव तादृशो बहिरर्थ इति भवत्येव तद्वादिनामुपहास इति भावः। परस्य तत्र प्रत्युपहासमाह—चित्रं शून्यमिदं सर्वं वेत्ति चित्र-

तमं तत इति । चित्रमिति-नानारूपं बाह्यं मयूरादि, कीदृशमिदं प्रत्यक्षवेद्यं सर्वं निरवशेषं वेत्ति जानासि, कीदृशं शून्यम् नीरूपमिदम् इत्यत्रापि सम्बन्धनीयम्, इदं परस्य वचनं ततः चित्रतरातिशयेन चित्रं चित्रतमम् अनुपायस्यैव तदभाववेद्यस्य प्रतिपादनात् ।” [न्यायवि० वि० पृ० २०५ B.]

इति तृतीयः प्रस्तावः ।

5



पृ० १०४. पं० २. ‘अन्यथाऽसंभवो’-तुलना-न्यायवि० टि० पृ० १६४ पं० १९।

पृ० १०४. पं० ५. ‘उदेष्यति शकटं’-तुलना-लघी० टि० पृ० १३९ पं० २०।

पृ० १०४. पं० ५. ‘कालादिधर्मिकल्पनायाम्’-तुलना-“यदि पुनराकाशं कालो वा धर्मी तस्य उदेष्यच्छकटवत्त्वं साध्यं कृतिकोदयसाधनं पक्षधर्म एवेति मतम् ; तदा धरित्रीधर्मिणि महोदध्याधाराग्निमत्त्वं साध्यं महानसधूमवत्त्वं साधनं पक्षधर्मोऽस्तु, तथा च 10 महानसधूमो महोदधौ अग्नि गमयेदिति न कश्चिदपक्षधर्मो हेतुः स्यात् ।” [प्रमाणपरी० पृ० ७१] तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०१ । जैनतर्कभा० पृ० १२ पं० १३ । “कृतिकोदयपूरादेः कालादि-परिकल्पनात् । यदि स्यात्पक्षधर्मत्वं चानुपत्त्वं न किञ्चनौ (किं ध्वनौ) ॥” [जैनतर्कभा० पृ० १६०]

पृ० १०४. पं० १८. ‘सत्प्रवृत्तिनिमित्तानि’-तुलना-“अविरुद्धोपलब्धिः विधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ।” [परीक्षामु० ३।५४-७२] प्रमाणपं० पृ० 15 ७३ । प्रमाणनय० ३।६४-७८ । प्रमाणमी० भाषाटि० पृ० ८३ पं० २३ ।

पृ० १०४. पं० २४. ‘निरुपाख्यत्वम्’-तुलना-“सर्वसामर्थ्योपाख्याविरह-लक्षणं हि निरुपाख्यमिति, उपाख्या श्रुतिः उपाख्यायतेऽनया इति कृत्वा ।” [वादन्याय पृ० ८]

पृ० १०५. पं० १. ‘असद्व्यवहाराय’-तुलना-“प्रतिषेधसिद्धिरपि यथोक्ताया एवानुपलब्धिः सा च प्रयोगभेदादेकादशप्रकारा-स्वभावानुपलब्धिः, कार्यानुपलब्धिः, व्याप- 20 कानुपलब्धिः, स्वभावविरुद्धोपलब्धिः, विरुद्धकार्योपलब्धिः, विरुद्धव्याप्तोपलब्धिः, कार्यविरुद्धोपलब्धिः, व्यापकविरुद्धोपलब्धिः, कारणानुपलब्धिः, कारणविरुद्धोपलब्धिः, कारणविरुद्ध-कार्योपलब्धिः ।” [न्यायवि० पृ० ४२-५४] परीक्षामु० ३।७३-८० । प्रमाणनय० ३।९०-९८ ।

पृ० १०५. पं० १६. ‘सद्वृत्तिप्रतिषेधाय’-तुलना-न्यायवि० पृ० ४२-५४ । परीक्षामु० ३।६६-७२ । प्रमाणनय० ३।७९-८८ । 25

पृ० १०६. पं० १६. ‘अविप्रतिसार’-“पश्चात्तापोऽनुतापश्च विप्रतीसार इत्यपि” [अमरकोशः] “तत्र विदूषणसमुदाचारोऽकुशलं कर्माध्यचारति, तत्रैव च विप्रतिसार-वहुलो भवति ॥” [शिक्षासमु० पृ० १६०] न विप्रतिसारः अविप्रतिसारः दोषरहित इत्यर्थः ।

पृ० १०७. पं० ४. ‘स्वरुचि’-तुलना-“इति स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम्” [अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०२] 30

पृ० १०७. पं० ११. ‘अप्रत्यक्षेऽपि’-अस्य व्याख्या न्यायविनिश्चयविवरणे इत्थम्-“अप्रत्यक्षेऽपि ज्ञानं नेति सन्तः प्रचक्षते ॥-बहलतमः पटलपरिपिहितलोचनदशायामप्रत्य-क्षेऽपि विस्पष्टप्रतिभासाविषयेऽपि न केवलं विपुलविलसद्दालोकपरिकलितदेशदशायां प्रत्यक्षेऽपि इत्यपिशब्दः । कस्मिन् ? देहे शरीरेऽस्मिन्नात्मीये प्रतीयमाने प्रत्यक्षं स्पष्टावभासं ज्ञानम्, कुत एतन् 35

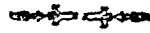
स्वतन्त्रं यथा भवति तथाऽवभासनात् । किम् ? तद्गुणः तस्य देहस्य गुणः, तदश्रयान्निति सन्तः प्रचक्षते कथयन्ति । नहि तरिमन्नप्रत्यक्षेऽपि प्रत्यक्षस्य तदा (द्) गुणत्वं रूपादेराकाश-
गुणत्वप्रसङ्गात्...” [न्यायवि० वि० पृ० ४५७ B.]

- पृ० १०७. पं० १३. ‘सत्यं तमाहुः’—अस्य व्याख्या इत्थम्—“सत्यमवितथम्
5 आत्मन एव विचारविषयतया प्रस्तुतत्वात्, आहुः आवेदयन्ति । के ? आचार्य (र्याः) विचार-
ज्ञानप्रवर्तकाः... कीदृशं तत् इत्याह—योऽवलोकते पश्यति । कया ? विद्यया यथावस्थितवस्तुरूपाव-
लोकनशक्त्या... कमवलोकते ? यथार्थं यो येन स्वभावेन स्थितोऽर्थः स यथार्थः तमिति...
पुनरपि तत्स्वरूपमाह—विभ्रमैश्च मिथ्याकारग्रहणशक्तिविशेषैश्च, चशब्दः पूर्वसमुच्चयार्थः
अयथार्थं (र्थं) मिथ्याकार (रं) योऽवलोकते... कः पुनरसौ यो विद्यया यथार्थं विभ्रमैश्च
10 अयथार्थमवलोकते इत्याह—एषः प्रत्यात्मवेदनीयः... कीदृशः पुनरेषोऽपि इत्याह—प्रभुः इति,
प्रभुत्वं पुनस्तस्य यथार्थाद्यवलोकने विषयाकारस्य व्यतिरिक्तविज्ञानस्य च अनपेक्षणात्...”
[न्यायवि० वि० पृ० १५० B.]

- पृ० १०७. पं० १५. ‘तुलोनाम’—अस्य व्याख्या इत्थम्—“तुलाया उन्नामश्च
ऊर्ध्वगमनं रसश्च तावधी (वादी) येषाम् अर्वाग्भागसाल्नादीनां तेषां नहि स्फुटम्, किम् नामश्च
15 अधोगमनं रूपं च आदिर्येषां परभागविशेषणादीनां त एव हि (हे) तवो येषां तेषां भावः
तत्त्वम् । कया युक्त्या तत्तेषां न तुल्यकालतया [सम] समयतया इति ? नहि समसमयत्वे
युक्तो हेतुफलभावः परस्परमनुपयोगात् सव्यतरनारीकुचचूचुकवदनभ्युपगमात् । नचैवमहेतुः
अव्यभिचारात्, नहि नामादेः उन्नामादिव्यभिचारः निर्व्यभिचाराया एव ततः तत्प्रतिपत्तेरुप-
लम्भात्...” [न्यायवि० वि० पृ० ५०९ A.]

- 20 पृ० १०७. पं० १७. ‘अन्वयोऽन्य’—अस्य व्याख्यानमिथम्—“अन्वयोऽनुगमः
खण्डादिषु गौरिति तन्तुषु अयं पट इति रुचकादौ तदेवेदं सुवर्णमिति रूपः, स अन्यस्य कर्कादेः
मृगादेश्च व्यवच्छेद एव नापरः । तथा सर्वस्मात् सजातीयात् विजातीयाच्च व्यतिरिच्यते
भिद्यते इति व्यतिरेकः, स एव स्वलक्षणम् पूर्वोक्तम्, ततः तस्मात् अन्वयात् स्वलक्षणाच्च सर्वा
निरवशेषा व्यवस्था स्वाभिमतवस्तुव्यवस्थितिः इति एवं नृत्येत् नृत्यं कुर्यात् काक इव काकः
25 सौगतः तद्व्यवस्थात्मनि नृत्यक्रियायाम् उपायात्मनः पिच्छभारस्य अभावात्, मयूर इव
मयूरो चैन (जैनः) तस्य तद्भावस्य निवेदनात् स इव तद्वदिति...” [न्यायवि० वि० पृ० ३६१ A.]

इति चतुर्थः प्रस्तावः ।



- पृ० १०७. पं० २१. ‘निर्व्यापारो’—तुलना व्याख्या च—“सत्ता सम्प्रतिवद्भैव
परिणामे क्रियास्थितेः । निर्व्यापारो हि भावः स्यान्नित्यत्वे वा निरन्वये ॥—एवकारो भिन्नप्रक्रमः
30 परिणाम इत्यत्र दर्शनात्, ततः सत्त्वा (सत्ता) सत्त्वं सम्यक् प्रतिवद्धा, क ? परिणाम एव न क्षण-
भङ्गादौ, ततः तत्रैव सा हेतुः इत्यर्थः । एतदेव कुतः ? क्रियोस्थितेः परिणाम एव क्रियायाः कार्य-
करणस्य स्थितेः अवस्थानादिति, तदपि कस्मात् ? निर्व्यापारो व्यापारान्निष्क्रान्तो हि यस्माद्
भावः चेतनादिः स्याद् भवेत्, कस्मिन् सति ? निरन्वये क्षणभङ्गे, केव ? नित्यत्वे वा नित्यत्व
इव, वाशब्दस्य इवार्थत्वात् निरन्वय इव वा नित्यत्वे वा इति ॥” [न्यायवि० वि० पृ० ५१६ B.]
35 पृ० १०८. पं० ३. ‘इष्टविघातकृत्’—“इष्टस्य शब्देनानुपात्तस्य विघातं करोति
विपर्ययसाधनात् इति इष्टविघातकृत् ।” [न्यायवि० टी० पृ० १०३]

पृ० १०८, पं० १५, 'गण्डूपद'—तुलना—“अनेकान्तत्वं विरोधशङ्कया परिह-
रतस्ते क्षयैकान्तोपलम्भावलम्बनम् गण्डूपदभयादजगरमुखप्रवेशमनुसरति ।” [सिद्धिवि०
पृ० ५३७ B.]

पृ० १०८, पं० १७, 'दृष्टाद् गरिष्ठ'—तुलना—“नहि दृष्टाज्येष्ठं गरिष्ठमिष्टम्”
[अष्टश० अष्टसह० पृ० ८०] “नहि दृष्टाद् गरिष्ठं प्रमाणमस्ति ।” [नयचक्रवृ० लि० पृ० १८ B.] 5

पृ० १०८, पं० २१, 'अदृश्यानुपम्भाद्'—तुलना—लघी० टि० पृ० १३९ प० २४।

पृ० १०८, पं० २८, 'संहतानाम्'—पूर्वपक्षः—“सङ्घातपरार्थत्वात्—यतः सङ्घातश्च
परार्थः तस्माद्धेतोः, इह लोके ये सङ्घातास्ते परार्था दृष्टाः पर्यङ्करथशय्यादयः । एवं गात्राणां
महदादीनां सङ्घातः समुदायः परार्थ एव । पर्यङ्करथादयः काष्ठसङ्घाताः, गृहादयः काष्ठेष्टि-
कादिसङ्घाताः । न हि ते रथगृहपर्यङ्कादयः किमपि स्वार्थं साधयन्ति न वा परस्परार्थाः, किन्तु 10
अस्त्यसौ देवदत्तादिः योऽस्मिन् पर्यङ्के शेते रथेन गच्छति गृहे निवसतीति । एवममी महदा-
दयश्चक्षुरादयो वा न स्वार्था न च परस्परार्थाः किन्तु परार्थाः । यश्चासौ परः स चात्मा ।”
[साख्यका० माठरवृ० पृ० २९]

पृ० १०६, पं० २५, 'सहोपलम्भ'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १५९ प० २०।

पृ० ११०, पं० २, 'नास्ति सर्वज्ञः'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६७ प० ३३। 15

पृ० ११०, पं० ६, 'सिद्धेऽकिञ्चित्करो'—तुलना—“सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च
साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ।” [परीक्षामु० ६।३५]

पृ० ११०, पं० ११, 'विरुद्धाव्यभिचारिणः'—विरुद्धाव्यभिचारिणो लक्षणम्—
“विरुद्धाव्यभिचारी यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्, नित्यः शब्दः श्रावणत्वात्
शब्दत्ववत् इति उभयोः संशयहेतुत्वाद् द्वावप्येतौ एकोऽनैकान्तिकः समुदितावेव ।” 20
[न्यायप्रवे० पृ० ५] “स्वलक्षणप्रयुक्तयोः हेत्वोः एकत्र धर्मिणि विरोधेनोपनिपाते विरुद्धा-
व्यभिचारीति ।” [हेतुवि० लि०]

पृ० १११, पं० ५, 'विरुद्धाव्यभिचारी'—उद्धृतोऽयम्—प्रमाणनि० पृ० ६१ ।

पृ० १११, पं० १२, 'अन्तर्व्याप्ताव'—तुलना—“यथाच अन्तर्व्याप्तावसिद्धायां
बहिर्व्याप्तेरकिञ्चित्करत्वं तथा सिद्धायामपि इति यद्वदयति प्रमाणसङ्ग्रहे—भविष्यति आत्मा 25
सत्त्वात्” [सिद्धिवि० टी० पृ० २३९ B.] “अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धौ बहिरुदाहृतिः ।
व्यर्था स्यात्तदसद्भावेऽप्येवं न्यायविदो विदुः ॥” [न्यायावता० श्लो० २०] “तत्सिद्धयसिद्धयोः
बहिर्व्याप्तेरसाधनात् ।” [सिद्धिवि० पृ० ३०८ A.] “अन्तर्व्याप्तावसिद्धायां बहिर्व्याप्तिरसा-
धनम् ।” [सिद्धिवि० पृ० २८१ A.] अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायने शक्तावशक्तौ च
बहिर्व्याप्तेरुद्भावनं व्यर्थम् । पक्षीकृत एव साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः, अन्यत्र तु 30
बहिर्व्याप्तिः यथा अनेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेः अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्,
य एवं स एवं यथा पाकस्थानम् ।” [प्रमाणनय० ३।३५, ३६] धर्मस० वृ० पृ० ८२ ।
जैनतर्कभा० पृ० १२ ।

इति पञ्चमः प्रस्तावः ।



पृ० १११. पं० १५. 'वादः'—तुलना—“समर्थवचनं जल्पं वादं चतुरङ्गं विदुः । पक्षनिर्णयपर्यन्तं फलं मार्गप्रभावेन ॥” [सिद्धिवि० पृ० २५४ A.] तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८० । प्रमेयरत्नमा० ६।४७ । न्यायवि० टि० पृ० १६६ पं० ३६।

पृ० ११२. पं० ४. 'अपेक्षितपर'—तुलना—“अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः
5 स्वभावेन निष्पत्तौ कृतक इति ।” [न्यायवि० पृ० ६७]

पृ० ११२. पं० ८. 'सति समर्थे'—तुलना—“नहि समर्थेऽस्मिन् सति स्वयमनु-
त्पित्सोः पश्चाद्भवतः तत्कार्यत्वं समनन्तरत्वं वा नित्यवत् ।” [अष्टश०, अष्टसह० पृ० १८२]

पृ० ११२. पं० ११. 'तदयं भावः'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६१ पं० १४।

पृ० ११२. पं० २८. 'योगक्षेम'—“योगः अप्राप्तविषयस्य परिच्छेदलक्षणा प्राप्तिः,
10 क्षेमः तदर्थक्रियानुष्ठानलक्षणं परिपालनम् ।” [हेतुवि० टी० लि० पृ० ५५]

पृ० ११३. पं० २. 'त्रिलक्षणम्'—“यदि पुनः भावः स्यात्तु उत्पत्सुर्वा न भवेत्
न कदाचिदपि तिष्ठेदुत्पद्येत वा खपुष्पवत् । न हि तन्नश्वरत्वमेव साध्यतत्पन्थाप्यविशेषान् ।
तदिमे स्वरसत एव उत्तरीभवन्तः यथायोगं परस्परोपकारमतिशयाधानमात्मसात्कुर्वन्ति ।”
[सिद्धिवि० पृ० १७२]

15 पृ० ११३. पं० ४. 'तदयमुत्पाद'—तुलना—“स्थितिरेव उत्पद्यते विनाश एव
तिष्ठति उत्पत्तिरेव नश्यति ।” [अष्टश० अष्टसह० पृ० ११२] नयचक्रदृ० लि० पृ० २९२ A.

पृ० ११३. पं० ६. 'प्रकृताशेष'—व्याख्या—“प्रकृतः विधिमुखेन निषेधमुखेन
वा साधयितव्यतयो प्रकान्तो यः अशेषः समग्रः साध्यसाधनरूपः तत्त्वार्थः, न सौगतवत्
कल्पितस्वभावः, तस्य प्रकाशः सभ्यचेतसि समर्पणम् तत्र पटुवादिनः सकाशात् यो विपरीतः
20 तत्प्रकाशपादविकलः स निगृह्यते पराजयं प्राप्नोति । विवृणाणः विसदृशं दूषणमभिधानोऽ-
ब्रुवाणो वा तूष्णीमासीनो वा विपरीत एव निगृह्यते इति ।” [न्यायवि० वि० पृ० ५२७ B.]

पृ० ११३. पं० २३. 'तत्र मिथ्योत्तरं'—व्याख्या—“तत्र मिथ्योत्तरं जातिः
यथाऽनेकान्तविद्विषाम् । दध्युप्रादेरभेदत्वप्रसङ्गादेकचोदनम् ॥ प्रमाणोपपन्ने साध्ये धर्मे यस्मिन्
मिथ्योत्तरं भूतदोषस्य उद्भावयितुमशक्यत्वेन असददूषणोद्भावनं सा जातिरिति । तत्केपाम्
25 इत्याह—यथा अनेकान्तविद्विषाम् इति । यथा इत्युदाहरणप्रदर्शने अनेकान्तविद्विषः सौगतादयः
तेषाम् इति । कीदृशं तदित्याह—तद्यु (दध्यु) प्रादेरभेदत्वप्रसङ्गादेकचोदनम् इति ।”
[न्यायवि० वि० पृ० ५२६ B.]

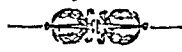
तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६५ पं० ३४।

पृ० ११४. पं० २१. 'असिद्धः'—व्याख्या—“स्वलेक्षणैकान्तस्य साधने सिद्धौ
30 अङ्गीक्रियमाणायौ सर्वो हेतुः सिद्धसेनस्य भगवतः असिद्धः । कथमिति चेदुच्यते—बहिरिव
इति—अर्थातो रूपात् चित्रमेकं ज्ञानमिष्यते तत्राहि—विरुद्धो देवनेन्दिनः हेतुरेकान्त-
साधने, क्रमेणैव क्रमेणापि चित्रैकविरोधात्—अपरस्त्वाह—न मया प्रतिभासद्वैतवादिना
परमार्थतः कचिद् हेतुरिष्यते यस्तु इष्यते स व्यवहारेण 'प्रामाण्यं व्यवहारेण' इत्यभिधानात्
इति तं प्रत्याह—‘द्वेधा समन्तभद्रस्य’ हेतुः एकान्तसाधने इति पक्षवत् विपक्षेऽपि वर्तते इति
35 द्वेधा अनैकान्तिकः इति यावत् ।” [सिद्धिवि० टी० पृ० ३२३ A.]

उद्धृतोऽयम्—“...हेतुरेकान्तसाधने” [न्यायवि० वि० पृ० ५०२ A.]

तुलना—“असिद्धः सिद्धसेनस्य...विरुद्धो मल्लघादिनः।...द्वेधा समन्तभद्रस्य...
हेतुरेकान्तसाधने।” [जैनतर्कवा० पृ० १४२] स्या० रत्ना० पृ० १०३२।

पृ० ११५, पं० २३, ‘जाड्य’—बौद्धाचार्यैः अह्नीकजाड्यादयोऽप्येवमवाः प्रतिवा-
दिनः प्रयुक्ताः। ग्रन्थकारः तत्तत्सिद्धान्तोसङ्गतिप्रदर्शनेन बौद्धाचार्या एव तच्छब्दयोग्या इति 5
प्रदर्शयति। जाड्यादिशब्दप्रयोगस्थलानि—“ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्च लिङ्गानि जाड्ये” [प्रमाणवा०
१।३४२] “तदेतज्जाड्यवर्णितम्” [प्रमाणवा० ४।३५] “एतेनैव यदह्नीकाः किञ्चिदश्लील-
माकुलम्। प्रलपन्ति...” [प्रमाणवा० १।१८२] हेतुवि० पृ० १२९। वादन्यायटी० पृ० २।
“एतत्सांख्यपशोः कोऽन्यः सलज्जो वक्तुमीहते।” [प्रमाणवा० २।१६५] “शृङ्गे गौरित्यलौ-
किकम्।” [प्रमाणवा० ३।१५०, ४३७] “एषा लोकोत्तरा स्थितिः” [प्रमाणवा० ४।५५] 10
“धिग्व्यापकं तमः” [प्रमाणवा० ३।२३९] वादन्यायटी० पृ० ५१। “तमोविजृम्भणम्”
[प्रमाणवा० तिकां लि० पृ० ३४६] “जयेद् धाष्ट्र्येन बन्धकीम्” [प्रमाणवा० ३।३३४]
इति षष्ठः प्रस्तावः।



पृ० ११६, पं० ६, ‘सिद्धम्’—व्याख्यां तुलना चे—“सकलं सर्वथैकान्तप्रवादा-
तीतगोचरम्। सिद्धं प्रवचनं सिद्धपरमात्मानुशासनम्॥ सिद्धं प्रमाणमित्यर्थः सिद्धयति 15
निर्णयविषयतां गच्छति अनेन अर्थ इति सिद्धमिति” “हेतुवन्तरमाह—सिद्धपरमात्मानुशासनम्
इति। सिद्धो निश्चितः परमात्मा सकलवस्तुयाथात्म्यदर्शी पुरुषविशेषोऽनुशासनः काले देशे
च कचिदुत्पन्नस्य अनु पश्चात् शासनः शास्ता यस्य तत्तथोक्तम् यत् एवं प्रवचनं ततः
सिद्धमिति” [न्यायवि० वि० पृ० ५३४ A.]

पृ० ११६, पं० १८, ‘पुरुषातिशयो’—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६७ पं० ३। 20

पृ० ११८, पं० १६, ‘श्रोत्रं हि’—पूर्वपक्षः—“अप्राप्तान्यक्षिप्तमनःश्रोत्राणि।”
[अभिधर्म को० १।४३]

तुलना—राजवा० पृ० ४८। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३५। न्यायकुमु० पृ० ८३। सन्मति०
टी० पृ० ५४५। स्या० रत्ना० पृ० ३३४।

पृ० ११८, पं० २८, ‘करणसन्निपातोप’—तुलना—“तदेतेषां पुद्गलानां करण- 25
सन्निपातोपनिपाते श्रावणस्वभावः शब्दः पूर्वापरकोट्योरसन् प्रयत्नानन्तरीयको घटादिवत्”
[अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०७]

पृ० ११६, पं० २०, ‘हीनस्थान’—तुलना—“मिथ्याज्ञानतदुद्भूततर्षसञ्चेत-
नावशात्। हीनस्थानगतिर्जन्म...” [प्रमाणवा० २।२६६] आप्तपे० पृ० १।

पृ० १२२, पं० ३, ‘सम्यग्ज्ञानाङ्कुशः’—व्याख्या—“शब्द इति सर्वोऽपि पौरुषेयः 30
शब्दः पुरुषार्थस्य निःश्रेयसः तत्कारणस्य अभिधायिकोऽपि तु संत्यो विप्रतिसारविकलश्च, न
सर्वोप्यसौ तद्विकलक्षये वा अपि तु सम्यग्ज्ञानाङ्कुशः सम्यग्ज्ञानं तत्प्रणेतुः पुरुषस्य तदर्थविषयं
निरूपणं ज्ञानं तदेव अङ्कुशो नियामकः यस्य स एव च अयमेव स्याद्वादाभिधिलाञ्छनः वचन-
प्रबन्धः नापरः तत्प्रणेतृणां तज्ज्ञानाभावस्य निर्वेदनीत्...” [न्यायवि० वि० पृ० ५७८ A.] 35

पृ० १२२. पं० ६. 'अहं ममाश्रवो'—व्याख्या—“समीहते संसारनिवृत्तिं प्रतीयेत, कः ? प्रेक्षाकारी विचारकरणशीलः । कथं समीहते ? सादरं निश्चितनिश्चयप्रकारं च अहम् इत्यादिना दर्शयति । प्रत्येकमत्र इतिशब्दस्य सम्बन्धः, ममशब्दस्य च आश्रवादिभिः, अहमिति, ममाश्रव इति, मम बन्ध इति, मम संवर इति, मम कर्मणां निर्जरा इति, मम तेषां क्षय इति च, तत्र आत्मानम् अहमिति निर्दिशति अहम्प्रत्ययवेद्यत्वात् । तस्यासत्कारे कस्य संसारो मोक्षो वा तदुपाये प्रवर्तते... ।” [न्यायवि० वि० पृ० ५७९ A.]

इति सप्तमः प्रस्तावः ।



पृ० १२२. पं० १६. 'द्रव्यपर्याय'—व्याख्या—“द्रव्यमन्वयिरूपम्, पर्याया व्यावृत्तिधर्म (र्मा) णः, सामान्यं सदृशपरिणामः, विशेषो विसदृशः, तेषां च विभागः तेन यौ स्यात् कथञ्चित् विवक्षितधर्मस्य विधिप्रतिषेधौ भावाभावौ ताभ्यां सप्तभङ्गी सप्तानां भङ्गानां समाहारः तद्वचसि प्रवर्तते इति... ।” [न्यायवि० वि० पृ० ५८७ A.]

तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६९ पं० ३१।

पृ० १२५. पं० ४. 'स्वरूपस्य'—तुलना—“स्वरूपस्य स्वतो गतेः ।” [प्रमाणवा० २।४] “न खलु स्वसंवेदनप्रत्यक्षं प्रमाणाप्रमाणविभागमुपदर्शयति सर्वज्ञानेषु स्वसंवेदनस्य भावात् ।” [प्रमाणवार्तिकालं० लि० पृ० ५५]

पृ० १२५. पं० २७. 'नयचक्रतः'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १७० पं० ३३।

पृ० १२६. पं० ८. 'नैगमः'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४५ पं० १०।

पृ० १२६. पं० ६. 'सर्वमेकम्'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४४ पं० २८।

पृ० १२६. पं० ११. 'व्यवहार'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४६ पं० ११।

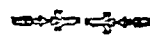
पृ० १२६. पं० १३. 'ऋजुसूत्रो'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४६ पं० २२।

पृ० १२६. पं० १५. 'शब्दो'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४६ पं० ३५।

पृ० १२६. पं० १६. 'अभिरूढः'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४७ पं० ७।

पृ० १२६. पं० १६. 'इत्थम्भूतः'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४७ पं० १८।

इति अष्टमः प्रस्तावः ।



पृ० १२७. पं० २. 'ज्ञानं प्रमाण'—तुलना—लघी० का० ५२। लघी० टि० पृ० १४८ पं० ६।

पृ० १२७. पं० २२. 'प्रामाण्यं'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६६ पं० ३१।

इति प्रमाणसङ्ग्रहस्य टिप्पणानि ।



पृ० २. पं० ८. 'तत्र सांव्यवहारिकम्'—उद्धृतमिदम्—“अकलङ्कोऽप्याह—
द्विविधं प्रत्यक्षज्ञानं सांव्यवहारिकं मुख्यञ्च । तत्र सांव्यवहारिकमिन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम् ।
मुख्यमतीन्द्रियज्ञानमिति ।” [नन्दि० मलय० पृ० ७४]

पृ० ५. पं० ८. 'नहि प्रत्यक्षम्'—तुलना—“यदाह—नहीदमियतो व्यापारान्
कर्तुं समर्थमिति ।” [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १४१]

पृ० ६. पं० १. 'सदृशापरापरोत्पत्ति'—पूर्वपक्षः—“स्वहेतोरेव तथोत्पत्तेः
क्षणस्थितिधर्मतां तत्स्वभावं पश्यन्नपि मन्दबुद्धिः सत्तोपलम्भेन सर्वदा तथाभावस्य शङ्कया
सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा न व्यवस्यति ।” [प्रमाणवा० स्ववृ० १३४]

पृ० ६. पं० ३. 'प्रतिसंविदितोत्पत्ति'—पूर्वपक्षः—“यदाह—न चेमाः कल्पना
अप्रतिसंविदिता एव उदयन्ते व्ययन्ते चेति । नापि तत्प्रतिपत्तौ लिङ्गानुसरणेन तदाकार- 10
समारोपसंशयः शक्यते कल्पयितुम् ।” [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १५०]

पृ० १६. पं० ११. 'आलोकोऽपि'—पूर्वपक्षः—“यथा इन्द्रियालोकमनस्काराः
आत्मेन्द्रियमनस्कारा वा रूपविज्ञानमेकं जनयन्ति” [प्रमाणवा० स्ववृ० १७५]

पृ० १६. पं० २४. 'मलविद्ध'—उद्धृतमिदम्—नन्दि० मलय० पृ० ६६।

पृ० २२. पं० १३. 'वक्त्रभिप्रेत'—पूर्वपक्षः—“अपि च वस्तुनान्तरीयकताभावात् 15
तेभ्यो नार्थसिद्धिः, ते हि वक्त्रभिप्रायसूचकाः ।” [प्रमाणवा० स्ववृ० १२१५]

पृ० २६. पं० १५. 'द्रव्यपर्याय'—तुलना—उत्पादादिसि० पृ० ७२, १३२।

पृ० ३६. पं० २०. 'अद्वयं'—पूर्वपक्षः—“अद्वयानां द्वयप्रतिभासादिति । [प्रमाण-
वा० स्ववृ० ११००]

पृ० ३७. पं० १. 'तत्र शौद्धोदने'—तुलना—“तस्यैव तावदीदृशमतिस्थूलं ब्रह्म- 20
स्खलितं कथं वृत्तं जातमिति कृत्वा सह विस्मयेन अनुकम्पया वर्त्तत इति सविस्मयानु-
कम्पं नोऽस्माकं चेतः । श्रुतवतोऽप्येवमविद्याविलसितमिति सविस्मयं गाढेन अविद्याबन्धेन
सत्त्वाः पीड्यन्त इति सानुकम्पम् । तदत्र अपरेऽपि इदानीं तन्मतानुसारिणः कुमारिलप्रभृतयः
परीक्षकम्मन्या एवमेतदनुवदन्तीति निर्दयं निष्कृपमाक्रान्तं भुवनं जगद् येन तमसा तत्तथोक्तं
धिग्व्यापकं तमः ।” [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १२४०]

पृ० ४५. पं० ७. 'भेदज्ञानात्'—तुलना—उत्पादादिसि० पृ० ११९।

पृ० ७४. १. 'अन्यथानुपपन्नत्वं'—कारिकेयं प्रमाणवा० स्ववृत्तिटीकायाम् (१३)
हेतुलक्षणपूर्वपक्षे 'तदुक्तम्' इति कृत्वा समुद्धृता ।

पृ० ७६. पं० ३० 'दध्युष्ट्रादे'—पूर्वपक्षः—“सर्वस्योभयरूपत्वम्—उभयग्रहणमने-
कत्वोपलक्षणार्थम् । तस्मिन् सति तद्विशेषस्य 'उष्ट्र उष्ट्र एव न दधि, दधि दध्येव नोष्ट्रः' इत्येवं 30
लक्षणस्य निराकृतेः, 'दधि खाद, इति चोदितः पुरुषः किमुष्ट्रं खादितुं नाभिधावति ?
उष्ट्रोऽपि दध्यभिन्नात् द्रव्यत्वात् अव्यतिरेकात् स्याद् दधि, नापि स एवेति । उष्ट्र एवोष्ट्र
इत्येकान्तवादः, येनान्योपि दध्यादिकः (तः) स्यादुष्ट्रः । तथा दध्यपि स्यादुष्ट्रः, उष्ट्राभिन्नेन
द्रव्यत्वेन दध्नस्तादात्म्येनाभिसम्बन्धात् । नापि तदेवेति, दध्येव दधि, येनान्यदपि उष्ट्रादिकं
स्यादुष्ट्रः । एतेन सर्वस्योभयरूपत्वं व्याख्यातम् ।” [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ११८३]

पृ० ८६. पं० १. 'स्लेच्छादिव्यवहार'—तुलना—“स्लेच्छव्यवहारा अपि केचित्
मातृविवाहादयो मदनोत्सवादयश्चानादयः, नास्तिक्यवचांसि च अपूर्वपरलोकाद्यपवादीनि ।
[प्रमाणवा० स्ववृ० ११२८७]

- पृ० ६१. पं० ४. 'संशयादिप्रसंगः'—तुलना—“विरोधरतावदेकान्ताद्वक्तुमत्र न
5 युज्यते” [मी० बलो० पृ० ५६०] “यद्युक्तं भेदाभेदयोर्विरोध इति; तदभिधीयते अनिरु-
पितप्रमाणप्रमेयतत्त्वसंबन्धं चोद्यम् । एकस्यैकत्वमस्तीति प्रमाणादेव गम्यते । नानात्वं तरय
तत्पूर्वं कस्माद्भेदोऽपि नेष्यते ॥ यत् प्रमाणैः परिच्छिन्नमविरुद्धं हि तत् तथा । वस्तुजातं
गवाश्वादि भिन्नाभिन्नं प्रतीयते ॥ न ह्यभिन्नं भिन्नमेव वा कचिन् केनचित् दर्शयितुं शक्यते ।
सत्ताज्ञेयत्वद्रव्यत्वादिसामान्यात्मना सर्वमभिन्नं व्यक्तात्मना तु परस्परवैलक्षण्याद्विन्नम् ।
10 तथाहि प्रतीयते तदुभयं विरोधः कोऽयमुच्यते । विरोधे चाविरोधे च प्रमाणं कारणं मतम् ॥
एकरूपं प्रतीतत्वात् द्विरूपं तत्तथेष्यताम् । एकरूपं भवेदेकमिति नेश्वरभाषितम् ॥” “अत्र
प्रागल्भ्यात् कश्चिदाह—यथा संशयज्ञानं स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यप्रमाणं तथा भेदाभेदज्ञानमिति;
तदसत्; परस्परोपमर्देन न कदाचित् सह स्थितिः । प्रमेयानिश्चयाच्चैव संशयस्याप्रमाणाता ॥
अत्र पुनः कारणं पूर्वसिद्धं मृत्सुवर्णादिलक्षणं ततः कार्यं पश्चाज्जायमानं तदाश्रितमेव
15 जायते..... अतो भिन्नाभिन्नरूपं ब्रह्मेति स्थितम् । संग्रहश्लोकः—कार्यरूपेण नानात्वमभेदः
कारणात्मना । हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा ॥” [भास्करभा० पृ० १६-१७]
“...तस्मान् प्रमाणवलेन भिन्नाभिन्नत्वमेव युक्तम् । ननु विरुद्धौ भेदाभेदौ कथमेकत्र
स्याताम् ? न विरोधः, सहदर्शनान् । यदि हि ‘इदं रजतम् नेदं रजतम्’ इतिवत् परस्परोप-
मर्देन भेदाभेदौ प्रतीयंयाताम् ततो विरुद्धयेयाताम्, न तु तयोः परस्परोपमर्देन प्रतीतिः । इयं
20 गौरिति वृद्धिद्वयम् अपर्यायेण प्रतिभासमानमेकं वस्तु द्वयात्मकं व्यवस्थापयति—सामानाधि-
करण्यं हि अभेदमापादयति अपर्यायत्वं च भेदम्, अतः प्रतीतिवलादविरोधः । अपेक्षा-
भेदाच्च;... एवं धर्मिणो द्रव्यस्य रसादिधर्मान्तररूपेण रूपादिभ्यो भेदः द्रव्यरूपेण चाभेदः...”
[शास्त्रदी० पृ० ३९३-९५]

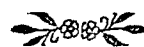
- पृ० १०४. पं० ५. 'कालादिधर्मि'—पूर्वपक्षः—“तथा न चन्द्रोदयात् समुद्र-
25 वृद्धयनुमानं चन्द्रोदयान् (पूर्व पश्चादपि) तदनुमानप्रसङ्गात् । चन्द्रोदयकाल एव तदनुमानं
तदैव व्याप्तेर्गृहीतत्वादिति चेत्; यद्येवं तत्कालसम्बन्धित्वमेव साध्यसाधनयोः । तदा च स
एव कालो धर्मी तत्रैव च साध्यानुमानं चन्द्रोदयश्च तत्सम्बन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम् ॥”
[प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ११३]

- पृ० १०५. पं० १३. 'अन्योपलम्भो'—तुलना—“यदाह—अन्यहेतुसाकल्ये तद-
30 व्यभिचाराच्चोपलम्भः सत्ता । तदभावोऽनुपलब्धिरसत्ता, अन्योपलब्धिश्चानुपलब्धिरिति ॥”
[प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ११५]

पृ० १०८. पं० २१. 'अदृश्यानुपलम्भात्'—पूर्वपक्षः—“अदृश्यानुपलम्भादभा-
वासिद्धौ यदादेर्नैरात्म्यासिद्धेः प्राणादेरनिवृत्तिः ॥” [प्रमाणवा० स्ववृ० १११९]

- पृ० १११. पं० ८. 'स विरुद्धो'—तुलना—“असिद्धस्त्वप्रतीतो यो योऽन्यथैवो-
35 पपद्यते । विरुद्धो योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः स तु ॥” [न्यायावता० श्लो० २३]

पृ० ११२. पं० २८. 'योगक्षेम'—“अलब्धधर्मानुवृत्तिर्योगः । लब्धधर्मानुवृत्तिः
क्षेमः ॥” [प्रमाणवा० स्ववृ० ११२४]



अकलंकग्रन्थत्रयस्य
॥ परिशिष्टानि ॥
[Indexes]

प्रतिभासभिदैकार्थे	१५	वाच्छितांश्च क्वचिन्नेति	२२
प्रतिसंविदितोत्पत्ति-	९	विधौ निपेधेऽप्यन्यत्र	२२
प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा	७	विरचय्यार्थवाक्प्रत्यया-	२५
प्रत्यक्षाभ कथञ्चित्स्यात्	८	विवक्षा नैगमोऽयन्त-	२३
प्रत्यक्षेषु न लक्ष्येरन्	९	वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्य-	६
प्रत्यक्ष बहिरन्तरश्च	११	व्यपेक्षात समक्षेऽर्थे	७
प्रत्यक्ष विशद ज्ञान	१	व्यवसायात्मक ज्ञान	२०
प्रत्येक वा भजन्तीह	२०	व्यवहारानुकूल्यात्	२४
प्रमाणनयनिक्षेपानभि-	१८	व्यवहाराविसवादस्तदा-	९
प्रमाण श्रुतमर्थेषु	९	व्यवहाराविसवादी नय	१४
प्रवचनपदान्यभ्यस्य	२६	व्याप्ति साध्येन हेतो-	१७
प्राडनामयोजनाच्छेप	४	शुद्ध द्रव्यमभिप्रेति	११
प्रामाण्य व्यवहाराद्धि	१४	श्रुतभेदा नया सप्त	२२
प्राय श्रुतेर्विसवादात्	९	श्रुतादर्थमनेकान्तम-	२५
बहिरर्थास्ति विज्ञप्ति-	१४	श्व आदित्य उदेतेति	५
वह्वाद्यवग्रहाद्यष्टचत्वा-	३	पट्टकारकी प्रकल्प्येत	१६
ब्रह्मवादस्तदाभास	१३	सदभेदात् समस्तैक्य-	२४
भविष्यत्प्रतिपद्येत	५	सदसत्स्वार्थनिर्भासै	११
भव्यः पञ्च गुरुन्	२६	सत्येतरव्यवस्था का	९
भेदाना नासदात्मैको-	११	सन्तानेषु निरन्वयक्षणिक्-	१
भेदाभेदात्मके ज्ञेये	१०	सन्निधेरिन्द्रियार्थाना	१९
भेद प्राधान्यतोऽन्वि-	२४	सर्वज्ञाय निरस्तवाधकधिये	१७
मलविद्धमणिव्यक्ति-	१९	सर्वत्र चेदनाश्वास	९
मित्येतरात्मक दृश्यादृश्य-	४	सर्वथैकत्वविक्षेपी	२४
मित्यैकान्ते विशेषो वा	१४	सग्रह सर्वभेदैक्यमभि-	१३
यथैक भिन्नदेशार्थान्	१२	सशयादिविदुत्पाद	१८
यद्यथैवाविसवादि	८	सहृताशेषचिन्ताया	८
युज्येत क्षणिकेऽर्थे	१२	स्याद्वाद सकलादेशो	२१
ये तेषेक्षानपेक्षाभ्या	१०	स्वतोऽर्था सन्तु सत्तावत्	१३
लक्षण क्षणिकैकान्ते	१२	स्वसविद्विषयाकार-	६
लिगात् साध्याविनाभावा-	५	स्वसवेद्य विकल्पाना	८
लिङ्गिधीरनुमान	५	स्वहेतुजनितोऽप्यर्थ	२०
वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य	२२	स्वेच्छया तामतिक्रम्य	२२
वर्णा पदानि वाक्यानि	२२		

§ २. लघीयस्त्रयगतानि अवतरणानि.

अवतरणम्	पृ०	अवतरणम्	पृ०
इन्द्रियमनसी कारण विज्ञानस्य-	१९	नहि बुद्धेरकारण विषय -	१५
गुणाना परमं रूप न दृष्टि-	१४	नाननुकृतान्वयव्यतिरेक-	१९
तन्नाप्रत्यक्षमनुमानव्यतिरिक्त-	५	वक्तुरभिप्रेत तु वाच सूचयन्ति-	१०
नहि तत्त्वज्ञानमित्येव-	२	वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचक वचन न्विति	२२

§ ३. न्यायविनिश्चयस्य कारिकाधर्मानामकाराद्यनुक्रमः.

कारिकाधर्मम्	पृ०	कारिकाधर्मम्	पृ०
अकिञ्चित्कारकान् सर्वान्	७९	अर्थज्ञानस्मृतावर्थ-	३४
अक्रम करणातीतं	५२	अर्थज्ञानेऽस्ततोऽयुक्त	३०
अक्षज्ञानानुज स्पष्ट	५०	अर्थमात्रावबोधेऽपि	७५
अक्षज्ञानेऽपि तत्तुल्य	५८	अर्थस्यानेकरूपस्य	७०
अक्षयात् पुरुषत्वादे.	७८	अर्थाकारविवेको न	४६
अक्षादीना विकारोऽय	६३	अर्थेष्वपि प्रसगश्चे-	४१
अक्षादेरप्यदृश्यस्य	५४	अदृष्टदोषाशकायाम-	८३
अग्नि स्वरूपरूपाभ्या	६९	अदृष्टदोषाशकायामन्यत्रापि	९१
अग्रहः क्षणभगोपि	७१	अदृष्टिकल्पनाया	५७
अज्ञानरूपहेतुस्तद-	४०	अदृष्टेरर्थरूपस्य	३३
अणव क्षणिकात्मान	७२	अद्वयद् द्रवति द्रोष्यति	४५
अणूना श्रुतयोग्यत्वा-	७९	अद्वय द्वयनिर्भासि-	३६
अत एव विरुद्धत्वाद्	६२	अद्वयं द्वयनिर्भासमात्म-	३९
अतत्कालादिरप्यात्मा	३५	अद्वय परचित्ताधिपति-	३९
अतत्फलपरावृत्तार्थ-	७२	अध ऊर्ध्वविभागादि-	४४
अतदर्थपरावृत्तम-	३३	अध्यक्षमात्मनि ज्ञान-	३१
अतदारम्भतया बुद्धे	४८	अध्यक्षमात्मवित्सर्व	५१
अतद्धेतुफलापोहमवि-	४९	अध्यक्षालिगत सिद्ध	४९
अतद्धेतुफलापोहे	३०	अध्यक्षादिविरोध	५१
अतद्धेतुफलापोह	५६	अनर्थाकारशकेषु	३४
अतश्च वहिरर्थाना	५३	अनर्थनिकसन्तानान-	३७
अतश्चार्थवलायातम-	४२	अनर्थं परमात्मानमत	८४
अतादात्म्यस्वभावे	६८	अनन्यसाधनैः सिद्धि.	४३
अतिप्रसंगतस्तत्त्वात्	५६	अनन्वयादिदोषोक्ते.	८०
अतीतस्यानभिव्यक्तौ	३३	अनपायीति विद्वत्तामा-	४१
अतीतानागतादीनां	५३	अनल. पावकोऽग्नित्वात्	७९
अतीत्यादर्थराशेस्त-	४४	अनवस्थानतो भेदे	६०
अत्यन्तमसदात्मान	३५	अनादिनिधन तत्त्वम-	४०
अत्यन्ताभेदभेदौ न	४८	अनादिवासना न	८२
अत्यक्षेपु द्रुमेष्वन्य-	४३	अनादिसप्रदायश्चेदायु-	८६
अत्यासन्नानससृष्टान-	४३	अनाधिपत्यशून्य	४१
अत्र दृष्टविपर्यस्तम-	४८	अनुमानमतो हेतुव्य-	९२
अत्र मिथ्याविकल्पौघे	४३	अनुमानमल किं तदेव	५५
अत्राक्षेपसमाधीनाम-	३३	अनुमान तु हेतो	७५
अत्रान्यत्रापि तत्तुल्य-	६१	अनुमेयत्वतोऽनादि-	८५
अत्रापीरूपेयत्व जातु	८८	अनेकत्रैकमेकत्रानेक-	४८
अत्रैवोभयपक्षोक्त-	८०	अनेकलक्षणार्थस्य	९०
अथ न व्यवहारोऽय	६९	अन्त शरीरवृत्तेश्चेद-	३६
अथ नाय परिच्छेदो	३२	अन्तरेणापि ताद्रूप्यं	३३
अथेदमसरूप किम-	३३	अन्तरेणेदमक्षानुभूत	५०
अथैक सर्वविषयमस्तु	५१	अन्तरेणेह सम्बन्ध-	७५

अन्य एवेति किन्ने-	६६	अलमर्थेन चेन्नैवमति-	४२
अन्यथा कल्पयल्लोक-	६३	अल्पभूय प्रदेशादी-	६९
अन्यथा तदनिर्देश्य-	६७	अल्पभेदाग्रहान्मान-	४४
अन्यथात्व न चेतस्य	६६	अवस्थादेशकालाना	७६
अन्यथात्व यदीष्येत	६६	अवस्थान्तविशेषोऽपि	७३
अन्यथाऽर्थात्मन.	४८	अवश्य वहिरन्तर्वा	७०
अन्यथा नियमाभाव-	७६	अवश्य सहकारीति	४७
अन्यथा नियमायोगात्	६३	अवान्तरात्मभेदानामान-	६८
अन्यथानुपपन्नत्वनियम	७१	अविकल्पकमभ्रान्त	५०
अन्यथानुपपन्नत्वमत किन्न	७४	अविज्ञाततथाभाव-	३५
अन्यथानुपपन्नत्वमसिद्ध-	३१	अविनाभावसम्बन्ध	७४
अन्यथानुपपन्नत्वरहिता	७९	अविप्रकृष्टदेशादिर-	४०
अन्यथानुपपन्नत्वरहिता	७६	अविरोधेन वागवृत्ते-	७८
अन्यथानुपपन्नत्व	७४	अविरोधेऽपि नित्यस्य	८५
अन्यथा नोऽप्रदेशादी-	६८	अविसवादनियमाद-	५०
अन्यथा सर्वभावानाम-	८०	अशक्तेरणुवत्	७३
अन्यथासम्भवाभाव-	७९	असञ्चारोऽनवस्थानम-	३२
अन्यथाऽसम्भवेऽजाने	७४	असतो ज्ञानहेतुत्वे	३३
अन्यथा स्वात्मनि	६९	असश्चेद् वहिरर्थात्मा	३९
अन्यवेद्यविरोधात्	४०	असाधनागवचनमदोषो-	८०
अन्यस्यान्यो विनाश	६५	असिद्धधर्मिधर्मत्वे	५३
अन्यानपि स्वय प्राहु-	३७	असिद्धश्चाक्षुषत्वादि	७८
अन्योन्यसश्रयान्नो चेत्	३९	असिद्धसिद्धेरप्यर्थ	३१
अन्योन्यात्मपरावृत्त-	४७	असिद्धि प्रतिबन्धस्येत्यपरे	७७
अन्वर्थमन्यथाभास-	४५	असिद्धिरितरेषाञ्च	३२
अन्वयव्यतिरेकाभ्या	६९	असिद्धो व्यवहारोऽय	३२
अन्वयोऽन्यव्यवच्छेदो	४६	अस्ति प्रधानमित्यत्र	५९
अपर प्राहु तत्रापि	४३	अहमस्मीति वाक्या-	९०
अपि चाण्डालगोपाल-	३६	अहेतुरात्मसवित्ते-	३१
अपौरुषेयवृत्तान्तो	९२	अह ममाश्रवो बन्ध	८८
अपृथग्वेद्यानियमाद-	७१	आकृतिभ्रमवद् यद्वद्	७२
अप्रत्यक्ष सुषुप्ता-	५९	आगम. पौरुषेय	८४
अप्रत्यक्ष स्वसवेद्यम-	३२	आत्मनाऽनेकरूपेण	३०
अप्रत्यक्षेऽपि देहे	६२	आत्मादिव्यतिरेकेण	६०
अप्रमत्ता विवक्षेयम्	७७	आत्मा योऽस्य प्रवक्ता-	९१
अप्रमाणप्रमेयत्वम-	३०	आत्मीयेषु प्रमोदादि-	८९
अप्रमेय प्रमेय चेत्	६९	आद्ये परोक्षमपर	९३
अप्रवृत्ते फलाभावात्	६९	आनुमानिकभोगस्याप्य-	३१
अप्रसिद्ध पृथक् सिद्ध	४९	आन्तरा भोगजन्मानो	३१
अप्राप्यकारिणस्तस्मात्	९१	आप्तवाद स एवाय	९१
अवाह्यभावनाजन्यै.	४३	आयातमन्यथाऽद्वैत-	४०
अभविष्यत्यसभाव्यो	७६	आयुर्वेदादि यद्यग	८५
अभावस्याप्यभावोपि	६६	आरादपि यथा चक्षु-	३५
अभिन्नदेशकालानाम-	३६	आरेकासिद्धते	८४
अभिन्नप्रतिभासेन	४६	आलोक्यार्थान्तर कुर्यात्	४४
अभिन्नो भिन्नजातीयै	८४	आवृत्तैरावृत्त भागै-	६७
अभिलापतदशानाम-	३०	आसादितविशेषाणाम-	७३
अभेदज्ञानत सिद्धा	४५	आस्ता तावदलाभादिरय-	८९
अयमर्थक्रियाहेतुर-	७१	आहुरर्थबलायातम-	४२
अयमेवं नवेत्येवमवि-	३८	इतरत्र विरोधः क.	३९

इति तर्कमपेक्षेत	७४	कायश्चित्कारण	६०
इति नः करुणष्टमत्यन्तं	८२	काये तस्मान्न ते तस्य	६३
इदमेवमिति ज्ञान	९२	कार्यकारणयोर्बुद्धि-	६२
इद विज्ञानमन्यद्वा	६८	कार्याभावगतेनोस्ति	६२
इन्द्रजालादिषु भ्रान्ति-	३६	कारणस्याक्षये तेषा	४३
इन्द्रियादिषु नैकत्व-	६७	कारणासम्भावक्षेप-	७८
इष्ट तत्त्वमपेक्षातो	९३	कारण नाक्षसघात	६३
इष्ट सत्य हित	७७	कालापकर्षपर्यन्त-	७३
इष्टसिद्धि परेषा वा	५३	कालेनेतावताऽनाप्य	८६
उत्तरोत्तरदेहस्य पूर्व-	६२	कुतश्चित् सदसद्भाव-	५४
उत्पादविगमध्रौव्य-	४६	केनापि विप्रलब्धोऽय	४१
उपमान प्रसिद्धार्थ-	९२	केवल प्रतिपत्तार	९०
उपलब्धेश्च हेतुत्वा-	७६	केवल लोकबुद्धयैव	९३
उपलब्ध्यनुपलब्धिभ्या	९१	को दोषो येन नित्यत्व	८६
उपादानस्य सूक्ष्मत्वाद्यु-	८५	कोशपान विधेय	६४
उभयोक्तवदत्रोक्तौ	९०	कृतक क्षणिको न	७६
एकता भावसाम्याच्चेत्	६१	क्रमेणाशुग्रहे युक्त	८६
एकत्र निर्णयेऽनन्तकार्य-	३०	क्रमेणोच्चार्यमाणेषु	८८
एकत्र बहुभेदाना	५९	क्रमोत्पत्तौ सहोत्पत्ति-	५१
एकाकारविवेकेन	७३	क्षीराद्यैरविजातीयै	४४
एकानेकमनेकान्त	५०	गत्वा सुदूरमप्येव	३२
एकान्ते चेत्यादृष्टे-	५७	गर्भे रसविशेषाणा	६४
एकेन चरितार्थत्वात्	४२	गुणपर्यययोर्नैक्यम्	४५
एक चल चलैर्नान्यै.	६७	गुणपर्ययवद्द्रव्य	४४
एतत्समानमन्यत्र	४२	गुणवद्द्रव्यमुत्पाद-	४५
एतदत्र घटादीना	६३	गुणानां गुणसम्बन्धो	६१
एतेन पूर्ववद्वीतसयोग्या-	७६	गौरवाधिक्यतत्कार्य-	४४
एतेन प्रत्यभिज्ञाना-	३५	ग्रहादिगतय सर्वा	८५
एतेन भिन्नविज्ञान-	६१	ग्राह्यग्राहकवद्भ्रान्ति	४०
एतेन भेदिना भेदसवृ-	५५	ग्राह्यभेदो न सवित्ति	३४
एतेन येषि मन्येरन्नप्रत्यक्ष	३२	चित्र तदेकमिति चेदिद	४२
एतेन वित्तिसत्ताया	३३	चित्र शून्यमिद सर्व	४२
एतेनातीन्द्रिये भावकार्य-	५४	चोदितो दधि खादेति	८०
एव यत्केवलज्ञानम-	८५	चोद्यन्ते शब्दलिगाभ्या	५५
एव हि सुगतादिभ्यो	९२	चोद्य महति नीलादौ	६८
अशग्रहविवेकत्वा-	७३	जातितद्वदपोहादि-	९०
अशयोर्यदि तादात्म्य-	४८	जातिस्मराणा सवादा-	६३
अशुपातानुमादृष्टे	४४	जातेर्विप्रतिपत्तीना	५३
कथञ्चित् स्वप्रदेशेषु	७८	जात्यन्तरे तथाभूते	५५
कथन्न सभवी वक्ता	७०	जायेरन् सविदात्मान	३८
कथमातिलकात्स्थूल-	४४	जीवतीति यत् सोऽय	५९
कथमेवार्थ आकाक्षानिवृ-	३७	जीव प्रतिक्षण भिन्न	७३
कर्मणा विगमे कस्मा-	८४	जीवच्छरीरधर्मोस्तु	६२
कर्मणामपि कर्त्ताऽय	६०	ज्ञस्यावरणविच्छेदे	९१
कर्मणामिति सत्कृत्य	८८	ज्ञाता द्रव्यादिकार्थस्य	५२
कर्माश्लेष प्रवृत्ताना	८९	ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्र	५२
करुणा स्वपरसन्तान-	८२	ज्ञानज्ञानमपि ज्ञानम-	३२
कल्पनायामसामर्थ्यात्	६३	ज्ञानज्ञानलताऽशेष-	३२
कल्पना सदसदत्वेन	४२	ज्ञानाकारेषु सकेत-	५८
काम सति तदाकारे	३८	जायते न पुनश्चित्त-	३८

ज्योतिर्ज्ञानादिवत्सर्वं	९१	तथा जनकजन्येषु	६५
तत सत्तेति साध्यन्ते	५९	तथा ज्ञान तथाकार-	४८
तत सर्वा व्यवस्थेति	४६	तथा तत्प्रतिषेधेऽपि	५८
तत सभाव्यते शब्द-	५८	तथार्थे सत्यसम्भूणु	६६
तत. ससारिण सर्वे	८४	तथा न क्षणिकादीना	८६
ततस्तत्त्वव्यवस्थान	५०	तथा निरास्रवीभाव	८३
ततस्तत्त्व गत केन	३७	तथानेकोऽपि तद्धर्म-	५८
तपसश्च प्रभावेण	८८	तथान्यगुणदोषेषु	८२
तयोरनुपलभेषु	७६	तथापि सुगतो बन्धो	८०
तत्कार्यात्कर्पपर्यन्त-	७८	तथा प्रतीतिमुल्लघ्य	४७
तज्जातीयमत प्राहु-	५६	तथा प्रमाणत सिद्ध	५०
तज्ज्ञानपूर्वक तर्क्य	८४	तथा भूताविशेषेऽपि	६०
तत्तन्निमित्तक शब्द	५९	तथाय क्षणभगो न	४६
तत्तत्त्वभावतो ज्ञान	८४	तथा रागादयो दृष्टा	६४
तन्न कारणमित्येव	६२	तथा वस्तुबलादेव भेदा-	८०
तत्प्रतीत्यसमुत्पादा-	६५	तथा सत्त्वमतत्त्व वा	३७
तत्प्रत्यक्षपरोक्षाक्ष-	४०	तथा सर्वत्र किन्नेति	३६
तत्प्रत्यक्ष परोक्षेऽर्थे	६९	तथा साक्षात्कृताशेष-	९१
तत्र तद्गमक तेन	५९	तथाहि दर्शन न स्यात्	५७
तत्र दिग्भागभेदेन	४१	तथाहेतुसमुद्भूत	४०
तत्र दोष ब्रुवाणो वा	८०	तथेष्टत्वाददोषोऽय-	५३
तत्र नाशादिशब्दाश्च	६५	तथैव पुरुषत्वादेर-	७८
तत्र भावा समा केचित्	५०	तथैव व्यवसाय स्या-	३०
तत्र मिथ्योत्तर जाति	७९	तथैवात्मानमात्माऽय-	३४
तत्र रूपादिरन्यश्च	४४	तदकिञ्चित्करत्वं न	५७
तत्र शौद्धोदनेरेव	३७	तदतद्वस्तुभेदेन	९०
तत्र सिद्धमसिद्ध वा	७०	तदतद्वागवृत्तेश्च	९०
तत्राद्यापि जना सक्ता	३७	तदर्थदर्शनाभावात्	५८
तत्रान्यत्रापि वाऽसिद्ध	५९	तदर्थदर्शिनोऽभावात्	८६
तत्रापि तुल्यजातीय-	४३	तदर्थवेदेन न स्यात्	३३
तत्राप्यनर्थसवित्तौ	३२	तदर्थोऽय प्रयासश्चेत्य-	८२
तत्राशक्तिफलाभावौ	५४	तदनेकार्थसंश्लेष-	६७
तत्रैकत्वप्रसगान्चेत्	५५	तदनेकान्तात्मकं	६०
तत्रैकत्व प्रसज्येत	६१	तदभावेऽपि तद्वादस्या-	५३
तत्रैकमन्तरेणापि	५६	तदन्यत्र समानात्मा-	५९
तत्रैकमभिसन्धाय	५६	तदभावे हि तद्भाव-	६४
तत्रैक कल्पयन् वार्य	५५	तदसत्त्वमतत्त्व वा	३७
तत्रैव ग्रहणात् किवा	३६	तदात्मोत्कर्पणायैव	८१
तत्त्वज्ञानप्रभावेण	८८	तदादावभिलाषेण	६४
तत्त्वज्ञानमुदेतीति	८२	तदाभासो वितण्डादि-	८१
तत्त्वज्ञानाद्यनुत्पादहेतु-	८२	तदाहारादिसामान्य-	६४
तत्त्वतोऽनुपकारेऽपि	५५	तदेव वस्तु साकारमनाकार-	४६
तत्त्वार्थदर्शनज्ञान-	८९	तदेव सकलाकार तत्त्व-	४७
तत्सत्ताव्यवहाराणा	५४	तद्ग्रह प्रतिषेधोऽस्य	६६
तत्समानासमानेषु	५८	तद्दृष्टहानिरन्येषा	६२
तत्सारतरभूतानि	६२	तद्धि जन्मान्तरान्नाय	६३
तत्संस्कारान्वयेक्ष-	६४	तद्भाव परिणाम स्यात्	४६
तथाऽक्षार्थमनस्कार-	५२	तद्भ्रान्तेराधिपत्येन	३४
तथा गोचरनिर्भासै	४३	तद्रूप भेदमारोप्य	६०
तथा चेत्स्वपरात्मानौ	३९	तद्व्यचोदितेऽशक्ते	५५

तद्विभक्तिं स्वभावोऽयं	४९	न च तैर्लक्ष्यविदोऽर्थो-	७२
तद्विरम्य विरम्येतत्	८६	न च दृष्टेर्विशेषो य	५७
तद्विवेकेन भावाच्चेत्	६५	न च नास्ति स आकार	४९
तद्वचनक्ति ततो नान्यत्	३४	न चानन्तरमित्येव	६५
तद्व्याप्तिव्यतिरेकाभ्या	५५	न चेद्विशेषाकारो	५६
तन्मात्रभावो दृष्टान्ते	४३	न चेत्स परिवर्तते	६६
तल्लक्षणप्रपञ्चश्च	७६	न चेत्स परिवर्तते भाव एव	७०
तस्माद् दृष्टस्य भावस्य	४९	नचैकमेकरागादौ	४१
तस्मादनुमितेरर्थविषय-	५४	न जात न भवत्येव	४२
तस्माद् भावविनागोऽयं	६६	न जायते न जानाति	४२
तस्मादभेद इत्यत्र सम-	५७	न तयो परिणामोऽस्ति	६२
तस्मादनेकरूपस्य	६०	नर्ते तदागमात् सिद्धयेत्	८५
तस्मान्निरासवीभाव	८९	न धियो नान्यथेत्येते	३१
तस्मात्रैकान्ततो भ्रान्ति.	४२	न निरोधो निरोधे वा	८९
तस्माद्वस्तुवलादेव-	७४	न भवेत् परिणामित्वा-	६४
तस्मात्सभागसन्तान-	६६	न भेदेषु न सामान्ये	५८
तस्मात्सारवैचित्र्य	६४	न भेदोऽभेदरूपत्वात्	५४
तस्य वस्तुषु भावादि-	४९	नम श्रीवर्द्धमानाय	२९
तस्यादृष्टमुपादान-	४७	न युक्तं निग्रहस्थान	८०
तस्यापि देहानुत्प-	६२	न वर्णपदवाक्याख्या	८७
तादात्म्यनियमो हेतु-	४५	न विकल्पानपाकुर्या-	४२
तादात्म्य केन वायत	६१	न विशेषा न सामान्य	४९
तादात्म्य तु कथञ्चित्	७५	न सर्वयोग्यता साध्वी	८७
तादात्म्यात् प्रत्यभिज्ञान	७३	न स्वतो नापि परत	३६
तादात्म्येन पृथग्भावे	६७	न स्वप्नेक्षणिकादीना	८४
तादृशोऽभावविज्ञाने	८६	न स्वसवेदनात्तुल्य	३४
तादृशो वाचक शब्द.	८७	नष्टो वा नान्यथाभूत	६६
तानेव पश्यन् प्रत्येति	४४	न हि केशादिनिर्भासो	४३
तामादिरक्तिकादीना	४४	न हि जातु विपज्ञान	३९
तात्वादिसन्निधानेन	८६	नहि शब्दार्थसम्बन्धो	८७
तावता यदि किञ्चित्	३८	न हि सत्त्व सतत्त्व वा	३७
तावत्परत्र शब्दोऽयं	३१	नात्यक्ष यदि जानाति	९१
तावद्भिरेव पूर्येत	४४	नानाकारणसामर्थ्या-	६८
तीक्ष्ण शौद्धोदने. शृंगं	४२	नानाकारैकविज्ञान	६७
तुलितद्रव्यसयोगे	४४	नानात्मविभ्रमादेव	६१
तुलोल्लामरसादीना	७५	नानाभं स्यात्तथा सत्य	५४
तुल्यश्च गुणपक्षेण	६३	नानाय क्रमशो वृत्ते-	६०
तेषामेव सुखादीना	४०	नानैकत्र नचैकत्र	५६
दध्युष्टादेरभेदत्व-	७९	नानैकपरिणामोऽयं	६७
दर्शनादर्शनाध्यासात्	८३	नानैकवचना शब्दा	५९
दर्शनादर्शने स्याता	६७	नानैकान्तग्रहग्रस्ता-	४७
दीपयेत् किन्तु सन्तान.	४०	नामरूपादिहेतुत्व	७५
दूरदूरतरादिस्थैरेक	५४	नान्यथानुपपन्न-	७४
देशकालान्तरव्यप्ति-	७१	नान्यथा विषया-	३१
दृश्यादृश्यात्मनो वृद्धि-	४८	नावश्य चक्षुरादी-	६४
द्रव्यपर्यायसामान्यविगे-	१२९	नाऽस्मृतेऽभिलाषोऽस्ति	६३
द्रव्यपर्यायसामान्य-	९०	नाशस्यैकार्थरूपस्य	७२
धर्मिधर्मस्य सन्देहे	७७	नाशेष्वशी न तेऽत्रा-	४४
ध्वनयस्तत्समर्थाना-	८८	निर्णयेऽनिर्णयान्मोहो	७३
न च कश्चिद्विरोधोऽस्ति	६४	नित्यस्यापि सत	८३

नित्यस्येच्छा प्रधानादि-
 नित्य सर्वगत सत्त्व
 नित्य सर्वगतो ज सन्
 नियमेन न गृह्णाति
 निरन्वयविनाशे
 निराकारेतरस्यैतत्
 निरुपद्रवभूतस्य
 निर्वाणमाह वेदोऽय
 निर्विकल्प विकल्पेन
 निर्व्यापारो हि भाव
 निश्चयस परवेति
 निर्ह्रासातिशयाभावात्
 निर्ह्रासातिशयौ येषा
 नेक्षते न विरोधोऽपि
 नैकान्तक्षायिकाणा
 नैरन्तर्यं निरशाना
 नैपा विकल्पना
 नो चेत्पिडोऽणुमात्र
 नो चेद्विभ्रमहेतुभ्य-
 नोपाधयो न तद्वन्त
 नौयानादिषु विभा-
 न्यायेन विजिगीषूणाम्
 पदार्थज्ञानभागाना
 परदु खपरिज्ञानात्
 परमाणुरतोऽन्यो वा
 परमार्थविताराय
 परमार्थैकतानत्व-
 परसत्त्वमसत्तास्य
 परस्याप्यविरोधञ्चे-
 परापरविवेकैक-
 परिणामविशेषा हि
 परिणामस्वभाव
 परितुष्यति नामैक.
 परीक्षाक्षमवाक्यार्थ-
 परीक्षाक्षमवाक्यार्थ-
 परोक्षज्ञानविषय
 परोक्षोऽप्यविनाभाव-
 पर्वतादिविभागेषु
 पश्चादनुपलम्भेऽपि
 पारम्पर्येण साक्षाच्च
 पारम्पर्येण साक्षाद्वा
 पीतदोषाश्रवाकारो
 पुरुषानिगयो जातु
 पूर्वपक्षमविज्ञाय
 प्रकाशनियमो हेतो
 प्रकीर्ण प्रत्यभिज्ञादौ
 प्रकृताग्रेपतत्त्वार्थ-
 प्रज्ञाप्रकर्षपर्यन्त-
 प्रज्ञा येषु पटीयस्य
 प्रतिक्षणं विशेषा न

८९ प्रतिज्ञातोऽन्यथाभाव.
 ५० प्रतिपक्षस्थिरीभाव.
 ५२ प्रतिभासभिदाया
 ७४ प्रतिभासभिदा धत्ते
 ७० प्रतिभासभिदैक्य
 ३२ प्रतिव्यूढस्तु तेनैव
 ८३ प्रतिसहारवेलाया
 ८३ प्रतीतिप्रतिपक्षेण
 ४७ प्रत्यक्षप्रतिसवेद्य
 ७६ प्रत्यक्षमंजसा स्पष्ट-
 ९३ प्रत्यक्षलक्षण ज्ञानं
 ६२ प्रत्यक्षलक्षण प्राहु-
 ८९ प्रत्यक्षागमयोरिष्ट
 ५७ प्रत्यक्षागमयोरिष्ट
 ९३ प्रत्यक्षाणा परोक्षा-
 ६८ प्रत्यक्षानुपलभश्च
 ३९ प्रत्यक्षानुपलभाभ्यां
 ४१ प्रत्यक्षाभाप्रसङ्गचेत्
 ५७ प्रत्यक्षेऽर्थपरिच्छेदो
 ५५ प्रत्यक्षेऽर्थेऽन्यथा-
 ४९ प्रत्यक्षेऽर्थे प्रमाणेन
 ८१ प्रत्यक्षेऽपि समानान्य-
 ३० प्रत्यक्ष करणस्यार्थ-
 ७८ प्रत्यक्ष कल्पनापोढं
 ७० प्रत्यक्ष तद्गुणज्ञानं
 ४१ प्रत्यक्षं न तु साकार
 ३० प्रत्यक्षं परमात्मानमपि
 ६९ प्रत्यक्ष बहिरन्तश्च
 ६५ प्रत्यक्ष मानस चाह
 ७० प्रत्यक्ष यदि बाध्येत
 ८८ प्रत्यक्ष श्रुतविज्ञान-
 ७० प्रत्यक्षीकव्यवच्छेदप्र-
 ३८ प्रत्यभिज्ञादिना सिद्धचेत्
 ९१ प्रत्यभिज्ञा द्विधा
 ८३ प्रत्यभिज्ञाऽप्रमाण
 ३१ प्रत्यभिज्ञाविशेषात्
 ८२ प्रत्यय परमात्मान-
 ३८ प्रत्येति न प्रमाहेतु
 ४७ प्रदर्श्य पुनरस्यैव
 ६३ प्रदेशादिव्यवायेऽपि
 ४३ प्रपेदे सर्वथा सर्ववस्तु-
 ८८ प्रपचोऽनुपलब्धेर्ना-
 ८२ प्रभव पौरुषेयोऽस्य
 ८० प्रभु. साक्षात्कृताशेष-
 ३३ प्रमाणपूर्विका नान्या
 ९२ प्रमाणमर्थसम्बन्धात्
 ८० प्रमाणमविसंवादात्
 ७८ प्रमाणमात्मसात्कुर्वन्
 ७७ प्रमाणसाधनोपाय.
 ४८ प्रमाणस्य फल तत्त्व-

३०
 ८९
 ५४
 ४८
 ५७
 ७४
 ३६
 ४२
 ४५
 ९२
 ४०
 २९
 ८३
 ९१
 ७२
 ७५
 ७४
 ५४
 ३२
 २९
 ७४
 ७१
 ३२
 ४९
 ६२
 ४५
 ५२
 ४७
 ५०
 ६७
 ९३
 ८१
 ५५
 ५९
 ८७
 ४७
 ७२
 ७४
 ८३
 ३५
 ५३
 ७५
 ८५
 ८४
 ५९
 ६९
 ९१
 ३६
 ७४
 ९३

प्रमाण संभवाभाव-	७५	मणिभ्रान्तेरपि भ्रान्तौ	३८
प्रमाहेतुतदाभास-	७४	मलैरिव मणिर्विद्ध	८४
प्रमितेऽप्यप्रमेयत्वात्	६२	मार्गस्तद्विषयश्चेति	८८
प्रमितोऽर्थः प्रमाणानां	९२	मान वस्तुबलादेव	८४
प्रयोगविरहे जातु	९०	मिथस्तत्त्व कुतस्तत्र	३७
प्रलपन्त प्रतिक्षिप्ता.	३३	मिथ्याज्ञानमनात्मज्ञ	८९
प्रवक्तेति धिगनात्म-	८२	मिथ्याज्ञानादनिर्मोक्ष	८९
प्रवाह एक. किन्नेष्ट.	४०	मिथ्यात्वं सौगतानां	९३
प्रवृत्तेर्व्यन्धिमेवतत्	६९	मिथ्याप्रत्ययमर्शेभ्यो	४७
प्रवृत्तेर्व्यवहाराणां	६५	मिथ्याभयानकग्रस्तै	३८
प्रसक्त रूपभेदाच्चेत्	६१	मिथ्याविकल्पकस्यैत-	३१
प्रसङ्ग. किमतद्वृत्ति	५२	मिथ्याविकल्पविज्ञान-	८२
प्रसज्येतान्यथा तद्वत्	३२	मिथ्यैकान्तप्रवादेभ्यो	९१
प्रसिद्धाशेषतत्त्वार्थ-	२९	मिथ्योत्तराणामानन्त्यात्	८०
प्रस्फुट विपरीत वा	३५	मोक्षज्ञानात् प्रवर्तन्ते	८८
प्रामाण्यमविसवादात्	५४	यतस्तत्त्व पृथक्त्व	३७
प्रामाण्य कथमक्षादौ	८३	यत्तावत् करुणावत्त्वात्	८३
प्रामाण्य नागृहीतेऽर्थे	४६	यथा कार्य स्वभावो वा	७५
प्रामाण्य यदि शास्त्र-	८१	यथा क्षणक्षयेऽणूनां	७१
प्रायशोऽन्यव्यवच्छेदे	३५	यथा चैतन्यमन्यत्रे-	६२
प्रायगो योगिविज्ञान-	५१	यथाऽजनकजन्येप्	६५
प्रायेणैकस्य तादृष्य	६८	यथार्थमयथार्थ वा	३४
प्रोक्षित भक्षयेन्नैति	५१	यथा निश्चयन तस्य	५६
फलाभावादशक्तेश्च	५८	यथा भूताविशेषेऽपि	६०
वभूवेति वय तावद्वहु	३७	यथा वचनसर्वज्ञकार्य-	७८
वलीयस्यवलीयस्त्वात्	६२	यथा सत्त्व सतत्त्व वा	३७
बहुभेद श्रुत साक्षात्	७४	यथैवात्मायमाकारम-	३४
बाधकासिद्धेः स्पष्टाभात्	३९	यदा यत्र यथा वस्तु	३५
वालाना हितकामिनामति-	२९	यदि किञ्चिद्विशेषेण	९२
बुद्ध गृह्य प्रवक्तेति	४२	यदि केचित् प्रवक्तारो	९०
बुद्धिपूर्वयथा तत्त्व	४३	यदि चैवविधो नित्यो	८७
बुद्धे पुरुषतन्त्रत्वे	६४	यदि शेषपरावृत्ते	४५
भावनादभ्युपैतिस्म	५३	यदि स्वभावाद् भावोऽय	६०
भावनापाटवाद् बुद्धे	७८	यद्देशतोऽर्थज्ञान तदि-	२९
भावान्तरसमारोपेऽभावि-	७२	यद्यप्यनात्मविज्ञान-	८९
भावोऽभावश्च वृत्तीनां	६४	यन्न निञ्चीयते रूप	५६
भासते केवलं नो चेत्	४०	यस्तावत् करुणावत्त्वा-	८९
भिन्नमन्तर्वहि सर्व	४५	यस्मिन्नसति यज्जात	७३
भूतानामेव केपाञ्चित्	६०	यस्यापि क्षणिक ज्ञान	४८
भेदज्ञानात् प्रतीयते	४५	या दृष्टा सोऽन्वयो	७६
भेदवद्धर्मिण कृत्वा	५९	यावत्प्रकृष्यते रूप	७७
भेदसामर्थ्यमारोप्य	६८	यावदात्मनि तच्चेष्टा-	३१
भेदानां बहुभेदानां	४६	यान्तीन्द्रियचेतासि	५१
भेदाभेदव्यवस्थैवं	४०	युक्तायुक्तपरीक्षणक्षम-	९४
भेदाभेदात्मनोऽर्थस्य	७१	युगपद् भिन्नरूपेण	६२
भेदाभेदो प्रकल्प्येते	४६	येन साक्षात्कृतास्तेन	८५
भेदिना प्रत्यभिज्ञेति	७३	योऽन्यथा सभवी	८७
भेदेऽपि वस्तुरूपत्वान्न	६१	यो हेतोराश्रयोऽनिष्टेः	७९
भेदो वा सम्मत. केन	४०	रागादय सजातीय-	८९
भ्रान्ते पुरुषधर्मत्वे	५३	रागादिसाधना स्पष्टा	७७

साधनात्साध्यविज्ञान-
 साधन प्रकृताभावेऽनुप-
 साधर्म्यादिसमत्वेन
 साध्यसाधनभावो न
 साध्यसाधनसकल्प
 साध्याभास विरुद्धादि-
 साध्ये सति विरोधोऽय
 साध्य शक्यमभिप्रेत
 सामग्रीविहितज्ञान-
 सामान्य च विशेषाश्च
 सामान्य चेदपोहिना
 सामान्यभेदरूपार्थ-
 सामान्यमन्यथासिद्ध
 सारूप्यंऽपि समन्वेति
 सास्नादीना
 सिद्धमर्थक्रियासत्त्व
 सिद्धमेकमनेकात्म-
 सिद्धहिसानृतस्तेय-
 सिद्धे तत्किमतो ज्ञेय
 सिद्ध प्रवचन सिद्धपर-
 सिद्ध श्रुतेन्द्रियातीत
 सुखदुःखादिसवित्ते-
 सुखादिर्विषय
 सुगतोऽपि मृगो जात
 सुनिश्चितमनेकान्तम-
 सूक्ष्मस्थूलतरा भावा
 सूक्ष्मान्तरितदूरार्था
 सूचयन्ति हि कर्माणि
 सूत्रेष्वेव तयोरुक्तौ
 सक्षेपेण क्वचित्
 सख्यादिसमभावेऽपि
 सघातो हेतुरेतेषा
 सभवत्यपि मात्राणा
 सभावितान्यरूपाणा-
 सयोगसमवायादि-
 सवादासभवाभाव-

५२ सवेदन न तेभ्योऽपि
 ६६ सशयादिप्रसंग
 ७० ससर्गात् सर्वभावाना
 ७९ ससर्गो नास्ति विश्लेषात्
 ४१ ससरेत् परिणामात्ते
 ५३ ससारिणा तु जीवाना
 ६९ स्कन्धस्तु सप्रदेशोऽशी
 ५३ स्कन्धो मात्रानुरोधेन
 ६८ स्थूलस्पष्टविकल्पा-
 ५४ स्पर्शोऽय चाक्षुषत्वान्न
 ५६ स्यादसंभवादात्म्य-
 ७१ स्याद्वाद श्रवणज्ञान-
 ३३ स्याद्विधिप्रतिषेधाम्या
 ३३ स्वचित्तमात्रगतावतार-
 ७५ स्वत सामर्थ्यविश्लेष-
 ७० स्वत सिद्धेरयोगाच्च
 ७० स्वतन्त्रत्वे तु शब्दाना
 ८२ स्वतस्तत्त्व कुतस्तत्र-
 ३१ स्वतो हि परिणामोऽय
 ८१ स्वनिवृत्तौ यथा तक्षा
 ८६ स्वभावकारणासिद्धे-
 ३१ स्वभावव्यवसायेषु
 ८३ स्वभावातिशयाधान
 ८० स्वलक्षणमसकीर्ण
 ४७ स्वस्वभावस्थितौ
 ७३ स्वातन्त्र्यदृष्टेर्भूताना
 ८५ स्वापमूर्च्छाद्यवस्थोपि
 ८९ हिताहिताप्तिनिर्मुक्ति-
 ९० हेतुत्वेन परैस्तेषा
 ५८ हेतुरेव यथा सन्ति
 ६८ हेतुश्चानुपलभोऽय
 ९२ हेत्वात्मनो पर हेतु
 ६८ हेन्वाभासा विरुद्धाख्या
 ७२ हेयोपादेयतत्त्वस्य
 ४८ हेयोपादेयतत्त्वार्थ-
 ८४

३२
 ९१
 ५४
 ५४
 ६०
 ७८
 ६७
 ६८
 ७२
 ६८
 ४७
 ९३
 ९०
 ३३
 ८७
 ४१
 ८६
 ३७
 ७८
 ६२
 ७७
 ७२
 ७०
 ४५
 ६६
 ६२
 ५१
 २९
 ७६
 ५३
 ७५
 ६९
 ७६
 ८२
 ८९

§ ४. प्रमाणसंग्रहस्य कारिकाङ्गानामकाराद्यनुक्रमः.

अक्रम करणातीत	९९	क्षणस्थानमसत्कार्य-	११५
अक्रमं स च भेदा-	१२६	गुणयोगवियोगाभ्याम्	१२२
अक्षज्ञानमनेकान्त-	९७	चित्र गूण्यमिद सर्व	१०३
अचेत कक्षणात्यन्त-	१२२	जात्यन्तरोपलम्भेन	१०८
अज्ञात सञ्ज्ञासिद्ध-	१११	जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य	९७
अतत्कार्यव्यवच्छेदे-	१०८	ज्ञस्य विभ्रमसंश्लेषे	१०६
अदृष्टदोषशका-	१२२	ज्ञान प्रमाणमात्मादे-	१२७
अध्यक्षस्यापरीक्ष-	१०६	तत सर्वा व्यवस्थेति	१०७
अध्यक्ष सर्वविज्ञान	१२१	तत्र चित्र भवेदेक-	१०३
अनुमानसमासार्थ-	१०१	तत्र मिथ्योत्तर जाति-	११२
अन्त ज्योति. स्वत.	१२१	तत्रैकमर्थरुद बुद्धे-	१००
अन्तरग स्वतः सिद्ध-	९९	तथार्थजातिधर्मा	१०६
अन्तर्व्याप्तावसिद्धाया	१११	तथा सद्ब्यवहाराय	१०५
अन्यथानिश्चितं सत्त्वं	१०७	तथाहि सर्वहेतुना	१११
अन्यथायोगत	१०६	तदभावे प्रमाणाभ	९८
अन्यथासम्भोजानं	१०१	तदय भाव स्वभावेषु	११२
अन्यथासम्भवा-	१११	तदाभासो विपर्यास-	१००
अन्यथासम्भवाभाव-	१००	तान्येव पश्यन्	१०३
अन्यथासम्भवा	१०४	द्रव्यपर्याययोर्भेद-	१२६
अन्योन्यनिरपेक्षाणा-	१२६	तुलोन्नामरसादीना-	१०७
अन्वयोऽन्यव्यवच्छेदो	१०७	द्रव्यपर्यायिसामान्य-	१२२
अपेक्ष सदानेकान्त	१०६	द्रव्यपर्यायिसामान्य-	१२६
अप्रत्यक्षेऽपि देहे	१०७	द्रव्यसामान्यसहार-	९९
अभावस्यानपेक्षत्व	११३	द्वेधा समन्तभद्रस्य	११४
अभिरूढस्तु पर्यायै-	१२६	न कश्चिच्चेतनो ज्ञाता	११६
अविनाभावसम्बन्धे	१०६	नयद्वयविभागेन	१२६
असिद्ध सिद्धसेनस्य	११४	नयो ज्ञातुरभिप्राय.	१२७
अहेतुरन्यहे-	१२२	नहि तै सर्वथा	१११
अह ममाश्रवो	१२२	नाभावस्य प्रमेयत्व	१०३
आत्मज्ञानादिभेदा-	१२५	नामरूपादिहेतुत्व	१०७
आत्मनो दोषसम्बन्ध-	११९	नित्य शब्दार्थसम्बन्ध	१२४
आत्मादिभेदमाश्रित्य	१२६	नित्यमेकमनेकत्र	१००
आत्मैव मतिमान्	१०१	निरश कर्मसयोगा-	१००
आवृत्तैरावृत्त भागै	१०२	निर्व्यापारो हि भाव.	१०७
इति तर्कमपेक्षेत	१००	नैगम. सप्तधा शास्ति	१२६
उत्पादविगमध्रौव्यं	११२	पदादिसत्त्वे साधुत्व-	११६
एकत्र निर्णयेऽनन्त-	९९	पर्यायाद् व्यतिरेका-	१२६
एकान्ताश्रये	११०	परापरविभागैक-	१०३
एक चल चलैनान्यै.	१०२	परोक्षपरतन्त्राणा	१२५
कर्मणामिति सत्कृत्य	१२२	परोक्षोऽप्यविनाभाव-	१०१
कल्पना चार्थसम्बन्ध-	१२६	परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि	९७
कार्यकारणसन्तान-	१२६	परज्योतिरनाकार	११८
कालेनैतावताऽनाप्त	९८	परज्योतिरनाभास	९९
कूटस्थस्य सत.	१२२	पुरुषातिशयोक्त्यो	११६
कृपा स्वपरसन्तान-	१२२	प्रकृतार्थाविघातेऽपि	११६

§ ४. प्रमाणसंग्रहस्य कारिकाङ्घानामकाराद्यनुक्रमः.

अक्रम करणातीत	११	क्षणस्थानमसत्कार्य-	११५
अक्रम स च भेदा-	१२६	गुणयोगवियोगाभ्याम्	१२२
अक्षज्ञानमनेकान्त-	९७	चित्र शून्यमिद सर्व	१०३
अचेत कर्हणात्यन्त-	१२२	जात्यन्तरोपलम्भेन	१०८
अज्ञात सशयासिद्ध-	१११	जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य	९७
अतत्कार्यव्यवच्छेदे-	१०८	ज्ञस्य विभ्रमसंश्लेषे	१०६
अदृष्टदोषशका-	१२२	ज्ञान प्रमाणमात्मादे-	१२७
अध्यक्षस्यापरीक्ष-	१०६	तत सर्वा व्यवस्थेति	१०७
अध्यक्ष सर्वविज्ञान	१२१	तत्र चित्र भवेदेक-	१०३
अनुमानसमासार्थ-	१०१	तत्र मिथ्योत्तर जाति-	११२
अन्त ज्योति स्वतः	१२१	तत्रैकमर्थकद बुद्धे-	१००
अन्तरग स्वतः सिद्ध-	९९	तथार्थजातिधर्मा	१०६
अन्तर्व्याप्तावसिद्धाया	१११	तथा सद्व्यवहाराय	१०५
अन्यथानिश्चित सत्त्व	१०७	तथाहि सर्वहेतूना	१११
अन्यथायोगत	१०६	तदभावे प्रमाणाभ	९८
अन्यथासम्भवज्ञान	१०१	तदय भाव स्वभावेपु	११२
अन्यथासम्भवा-	१११	तदाभासौ विपर्यास-	१००
अन्यथासम्भवाभाव-	१००	तान्येव पश्यन्	१०३
अन्यथासम्भवो	१०४	द्रव्यपर्याययोर्भेद-	१२६
अन्योन्यनिरपेक्षाणा-	१२६	तुलानामरसादीना-	१०७
अन्वयोऽन्यव्यवच्छेदो	१०७	द्रव्यपर्यायसामान्य-	१२२
अपेक्ष सदनेकान्त	१०६	द्रव्यपर्यायसामान्य-	१२६
अप्रत्यक्षेऽपि देहे	१०७	द्रव्यसामान्यसंहार-	९९
अभावस्यानपेक्षत्व	११३	द्वेधा समन्तभद्रस्य	११४
अभिच्छेदस्तु पर्याय-	१२६	न कश्चिच्छेतनो ज्ञाता	११६
अविनाभावसम्बन्धे	१०६	नयद्रव्यविभागेन	१२६
असिद्ध सिद्धसेनस्य	११४	नयो ज्ञातुरभिप्राय	१२७
अहेतुरन्यहे-	१२२	नहि तै सर्वथा	१११
अह ममाश्रवो	१२२	नाभावस्य प्रमेयत्व	१०३
आत्मज्ञानादिभेदा-	१२५	नामरूपादिहेतुत्व	१०७
आत्मनो दोषसम्बन्ध-	११९	नित्य शब्दार्थसम्बन्ध.	१२४
आत्मादिभेदमाश्रित्य	१२६	नित्यमेकमनेकत्र	१००
आत्मैव मतिमान्	१०१	निरश कर्मसयोगा-	१००
आवृत्तैरावृत्त भागे	१०२	निर्व्यापारो हि भाव.	१०७
इति तर्कमपेक्षेत	१००	नैगम सप्तधा शास्ति	१२६
उत्पादविगमध्रौव्य	११२	पदादिसत्त्वे साधुत्व-	११६
एकत्र निर्णयेऽनन्त-	९९	पर्यायाद् व्यतिरेका-	१२६
एकान्ताश्रये	११०	परापरविभागैक-	१०३
एक चल चलैर्नान्यै	१०२	परोक्षपरतन्त्राणा	१२५
कर्मणामिति सत्कृत्य	१२२	परोक्षोऽप्यविनाभाव-	१०१
कल्पना चार्थसम्बन्ध-	१२६	परोक्ष प्रत्यभिज्ञादि	९७
कार्यकारणसन्तान-	१२६	परज्योतिरनाकार	११८
कालेनैतावताऽनाप्त.	९८	परज्योतिरनाभास	९९
कूटस्थस्य सत	१२२	पुरुषातिगयोऽज्ञेयो	११६
कृपा स्वपरसन्तान-	१२२	प्रकृतार्थाविधातेऽपि	११६

प्रकृताशेषतत्त्वार्थ—	११३	शून्यसंवृतिविज्ञान—	११५
प्रक्रमार्थविशेषेण	१२५	श्रीमत्परमगभीर	९७
प्रक्रियाव्यतिरेकेण	१११	सत्प्रवृत्तिनिमित्तानि	१०४
प्रतिज्ञासाधन	११५	सत्य तमाहुर्विद्वांसो	१०७
प्रत्यक्षनिर्णयान्नर्तो	१०१	सदर्थनियत ज्ञान	९८
प्रत्यक्षस्यापि सामग्री—	१०६	सद्वृत्तिप्रतिषेधाय	१०५
प्रत्यक्ष तद्गुणो ज्ञानं	१०७	सदसद्व्यवहाराय	१०५
प्रत्यक्ष निष्कल शेष	११५	स प्रत्यस्तमिताशेष—	१२६
प्रत्यक्ष विगद ज्ञान	९७	समर्थवचन वाद	१११
प्रत्यभिज्ञा तत	१०१	समर्थ स्वगुणैरेक	१०३
प्रत्यभिज्ञा फलं	९९	समानपरिणामार्थं	११७
प्रमाणनयनिक्षेपा—	१२६	सम्प्रेक्षे नितरा	१२६
प्रमाणमर्थसम्बन्धा—	९९	सम्प्लव सर्वभावाना	१२२
प्रमाणमात्मसात्कुर्वन्	१०३	सम्बन्धयोगत स्थान—	११९
प्रमाण क्वचिदेकस्य	१०१	सम्बन्धान्तरतो नास्ति	१२४
प्रमेयत्व निरगाना	१०२	सम्यग्ज्ञानाङ्कुश सत्य	१२२
प्रामाण्यमप्रसिद्धार्थ—	९७	स विरुद्धोऽन्यथाभाव—	१११
प्रामाण्य यदि शास्त्र—	१२७	सर्वयान्योन्य—	११०
प्रत्यभावात्ययो मान—	११५	सर्वथा भावात् सन्देहे	१०९
मतिश्रुतादौ	१२६	सर्वथा विभ्रमे तस्य	१०६
यथार्थमयथार्थं वा	१०७	सर्वमेक सतोऽभेदा—	१२६
यथा विभ्रमविच्छेदा—	१०६	सर्वस्वाश्रयसम्बन्धे	१०२
यददृश्यमसज्ज्ञान	११५	सहकमविवक्षाया	१२२
लक्षण सममेतावान्	९९	सहोपलभनियमो—	१०९
वाञ्छन्तो वा न वक्तार	१०१	सहोपलभनियम	१०९
विज्ञानगुणदोषाभ्या	१०१	साधन तत्त्वविज्ञान—	११९
विज्ञानस्यैकरूपत्वे	१०३	साधनं प्रकृताभावे	१०२
वितथज्ञानसन्तान—	१०३	साध्याभास यथा	१०२
विब्रुवाणोऽब्रुवाणो वा	११३	साध्ये परतिरस्कार—	११३
विरुद्धाव्यभिचारी स्यात्	१११	साध्य शक्यमभिप्रेत—	१०२
विरुद्धाव्यभिचारी स्यात्	१११	सिद्धेऽकिञ्चित्करो	११०
विरुद्धोऽकिञ्चित्करो	१११	सिद्ध प्रवचन	११६
विवर्त्त. सर्वथैकान्ते	१००	सुखादिर्विषय.	१२२
विश्व सर्वगत सत्त्व	१०२	सचयापोहसन्तान—	११५
व्यभिचारादनिर्णीत	९७	सभवप्रत्ययस्तर्क.	१००
व्यभिचारी विपक्षेऽपि	१११	सशयाद्वैतभाव—	११०
व्याप्यव्यापकयोरेवं	१०५	स्पष्ट सन्निहिता—	९७
शब्दो लिंगादिभेद—	१२६	स्यादजग्न परापेक्ष—	११३
शब्द. शब्दान्तर	१२४	स्वनिश्चयफलापेत	९८
शब्द स्वयम्भु.	११५	स्वभावपरभावाम्या	११५
शास्त्रार्थज्ञानसवाद.	९८	स्वलक्षणमसंकीर्णं	१०३
शास्त्र सत्य तपो दानं	११५		

§ ५. प्रमाणसंग्रहगतानि अवतरणानि.

क्षीणावरण.समधिगतलक्षणोऽपि सन्
विचित्राभिसन्धिः अन्यथोपदेशयेत्
नाप्रत्यक्षमनुमानव्यतिरिक्तं मानम्

पृ० नाप्रत्यक्षं प्रमाणं न परलोकादिक
११६ प्रमेयमननुमानमनागमं च
१०१

पृ०
११५

दार्शनिकानां च नाम्नां सूचिः ।

अकलक १७. १५, २६. १६, ५२. ११, ९१. १२.	अग्नि ६९. २१; ७९. १३; ८५. २०.
अकलकमगलफल ९४. ९.	अग्निजन्मैव धूम १०. १४.
अकलकरत्ननिचयन्याय ८१. २१.	अग्निरत्र धूमात् १०. ११.
अकस्माद्ग्राहिन् १२५. १४.	अग्निस्वभावाविरोध १०. १४.
अकार्यकारण ११२. ६.	अचल १३. २६; १०२. २८; ११२. २३.
अकारण ४७. २९; १०७. ३, १२४. २६.	अचलात्मक ६५. १९, १०७. २१, १०८. १८, २४, २८, ३०, १०९. १, ११४. २२.
अकारणविशेषौषधवत् ११९. १३.	अचिन्ता ९८. ७.
अकिञ्चित्कर १. १५; ३२. २२, २३, ११०. ६, २२, ३०, १११. ४, ११३. २७.	अचेतन १२. १६, ११९. ६, १२०. १०.
अकिञ्चित्करविस्तर ६६. २३, ७९. ३.	अचैतन्य ५७. २५.
अकिञ्चित्करारेकाविपर्यासपराक्रम १२५. १३.	अजगरमुखकुहरपरिपतन १०८. १५.
अकिञ्चित्करारेकाविपर्यासानिवृत्ति ९७. १२.	अजग्र ११३. १०.
अकिञ्चित्कारक ७९. २५.	अजनकजन्य ६५. १०.
अकृतकत्वासिद्धि १०५. २८.	अजन्यजनककर्तृसहभावनियम १०५. १४.
अकृपालु ४१. १७.	अजीव ११. ७.
अक्रम १५. २, २४. १८; ५२. ११; ९९. ८, १२, १००. १७; १०२. १७; १०५. ४; ११२. ६; ११८. १९; १२६. १३.	अज्ञ ३९. ८; ७२. १.
अक्षगोचर ४३. १८.	अज्ञस्वभावात्मन् १४. १२.
अक्षगोचरचेतस् ५०. १५.	अज्ञात ११०. ९, १०, १११. १०.
अक्षज्ञान ५८. ३, ९७. १६.	अज्ञाताकिञ्चित्कराभिधान ११३. २०.
अक्षज्ञानानुज ५०. २२.	अज्ञानरूपहेतु ४०. २३.
अक्षणिक १२. ५.	अज्ञानस्वभाव ११९. १९.
अक्षणिककारण १२. २७.	अज्ञानादि १२०. २.
अक्षधी ९. ७.	अज्ञेय ११६. १७.
अक्षबुद्धि १५. १८; ५१. ८.	अञ्जनादिवत् १२०. ४.
अक्षमय ७८. १३.	अणु ४३. १८, ४४. १७, ६८. १४, ७१. १५, ७२. ९, ७३. ३, ८, ७९. २०, १०२. १३.
अक्षय ४३. २५.	अणुमात्र ४१. २४.
अक्षलिंगधी ९. २०.	अणुपारिमण्डल्यक्षणभगाद्यवीक्षण ६ १०.
अक्षशब्दार्थविज्ञान १६. ३.	अतत्कार्यव्यवच्छेद १०८. ८.
अक्षसघात ६३. २२.	अतत्कार्यव्यावृत्ति १०७. ६.
अक्षार्थमनस्कारसत्त्वसम्बन्धदर्शन ५२. ४.	अतत्कारणव्यावृत्ति ११७. १२.
अक्षार्थयोग २ १९.	अतत्कालादि ३५. १०.
अक्षादि ५४. २, ६३ १०, ८३. २५; ९९. १.	अतत्त्व ३७. २०, २४, २७.
अक्षानपेक्षण ९१. २६.	अतत्परिच्छेदव्यतिरेकनियम ११०. १.
अक्षानुभूत ५०. ३०.	अतत्फलपरावृत्तार्थाकारस्मृतिहेतु ७२. ११.
अक्षिणी विस्फाल्य १११. २४.	अतदर्थनिवृत्ति ३३. ११.
अखिलजगत् ३१. २९.	अतदर्थपरावृत्त ३३. ९.
अगवयनिश्चय ७. १२.	अतदारम्भतया ४८. १८.
अगोचर ३६. १.	अतद्रूप १०. १.
अगृहीत ४६. १९.	अतद्वृत्ति ५२. २.
	अतद्व्यावृत्तितुल्यरूप १२४. ५.

१. परिशिष्टेऽस्मिन् लाक्षणिकाः शब्दाः स्थूलाक्षरेण निर्दिष्टाः । स्थूलाङ्का पृष्ठसख्याद्योतकाः सूक्ष्माङ्काश्च पङ्क्तिसख्यावोधका ज्ञेयाः ।

अतद्धेतुफलव्यावृत्त	१२०. १६.	अर्थक्रियाहेतु	७१. १.
अतद्धेतुफलापोह	३०. ८; ४९. १; ५६. ४.	अर्थग्रहण	२. २४
अतद्धेतुफलापोहनिर्णय	१०८. १२.	अर्थग्रहणशक्ति	२ २३.
अतादात्म्यस्वभाव	६८. २२; १०७. ९.	अर्थजातिधर्म	१०६. २७
अताद्रूप्य	१५. २४.	अर्थज्ञान	२०. १८; ३०. २३; १०९. २५.
अतिकरणप्रत्ययात्यय	९८. २५.	अर्थज्ञाननिवृत्तिलक्षण	११०. ११.
अतिप्रसंग	५६. २९; १०४. ५; ११२. २८.	अर्थज्ञानविवक्षाप्रयत्नवायूदीरणाकरण-	
अतिमहापाप	२९. ९.	व्यापाराविशेष	१२४. १६.
अतियुक्तिमत्	३८. १८.	अर्थज्ञानविवेकप्रतिभास	११२. २९.
अतिरूढानुवाद	४२. २५.	अर्थज्ञानस्मृति	३४. २५.
अतिरेकव्यतिकरसकरप्रसंग	११९. ४.	अर्थतत्त्व	१०. ४.
अतिरेकिन्	८८. ९.	अर्थदर्शनादिगुणयोगवियोग	११७. २८.
अतिलोकिक	८४. ५.	अर्थनय	२४. २३; १२३. २०.
अतिवृत्ति	७३. ३.	अर्थपर्याय	१२३. २८.
अतिशय	९४. १; १०२. २९; १०५. ७.	अर्थपरिग्रह	१८. ९; १२७. ३, २०.
अतिशयाधान	७०. १९.	अर्थपरिच्छेद	३२. २२.
अतिसूक्ष्मेक्षिका	१४. २३	अर्थप्रतिबिम्ब	३२. २७.
अतीत	१५. २१, ३३. २४.	अर्थप्रवृत्तिनिमित्तप्रदेशादिसहचारिन्	१२०. २९.
अतीतकार्यकारणता	११९. ६.	अर्थबल	८५. ९.
अतीततमवत्	२०. ८.	अर्थबलायात	४२. ३, १०.
अतीतविषय	९८. ६.	अर्थभेदकृत्	१५. ७; २४, २५, २६; २५. ७.
अतीतार्थ	५. १८.	अर्थमात्रावबोध	७५. २.
अतीतानागतादि	५३. २५.	अर्थमात्रोपयोग	१०८. ८.
अतीन्द्रिय	१९. ९, २१. ८; ५४. ४; ११५. ३०; ११६. १०.	अर्थवाक्प्रत्ययात्मभेद	२५. २१.
अतीन्द्रियज्ञान	२. ८.	अर्थविद्	७२. २; १२५. ६.
अतीन्द्रियप्रत्यक्ष	२१. ८, ९७. ६.	अर्थविवेकाप्रतिभासन	४८. १३.
अतीन्द्रियमत्	९९. ९.	अर्थविषयत्वनिराकृति	५४. १६.
अतीन्द्रियार्थदर्शिन्	२. १३.	अर्थव्यभिचारित्व	२२. १६.
अतौल्य	४४. १२.	अर्थराशि	४४. १२.
अत्यक्ष	४२. २३; २१. १७.	अर्थरूप	३३. २०.
अत्यन्तभावानुपलब्धि	१०५. २६.	अर्थसम्बन्ध	६१. ११; १२६. २०.
अत्यन्ताभेदभेदौ	४८. २०.	अर्थसारूप्यभृत्	२०. ९.
अत्यन्तभेदोक्ति	२३. २१.	अर्थसिद्धि	३. २४; १०८. ४.
अत्यादराराधिन्	९४. ६.	अर्थसवाद	९९. १४.
अत्यासन्न	४३. १८.	अर्थसवादन	८१. १२; १२७. २२.
अर्थ	३. २३.	अर्थस्मृति	३४. २५.
अर्थ १८. १२, २०. १६; २२. १, ९०. १४, ११४. २६; १२१. २३, १२३ २४, १२५. ३.		अर्थकारविकल्पधी	२. १९.
अर्थकृत्	१००. २५.	अर्थकारविवेक	४६. २; ४८. १८.
अर्थक्रिया १ ९, ४. ३, ५, ६, १२. ३, ५, ७६. २८, ११०. १३; १२३ २५.		अर्थतिशयवैधुर्य	९९. १८.
अर्थक्रियाकारविषयत्व	३८. २२.	अर्थत्मन्	४८. ११.
अर्थक्रियाकारित्व	११०. १८.	अर्थत्मासभाव्याकारडम्बर	३४. ५.
अर्थक्रियार्थी	३. ११.	अर्थधिगम	१२५. ५.
अर्थक्रियाऽयोग	४८. २२.	अर्थानुकारिन्	९७. ९.
अर्थक्रियाविरोध	१०७. ८.	अर्थान्तर	४४. ६, २४; १२४. १५.
अर्थक्रियाऽसत्त्व	७०. ४.	अर्थान्तरत्वोक्ति	१३. ११.
अर्थक्रियासमर्थ	४. ५, १४ २२.	अर्थान्तरप्रसूति	११३ २.
अर्थक्रियासम्भवाधान	१२. १५.	अर्थान्तरव्यक्ति	११८. १८.
		अर्थान्तरसम्बन्धवैकल्य	११९. १७.
		अर्थपत्ति	७. २६.
		अर्थपित्त्यनुमानोपमानादीनि	२१. ११.

अर्थापरिसमाप्ति	८०. २१.	अनन्यसाधन	४३. ३०.
अर्थाप्त्यनाप्ति	२२. २०.	अनन्वय	८०. ३०; १०४. १५; १०८. ५, १०९. १६
अर्थाभावविकल्प	१०३. २०.	अनन्वयादिदोषोक्ति	८०. ११.
अर्थाभिधानप्रत्ययात्मक	१४. १९.	अनपायि	४१. १६.
अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकव्यवहारानुकूल्य	२४. १२.	अनपेक्षा	१००. २२.
अर्थाश्रय	१२७. १९.	अनपेक्षितसाधन	४०. २८.
अर्थोत्पत्तिसुदेश	१३. २४.	अनभिव्यक्ति	३३. २४; ११८. १९.
अर्थोपकार	४३. ६.	अनल	७९. ११.
अर्थोपलम्भाद्यवसायसामर्थ्य	९७. १३.	अनलधूम	७४. १०.
अदृश्य	५४. २, १०८. १८; ११९. ५.	अनवधारण	५७. १.
अदृश्यपरचित्तादि	६. २.	अनवयव	९९. ६, १११. १४.
अदृश्यात्मक	६. ६.	अनवरतव्यामोहसमुदयवश	११९. २९.
अदृश्यानुपलब्धि	६. ५.	अनवस्थादिदोषानुपग	१०७. ९.
अदृश्यानुपलम्भ	१०८. २१.	अनवस्थान	७. १; ३२. ७; ६०. २९; १००. ६,
अदृश्यानुभवात्मन्	८३. १७, १२२. १०.	१०, २०, २४, २७; १०१. २४; १०२. २०; १०४. ८;	
अदृश्येतर	११२. २९.	१०६. ९; १०८. ११, १३; ११३. १४, २९; ११५. २१;	
अदृष्टदोषशका	९१. २०; १२२. ५.	११९. ३; १२०. ९, २९; १२१. ३; १२५. ६, ३०.	
अदृष्टपरिकल्पना	६२. ७; १२०. ९.	अनवस्थासकरप्रसंग	११७. ७.
अदृष्टप्रतिबन्धार्थाभिधान	९. २३.	अनवस्थिति	६. २७; ४३. १९; ९२. २४.
अदृष्टस्वभावकार्य	९. १५.	अनश्चर	१०५. १९.
अदृष्टिकल्पना	५७. २५.	अनाकार	११८. ७.
अदोषोद्भावन	८०. २०.	अनाकारनिरीक्षण	४८. १०.
अद्वय	३६. २०, ३८. ७, २४.	अनागतनिर्णय	२५. १.
अद्वैत	४०. ३१.	अनागतपरिणामविशेष	२६. ३.
अधऊर्ध्वविभागादिपरिणामविशेष	४४. १.	अनागतविषय	२५. ४.
अधर्म	२१. १६.	अनागतविषयत्वनिर्णय	१५. १४.
अधरोत्तरादिज्ञान	७. २५.	अनागम	११५. १८.
अधिकरण	१११. २५.	अनात्मज्ञ	८९. १७.
अधिगतार्थाविसर्वादि	१७. ९.	अनात्मज्ञतापरिगतं तम	१२०. १७.
अधिगम	२०. २५; ११९. १२.	अनात्मविज्ञानभावानासभव	८९. १२.
अधिष्ठानभेद	१२१. ४.	अनादि	२५. २६; ८५. १०; ८७. ६; ११७. २;
अध्यक्ष	३१. १३, ४३. २३, ५१. २३, १०६. ४.	१२३. ३१.	
अध्यक्षता	६०. ९.	अनादिनिधन	११. २७; ४०. १०; १०९. २२.
अध्यक्षलिगत	४९. २७.	अनादिनिधननिर्भास	१२०. १.
अध्यक्षादिविरोध	५१. ११.	अनादिवासना	८२. ३०.
अध्यवसाय	५४. ९.	अनादिसम्प्रदाय	८६. ४.
अध्यवसायिनी	१९. ६.	अनादिसम्बन्धप्रसंग	१०४. ९.
अनर्थ	४२. ३, ८४. ३१.	अनादिसम्बन्धविवर्तिन्	११९. १८.
अनर्थनिवन्धिन्	१११. २०.	अनाद्यनन्त	९९. ६.
अनर्थाकारशक	३४. ३.	अनाधिपत्यशून्य	४१. ६.
अनर्थनिकसन्तान	३७. ११.	अनाप्त	८६. ६, ९८. २७.
अनधिगतार्थाविग्रह	९९. १८.	अनाभास	९९. ८.
अनध्यवसाय	१००. ३.	अनावृत	१०२. २८.
अनध्यवसायादिनिमित्त	९९. १२.	अनाश्वास	९. १२, २४; ११६. १२.
अननुकृतान्वयव्यतिरेक	१९. २७.	अनाहितविशेषगुणोत्पत्तिविनाशसम्भव	११८. १७.
अननुमान	१०१. २३; ११५. १८.	अनिर्णय	७३. ११, १२०. २४.
अनन्तकार्यकारणतेक्षण	३०. ७, ९९. ४.	अनिर्णीतिफल	२०. २५.
अनन्तधर्मात्मकता	२१. २१.	अनित्यत्व	६. २३; १०४. ३; १०५. २४; ११०.
अनन्यवत्	४८. २३.	१८; ११४. २०.	
अनन्यवेद्यनियम	११५. १२.	अनिन्द्रियप्रत्यक्ष	२१. ७; ९७. ५.

अनिर्माक्ष	८९. २९.
अनियतस्निग्धरूप	१२१. १४.
अनियम	९८. ११.
अनिश्चितपरापर	४७. ६.
अनिश्चितविपक्षव्यावृत्ति	१०८. ४.
अनुकम्पापर	२९. १२.
अनुक्रमग्रहणनियमानुपपत्ति	११८. २२.
अनुद्भूतविकल्प	१००. २.
अन्तर्मत्त	४. ४.
अनुपकार	५५. १०, ११७. २५.
अनुपयोग	१०७. २४; १२७. १५.
अनुपलब्धि	१०५. २, १७, ११०. ३.
अनुपलम्भ	२. १३; ७५. १४, २०; ७६. २; १०२. १३; १०५. ३०.
अनुपलम्भ	१०५. ३१.
अनुपाख्य	११२. ७.
अनुपादानानुत्पत्ति	११८. २८.
अनुपाधिका	३१. ३०.
अनुपाय	५५. ३.
अनभयवत्	१२५. २९.
अनुभवप्रामाण्य	२. १६.
अनुभवात्मन्	५१. १०; १२५. २३.
अनुमा	५. २०; ६. १८; १७. ९.
अनुमान	३ ८; १६. ४, ७; ५५. २६; ५८. ३; ७५. १०; ९२. २४; ९३. ५; १००. ६, १०; १०१. १९; १०७. १०.
अनुमान	५. १५; ५२. २१.
अनुमानपरम्परा	१०६. ४, ९.
अनुमानविजृम्भित	८५. २.
अनुमानव्यतिरिक्त	५. ११; १०१. २४.
अनुमानसमासार्थ	१०१. १९.
अनुमानसमीक्षित	८४. १.
अनुमानादि	५. २.
अनुमानाद्यतिरेक	२. ६.
अनुमानान्तर	५. १०.
अनुमिति	५४. १६.
अनुमेयत्व	८५. २०.
अनुयोग	२५. २२; २६. ५.
अनेकारणपूर्वकत्व	१०८. ३१.
अनेकत्व	२३. ७; १०२. २१.
अनेकत्र कादाचित्कवर्तन	१३. २४.
अनेकत्रैकम्	४८. २७.
अनेकप्रकारतः	१९. २४, २५.
अनेकभेदप्रभेद	५. ३६.
अनेकरूप-	३०. १८.
अनेकलक्षणार्थ	९१. ३.
अनेकसामग्रीसन्निपात	१६. २.
अनेकात्मक	४९. २७; १०३. १६.
अनेकात्मपरिणाम	८८. १७.
अनेकात्मपरिणामव्यवस्थित	७०. ११.

अनेकात्मप्रशसन	४२. १०.
अनेकात्मसाधन	५७. २३.
अनेकार्थक्रियाकारिन्	४. १०.
अनेकान्त	३. २४, २१. १९; २५. १८; ४७. ६; ५०. १०; ९७. १६.
अनेकान्तनय	४. २०.
अनेकान्तनिराकरण	२२. ८.
अनेकान्तनिराकृति	२५. १४.
अनेकान्तभाक्	१७. १३.
अनेकान्तविद्विप् ७९	१३, २९; ८९. २९; ११३. २३.
अनेकान्तविषय	२१. २५.
अनेकान्तसिद्धि	३ १८; ६. १५; १६. २२; १०७. १; ११४. २५.
अनेकान्तात्मक	२५. १२; १०२. ११; ११२. २४; ११३. २६.
अनेकान्तात्मकार्यकथन	२१. १६.
अनेकान्तात्माऽर्थ	४. १८.
अनेकान्तिक	१०८. ४, २६; १०९. २; ११४. ९.
अनय	६. १७; ४५. २९.
अन्तःकरणसन्निधि	१२०. ९.
अन्तःशरीरवृत्ति	३६. ६.
अन्तरित	१०६. २६.
अन्तरग	९९. १; १०७. ४.
अन्तरगवहिरगप्रत्यनीकस्वभावप्रतिक्षेप- विकल्प	११४. २७.
अन्तर्ज्योतिर्मय	१२०. १; १२१. २६.
अन्तर्वहि	३. २४; ४. १७; ४९. १६.
अन्तर्भाव	२१. ५; ७६. १; १०५. २७.
अन्तस्तत्त्व	१४. २३.
अन्तर्व्याप्ति	१०६. ५; १०९. १६; १११. १२.
अन्तस्तमोविगम	१०७. ३.
अन्ताद्यो	११२. ३१.
अन्वपरम्परा	८५. ३०; ९८. २६, १०९. १०
अन्वगुणदोष	८२. ४.
अन्वचेतस्	३२. १६.
अन्यत्र विस्तरेणोक्त	२२. १६.
अन्यत्रेक्ष्यम्	१६. १२.
अन्यत्रोक्तम्	२१. ११.
अन्यत्रोपचारात्	२. ४; १२७. ५.
अन्यथात्व	६६. ११, १४.
अन्यथादर्शन	४९. १५.
अन्यथानिर्णीत	१०८. २३, २७.
अन्यथानिश्चित	१०७. २१; १०८. १८.
अन्यथानुपपत्ति	६. ४; ३८. २१; ५३. २९.
अन्यथानुपपत्तिमान्	५३. २१.
अन्यथानुपपत्तिवितर्क	५ १६.
अन्यथानुपपन्नत्व	७. ८; ३१. ६; ७४. १, २, १४.
अन्यथानुपपन्नत्वनियम	७१. १०.
अन्यथानुपपन्नत्वरहित	७६. १०.
अन्यथानुपपन्नत्वरहितत्रिलक्षण	७९. २४.

अन्यथलडलव	३०. ३०, १२०. १६.	अडरलसखुडलन	१२१. २ॢ.
अन्यथलडलस	ॡॡ. २१.	अडर डुरतुडकुष	९३. ९.
अन्यथलडलडुग	१०६. १३.	अडशखुदलदलडलडण	२२. १७.
अन्यथलरुडवुडखुदुडडुरसलदुधल	९२. २३.	अडुथुडखुदुडनलडड	७१. २०.
अन्यथलवुडसुतसलवतु	१०९. २०.	अडुषकुषण	७ॡ. २१.
अन्यथलशकुडसडलव	७ॡ. १३.	अडुषकुषल २३. ॡ; ७०. १९, ९३. २२; ११०. १३.	
अन्यथलसलदुध	३३. १९.	अडुषकुषलनडुषकुषल	१०. २ॡ.
अन्यथलसडलव ७ॡ. ॢ, १०१. ३, १०ॡ. ३, १७.		अडुषकुषलतडरडरलसुडनुद	११३. १३.
अन्यथलसडलवलडलडलडडुद	७९. १.	अडुषकुषलतडरवुडलडलर	११२ ॡ.
अन्यथलसडलवलसलदुधल १००. ६, १११. ३.		अडुदुधलरकलुडनल	ॡॡ. २ॡ.
अन्यथलसडलवुी	ॢ७. ७.	अडुदुधुत	ॡ७. २९.
अन्यडुगलवलशुड	३१. २०.	अडुदुधुतुड	२ॡ. १३.
अन्यवुदुडवलरुध	ॡ०. ३०.	अडुहुवतु	३३. १२.
अन्यवुडडुषकुषल	ॡॡ. २२.	अडुहुलनु	ॡ६ ३.
अन्यवुडखुदुड ३ॡ. २ॡ, ॡ६. १३, १०६. २१, १०७. १७.		अडुीरुडुडु ॢॡ. २३; ॢॢ. १ॡ; ११७. २.	
अन्यहुतुवरुषडरलनलषुठलतुतुसु	१२२. ॡ.	अडुीरुडुडुवुतुतलनुत	९२. १ॡ.
अन्यसलवतु	२१. ॡ.	अडुीरुडुडुी	ॢॢ. १२.
अन्यलनडुषकुषल	१२. १७.	अडुरतलडुधक	३ॡ. १६.
अन्युडुगणडुतुैकडुदलडुदलवधलरण	१३. १०.	अडुरतलषुठलनक	ॡ३. १ॡ.
अन्युडुगलनलरडुषकुष	१२६. ॡ.	अडुरतलसनुधलन	१०ॡ. २९.
अन्युडुगलवलडुरतलडुधलकुषणलनुगड	१२ॡ. २९.	अडुरतुडकुष १ॡ २७; ३२. २, २९; ॡ९. २ॢ; ६२. ॡ; १०१. २ॡ; १०७. ११; ११ॡ. १ॢ.	
अन्युडुगलवलकुषुडुडलडुडलकुषण	१०ॡ. ३०.	अडुरदुशुगलदल	६ॢ. १ॡ.
अन्युडुगलवुडडुषकुषल	१०ॡ. ९.	अडुरडतुतल	७७. २७.
अन्युडुगलसडुडनुध	११०. २७.	अडुरडल	७ॡ. ॡ.
अन्युडुगलसशुथ	३९. ३, ६२. १ॡ.	अडुरडलणडुरडुडतुव	३०. ११; १२६. ॡ.
अन्युडुगलरुथलवदु	१०९. २ॡ, २ॡ.	अडुरडुडुडु ६९. २ॡ, २ॢ; १०३. १९, ११ॡ. ९.	
अन्युडुगलतुडडलरलवुतुतुडुदलडुदलवधलरण	ॡ . १३.	अडुरगुडुतु	२२ १.
अन्युडुगलनलतुडक	११. २ॢ.	अडुरवुतुतु	६९. ९.
अन्युडुगलवलकुषकडुरतुीतु	१०३. ॡ.	अडुरसलदुध ॡ९. ९; ॡ३. २; १०२. १, ३.	
अनुवरुथ	ॡॡ. २९.	अडुरसलदुधलरुथलडलतु	९७. ९.
अनुवुड	७६. २२.	अडुरसुतुतलरुथलडलकरण	२६ ॡ.
अनुवुड ॡ६. १३, ७०. २; १०ॡ. १२; १०७. १७; १२३. १७, १२ॡ. १३, १२६. १२.		अडुरलडुडकलरलनु	९२. २, ११ॢ. १६.
अनुवुडवलकुषलन	७ॡ. २२.	अडुरलडलणुड	११ॡ. १०.
अनुवुडवुडतुलरुक १ॢ. २ॡ, २६; १९ ॡ; ६९ २२, १२०. ६.		अवलुीडसुतुव	६२. ३०.
अनुवुडवुडतुलरुकलरुथलवलडुडतुव	१२२. २१	अवलुडलडलवनलकुषनुड	ॡ३. १ॡ.
अनुवुडवुडतुलरुकलनुवलधलन	१०ॡ. २७.	अनुडुवलण	ॢ०. १ॢ; ११३. ७.
अनुवलदु	१०ॢ. ३१.	अडलव	१०३. १९; ११३. ११.
अनुवलडलडलव	७६ १ॡ.	अडलवसलधलनुी	१०ॡ. १७.
अनुवलडुनु २३. ॡ, ॡ; ९ॢ. १ॢ, १२ॡ. २ॡ.		अडलवलनुतुलरुथलवलशुड	११२. ॢ.
अडकुष	७ॡ. २०	अडलवलनुतुलरलखुडल	१२ॡ ३०.
अडलरलकुषतु	९७. १६.	अडलवलडुरसलदुधल	१०ॢ. २१
अडलरलधलनुी	३७ १.	अडलवलवलशुडसनुधलन	१०७. २ॡ.
अडलरलडलरुशुषलदलकुषलनडुीगडुध	९ॢ ६.	अडलवलकुषलनुतु	१६. २३; १०ॡ. २०.
अडलरललुडसुतुडथ	९१. १६.	अडलकुषलन	ॡॢ. २३.
अडलरलणलडतु	ॡ०. ११.	अडलनलवुध	ॡ. २; ९ॢ. १ॡ.
अडलरलणलडनु १०ॡ. ॢ; १०९. १७; ११ॢ. २१, २ॡ; १२०. ६.		अडलनलवुधनुैकलनुतुकतुव	१०ॢ. २०.
अडलरुतुलड	१०३. १६; ११०. १७.	अडलनु	ॡ६. २६; ॢॡ. २१.
		अडलनुदुशकलल	३६. १.
		अडलनुडुरतुलडलस	ॡ६. २६.

अभिन्नविषयत्व	३. २०.	अरक्त	१०२. २८.
अभिप्रायमात्र	२२. २०.	अलब्धात्मन्	२० १९.
अभिप्रायविसवाद	९ २.	अलाभादि	८१. ५.
अभिप्रेतमात्रसूचित्व	२२. २२.	अलौकिक	२४ १६; ११५. २९.
अभिप्रेतव्यभिचारित्व	२२. १६.	अलौकिकप्रतिभान	२२. १९.
अभिरूढ	१५. ९; १२६. १६.	अलघनार्ह	९९. २.
अभिलापतदश	३०. १०.	अल्पभूय प्रदेशैकस्कन्धभेदोपलक्षण	६९. ३.
अभिलापवत्	३०. २३.	अल्पभेदाग्रह	४४. १७.
अभिलापविवेक	३०. १०.	अल्पमहत्त्वादिज्ञान	७ २५.
अभिलापससर्गयोग्यता	२०. २८.	अवगृहीतविशेषाकाक्षण	२ २५.
अभिप्रेत	५३. २; १०२. १, ३.	अवग्रह	२. २०, २१, २५.
अभिलापानपेक्ष	१२५. १९	अवग्रहमात्र	१०६. ८.
अभिलापानभिलाप	१२३. ६.	अवग्रहव्यापार	१००. ८
अभिलापिन्	५०. १८.	अवग्रहादि	३. १४; ११६. ५, १२५. १२
अभिलापिनी	१२४. ३१.	अवग्रहेहावायधारणात्मक	२१. ६
अभिलाप्यानभिलाप्यबहुवत्त्व	१२२. २०.	अवधारणाभाव	२२. ३; १२५. १३.
अभिलाप	६३. २८; ६४. ४.	अवबुद्धेद्वयोध	२६. १९.
अभिव्यक्ति	१०३. १०; ११८. २५.	अवयवव्यविन्	१३. १४.
अभिव्यक्त्यनभिव्यक्ती	१०२. २२.	अवयविन्	१२. २९, १४. ११, २३. २५.
अभिमन्वाय	५६. २४.	अवरत	२५. २९
अभिसन्धि	२५ १८, २७.	अवस्तु	५३. १९; १०२. २१.
अभूत	१५. १; ३४. ९, १०.	अवस्तुनिर्भास	८. १४
अभूत भवति भविष्यति	१५ ९; २४. २५.	अवस्थादेशकाल	७६. २१.
अभूतात्मा	१०४. २२.	अवस्थादेशकालसंस्कार	२३. १३.
अभेद	४. ९; १५. ४, ५४. २३; ५५. १३, ५७. २७; १२४. २२.	अवस्थान्तर	११२. १४.
अभेदज्ञान	४५. ८.	अवस्थान्तर्विशेष	७३. २०.
अभेदप्रत्यनीकस्वभावविधिप्रतिषेधप्रतिबद्ध	१०६. १८.	अवाच्यता	१०८. १७; १२३. २६.
अभेदरूप	५४. २३.	अवाञ्छित	२२. १०
अभेदलक्षण	६. ७.	अवान्तरजाति	१३. २२.
अभेदविरोध	१५. ३; २४. ९.	अवान्तरात्मभेद	६८. ९.
अभेदव्यवस्थिति	७६ २१.	अवाय	२. २०, २६
अभेदाश्रय	११ २.	अवागदर्शन	८४. १०.
अभेदैकान्तपरिग्रह	१२३. ८.	अवागभागदर्शिन्	१९. १९
अभ्यासातिशयविवर्त	१२४. ११.	अविकलसामग्रीजन्मन्	१२५. २५.
अभ्युपायविरोध	३५. २६.	अविकल्प	६. २८; ४९. १.
अभ्युपेताव्यवस्थिति	८१. ८.	अविकल्पक	८. २०; ४२. ३, ५०. १४; ८२. ३०.
अभ्रान्त	५०. १४.	अविकल्पधी	५. ६.
अभ्रान्तमव्यभिचारीति	९. २१.	अविकल्पप्रत्यक्षाप्रत्यक्षैकान्त	९८. १६.
अमान	८३. २८.	अविकारिणी	६२. २८.
अमूढचेतस्	९१ ४.	अविकारिन्	३२. २९, १२१. १०.
अमूर्त	२०. १०, ११; २३ २२.	अविकलव	१०. ४.
अमूर्तत्वाख्यातप्रदेशत्वसूक्ष्मत्व	२१. १७.	अविगलितसकलक्लेशराशिविनाश	९४. २.
अमूर्तभेदप्रसंग	२३. १४.	अविचलात्मन्	७०. ४, १०५. १७.
अययार्थ	३४. १६; १०७. १४.	अविचलितात्मन्	१०७ २४.
अययार्थता	३५. १७.	अविचलिन्	११३. १९.
अययार्थात्मावभासविच्छेद	१०६. २३.	अविचारकत्व	५. ९.
अयगपत्प्रतिभासायोग	९९. १०.	अविचारितगोचर	३८. १२.
अयोगिन्	५७. २५	अविजातीय	४४. २१.
अयोग्यता	१२४. १५.	अविज्ञाततथाभाव	३५. २६.
		अवितथ	२१. ८; ५८. २५; ११६. १५,

अवितथप्रत्ययात्मकत्व	१०३. २२.	असत्त्वास्तत्त्व	३७. २८.
अवितयात्मकत्व	१४. ६.	असदात्मन्	११. ११, १३; १३. २०, ३५. १९.
अवित्ति	३१. १९.	असदुपलम्भ	१०३. २०.
अविद्यमानत्रितय	२०. १३	असद्वचवहार	१०५. १.
अविनष्ट	१०२. २८.	असन्निकृष्ट	१८. ११.
अविनाभाव १०१. १६, १०६. ५, १०८. १३, ११०. ३१		असन्निकृष्टेन्द्रियार्थवत्	१८. १०.
अविनाभावनिश्चय	७५. १०.	असमानसमन्वित	४७. २.
अविनाभावसम्बद्ध	७४. २३, ८२. ८.	असमितविशेषाधिगम	१२३. २५.
अविनाभावित्व	१२३. २४.	असम्प्लव	१०४. ११.
अविनाश	६५. ७.	असम्बन्धानवस्था	११०. २२.
अविप्रकृष्टदेशादि	४०. २८.	असरूप	३३. ११, ३४. २९.
अविप्रतिपत्ति	४२. २२.	असहानुपलभ	१०९. २.
अविप्रतिसार	१०६. १६; ११५. ४.	असाङ्कर्य	९९. २६
अविप्लव	९२. १७.	असाधनाङ्गवचन	८०. २०.
अविशेषधी	८३. १८.	असाधारण	२१. १७, १०९. १५, १८.
अविशेष्यविशेषण	३२. ७.	असाधारणत्व	११७. १३.
अविभागज्ञानतत्त्व	६. १४	असाधारणनिर्भासविरहिन्	१०६. २३.
अविभागविज्ञान	४. १६	असाधारणैकान्त	८. १९
अविविक्त	१०५. १०.	असाध्यसाधन	१४. २४
अविशद	८. २०	असिद्ध ३१. ६, ७८. ३०, १०९. २१; ११०. १०;	१११. ८.
अविसंवाद	१४. २१.	असिद्धधर्मिधर्मत्व	५३. २१
अविसंवाद ९ १५, १६. ३, ५४. ९; ९१. १०; ९८. १५.		असिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्व	१०२. ६.
अविसंवादनियम	५०. १५.	असिद्धसिद्धि	३१. २९.
अविसंवादक ५. २५; ७. २६; ८. १०, १४; २० २५.		असिद्धि	३१. २६; ७७. ५; ९७. १६.
अविसंवादस्मृति	५. १	असकीर्ण	४५. २४; १०३. १.
अविसंविद्	३७. ११.	असक्रम	९८. ६.
अवृत्ति	१०६. १०.	असख्यातप्रदेश	२३. २२.
अवशय	२. ७.	असख्येय	१२१. ४.
अव्यतिरेक	१००. १८.	असचार	३२. ७.
अव्यय	११२. २३.	असभवादात्म्यपरिणामप्रतिष्ठित	४७. १.
अव्यवधान	२१. ८	असभूष्णु	६६. २७.
अव्यापार	७०. २४.	असन्नि	३२. २७.
अव्युत्पन्नसन्दिग्धविपर्यस्तार्थप्रतीति	९७. ११.	असवेद्यमकिंचित्करमनुपायमनुपेय	२१. १
अव्युत्पत्तिसंशयविपर्ययाविशिष्ट	१०२. ३.	अससृष्ट	४३. १८
अशक्त	५५. २१.	अस्खलत्समानैकप्रत्ययविपर्ययत्व	२३. ५; ९८. १९
अशक्ति	५८. २२; ७३. ८.	अस्थिर	३७. ११.
अशक्तिफलाभाव	५४. २०.	अस्पष्ट	१६. ४.
अशनिजन्मन्	१०. १३.	अस्त्यात्मा	१०४. १९, २६.
अशुद्ध	१४. ३.	अस्मृत	६३. २८.
अशून्यतानुपग	१०३. १८.	अहमस्मीतिवाक्यादि	९०. १८.
अशेषगोचर	५२. १०; ९९. ११	अहेतु ३१. २५; ४१. ७; ११०. ९, २६; १२२. ८.	
अशेषनभस्तलविसर्पिणी	३२. १४.	अहेतुक	१८. २७.
अश्लील	५२. १७.	अहो सत्यव्यवस्थिति	८२. १९.
अश्वादिव्यावृत्ति	१२४. ४.	अह्नीकलक्षण	११५. २५.
असकलप्रतिपत्ति	११८. २२.	आकाशानिवृत्ति	३७. ८; १२५. १५.
असकृत्सिद्ध	४८. ८.	आकार	४९. २०.
असत् ३३. २५, ३५. ३; ३९. १६; ४५. ११;		आकारभगिन्	३४. २०.
१०५. ६; १२३. ३.		आकाश	२१. १६
असत्त्व	३७. २४, २७.	आकुमार	२८. ८
असत्कार्य	११५. २७.		

आकुलं	१४. २४; ३३. १३; ५२. २७.
आकृतिभ्रम	७२. १.
आशेषसमाधि	३३. १३.
आगम	२२. १४, २६. २२; ८४. ५; ८५. ६; ८६. ४; ९३. ५; १२२. १.
आगमार्थ	११६. १०.
आगमाहितसंस्कार	७. १७.
आचार्य	३४. १५.
आञ्जसम्	५. ७; ९३. ९.
आनिलक	४४. १६.
आत्मकर्मफल	६३. १२.
आत्मवान	११६. २१.
आत्मज्ञ	११९. २८.
आत्मज्ञानादिभेद	१२५. २७.
आत्मन्	१३. १३; २३. २४, २५. २३; २६. १०; ३१. २३; ५२. २६; ५९. २९; ८३. १५; ८४. ३१, ८९. २६, ९१. १६; ९८. २१; १०१. १५; १०४. १९, १०६. २२, २४, १११. १८; ११८. ३१; ११९. ६, २३, २८; १२१. ११.
आत्मनियत	१२७. ७.
आत्मनिर्भासभेद	११. ७.
आत्मप्रतिबन्ध	१०३. ४.
आत्मविडम्बन	३१. ९.
आत्मभावसिद्धि	१०४. १२.
आत्ममनइन्द्रियार्थ	१९. ८.
आत्मविकल्पक	४६. २०.
आत्मवित्	५१. २३.
आत्मव्यवस्थित	७४. ८.
आत्मसमर्पण	३३. २८.
आत्मसमान्मन्	४०. १.
आत्मसहभाविन्	९९. ६.
आत्ममुखदुःखतर्पणादिप्रवृत्तिनिवृत्ति	११९. १३.
आत्मनिवृत्ति	३१. २६.
आत्मात्मीयप्रज्ञाप्रकर्षप्रतिपक्ष	११९. ३०.
आत्मार्थ	१८. २१.
आत्मार्थग्राहक	२०. २३.
आत्मार्थविषय	२१. ८.
आत्मादि	१०४. ३; १२६. ११; १२७. २.
आत्मादिप्रविभाग	१२६. २१.
आत्मादिव्यतिरेक	६०. ९.
आत्माप्ति	७१. १६.
आत्मीय	८९. २०; १२०. १.
आत्मेतरसम्बन्धवियोगकारणतत्त्वगुद्धि	११९. ११.
आत्मोत्कर्षणार्थ	११५. २०.
आत्ममात्कृतानन्तभेद	२३. ११.
आदित्य	५. २४; २५. २.
आद्ये परोक्षं	९३. ९.
आद्रंकाप्यादि	१२७. १०.
आधिपत्य	३४. ६.

आनन्त्य	२५. ५; १२१. १६; १२५. २७.
आनन्तर्य	७६. २५.
आनुमानिक	३१. १३.
आनुमानिकभोग	३१. २०.
आन्तर	३१. १६.
आप्तवाद	९१. ९.
आप्तागमपदार्थप्रमाणप्रवृत्तिफललिङ्गचारित्र	११७. २०.
आप्तेतरव्यवस्था	९. ३.
आप्तोक्ति	९. २८.
आवालप्रसिद्ध	२२. ७.
आभय	९४. ९.
आभिनिवोधिक	४. २३; ९. ७; ११७. १८.
आयुर्वेदादि	८५. २४; ८६. ४.
आरम्भकावयवान्योन्यावाप्ति	१२१. १३.
आरेकासिद्धते	८४. १०.
आलोक	१९. ११, १८; २०. २; १२०. ३.
आवरणविगम	९९. ७.
आवरणविच्छेद	२०. १; ९१. २९; ११८. २५.
आवरणविच्छेदापेक्षा	१९. २०.
आविर्भाव	८८. १२.
आविर्भूतानाविर्भूतस्वरूप	२३. १२.
आवृत्त	१९. १५; ६७. २. ७३. १४; १०२. २६, २८.
आगुग्रह	८६. २४.
आगसमानक	४१. १६.
आश्रयविरहिन्	१०२. २१.
आश्रयाश्रयिभाव	१०२. २२.
आश्रयासिद्ध	११६. २३.
आश्रय	८८. २१; १२२. ६.
आसन्नादिभेद	४८. ७.
आसादितविशेष	७३. ३.
आसूक्ष्म	४४. ११.
आहाराभाव	१०५. ११.
आहितानामक	२६. २.
आहोपुरुषिका	११५. २१.
इच्छा	८९. २८.
इच्छादिसमवाय	११९. ५.
इत्यम्भूत	१५. ८; १२६. १६.
इदमर्त्यं महद्दूरमासन्न प्रागु	७. २३.
इन्द्र	१५. १०; १६. २०; २४. २६; २५. १०.
इन्द्रजालादि	३६. २८.
इन्द्रियगोचर	७२. १४.
इन्द्रियचेतस्	५१. ३.
इन्द्रियज्ञान	९. २१; ९९. १६.
इन्द्रियनिर्मित	२९. १९.
इन्द्रियप्रत्यक्ष	९७. ५.
इन्द्रियमनसी कारण	१९. १.
इन्द्रियमनोगतमिराद्यभाव	१९. १.
इन्द्रियार्थ	१९. ५.
इन्द्रियार्थज्ञान	२१. ६.
इन्द्रियादि	६७. १८.

इन्द्रियाध्यक्ष	२९. २०.	उपादान	४७. २३, २६; ८६. २७.
इन्द्रयानिन्द्रयनिमित्तत्व	२८. १२	उपादानप्रकृति	१०५ ७.
इन्द्रयानिन्द्रयप्रत्यक्ष	२. ८	उपादानादि	९९. २१.
इयतो व्यापारान्	५. ९.	उपाधि	५५. १०, १३, १४, २१; १०८. ९.
इष्ट १०८ १७; ११४. १२; १२१. २५.		उपालम्भ	९०. १९.
इष्टतत्त्व	९३. २२.	उपेक्षण	९३. १८.
इष्टविघातकृत् १०८. ३; ११४. ११.		उपेय	२४. ४.
इष्टसाधन	५३. २२.	उभय	९०. ६.
इष्टसिद्धि	५३. २३.	उभयत्र व्यभिचार	२२. १९
ईक्षणिकादि ९२. ११; ९९. ९.		उभयदोषप्रसंग ११३. २८; ११४. ३; १२५. २९.	
ईश्वरज्ञानसंग्रह ५२. ८.		उभयपक्षोक्तदोषारेकानवस्थिति	८०. ९.
ईहा २. २०, २५		उभयपरिणाम	११८. २२.
ईहाधारणा ३. १.		उभयव्यवसाय	९८. १४.
ईहितविशेषनिर्णय २. २६.		उभयात्मक	४९. ९.
उक्तविघातकृत ११९. ४.		उभयानुभयविकल्प ११०. १६, ११२. २.	
उच्छेद ८३. ३.		उभयाभाव	११४. ५.
उत्तरपरिणाम २. २५.		उभयोक्तिवत् ९० १९.	
उत्तरोत्तरदेह ६२. १६.		उभयोपयोगलक्षण	९८. २१.
उत्पाद ११३. ४.		उभयोपलब्धि	१४. ६
उत्पादविगमक्रियाभाव १०३. १२.		उष्ट ८०. ७.	
उत्पादविगमध्रौव्यद्रव्यपर्यायसंग्रह ४६. २३.		उपयोग २. २३	
उत्पादविगमध्रौव्यलक्षण १४. २०, २४ १०; ११२. १५; १२१. २४.		उपयोग २१. १४	
उत्पादविगमध्रौव्यविरह १२५. २८.		उपाधिप्रतिषेध १०४. १४	
उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त ४. १७; १०. २५; ४५. ११; ११२. १८.		उपाय १८ ८; २५. २०, १२७. २, १३	
उत्पादव्ययध्रौव्यादि ४५. ५.		ऊर्ध्वतादिवत् ११४. १.	
उत्तरोदयाविशेष ११२. १६.		ऊहादि १०१. २२.	
उत्पत्तिसंहार ११२. १७		ऋजुसूत्र १४. २८, १२६. १३.	
उदय ११३. १०		ऋजुसूत्रनय २४ १५.	
उदयस्थितिसंहारलक्षण १०३. ३; ११२. ३०.		ऋ प भा दि म हा वी र १. ४.	
उदयस्थितिसंहारविरह ११५. १२.		एककारणप्रत्यनीकनियम १२१. ५.	
उन्मार्ग ८२. २४.		एकज्ञान ४५. २७.	
उन्मीलनादि ६४. १३.		एकतानत्व ११७. १९.	
उपकारक २०. १३		एकत्रनिर्णय ३०. ५; ९९ ४.	
उपकारापकारसकल्पहेतु १२०. १८.		एकत्रानेक ४८. २७.	
उपकार्योपकारकसन्निधान १२०. २७.		एकत्व २३. ३, ६; ११२. २७.	
उपचार ६१. ९, २०; ७०. ७; ९८. १२.		एकत्वनिवन्धन ५८. २५.	
उपनयादिसम १११. २३.		एकत्वानेकत्व १२४. २३.	
उपमान ७ ६, १५; ९२. २७.		एकदेशेन वर्तते १३. १६; १००. २७.	
उपभोग ११९. ८.		एकधामिन् २३. २०.	
उपयोगवान् ५९. २९.		एकप्रत्ययवर्णव्यवस्था ११२ २७.	
उपरम ४३. २५.		एकमनेकत्र वर्तमान १३. १५; १००. १५.	
उपलक्षितसुखादिविज्ञानस्वलक्षणक्षणक्षयादिविशेषानुपलक्षण १०६. ३.		एकमनेकरूप १५. २; २४. १८	
उपलब्धि ७६. १, १०४. १९; १०५. ३०.		एकमनेकाकार ३. १६	
उपलब्ध्यनुपलब्धी ९१. २४.		एकयोगक्षेम ११४. ३१, ११८. ३०.	
उपलम्भात्मकत्व ११०. ४.		एकरागादि ४१. २७.	
उपलम्भानुपलम्भयोग्य १०२. २८.		एकरूप ६१. १०, ८६. ३०.	
उपहसन ९३. २६.		एकलक्षण ६९ २७.	
		एकलक्षणविद्विप् ७७. २, १२.	
		एकलक्षणसिद्धि ५. १७.	
		एकलक्षणहानि ७६ १५.	

एकलक्षणानुपलक्षण	१०४. १५.	कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी	१९. २६.
एकवस्तुभावसम्बन्धविवेक	१२४. ३.	कर्मनिर्मुक्ति	२३. ७.
एकविवक्षा	२३. २६.	कर्मपटलाच्छन्ना	७८. १६.
एकस्थूलनिर्भासविरोध	११. २८.	कर्मफलसम्बन्ध	११९. ८.
एकाकारविवेक	७३. ४.	कर्मावरणचित्रात्मन्	१२१. ४.
एकात्मकत्वप्रतिषेध	११३. २५.	कर्मविद्धात्मविज्ञप्ति	१९. २५.
एकार्थकारित्व	६७. १७.	कर्माश्लेष	८९. ६.
एकार्थनियम	१२४. ९.	करणशक्त्यनुविधान	१०१. ५.
एकार्थरूप	७२. २०.	करणाकरणाविरोध	११०. २०.
एकार्थविषयतोपपत्ति	८. २२	करणातीत	५२. ११, ९९. १२.
एकार्थोपनिबद्धदृष्टि	१०९. २६.	करणसन्निपातोपनीतधावणस्वभाव	११८. २७.
एकानेक	४५. ६; ५०. १०; ११४. २.	करणमनसी	१९. २६
एकानेकस्वभावनियम	९९. २६.	करणादिवत्	१८. २१
एकान्त ४ २, १८, १६. १७, २१ २१, २५. १३;	४२. ९, ५७. ८; १२६. ७.	करुणा १. ८; ८२. २१; १२०. १४; १२२. ९.	
एकान्तक्षाधिक	९४. १.	करुणावत्त्व	८३. ८; ८९. २२.
एकान्तवादिन्	१७ १४	करोति क्रियते	१५. ९; २४ २५
एकान्तविषय	२१ २६	कलशादि	६५. १०.
एकान्तानुरोधिनी	७३. ८.	कलिवल	२९. १०.
एकान्तानेकान्तविच्छेदपरिच्छेद	१०६. १७.	कल्पना ९. १; ४२. २८, ६३. १४; १२६. २०.	
एकान्ताश्रय	११०. २९.	कल्पनागौरव	१०८. ८
एकान्वयानुग	२२. २५	कल्पनागौरवपरिहार	११०. १७.
एकान्वयात्मक	२३ २.	कल्पनापोड	४१. २५.
एकाशमात्रानुपग	१०३. १२.	कष्ट	१२०. २७.
एकैकप्रतिपत्ति	७३. ४.	काक	४६. १४; १०७. १८.
एवम्भूत	१५. ११, २४. २७	काचाद्युपहृतेन्द्रिय	२०. २.
एकोपलम्भनियम	१०९. ३०.	कादाचित्कसवाद	१०६. १५.
एकोपाधिप्रतिपत्ति	१०८. १०.	का पि ली य प्र मे य	९३. २४.
एतस्मात्पूर्वपश्चिममुत्तर दक्षिण	७. १८.	काय ६०. १५, ६३. ७; १०४. २७.	
अजसा २९ १४; ४०. २९; ४९. ९; ८४. १३; ९२. १७.		कायविज्ञप्तिवत्	११६. १०.
अश ४४. २४; ४८. २३.		कायादिप्रवृत्तश्रोतस्	१२७. ११.
अशग्रहविवेक	७३ ९.	कायापाय	६२. १०.
अशी ४४ २४; ६७. २१		कार्य ५. १७, २१, १२. ८, २७; ४३. २५; १०५. ४; १२४. २६;	
अगुपातानुमादृष्टि	४४. १८.	कार्यकारण ६. २०, १२. ९, १९. ६; ६२. १२;	
क ण च र स म य	९३. २४	१०४. २९; १०८. २९, ३१; ११२. २३; ११५. १; ११९. १८.	
कर्तृकर्मस्वभाववत्	२०. १९	कार्यकारणता	७३. २६.
कर्तृत्वायोग १५. १२, २४. २७		कार्यकारणत्वनियम	१५. २०.
कर्तृफलकर्ममु १८. २२.		कार्यकारणभाव १२. ७; १२४ १५.	
कर्त्ता २३. २२; ६०. ३.		कार्यकारणलक्षण १२. ४	
कर्त्तरस्मरणादय १०९. ७.		कार्यकारणसन्तानसमुदायविकल्प १२६. १४.	
कर्त्रादि २२. ५		कार्यकालमप्राप्य २०. ८.	
कथञ्चित्क्षणिक १२. ५		कार्यकालानतिक्रम १२. २८	
कथञ्चित्चेतनात्मक ८४. १७.		कार्यभेद १२. २६.	
कथञ्चिदभिज्ञापमसर्गयोग्यायोग्यविनि- र्भासिकज्ञान ७. २.		कार्यत्रिरुद्रोपलब्धि १०५. १९.	
कथञ्चिदभेद २. २६; ११४. ३१.		कार्यविशेषोपलक्षितार्थशक्तिभेद १२४. २५.	
कथञ्चिद्भ्रान्ति १०६. २४.		कार्यव्यतिरेकोपलक्षण १२. १९	
क पि ला दि १२७. १७.		कार्यव्यतिरेकोपलक्षिता ६. २१.	
कर्म ६० ३, ८४ २३, २६; ८०. २२, २४; ८९. २; १००. १६, २३, ११९. २६, १२२ ७; १२७. ११.		कार्यव्यभिचार १०९. ९.	
		कार्यसत्तानिर्वर्तक ६२. २२.	

कार्यहेतु	६. २०; १०. १५; ७५. १३	कृतक	११२. ४.
कार्यादि	१०४. १६	कृतक	७६. १५; १११. १८.
कार्यानुपलब्धि	१०५. ४.	कृतकत्व	६. २३; १०४. १४; १०५. २५, २८;
कार्यानुपलम्भ	१०५. २९.	१०८. ६, ११०. ७, ९; ११२. १६; ११३. १८.	
कार्याभावगति	६२. १३.	कृतकानित्यादिवत्	१२४. ३०.
कार्योत्पत्ति	१२. १४.	कृतस्य करणायोग	८. १३.
कारक	२५. ७	कृताकृतनियम	१११. २५.
कारक	१५. ९; २२. ५.	कृतिकादि	९. २२
कारककल्पना	१५. ११, २४; १२४. ३१.	कृतिकोदय	५. २३; १०४. ५.
कारकज्ञापकव्यवस्था	१०८. २; १२२. १९.	कृतिकोदयदर्शन	२५. २.
कारकज्ञापकव्यवस्थाविलोप	१२३. १३.	कृपा	१२२. ८.
कारकभेदभेदिन्	१२४. २४.	कृपालु	१२०. १७.
कारकभेदानुविधायित्व	१२४. २६.	केवलज्ञान	८५. १.
कारकलक्षण	१६. १५	केशादिनिर्भास	४३. ३.
कारण	१२. ८	केशादिविवेकवत्	९८. १७.
कारण १२. १६; १८. १०, ४३. २५; ६२. २२; ६३		कैवल्य	१०३. २१.
२२, १००. १६; १२३. ३१; १२५. २, १२७. २३.		कोशपान	६४. ७.
कारणकार्यभाव	१८. २१	कौटस्थ्यप्रसंग	१०५. १९; १०८. ४.
कारणगुणदोषाकल्यवैकल्य	११६. ९.	कौतस्कुत	१८. २५.
कारणपरम्पराभावप्रसंग	१२०. २५	कौमारादिवत्	९९. २५.
कारणभेदि	१०. ८	क्रम	३. १५; ८८. १; ११०. १०.
कारणमतिपरिच्छिन्नार्थ	२३. २	क्रमभेद	३. १९.
कारणविरुद्धोपलब्धि	१०५. २०.	क्रमयुक्त	४५. १७.
कारणशक्ति	६. २१; १२. २०.	क्रमयोगपद्यविवक्षा	१२३. ५.
कारणसत्ता	१२. १४, १६	क्रमयोगपद्यासम्भव	१०८. २.
कारणसामर्थ्य	१२. २८	क्रमवर्ति	३. १७.
कारणानुपलब्धि	१०५. ५.	क्रमवृत्ति ३. १५; १०४. २९; ११२. ३०; ११८.	
कारणासम्भवाक्षेपविपक्ष	७८. २७.	१७, २०.	
काल	१६. १४, २१ १७, २५ ६; ८६ ६,	क्रमस्थिति	४५. ३.
	९८. २७; १२४. २३	क्रमाक्रम	४. ४
कालकारकलिङ्ग	१५. ७, २४. २५	क्रमोत्पत्ति	५१. १०.
कालदेशादिभेदिन्	८७. ९.	क्रियाकारक १३. १५, १६. २२; २३. २५.	
कालदेशान्तरव्यापित्व	१०४. ३९	क्रियानिमित्तकव्युत्पत्ति	२५. ९
कालभेद	१५. ३.	क्रियानिवृत्ति	११३. १९.
कालादि	१२३. १०.	क्रियाभेद	२५. ८, १०.
कालादिधर्मिकल्पना	१०४. ५.	क्रियाविष्टद्रव्य	२५. ७
कालादिभेद	१६. २३; १७. २	क्रियाश्रय १५. ८, ११; २४. २७; १११. १५,	
कालादिलक्षण	१६. १२	१७; १२६. १६.	
कालादिव्यवहितात्मपर्यायसमुपग्रह	१०७. २.	क्रियास्थिति	७६. १७.
कालाद्यनपेक्षिन्	११२. ३.	क्रोधादि	२३. १०
कालान्तर	५. ८	क्रोधादिकर्मोपादानयोग्यता	११९. २३.
कालापकर्षपर्यन्तविवर्त्तितिशया	७३. ७.	क्व किं वर्त्तते	१३. १७
काष्ठजन्मन्	१०. १३	क्षणक्षय ७१. १५; ७६. २८; ८०. ३१.	
कुड्यादिक	१०. १६	क्षणक्षयकान्त	१०५. २.
कुड्यादितिरोहित	१९. १६	क्षणपरिणाम	९८. १७.
कुण्डलादि	४५. १९; ११२. ११.	क्षणभग ३. ७; १२. ९; ४६. १; ७१. २९.	
कुतर्क	१०१. ३.	क्षणभंगभंगप्रसंग	१२. ९.
कुलालादिघटादिवत्	१८. १८.	क्षणभगमिद्धि	६. ७
कुशल	२२. २	क्षणभगिन्	७१. २३.
कूटस्थ	१२२. १०.	क्षणस्यान	११५. २७.

क्षणिक	१२. ६, १५; ७६. १४; १०८. ५; ११३. १२.	गुणसम्बन्धविवेक	१२०. ६.
क्षणिकज्ञान	३. १७; ४८. ७.	गुणादिविनाश	२६. १०.
क्षणिकत्वविज्ञप्तिमात्रतासन्तानान्तरविवेक	१०३. १४.	गुणानां परमरूप	१४. ९.
क्षणिकपरिमण्डलादि	६. १४.	गुणानां वृत्त चल	१३. २५.
क्षणिकस्वलक्षण	१२. २५.	गुणान्तर	१०४. १०; १२१. ११.
क्षणिकाक्षज्ञानज्ञेय	१५. २०	गुणी	१२. २९; ६१. १२; १२४. २३.
क्षणिकात्मन्	७२. ९.	गुणीभूत	२३. २३.
क्षणिकादि	८६. ११.	गुणोत्कर्ष	१०९. १८.
क्षणिकैकान्त	१२. ३.	गुरुपदेशपरम्परायथावदधिगत	२६. २१.
क्षय	८८. २१, १२२. ६.	गृहीतग्रहण	३. ८; ५८. १८; ७५. ५; ९२. २१.
क्षयदर्शन	११२. ३१; १२०. २३.	गृहीताभिमुख्य	२६. ३.
क्षयोपशमविशेषापेक्षा	१२७. १४.	गृहप्रदीप	६२. २६.
क्षीणावरण	११६. २५.	गोचरनिर्भास	४३. १३.
क्षीराद्य	४४. २१.	गोत्वादि	१३. २३.
खपुष्पवत्	२. ११; ११४. १.	गोपुराट्टालिकादि	४३. ११; ६२. २३.
खरविपाणवत्	२४. ४	गौरवाधिक्यतत्कार्यभेद	४४. ९.
खलस्नेह	१२१. १८.	गौरव गवय इति	७. १०.
गण्डपदभय	१०८. १५.	ग्रहण	२. २१; ५. २४; २०. १८.
गतिस्थितिकरणविधात	११८. २.	ग्रहादिगति	८५. १५; १२४. १८.
गन्धादि	६१. ६.	ग्रामधानकमेतन्नामक	७. १९.
गरिष्ठ	१०८. १७; ११४. १२; १२१. २५.	ग्राह्यग्राहक	३३. २९; ४०. १३; ११०. १४.
गरीयसी	४२. २८.	ग्राह्यग्राहकभावसिद्धि	२०. १९.
गर्भ	६४. ३.	ग्राह्यग्राहकविप्लवनिवृत्ति	१०९. २८.
गर्भाण्डमूर्छितादिवत्	१२७. ९.	ग्राह्यभेद	३४. २०.
गवयदर्शिन्	७. १०, ११	घट	२५. ३; ४४. २१.
गवयोऽयमिति	७. १०	घटादि	१८. १३; ६३. ५.
गवादिवत्	१०४. ६.	चक्रक	४८. १४; १२६. २.
गवादिविकल्पोपजनन	१२४. १.	चक्षुरादि	६४. १३; ७८. १७; १०७. ६; १०८. ९.
गुण	१२. २९; ४५. ५; ४९. २२; ६०. २५; ६१. ६; १२; ९८. २०; १०३. १०.	चक्षुरादिज्ञान	९७. १८; १०२. १२; १०९. २१.
गुणकर्मसामान्यविशेष	२३. ९	चक्षुरादिधी	३०. १५.
गुणगुणिन्	१३. १४; २३. २५, २६; १२४. २२.	चक्षुरादिवत्	९३. १५.
गुणगुणिविनाश	२६. १०.	चक्षुर्ज्ञानप्रतिषेधक	१९. १७.
गुणगुण्यादि	१३. २५	चक्षुः	३५. ५; ११८. १६.
गुणदोष	८२. ८; ८३. २९; ९१. २३; १०१. ७, ९; १११. १; १२७. १६.	चतुर्धा (निक्षेप)	२५. २९
गुणदोषवतो	८८. २५.	चतुर्विध (मतिज्ञान)	२. २८
गुणद्वेपिन्	२९. १०.	चतुर्विध (सत्य)	८८. १८.
गुणपक्ष	६३. ७.	चतु सत्यभावनादि	५१. २७.
गुणपर्यय	४५. ४, १२१. १८.	चतुरस्रधी	७४. ७.
गुणपर्ययवद्द्रव्य	१४. २०; २४. १०; ४४. २९; ११४. ३०; ११८. २०.	चत्वार (अर्थनय)	२४. २३.
गुणप्रधानभाव	२३. २०, २६.	चन्द्र	५. २०, २१.
गुणप्रवृत्त	१४. ७	चन्द्रदेशकालगतिनियमवत्	१२४. ८.
गुणभाव	६२. ८.	चन्द्रादि	८. १०; ९८. १५; ११५. ३.
गुणयोगनिवृत्ति	८३. २१.	चन्द्रादिवस्तुनिर्भास	८. १४
गुणयोगवियोग	१२२. १३.	चन्द्रार्वाक्परभाग	७५. २९.
गुणवत्	४५. ५	चरणादिवत्	५०. ८.
गुणसम्बन्ध	६१. ६.	चरितार्थ	४२. २२.
		चल	१४. ७; ६७. १; १०२. २५; १०८. २३, २७, ३०; १०९. १, २.
		चाक्षुपत्व	६८. २५; १०९. २३.
		चाक्षुपत्वादि	७८. ३०; १०४. ६; १०९. २१.

चाण्डालगोपालवालोलविलोचन	३६. २९.	जाड्यहेतु	११५. २३.
चारित्र	११९. १०.	जातमात्र	६३. ३१.
चित्कारण	६०. १५.	जाति	७९. २७; ११३. २३.
चित्त	४. १५	जाति	५३. ८.
चित्तमात्र	३८. २७.	जातितद्वत्	१३. १५; २३. २५.
चित्र ४२. ५, ६; ६८. ६; १०३. २८, २९.		जातितद्वदपोहादिवाद	९०. २६.
चित्रतम	४२. ६; १०३. २९.	जातिद्रव्यगुणक्रियालक्षणनिमित्तानपेक्षसज्ञाकर्म	२६. १.
चित्रतर	४२. ६; १०३. २८.	जातिभेद	१२१. १६.
चित्रनिर्भासिन्	४. १६	जातिमूकलोहितपीतवत्	३७. ९.
चित्रसवित्	१४. २८.	जातिलक्षणसवृत्ति	१०७. ८.
चित्राकारमेकं	२४. १८	जातिस्मर	६३. २४; १०७. १२.
चित्राभिसन्धि	१०. ७	जातिस्मरसवाद	१०४. १०.
चिन्ता ४. २३; ५. २; ९. ७; १७. ७		जात्यन्तर ५५. १६; १०८. ५, ७; १२२. २४; १२३. ६;	१२६. १.
चिन्तामयबुद्धि	१२७. २०.	जात्यन्तराधिगम	१०३. ५.
चेतन ७३. १४; ८४. २१; १०६. २८; ११६. १;		जिगीपतो.	८१. ३; १११. १६
११९. ५, १७.		जिन	२६. १७.
चेतनाणुसमूह	१४. २९	जिनपतिविहिताशेषतत्त्वप्रकाश	९३. २५.
चेतनादिविकल्प	१२३. १२.	जिनशासन	९७. २.
चेतनानिवृत्ति	१२०. ९.	जिनेश्वरपदप्राप्तिलक्षणस्वार्थसपत्ति	२६. २४.
चेतनेतरविकल्प	११५. ९.	जीव ११. ६; १४. २०; २१. १६, १७, २०, २१, २४;	२३. ७, २२; २४. १०; ५९. २९; ७३. १४; ८४. २१.
चेतनेतरसमवायिविवेक	१२०. १२.	जीवच्छरीर	१०४. ७.
चेतनोपतापहेतु	११९. २६.	जीवच्छरीरधर्म	६२. १.
चेष्टासम्बन्ध	३०. २३,	जीवपदार्थविषयविशेषप्ररूपक	२६. ६.
चेतस् ५१. १; ८१. १३; ८३ ८; ८९. २२; १२७. २३.		जीवमात्र	२१. २३.
चेतन्य १३. २६; १४. ८; ६२. २, ३; १००. ८;		जीवराशि	१२०. २३.
१०१. १०; १२१. २७; १२७ ५.		जीवशब्द	२१. २२
चेतन्यपरिणामिन्	१०९. २.	जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थान	२६ ६, ८
चेतन्यपरितापवत्	१२१. ९.	जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित्	२५. २४.
चेतन्यप्रतिबन्धिन्	८४. २६.	जीवस्वतत्त्वनिरूपणा	२३. २३.
चेतन्यस्वभाव १४. २०; २४. १०; ९९. ५.		जीवस्वरूपनिरूपण	१३. १३.
चेतन्योपयोग	१०४. ७.	जीवाजीवप्रभेद	११. ५
चोद्य	६८. १२.	जीवाजीवादि	११. ८.
चचल	८३. २५.	जीवादिद्रव्य	२५. २३, ९९. २४.
छायादि	५ १७	जीवाद्यर्थव्यपाश्रय	२४. २३
जगत्	८५. १६.	जैनेश्वरशासन	९४. ९.
जञ्जपूक	११४. १५.	जै मि नि	२. ११.
जड २६. १०; ३६ ११.		ज्ञ १४. १३; २१. २०; ५२. ७; ९१. २९; १०६. २४.	
जडधी	५२. १७.	ज्ञत्वप्रसंग	१४. १३.
जडवृत्ति	९०. २४.	ज्ञत्वविरोध	९९. २.
जन ३७ ३; ६७ २१.		ज्ञाता २३. २२; ५२. ८, १६; ११६. १.	
जनकजन्य ६५. ११; १०४. २२.		ज्ञातुरभिप्राय १०. २६; १८. ९; १२७. २.	
जन्ममरणादि १२०. ३१.		ज्ञातुरभिप्रायात्मकनयवत् २५. ११.	
जन्मान्तर ६३. २९.		ज्ञान ८. ११; १८. ८, १०; २०. २३, २६; ३१. १३; ३२.	
जय ११३. २२.		१३, ४८. १०; ६२. ५; ८४. १८; ९८. ८, ११;	
जयपराजयासम्भव ११४. १६.		१०७. १२; १२५. ३; १२७. २, ४, ५, ६.	
जयाभाव ११३. २१.		ज्ञानज्ञान	३२. १३.
जलचन्द्र ५. २०, २१		ज्ञानज्ञानलता ३२. १४.	
जल्प ११३. २२			
जत्पाक ११४. १९.			
जल्पानारम्भ ११४. १७.			

ज्ञानज्ञेयसम्बन्धवत्	१२४. १३	तत्त्वज्ञानाद्यनुत्पादहेतु	८२. २४.
ज्ञानदर्शनवीर्यसुख	२१. १७	तत्त्वदर्शान्	३८. १४.
ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षण	११९. ३०.	तत्त्वनिर्णय	२. २.
ज्ञानपरमाणुसचय	११. २८.	तत्त्वनिर्णयादानहानधी	९३. १७.
ज्ञानपरिणामव्यतिरेकिन्	९९. २.	तत्त्वपरिच्छेद	१०७. ४.
ज्ञानप्रामाण्य	२०. १३	तत्त्वपरिच्छेदव्यामोहविच्छेद	११६. १३.
ज्ञानविरोधित्व	१९. १९	तत्त्वप्रतिपत्तिव्यापारव्याहारप्रतीति	१०३. १५.
ज्ञानशब्दव्यवहारसाधन	१०५. २.	तत्त्वमिथ्याप्रतिपत्ति	११७. २८.
ज्ञानसमवाय	१४. १२, १४.	तत्त्वविनिश्चय	८२. २८.
ज्ञानस्वभावपरिणामिन्	१०४. १९.	तत्त्वव्यतिक्रम	१०९. २२.
ज्ञानहेतुत्व	३२. १५.	तत्त्वव्यवस्थान	५०. १९.
ज्ञानाकार	४९. १०; ५८. १६.	तत्त्वार्थदर्शनज्ञानचारित्र	८९. १९.
ज्ञानात्मकत्व	३. १.	तत्त्वार्थनिर्णय	९८. ९, १२.
ज्ञानादि	२३. ११	तत्त्वाधिगम	१२७. १८.
ज्ञानाभिधानानुप्रवृत्ति	११७. १०.	तत्त्वानुसारिन्	४७. ३०.
ज्ञानावरणसक्षय	७८. १०.	तत्त्वान्यत्वविवेक	१०५. २३.
ज्ञानावरणादिस्वरूप	२६. ११.	तत्त्वाहेतुफलात्मन्	१. ७.
ज्ञानावृत्तिविवेक	८४. १४.	तत्प्रकर्षापकर्ष	८९. १०.
ज्ञानाश	४६. १.	तत्प्रकर्षापकर्षनिर्हारातिशय-	
ज्ञानेच्छाकरणशक्ति	११०. १७.	जातीयाभ्यासविवर्त्ति	११९. ३३.
ज्ञानोदयसम्भव	२६. १२	तत्प्रकर्षापकर्षविरोध	१०१. १०.
ज्ञेय	१०. २३; ९१. १९.	तत्प्रतिपादकस्वाभाव्य	२५. ६
ज्योति.	७८. १२	तत्प्रतिरूपकत्व	१३. ८.
ज्योतिर्ज्ञानादि	९२. ५.	तत्प्रतीत्यसमुत्पाद	६५. २६.
तर्क	१००. ५, ७	तत्प्रत्यक्षरोक्षाक्षक्षम	४०. १.
तर्क ५. २; १७. ८; ६९. २८; ७४. २६, १००.	३०; १०१. १४.	तत्प्रत्ययसाकर्ष	१३. २३
तर्कपरिनिष्ठित	७४. २२	तत्प्रवृत्तिनिवृत्ति	५८. २८.
तर्क्य	१११. २४.	तत्सत्ताव्यवहार	५४. ५.
तर्क्य	८४. १	तत्समानासमान	५८. २८
तर्कागम	८१. १९.	तत्समम्बन्धस्मृति	६४. १२.
तच्छायाप्रतिपत्ति	११७. ३०.	तत्समारोपविधिप्रतिषेध	१०७. ५.
तज्जन्म	२०. ६.	तत्साध्यसाधनसंस्थिति	७९. २१.
तज्जन्मसारूप्याध्यवसाय	९७. १३	तत्सारतरभूत	६२. १०.
तज्जातीय	५६. २६.	तत्संस्कारान्वयेक्षत्व	६४. ५.
तज्ज्ञानपूर्वक	८४. १.	तत्संस्कारान्वयक्षत्व	७. १
तज्ज्ञानव्यवहार	६९. १६	तत्स्वभावविवेक	६८. २०.
तत्करणस्वभावभेद	१२. २७	तत्स्वरूपानवाप्ति	२४. २.
तत्करणैकस्वभाव	१२. २६, २८, ११०. २३.	तत्स्वलक्षणभेद	९. २.
तत्कारणता	१८. १३; १९. ११.	तथाकार	४८. १०
तत्कार्यव्यतिरेक	५४. २.	तथाधिगमाभाव	२६. ११.
तत्कार्यैकैकपर्यन्तभाव	७८. ५.	तथानभिनिवेश	५४. १०.
तत्कृतार्थैकदेश	१७. ८.	तथाऽपरिणत	१४. १३.
तत्तद्द्रव्यान्तरकारकधर्म	१२३. २९	तथापरिणाम	६३. ७; १०३. ४, ६; १०४. २९;
तत्त्व ४. १५; १५. २; २४. १८; ३७. १५, १९, २०,			११२. २४; ११४. २८.
३८. १८; ४०. १०; ४८. ११; ५२. १५; ६५.		तथाप्रतिभासविक्रियाविरोध	११४. ३०.
११, ७४. १३, ८५. २३; ८६. १७; ९३. ७.		तथाभावसकरव्यतिकरव्यतिरेक	२३. ५; ९८. १९.
तत्त्वज्ञान २. १; ८२. २७; ११९. १०; १२६.		तथाभावाभावनियमनिश्चय	१००. ८.
२२; १२७. १२.		तथैवास्मरण	८. २०.
तत्त्वज्ञानप्रभाव	८८. २३.	तथोपयोगलक्षण	२६. ३.
		तदकारण	१८. ११, १२.

तदतत्कारणासम्भवं	११०.१२.	तदभोक्ता	२६. ११.
तदतत्कार्यविच्छेद	१०७.४.	तदभ्युपगमोपायाभाव	२४. ३.
तदकिञ्चित्करत्वं	५७.१६.	तदवयवविकल्पननिवृत्ति	१००. २८
तदतत्परिणामित्व	२३. ३; ११४. २६.	तदवयवान्तरदर्शनादर्शनविरोध	१०२. १५.
तदतत्प्रवृत्तिसंकर	१२३. १४.	तदव्यतिरेककान्त	१६. १६
तदतदुभयधर्म	१०२. ६.	तदसाध्यमसाधनम्	८२. १६.
तदतदुभयानुभयविकल्प	१२६. २.	तदहेतुत्वप्रसंग	४०. २३
तदतद्भ्रान्तिविच्छेद	१०८. १५.	तदाकार	३८. ९.
तदतद्रूपज्ञान	१२५. ८.	तदाकारविकारादि	६. ४.
तदतद्वस्तुभेद	९०. ६.	तदाकृति (नैगमाभास)	२३. २१.
तदतद्वागवृत्ति	९०. ८.	तदागम	८५. ३.
तदतद्विशेषाध्यवसायानियमप्रत्यय	१००. ३.	तदात्मोत्कर्षण	९१. ९.
तदतद्व्यवस्था	११२. २४.	तदाभास	९. ८, १०; १००. १.
तदत्यन्तभेदाभिसन्धि	२३. २४	तदाभास (सग्रहाभास)	१३. ५; २४. ३
तदर्थक्रियानुपपत्ति	१६. १५	तदाभास (ऋजुसूत्राभास)	२४. १६.
तदर्थज्ञानाभ्यासप्रकर्षप्रभवपरिस्फुटप्रत्यय	११६. १२,	तदाभास (वादाभास)	८१. ८.
तदर्थप्रतिबन्धासिद्धि	१०. ९	तदाभास (दृष्टान्ताभास)	८०. २८.
तदर्थदर्शनसमयसंवाद	९८. ३०.	तदाभासविरोध	१०५. ३
तदर्थदर्शनाभाव	५८. १३.	तदाहारादिसामान्यस्मृतितद्विप्रमोष	६४. १८.
तदर्थदर्शिन	८६. १.	तदुत्पत्ति	२०. १९, २७
तदर्थदृक्	३३. ९.	तदुत्पत्तिसारूप्य	१५. २२
तदर्थवेदन	३३. १२	तदुत्पत्तिसारूप्यादिलक्षणव्यभिचार	१६. ५
तदर्थसंवादस्मरणव्यतिरेक	१०९. ११.	तदुदीरितार्थगहन	८१. १५.
तदर्थान्तरमानसप्रत्यक्ष	९८. ६.	तदुपयोगविशेष	३. २.
तदर्थानाश्वास	१०. १०.	तदुपादान	४७. १२.
तदर्थोपलभसम्प्रदायापेक्ष	९८. २८.	तदुभयात्मार्थज्ञान	१७. ३.
तदर्थान्तरताभिसन्धि	१३. १४.	तदुभयात्यय	१६. १९
तदर्थान्तरतासिद्धि	१३. ३७.	तदेकार्थविषय	१५. २६.
तदर्थान्तरजन्मन्	१०. १३	तद्गुणदोषानुविधायिनी	१०१. ११.
तदर्थभिधानप्रत्यय	१२४. ५.	तद्वर्तमानात्वप्रतिपादन	५८. ३०.
तदर्थशापरीक्षाप्रवण	२५. २७	तद्वाधासम्भवं	२६. ११.
तदधिगमयोग्यस्वभाव	१०३. २३.	तद्भाव	४६. ५; ११०. १२, १२५. २८.
तदनक्षवत्	७५. ३.	तद्भावाव्यवसायता	११२. ५.
तदनात्मक	१५. २१	तद्भावे भाव	२०. ९, २६.
तदनिर्देश्य	६७. ५.	तद्रूपानुकृति	१५. २४
तदनिराकृति	२५. १५	तद्विधिकरणादिपरापेक्ष	१२७. ७.
तदनुक्रिया	६४. ३०	तद्विकारानुकारिणी	५२. २.
तदनेकार्थसंश्लेषविश्लेषपरिणाम	६७. २०.	तद्विकृति	६३. १६.
तदनेकान्तात्मकतत्त्व	६०. ३०.	तद्विरुद्धोपलब्धि	१०५. १६.
तदनशततत्त्व	६. ६	तद्विशेषादर्शनोऽनवधारण	९. ३
तदन्यतरापाय	१५. ५; २४. २१.	तद्विशेषानवधारण	४४. १२.
तदन्यविधिप्रतिषेधविषय	१०७. १०.	तद्विशेषानाक्षेप	१०४. १५.
तदपेक्ष	१४. २१; १७. ३	तद्विषयाकृति	६८. १२.
तदपोद्धारकल्पन	५४. २४.	तद्विषयाधिगमविकलविकल्प	१२२. २७.
तदप्रतिबन्ध	१५. १३; २५. १	तद्वृत्ति	४१. २८.
तदभावतत्त्वज्ञ	२. १०, ११.	तद्वृत्तिनान्तरीयक	१०४. २८.
तदभावविभाजन	४०. २४.	तद्वैधर्म्य	७. ७
तदभावेऽभाव	२०. ९, २६.	तद्व्यपदेशभाक्	५६. १७.
तदभिधानयोग्यतालक्षण	१२४. २८.	तद्व्यवसिति	२०. ६.
तदभिधानलिगाद्यसम्भोपालम्भ	१६. २३.	तद्व्याप्त्यव्यतिरेक	५५. १.

दृष्ट ४९. २२; १०८. ९, १७; ११४. १२; १२१. २५.	
दृष्टविपर्यस्त	४८. ४.
दृष्टसजातीयसम्बन्धाध्यवसायनान्तरीयक	९९. १७.
दृष्टसजातीयाभिलाषस्मृति	९८. १३
दृष्टसमानार्थ	११७. २४.
दृष्टसामान्याभिनिबोध	१०१. १५.
दृष्टहानि	६२. ७.
दृष्टा	२३. २२.
दृष्टार्थस्वप्नवत्	१५. २५.
दृष्टान्त	८०. २८.
दृष्टान्त	४३. ६; ८०. ३०; १०६. १०.
दृष्टापरस्वभावाविधान	११२. ३१.
दृष्टि	१७. ७, ५७. २१.
दृष्टिपथ	१४. ९.
दृष्टिपथप्राप्त	१४. १०.
दृष्टेष्टवाधित	१२२. १३.
दृष्टिमान्धादिदोष	५९. १७.
दृष्टेऽनुपपन्न	९. २४
दृष्टेष्टयुक्तिविरोद्धार्थप्रवचनसमयान्तर	११६. २८.
देवता	११५. २९.
देवदत्तो देवदत्ता	१५. २०, २४. २६.
दे व न न्दि न्	११४. २१.
देवनाप्रिय.	१२० १४.
देशकाल	५०. ६.
देशकालस्वभावनियम	१२. १७,
देशकालस्वभावानियम	१००. १९; १०८. २; ११५. ३.
देशकालादिभेदानुविधायिन्	१२४. १.
देशकालान्तरव्याप्तस्वभाव	७१. २३.
देशादिभेदवत्	५५. २६.
देशान्तर	५. ८.
देशान्तरप्राप्ति	११९. २०.
देह	६२. ४, १०७. ११.
देहानुत्पत्तिप्रसंग	६२. १५.
देहान्तरपरिग्रह	६४. २४.
दोषजाति	१०१. १२
दोषत्रय	५३. १२.
दोषप्रभाव	११९. २७.
दोषवती	७७ २९.
दोषसम्बन्ध	११९. २८.
दोषसक्षय	८९. ५.
दोषसश्लेषविश्लेषहेतु	१२०. ३.
दोषावरणकारण	१०१ १०.
दोषावरणक्षयोपशमातिशयवश	९८. २९, ११७ २६.
दोषावरणपरिक्षय	१०१ २.
दोषावरणपरिक्षयाभाव	११६. ११.
दोषावरणक्षयोपशमोदयवृत्ति	१२७ ८.
द्रवति द्रोप्यति अद्रुद्रवत्	११. १; ४५. ६.
द्रव्य ११. १, १३. १; २२ २५, २३. २; ४४. २९;	
	४५. ५; ११४. ३०
द्रव्य (निक्षेप)	२६. ३.

द्रव्य	१०९. २२, ११८. २९.
द्रव्यगुणकर्म	१३. २१; १२३. ३.
द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषनियम	१२१. १२.
द्रव्यगुणसमवाय	११७ ११.
द्रव्यपर्याय	२२. २७; १२५. २८; १२६ ७
द्रव्यपर्यायिनयद्वयप्रविभाग	१२५. १.
द्रव्यपर्यायपरमाणु	१०९. ४.
द्रव्यपर्यायाधिक	२३. २, १६.
द्रव्यपर्यायमूल	२२. २५.
द्रव्यपर्यायिसामान्यविधानप्रतिषेध	१२२. १६.
द्रव्यपर्यायिसामान्यविशेषप्रविकल्प	१२६. १७.
द्रव्यपर्यायिसामान्यविशेषप्रविभाग	९०. २.
द्रव्यपर्यायिसामान्यविशेषविषय	११८. ३.
द्रव्यपर्यायिसामान्यविशेषात्मार्थनिष्ठित	१६. १३
द्रव्यपर्यायिसामान्यविशेषार्थात्मवेदन	२९. १५.
द्रव्यपर्यायात्मक	४ १७; १०. २५.
द्रव्यपर्यायात्मन्	२. २१; ३. २३, ४. १.
द्रव्यभावेन्द्रिय	२. २२
द्रव्यव्यवस्थापन	४. २०.
द्रव्यसामान्यसहारविषय	९९. २३.
द्रव्याधिक	१०. २६; ११. १
द्रव्यादिकार्य	५२. ६.
द्रव्येन्द्रिय	२. २२
द्रव्य शक्तिस्तदुभय वा	१६. १५.
द्रुम	४३. २३.
द्वयग्रह	४५. ४.
द्वयनिर्भास	३६. २०; ३९. २४.
द्वयात्मक	४०. ११.
द्विचन्द्रादिवत्	१२४. २२.
द्वित्वादिसख्यज्ञान	७. २६
द्विधैव (प्रमाण)	२४. ४.
द्वीपदेशनदीपर्वतादिक	९. १४.
द्वीपान्तरादि	९. १२.
द्वे एव प्रमाणे	८. २; ९७. ७.
धर्म	२१. १६, १७; २३. २०; ७६. ४.
धर्मतीर्थकर	१. ३.
धर्मनैरात्म्य	११४. ९.
धर्मादि	११९ १९.
धर्मान्तर	७६. ४.
धर्मान्तराविवक्षा	२१-२१.
धर्मिधर्म	२३. २६; १०६. ६.
धर्मिधर्मसन्देह	७७. ४.
धारणा	२. २८; ३. १; ५. १.
धिगनात्मज्ञ	८२. १६.
धी	३१. २२; ३२. २, ६२-२९.
धूमदर्शिन	११०. ८.
ध्यान	६९. १२.
ध्रुवत्वापरिणामिन्	१२२. २७.
ध्रुव्य	६६. १४.
ध्वनि	८८. ९

ध्वनिभाग	८८. १.
ध्वनिविशेषाहितसंस्कारश्रुतिपरिणामी	११८. १९.
नपुंसक	१६. १९
नय १० २४, २६; १७. ३; १८. ९; २१. १५; २०. २५; २२ २४, २८; २४. १९; २५. २६; १२७. ३.	
नय १४. १७, २२; १५. ३; २५ १३, १५; ३४. ३, ३८. २७, ९३. २२; १२४. २८; १२७. १७.	
न य च क्र	९३. २२; १२५. २७.
नयद्वयविभाग	१२६. १७.
नयप्रवेश	१७. २६
नयलक्षण	१२६. २०.
नयानुगतनिक्षेप	२५. २०
नश्वरस्थानु	१११. २०.
नष्ट	६७. १; १०२. २५.
नानाकारणसामर्थ्य	६८. १०.
नानाकारैकविज्ञान	६७. २३.
नानात्मविभ्रम	६१. १२.
नानात्व	१५. ३; २४. २५; ६१ १६.
नानार्थवाक्य	१२४. ९.
नानार्थसाध्य	९४. १.
नानार्थैकज्ञान	११२. १०.
नानादिगदेशभावि	१२. २५.
नानाभ	५४. १३.
नानासामग्रीसन्निपात	१७ १
नानैकपरिणाम	६७. १२.
नानैकवचन	५९. १२.
नानैकव्यवस्था	११२. १०.
नानैकसन्तानात्मन्	२३ ५; ९८ १८.
नानैकस्वभावनियम	११२. २६.
नानैकान्तग्रहग्रस्त	४७. १८.
नाम (निक्षेप)	२६. ९.
नामरूपादिहेतुत्व	७५. २५; १०७. १६.
नामस्थापनाद्रव्यभाव	२५. २४.
नाश	७२. २०; ११२. १६, १९; ११३. ५.
नाशसमकालकार्यकल्पना	१०५ ५.
नाशादिशब्द	६४. १३.
निक्षिप्तपदार्थ	२६. ५.
निक्षेप	२६. ४.
निग्रह	८१. ५.
निग्रहस्थान	८०. २१; ११४. १७.
निर्जरा	८८. २१; ११२. ६.
निर्जीर्णकर्मन्	२६. ९; ८८. २४.
निर्णय २०. २४; ७३. ११; १०६. २; १०८. १२, १३; ११५. २४, १२०. २४; १२५. १२.	
निर्णयात्मकज्ञान	२१. १; ९८. २३.
निर्णयायत्त	२०. २६
निर्णीति	१२५. १८.
नित्य १४. ८; ५०. ३; १२. ७; ६४. ३०, ८३. १७; ८५. ३०; ८७. ३; ८९. २८; १००. १५, १७; १०५. २८; १०७ २२, २४; १०८. १; १०९. १७; ११०. १२;	

नित्यक्षणीकपक्ष	१११. १७; १२४. ७.
नित्यत्ववत्	४. ३.
नित्यस्वभावान्तरप्रतिबन्धी	१. ९; ७६. १८, ८६. २५.
नित्यानित्य	११८. २९.
निदर्शनाद्यभाव	१०६. ८.
निर्देशादि	१२७. १३.
निपात	२५. २२; २६. ५
निमित्त	११४. १४.
निमित्तनैमित्तिकभाव	१६. २६; १००. १५, १७
निमित्तान्तरकल्पना	१२३. २३.
निमित्तान्तर	१००. २४.
निमित्तान्तरानपेक्ष	१०६ २८.
नियतवृत्ति	२५. २९.
नियतोद्भवेतरविवर्त	५६. १९.
नियम	९८. २०.
नियमहेतु	४०. १७.
नियमाभाव	१०५. १५.
नियमायोग	७६. २५.
निरर्थक	६३. ११.
निरन्वय ४०. १७; ६५. ११; ७६ १८; १०७. २२; १११. २६.	
निरन्वयक्षणीकचित्त	८५. २६.
निरन्वयविनाश	१. ६.
निरपेक्ष	७०. ५; १०५ २६.
निरपेक्षत्व	१५. ३; २४. २०.
निरभिप्रायवृत्ति	२५. १४.
निरवयव	१२०. २२.
निरस्तबाधकधी	१००. २७.
निराकारेतर	१७. १२.
निराभास	३२. १०.
निरामय	९९. १०.
निरारेक	१२२. २४.
निरालम्ब	९. १५
निराश्रय	११०. २.
निराश्रवीभाव	८७. ६.
निरुपद्रवभूत	८३. १४; ८९. २५.
निरुपाख्य १०४. २४; ११०. १; ११३. २९; ११९. ९, १२१. ६, २५; १२४. २४.	
निरुपाधिकप्रवृत्ति	८३. १३.
निरोध	११८. १२.
निरोधि	८९. १३.
निरकुश	१६. १५
निरश ४९. १६; ५०. ३; ६८ १७, १००. १६; १०२. १०; १०४. ११; ११८. १८; १२१. २.	
निरशतत्त्वानुमिति	६९. २४, १०२. ८.
निरशपरमार्थ	१०२. १०; १०४. ११; ११८. १८; १२१. २.
निर्वाण	६. १९.
निर्विकल्प	१२०. १३.
निर्विकल्पकज्ञान	८३. २२.
	४७. ३०.
	३. १०.

निविपय	१५. २०.	पटीयसी	७७. २४.
निवृत्ति	८९. ६; ११२. २२.	पद	२२. १०; २६. १६; ९०. १४.
निवृत्तिप्रतिबन्धयोः	१०५. १०.	पदवाक्यान्तर	१२४. २१.
निर्व्यापार ७६. १८; १०७. २२; १०८. १; ११०.	१६; ११५. १८, १२३. १२.	पदविभाग	१२४. २.
निश्चय ६ २८, ३९. २०, ७२ १९; ७५. ३		पदसामान्यनाम	३०. १४.
निश्चयन	५६. १०.	पदार्थज्ञानभाग	३०. १४
निश्चयनय	२३. ७, ११.	पर्याय १४. २८; १५. ८; २३. ८; २५ ७;	१२४. २९; १२६. १२, १६.
निश्चयपर्याय	२३. १०.	पर्यायभेद	१५. १०, १६. २१, २४. २६.
निश्चयव्यवहार	२२. २७	पर्यायाधिक	१०. २६.
निश्चयसमारोपविधात	१०८. १५.	पर्यायानुक्रमस्थिति	११८. ७.
निश्चयात्मक	२३. २६.	परचित्तविद्	१०९. २६.
निश्चयात्मन्	६. २७.	परचित्ताधिपतिप्रत्यय	३९. ७.
निश्चयान्तरपरिकल्पना	७. १	परचित्ताभाव	६. ५
निश्चितसन्दिग्धव्यभिचारिन्	१०९ १२.	परतः ६. २७; ३६. २२; १०८. १३; ११० १५.	
निष्कल ९७. १४; १०२. २३; ११४. ३०,	११५. २६; १२४. ३१.	परतिरस्कार	११३. २२.
निष्कारण	१२. १७	परत्रासामर्थ्य	१०४. २५.
निष्क्रिय	१३ २३	परदर्शन	६९. १७.
निष्पन्न	११२. १.	परदुःख	८२. २२; १२०. १४.
निष्पर्याय	९४. ३; १००. २६.	परदुःखपरिज्ञान	७८. २२.
निष्प्रत्यनीकत्व	११४. २.	परनियमोपलब्धि	११४. १४.
निसर्ग ११९. १२, २९; १२०. ५.		परनिर्वाण	१२०. १२.
निर्हासातिशय	६२. २९; ८९. १०.	परनिःश्रेयस्	९३. १८.
निर्हासातिशयाभाव	६२. २९.	परपरिकल्पितद्रव्यखडन	४. १९.
निहेतुक	१००. २०.	परपरिकल्पितप्रमाणान्तर्भाविनिराकरण	२१. ११.
नीलादि	६८. १२.	परपरिकल्पितानुमानादिखडन	८. ३
नृ	८८. २४.	परप्रत्यायनोपाय	१११. २०.
नैगम १३. ११, १२; १४ ७; २३. २१.		परप्रसिद्धप्रमाण	११५. १७.
नैगम	२३. १८, २६; १२६. ८.	परभागपरिच्छेदाभाव	१९. १९.
नैगमादि	१२६. १७.	परमप्रकर्ष	२६. २३
नैगमादिप्रभेद	२२. २४	परमागम	२१. १९.
नैगमाभास १३. ११, १४, २३. २४		परमाणु ४१. २२; ४४. २४, ४८. १७; ७०. १६;	७१. २०; १०५. ३.
नैरन्तर्ये ६८. १७, १२३. १९.		परमाणुक्रमनिमेषलक्षणपर्यायसमास	११८. १४.
नैरन्तर्यादिविवेक १२३. १८		परमाणुमात्रप्रचय	१००. २३.
नैरन्तर्यानिबन्धिन् ४२ २.		परमार्थत	३. १६; ४७. १४.
नैरात्म्यसिद्धि १०८. २१.		परमार्थविषय	१५ २९
नैतिकञ्चन्य ९४. २		परमार्थवेदसकलध्यानास्पद	९४. ७.
नोयानादि ४९. १८.		परमार्थव्यावहारिकार्थ	२५. २८
न्यक्षेण १६ १२, २१. २३		परमार्थशब्दप्राप्त्युपायकृत्	२५. ७
न्याय २९. ११, ८१. ६; १०८. १९, २४.		परमार्थसत्	४. ५; ६ ६, १३.
न्यायकुमुदचन्द्र १०. १८		परमार्थावतार	४१. १५.
न्यायकुमुदचन्द्रोदय ३. २०, ४. १९; ८ ३		परमार्थासवेदिन्	४. ११.
न्यायमार्ग ९३. २६.		परमार्थैकतानत्व	१०६. २०.
न्यास १८. ८; २५. २९; १२७ २.		परमार्थैकतानत्वपरिणामाविधातिन्	३०. २६.
न्यूनाधिकतया ३५. २०.		परमार्थैकत्व	४. १०.
पक्षधर्म १०९. १३.		परमार्थैकसवित्ति	- ३. ७
पक्षविपक्ष ११०. ३१.		परमैश्वर्य	२५. ९.
पट २५. ३		पररूप ११५. ८, १५.	
पटीयस् ५०. १४.		परलोकादिक ११५. १८.	

पुस्तपादिवत्	९९. २३; १००. ११.	प्रतिपक्षसक्षय	७८. १२.
पूर्वपक्ष	८०. २.	प्रतिपक्षस्थिरीभाव	८९. ८.
पूर्वपूर्वधी	६२. १६	प्रतिपक्षापेक्षी	११४. २६.
पूर्वपूर्वप्रमाणत्व	३. ६.	प्रतिपत्ति	९९. २०.
पूर्वप्रयोगनियम	११४. १४.	प्रतिपत्तु	९०. २४; ११८. १०.
पूर्ववद्दीतसयोग्यादिकथा	७६. ७.	प्रतिपन्नभिप्राय	१०२. ७; १२७. १८.
पूर्वापरकोटि ६१. २; ९९. ६, ११८. २८; १२३. २८.		प्रतिबन्धनिर्णय	१००. ९.
पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तनान्तरीयक	१०८. ३,	प्रतिबन्धनियम	१०५. १४.
	१२४. २३.	प्रतिबन्धवैकल्य	११६. १६.
पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिलक्षण	१०४. १३;	प्रतिबन्धसख्या	५. २५
	११०. १९; ११३. १.	प्रतिबन्ध	३३. २८.
पूर्वापरावधिपरिच्छिन्नसत्तासम्बन्ध	११२. १७.	प्रतिबन्धोदय	३३. ४; १२५. २५.
पूर्वापराविरोध	१४. २१	प्रतिभादि	११७. २७.
पूर्वापराविरोधलक्षणसवाद	२४. ११.	प्रतिभास	५७. १४, २१.
पूर्वाभ्यस्तस्मरणाविनाभाविन्	१०४. १०.	प्रतिभासभिद्	४८. ८
पूर्वोत्तराविशेष	११२. १९.	प्रतिभासभिदा	१५. १९; ३२. १०; ५४. १७; ५७. २३.
पृथक्त्व	२३. ८.	प्रतिभासभेद	३. १४, १७; ११. २६; १५. ४; २४. २०;
पृथक्सिद्ध	४९. ९.		९७. ८; १०३. १२; १०४. ३०; १०६. २०; ११०.
पृथगुपलभसहभाव	११४. ३०.		१८; ११८. ५; १२२. २१.
पृथग्भाव	६७. २६.	प्रतिभासादिभेदाभेद	१०३. ३.
पृथिव्यादिभूतविलक्षण	२३. २२	प्रतिसन्धि	५१. ३.
पृथिव्यादिभेद	२३. १२.	प्रतिसविदितोत्पत्तिव्यय	९. १.
पौरुषेय	८४. ५; ८५. १०;	प्रतिसहारेखा	३६. २५.
पचगुरु	२६. १४	प्रतिसहारव्युत्थितचित्त	८. २०.
प्रकरणसम	११४. १२.	प्रतिसहारैकान्त	९. ४.
प्रकरणानुपयोगविशेष	११६. ३६.	प्रतीतिप्रतिपक्ष	४२. २९.
प्रकाश	७२. २४.	प्रतीतेरपलापका.	३७. १२.
प्रकाशनियम	३३. २८.	प्रत्यक्ष	१. १२; २९. १४; ९२. १७; ९७. ३, ५, १२७. ७.
प्रकाशनियमाभाव	१२३. ३०.	प्रत्यक्ष	२. ४; ३. ७, ५. ८; ११. १८; १५. २०, २३,
प्रकीर्ण	९२. १८.		२१. ४; २८. ९, ३२. २७; ४५. १७, ४७. ४; ४८.
प्रकृतमकृत	१०६. १५, १०७. ५		१७; ४९. २५; ५०. १४, १८, २३; ५२. १, २६; ६२.
प्रकृतसाधनगक्तिवैगुण्य	११३. २१.		५; ६७. १०; ७१. १३; ७२. २७; ७४. ११; ८५. १९;
प्रकृतार्थप्रत्यायनपर	१११. १६.		९३. १९, १०३. २२; १०४. ८; १०६. १,
प्रकृतार्थविधानप्रतिषेधविधुर	११४. १६.		१९, २०; १०७. १२; १०९. ९; ११५. २६.
प्रकृताभाव	६६. २०; १०२. ९.	प्रत्यक्षनिर्णय	१०१. १३.
प्रकृताशेषतत्त्वार्थप्रकाशपटुवादिन्	८०. १७; ११३. ६.	प्रत्यक्षप्रतिभासवैकल्य	१००. ४.
प्रकृतिविकारनान्तरीयक	११३. २.	प्रत्यक्षप्रतिसवेद्य	४५. १९.
प्रक्रमार्थाविशेष	१२५. १७.	प्रत्यक्षबुद्धि	९. ५.
प्रक्रियाव्यतिरेक	१११. ६.	प्रत्यक्षलक्षण	२९. १४; ३१. १६; ४०. २०; ५९. २८.
प्रज्ञा	३७. १, ७७. २४; ११९. २३.	प्रत्यक्षविरुद्ध	११४. ६.
प्रज्ञादिगुणसंस्थिति	६०. १९.	प्रत्यक्षवृत्ति	७५. २०.
प्रज्ञाप्रकर्षपर्यन्तभाव	७८. १.	प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञोहानुमानादि	९. ९.
प्रणेतृ	९१. १४; ९२. ५.	प्रत्यक्षागम	८३. २९; ९१. २३.
प्रतिक्षण	१४. ५; २१. २३.	प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा	७. १५.
प्रतिक्षेपैकान्तपरिग्रह,	१२५. १.	प्रत्यक्षादि	१२७. १२.
प्रतिधात	१०७. २.	प्रत्यक्षादिनिराकृत	४९. २५.
प्रतिज्ञान्तर	११३. २७.	प्रत्यक्षादिविरोध	१४. २५.
प्रतिज्ञाविशेष	१११. २३.	प्रत्यक्षानुपलम्भ	७४. १३, ७५. १७; १००. ५.
प्रतिज्ञाऽसाधन	११५. २४.	प्रत्यक्षानुपलभसाधन	६. २१; १२. ७.
प्रतिनियतवृत्ति	१२३. ३०; १२४. ९७.	प्रत्यक्षानुपलभासिद्धि	१२. १९.

प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्त	९३. ६.	प्रमाण	१७. ३; १८. ८, १०; २५. २६.
प्रत्यक्षान्वयिनी	९३. १५.	प्रमाण १	१३, १५; ३. ८, ११; ८. ९; १६. ८;
प्रत्यक्षाभ	८. ८, २०.		१७. १०; २१. १०; ३६. १३; ५८. ११;
प्रत्यक्षानाप्रसंग	५४. १०.		६९. ११; ७५. ३; ८३. २२; ९१. १०;
प्रत्यक्षी	५१. २८.		९२. १८; ९७. ४, ११; १०८. १५, २३; ९९. १५, २१;
प्रत्यक्षेतरगोचर	४६. १०; १०७. २.		१००. ३; १०१. २०, २२; १०३. २६; १०५. १२;
प्रत्यक्षानवबोध	३५. २५.		११५. ९, १८; ११६. ३; १२७. २, ४, ५
प्रत्यक्षनियत	१२४. १७.	प्रमाणतदाभास	१०. २६.
प्रत्यक्षीकृत्यवच्छेदप्रकार	८१. २.	प्रमाणता	२. ३.
प्रत्यभिज्ञा	५९. १६; ७३. १३, २३; ८७. ८; ९९. २०; १०१. १८.	प्रमाणनय	२२. ४.
प्रत्यभिज्ञादि	५५. ३; ९२. १८; ९७. ४, ३; १०७. ३.	प्रमाणनयनिक्षेप	१८. ६; १२६. २१.
प्रत्यभिज्ञान	४७. १२; ६५. २३; ११०. २४; ११८. २४; १२२. २२.	प्रमाणनयनिक्षेपानुयोग	२६. ७.
प्रत्यभिज्ञानाद्यतीतानुमिति	३५. २८.	प्रमाणनयप्रवेग	१७. १३.
प्रत्यय	५२. ३०.	प्रमाणप्रमेयभेद	१२५. १.
प्रत्ययभेदिन्	११५. १.	प्रमाणप्रमेयव्यवहारनिवृत्ति	१२५. ३०.
प्रत्ययनकर	१०२. २०.	प्रमाणप्रमेयस्वरूप	२२. २१.
प्रत्ययवर्ग	५. २; ९९. २१, २६; १०८. २५; १२१. १.	प्रमाणप्रमेयैकान्तभेदपरिहार	१२६. ६.
प्रत्यस्तमितानेपदोप	८२. १३.	प्रमाणप्रवेग	३. २०.
प्रत्यस्तमितानेपदव्यप्यायभेद	१२६. १०.	प्रमाणफल	३. १०; ९३. १३.
प्रत्याख्यान	५४. ५.	प्रमाणकलव्यवस्था	३. ७.
प्रत्यासत्ति	३. १७.	प्रमाणसाधनोपाय	७४. १८.
प्रत्यासत्तिनिवन्धन	६८. ११.	प्रमाणमानग्रीविशेष	१२५. ३.
प्रत्यासत्तिविप्रकर्षतारतम्य	१२७. १५.	प्रमाणमत्या	५. २५.
प्रत्यासत्तिविप्रकर्षविकल्पप्रत्यस्तमय	१२०. २८.	प्रमाणान्तर	३. ९; ५. ७; १५. २७; ३३. २०;
प्रत्यासत्ताग्रहणप्रसंग	११८. १६.		९३. २; ९९. १०; १०२. १८; ११८. ३;
प्रत्यासत्तेतरार्थप्रत्यक्ष	८. २१.		१२१. ३१; १२५. ३.
प्रदीप	१८. १३; १२०. २३; १२३. २०.	प्रमाणान्तरगोचर	७२. २७; ७४. १८.
प्रदेशवन्	१०२. १९.	प्रमाणान्तरप्रवर्तन	९८. ३०.
प्रदेशादिव्यवाय	३५. २१.	प्रमाणान्तरकृति	८. १२; १०८. ९.
प्रधान	१४. २८; ५९. २०.	प्रमाणान्तरसम्प्लवानभव	११६. ८.
प्रधानपुरुष	१०३. २; १०८. ३१.	प्रमाणान्तरानुभवनिर्णय	९८. २३.
प्रधानपुरुषकालपरमाणुस्वभावप्रवाद	१००. १२.	प्रमाणान्तरापेक्षण	१०५. २०.
प्रधानादि	१०९. १.	प्रमाणान्तरावाहन	१४. २१.
प्रधानादियोग	८९. २८.	प्रमाणाभ	९८. १०, १४.
प्रपञ्च	७१. २०.	प्रमाणेतरतां	७३. २३.
प्रवन्ध	८५. १०; ८७. १०.	प्रमाणेतरभेदनिष्ठता	१२३. १४.
प्रभव	६. २१; ७४. १०; ८५. १०; १०४. २२.	प्रमाणेतरव्यवस्था	८. ११.
प्रभवनियत	१२०. २८.	प्रमानु	१०३. २२.
प्रभवप्रवृत्त	१२१. १३.	प्रमासत्त्वसतत्त्व	३७. २४.
प्रभवविरोध	११०. १५.	प्रमानुत्वमसत्त्व	३७. २३.
प्रभवसमर्था मनी	११२. ८.	प्रमाहेतु	७४. ४.
प्रभवसादृश्यप्रत्यासत्ति	१२०. १६.	प्रमाहेतुतदाभासभेद	७४. ५.
प्रभवनामान्यसहचरप्रत्यासत्तिविप्रकर्ष	११४. २८.	प्रमित	६२. २८; ९३. ३.
प्रभवस्तुतिप्रत्यभिज्ञादिविवात	१०४. ११.	प्रमेय	४. १, १९; १०. २५; ६९. ११, २४; १०२. १०, १२, १८; १०३. १३, २१; ११५. १०.
प्रभवानावविरोधप्रतिद्धि	१०८. १२.	प्रमेयवर्मेता	१०३. २२; १२७. १७.
प्रनु	३४. १६; ८४. ३०; १०९. ११.	प्रमोदादि	८९. २०.
प्रमत्त	५२. १७.	प्रयत्नभेद	११८. २३.
प्रमा	३८. ३.	प्रयत्नानन्तरीयक	१०५. २९.
		प्रयास	८६. २०.

प्रयोगविरह	१० १४	फलवान्	२६. ४.
प्रयोजक	२२. २.	फलवेदक	६० ३.
प्रयोजन	८९. १३.	फलहेतुव्यपोह	६५. ४.
प्रयोजनसामर्थ्यसम्बन्धिनियमव्यतिरेक	१२३. ४.	फलात्मन्	६६. २, ११; ७०. २६.
प्रलय	८६. ६, ९८. २७; ११३. १.	फलाभाव	५८. २२, ६९. ९; १२४. १२.
प्रवक्तृ	४२. १४; ९०. २१; ६१. १६.	फलीभाव	६६. ५.
प्रवचन	२६. १८; ८१. २७; ९८. २५; ११६. ६, १५.	फलोदय	७६. २४.
प्रवचनेतरवशसंवृत्ति	११७ १९.	वदरादिवत्	६७ २३.
प्रवाह	४०. २४	बन्ध	११९ २०.
प्रवृत्ति	१५. २७, ९९. १८.	बन्ध	८८. २०; १२२. ६.
प्रवृद्धाभिनिवेशात्मकसम्यग्दर्शन	२६. ८.	वलीयस्	६२. ३०; १०७ ४.
प्रसिद्धप्रभवसादृश्यप्रत्यासत्तिविप्रकर्ष	११२ २६.	वहिरगत	६६ २७
प्रसिद्धसंज्ञानसामग्रीप्रभवतया	११६ ८.	वहिरणव	२४. १७.
प्रसिद्धहिंसानृतस्तेयान्नह्यपरिग्रहस्वविपक्षगुणोत्कर्ष	११६. २४	वहिरर्थ	१४. १८, ३०. १८, ५३. २६.
प्रसिद्धार्थसाधर्म्य	७. ६, ८, १०.	वहिरर्थप्रतिपत्तिहेतुतोपलब्धि	१६. ८.
प्रसिद्धाशेषतत्त्वार्थप्रतिबुद्धैकगूर्ति	२९. ३.	वहिरर्थविज्ञप्तिमात्रशून्यवचसा	२४. १२.
प्रसिद्धि	२२. ११.	वहिरर्थविनिश्चय	९ २८.
प्रसूते स्वान् पुर्यायान्	१६. १८.	वहिरर्थात्मन्	३९. १६.
प्रस्तावानुपयोगिन्	५१. २०.	वहिरर्थावलम्बन	१०६. २२.
प्रस्तुतार्थव्याकरण	२६ ४.	वहिरर्थाविसाद	१०. ९.
प्रस्तुतानुपयोगप्रलाप	११४. १९.	वहिरन्त	३. २३, ६ १८, २६; ११. १८, ४७. ४; ६२. २५, ७०. १०, १६, ७३. ११, ६०; १०५. २; ११५. ११.
प्रस्तुताप्रसिद्धि	२२ ६.	वहिरन्तमुखप्रतिभासविज्ञानैकतानिवृत्ति	११२. २९.
प्रस्फुट	३५ २०.	वहिरग	१११. १२; १२०. २६.
प्राकृतप्रज्ञाविगाहार्थदिग्मूढ	११६ २२.	वहिरगसाकल्य	१०७. ३.
प्राकृतलक्षण	११६. ३.	वहि परमाणु	१५. १.
प्रागनव्यवसाय	१९. ८.	वहिर्दर्शनादर्शन	१०६. ६.
प्रागभावप्रवसाभाव	१५. २१.	वहिर्भासिभावप्रवाद	५२. १४.
प्रागल्भ्य	९३. २५.	बहुबहुविधक्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवेतरविकल्प	३. १४.
प्राग्विज्ञानोत्पत्ति	१९. १०	बहुभेद	४६. ११; ५९. २, ९३. ३.
प्राङ्नामयोजन	४. २४.	बहुभेदासभव	११७ २२.
प्राणादि	१२१. ३०.	बहुविस्मय	३७. २.
प्राणादिपरिणामविशेष	१२७. १०.	बह्वाद्यवग्रहाद्यष्टचत्वारिंशत्	३. ५.
प्राणादिमत्त्व	१०४. ७, १०८. १८, २१.	बाधक	२. १४.
प्रातिपदिकार्थ	२२. ६.	बाधकाभावेतर	२. १५.
प्रादुर्भावात्ययौ	४५. ७.	बाधकासिद्धि	३९. २०.
प्रादेशिकप्रत्यक्ष	२१. ६.	बाधा	८३. ६.
प्राधान्य	२४. १५	बाधारहित	२०. १०.
प्रामाण्य	१. १४; २. २; ३. १०, १२, १४. १, ४, १८ १०, २०. २४; ४६ १९, ५२. २८, ५४. ९, ८१. १२, ८३. २५, २९; ८७ १४; ९१. २३; ९७. ९; ९९ २०; १२७. २२.	बाधारहिताव्यवच्छिन्नानन्तातीन्द्रियसुख	२६. १४.
प्रेक्षाकारी	८८ २२, १२२. ७.	बाल	२९. ९.
प्रेक्षापूर्वकारिन्	१०५. ९.	बालवृद्धवत्	१०४. २३.
प्रेक्षवान्	१७ १५	बालादिवत्	१२१. १; १२७. ६.
प्रेत्यभावात्यय	११५. २८.	बालिशगीत	१९. २७.
प्रोक्षित	५१. १.	बाह्यार्थ	१०३. १६.
फल	३. ६, १२; ५. १; ५२. १६; ९८. ९, १२, २३; ९९. २०, २१	बाह्येतरपक्ष	१०९. २९.
फलदायिन्	८९. ६.	विडम्बित	७६. १०.
		बीजपादपवत्	११९. २१.
		बृध	२६. १९; ३७ १९; ८१ १५, १२७ २४
		बुद्ध	१. ७; ४२. १४.

बुद्धि ४. २; १९. ६, ७; ५६. ३; ६४. ३०; १००. १५; १०३. १२; ११९. ६; १२०. ५; १२५. २६.	भिन्नजातीय ८४. २१.
बुद्धिकाययो ६२ १२.	भिन्नदेशार्थ १२. २३.
बुद्धिगोचर ४१. २४.	भिन्नप्रतिभास १५. २६; ४६. २४.
बुद्धिनिर्भासक्षणभङ्ग ४८. २१.	भिन्नविज्ञानग्रहणादिकथा ६१. २६.
बुद्धिपूर्व ४३. १२.	भिन्नाकारप्रसंग ५७. १८.
बुद्धिप्रकर्ष ७८. २६.	भिन्नार्थता १६. २१.
बुद्धिविस्तर ७८. ९.	भिन्नाभिन्न ५५. १५.
बुद्धेरकारण विषय १५. १३; २५. १.	भूत ६०. १४; ६२. ८; १२१. १७, २७.
बोद्धा २६. १६.	भूतभविष्यद्वर्तमानप्रभेद १६. १४.
ब्र ह्य वा द १३. ५, ८, २४. २, ३.	भूतदोषोद्भावन ११४. १८.
ब्राह्मणत्वादिवत् १२४. २७.	भूतविशेष ६०. १९, २०.
ब्रीहि २५. ४.	भूधरादि ४३. १२.
भ ग व द क ल क २२. २०.	भेद १५. २; ४०. १६; ४६. ११; ५४. २३; ५५. १०; ५८. २१; ६०. २५; ६१. १६, ३२; १०९. ३, ४, ५; १२४. २१; १२५. १७; १२६. ७, १३, १८.
भ ट्टा क ल क दे व १७. १८.	भेदनान्तरीयक ११०. २५.
भट्टाकलकविरचित ३ २०, ४ १९; ८. ३, १०. १८	भेदनिर्भासविवेक १०५. ३.
भट्टाकलकशशाकानुस्मृतप्रवचनप्रवेश २६ २६	भेदज्ञान ४५. ७.
भयादि ४३. १३.	भेदपर्यनुयोग ३६. २२.
भरणी १००. ५.	भेदप्रतिक्षेप १३. ८.
भव ६२ १६, १८.	भेदप्रतिषेध ९८ ५; १०५. ५.
भवद्भूतादिसंस्थिति ६०. २०	भेदरूप ५४. २३.
भविष्यत्तमवत् २० ९	भेदलक्षण ११०. १५, २५.
भविष्यत्यात्मा १०४. २४.	भेदवादिन् २३. १५.
भविष्यविषय ५ २५.	भेदवेदन २५. २०.
भव्य २६ १४.	भदसाधन ९८. ४.
भव्याम्बुहहभानु २९. ४.	भेदसामर्थ्य ६८. ११.
भाव ७०. २६, ९८. १२; १०३. १९; ११२. ११.	भेदसंवृत्ति ५५. २८.
भावकार्यकारणतागति ५४. ४.	भेदसंहार ११४. ३.
भावधर्म ५३. १९.	भेदाज्ञान ११. १८.
भावधर्मपरिसमाप्ति ११०. १७.	भेदानुपलक्षण १४. २९.
भावन ५३ १९.	भेदाभेद ४४. ३०; ४६. २०; १०८. १६.
भावना ९७. १७; ९८. ७; ११२ १२.	भेदाभेदव्यवस्था ४०. ४.
भावनपाटव ७८. २६.	भेदाभेदव्यवस्थिति ७१. ४, ८०. ६.
भावनिक्षेप २६ ३	भेदाभेदसाधन ९८. ५.
भावलक्षण १०४. २४.	भेदाभेदसिद्धि १०३. ३.
भावलक्षणवैधुर्य ११५ १३.	भेदाभेदात्मक ४. ११; १०. २३.
भावविनाश ६६. ५.	भेदाभेदात्मन् ७१. ४.
भावशक्ति ३५. ५, ८८. ८.	भेदाभेदाभिसन्धि १०. २३.
भावसाम्य ६१. १८.	भेदाभेदैकान्त ३. २४.
भावसिद्धि १०९. २९.	भेदाश्रय १४. ५.
भावान्तरसमारोप ७२. ५.	भेदिन् ५८. २८; ७३. २७; १०४. २०.
भावान्तरसमद्भव ६६. १७.	भेदैकान्तासिद्धि १०८. २९.
भावान्तरस्मरण १२१. १.	भेदोपन्यास २५. २८.
भावान्तराविशेषिन् १०७. २५.	भोक्ता २३. २२.
भावाभावात्मन् ६९. २१.	भोक्तृत्वविरोध ११९. २.
भावाभावव्यवहार २ १५.	भोगजन्मन् ३१. १६.
भावितकारणगोचर ७२. ५.	भोग्यविरह २६. ११.
भावेन्द्रिय २. २३.	भ्रातृवत् ९८. ११.
भावेकत्वावाधन ११ १२.	भ्रान्त ३८. ९; ११५. २६.
भिन्नकालार्थ १२. २४.	

भ्रान्तज्ञान	११. २०	मिथ्याविकल्पविज्ञानभावनापरिपाक	८२. २७.
भ्रान्ति ११. २१; १५. २६; ३४. ६; १२; ३६. २८;		मिथ्याविकल्पात्मक	१. ८.
३८. ४, ६; ३९ २१; ४०. १३, ४२. ९; ५३.		मिथ्याविकल्पौघ	४३. १५.
१५; ५४. ९, १०२. २, ६		मिथ्याव्यवहार	४. ६.
भ्रान्तिकारण ५७. ११; ९७. १४; १०१. ३.		मिथ्याव्यवहारभेद	४. १०.
मणि ३८ ४; ८४. २३.		मिथ्येतरात्मक	४ १४.
मणिभ्रान्ति ३८ ४.		मिथ्यैकान्त १४. २, ११४. २३.	
मण्यादिसामग्रीप्रभव १०. १३.		मिथ्यैकान्तकलकित	८१. १९.
मति ४. २३, २२. २८.		मिथ्यैकान्तपरिग्रह ११०. २६.	
मतिज्ञान २. २८.		मिथ्यैकान्तप्रलापिन् ११६. २२.	
मतिपूर्वक ७४. ३०.		मिथ्यैकान्तप्रवाद ९१. ६.	
मतिभेद २२. २८.		मिथ्यैकान्ताविशेष १४. ६.	
मतिमान् १०१. १५		मिथ्योत्तर ७९. २७; ८०. १४; ११३. २३.	
मतिलक्षणसग्रह ६३. १२		मिथ्योह १०१. ५	
मतिविकल्प १२५. १९.		मुक्तादिविशेष ११५. २.	
मतिविभ्रम १००. १		मुख्य (प्रत्यक्ष) २. ८	
मतिश्रुत ९८. २०; १०६. २०; ११७. १५; ११८.		मुख्य २०. २४, २६, २१. १; ७५ ३.	
४, १२२. २१; १२६. १८.		मुख्यसव्यवहार १. १२.	
मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलानि १२७. ४.		मुनि ८८ २६	
मत्यज्ञानादि १२७ ५		मुमुक्षु २०. ३.	
मदिरादिवत् ११९ १९.		मुमुक्षुजनमोक्षमार्गोपदेशद्वारेण २६. २४.	
मनस् ५१. २.		मूर्च्छितादि ४०. २०, १०७ ३.	
मनोमति २३. १.		मूर्त्त २०. १०, ११९. २२.	
मन्त्रादि ११९. १९.		मूर्त्तत्व २३. १३.	
मन्द ७३. ९		मूर्त्तप्रतिबिम्बभूत् २०. ११.	
मन्दबुद्धि २२. १८, ७७. २२; १०१. ८		मूर्त्तमुखादिप्रतिबिम्बधारिन् २०. १०.	
मयूरवत् ४६. १४; १०७. १८.		मूर्त्तिधर्माभाव २०. १०.	
मलक्षय ७८. २६.		मूर्त्तिमत् १२७. ११.	
मलविद्धमणिव्यक्ति १९. २४.		मूलनय २३ २.	
महात्मन् २६. २१.		मृग ४८. ५; ८०. ४, ५.	
म हा वी र १८. ५		मृत्पिण्ड २५ ३.	
महीयस् ५२. ११; ९९ १२.		मेचकादिवत् ५९ २, १०३. ६; ११४. ७.	
मार्ग ८८. १८.		मैत्र्यादिप्रतिरोध ८९. १७	
मार्गप्रतिपत्तिनिक्षिप्तेतरवस्तुस्वभाव १२७. १४.		मोक्ष ८३. १४; ८९ २५, ११९. १२.	
मात्रा ६८. ४.		मोक्षज्ञान ८८. २६.	
मात्रानुरोध ६८ १८.		मोह ३५ १७, ३९. १९; ७३. ११	
मात्राभेद १०२ २८.		मोहादिमूर्त्तानुप्रवेश ११९. १९.	
मानस ५० २३; ९८. १०, १६, १७, १२० १७.		मोहादिसम्बन्धान्वयव्यतिरेकानुविधायिन् १२०. २.	
मानान्तरसिद्धि १०९. १०.		म्लेच्छादिव्यवहार ४६. १.	
मानाभास ९८ २२, २३.		यत्न ८५. २६	
माया १४. १०;		यथागम १८. ६.	
मिथ्याकारैलक्षण ४८. ११.		यथार्थ ३४ १६; १०७. १४.	
मिथ्याज्ञान ८९. १७, २९		यथार्थदर्शन ९८. १५.	
मिथ्यात्व ९३. २४.		यथार्थदर्शनादिगुणवैगुण्य ११७. १९.	
मिथ्यार्थप्रतिभासिन् ५८. १५.		यथार्थदर्शनादिसाकत्यवैकल्यप्रतिबन्ध ११६ ३०.	
मिथ्यार्थसग्रह १२६ ९.		यथार्थनिर्णयसाधन २. १.	
मिथ्यादृष्टि ११५. ५.		यथाभिप्रायगतजल्पव्यवसायशृङ्गग्राहिका १२४ ११.	
मिथ्याप्रत्ययमर्श ४७. १४		यथावस्तुबलागम ५३. १५.	
मिथ्याभयानकग्रस्त ४८. ५.		यदृच्छया ६४. ४.	
मिथ्याविकल्पक ३१. ९; ११७. २२.		यमलकवत् ९२. २५.	

यस्मिन् सत्येव यद्भाव.	१२. ८.	लिंगलिङ्गिन्	५४. २०.
यावज्ज्येय्यापिज्ञानरहितसकलपुरुष-		लिंगव्यवस्था	१६. १९.
परिपत्परिज्ञान	२. १०.	लिंगसावृतयोः	७५. ५.
युक्तायुक्तपरीक्षणक्षमधी	९४. ६.	लिंगादिभेद	१२६. १५.
युगपन्क्रमभावि	४५. १६; ११८. ३०.	लिंगि	५. १०.
युगपद्भावित्	१०५. १३; ११९. २४.	लिंगिणी	५. १५.
युगपद्भिन्नदेशोपलब्ध	११८. २४.	लिंगिलक्षण	१०६. ६.
युगपद्भिन्नरूप	८७. ४.	लिप्यादिवत्	१२३. २२.
योगिना गति.	४०. ३०.	लंगिक	७४. २६; १००. ३०.
योगिविज्ञान	५१. २९.	लोक २२. १९; ६३. २४; १०४. २६; १२३. १.	
योग्यतापेक्षानादिसङ्केत	२१. २२.	लोकचक्षुष्	४०. ४.
योग्यतालक्षण	२. २४; ११९. २२	लोकवृद्ध्या	६३. १२.
योगपथ	११०. २३.	लोकविस्वादगास्त्रागमनिकायादि	१०५. १९.
रक्त	६७. २, १०२. २६, २८	लोकव्यवस्थिति	५५. ७.
रथ्यापुरुष	२. १२.	लोकव्यवहार	१४. १२; ८७. १८.
रसविशेष	६४. ३.	लोकान्तरौघ	५२. १५.
रसवीर्यविपाकादि	१२४. १८	लोकालोककलावलोकनवलप्रज्ञ	२६. १७.
रसादि	४४. ३०.	लोकालोककलावलोकनवलप्रज्ञागुणोद्भूति	९४. ८.
रागादि	६४. १५; ८९. १	लोकोत्तर	२१. ८; ४३. ३०.
रागादिप्रतिपक्ष	११६. १६	लौकिक	६. ३; १०३. २५.
रागादिसर्वज्ञताभावसाधनसामर्थ्यवैधुर्य	१०४. १७.	वक्ता	७७. १५, २२, १०१. ८.
रागादिसाधन	७७. २.	वक्तुरकौशल	५३. २३, ५७. १०.
रागद्वेष	८८. २५	वक्तुरभिप्रेत	१०. ४.
राजकुलवत्	११४. १७	वक्तृत्व	१०९. १३.
रिक्ता वाचोयुक्ति.	१६. १७.	वक्त्रभिप्राय	९. १४, २४, २२. १४.
रूप	६८. २५	वक्त्रभिप्रायानुविधायिनी	१०. ९.
रूपज्ञान	११८. १.	वक्त्रभिप्रेतमात्र	२२. १३
रूपदर्शन	२०. १.	वचन	२२. १३; ८१. ३; १०४. २६.
रूपभेद	६१. १४.	वचनपुरुषत्वानुपलब्धि	१०४. १६.
रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्व	२३. १२.	वचनसर्वज्ञकार्यकारणभूत	७८. ७
रूपादि	४४. ७, ६८. २७.	वचनहेतु	७७. २४
रूपादिदर्शनाभाव	६४. १२.	वचनादि	७६. ३१, १०१. २.
रूपादिक्षणक्षयादिस्फुटप्रतिभास	३. १२.	वर्ण	२२, १०.
रूपादिमत्त्व	२३. १३.	वर्णपदवाक्य	२२. १४; ८७. ९.
रूपादिविवर्त	१०९. २२.	वर्णपदवाक्यव्युत्पादकशास्त्र	२५. ११.
रूपादिविशेषाभाव	१०५. ८.	वर्णपदवाक्याख्या	८८. २.
रूपेतर	१०४. ३०.	वर्णपदवाक्यानुपूर्वी	१०१. ११; ११५. २०;
लक्षण १२. ३, ५१. २०; ५२. १०; ६७. १०, ९९. ११.			१२४. ३; १२५. २१.
लक्षणतया	४. ४.	वर्णपदवाक्यानुपूर्वीसहारातिशय	११८. १३.
लक्षणविज्ञान	१०५. १९.	वर्णपदसारूप्य	१२४. २१.
लक्षणमह्याविषयफलोपेतप्रमाणनयनिक्षे-		वर्णव्यतिरेकवत्	१२५. २८.
पस्वरूपप्ररूपक	२६. २२.	वर्णसंस्थानादिमत्	९७. १८.
लङ्घ	२. २३.	वर्णानुपूर्वीभेद	१२६. २.
लङ्घ्युपयोग	२. २२.	वर्णवियवानुस्मरणविकल्प	१२५. २१.
लताचूतादि	१०. १२.	'वर्त्तते' इति	१००. २७.
लाभपूजाख्यातिहेतु	११५. २०	वर्त्तनालक्षण	१६. १४; २५. ६.
लिंग	२५. ७.	वस्तु	५४. १२.
लिंग ५. ६, १०, १४, ७. ८; १०४. १०.		वस्तुतत्त्व ४. १७; १०. २५, १६. ७; ८०. २३.	
लिंगप्रतिपत्ति	५. १२.	वस्तुधर्म	७६. २८.
लिंगभेद	१५. १०.	वस्तुबलायाततदर्थान्तर	२. ३.

वस्तुभेद	१२६. १५.
वस्तुमात्रोपग्रह	१०७. १.
वस्तुविकल्प	११५. ९.
वस्तुसिद्धि	८७. १४.
वस्तुस्वभावभेदक	२५. ८.
वस्तुनुरोध	५४. १३.
वाक् १०. ४, ७; ७७.७; ८७. १४; ८८. १२.	
वाक्य	२२. १०.
वागर्थज्ञान	१६. ६, ७.
वागर्थदृष्टिभाग	५८. १८.
वागर्थव्यभिचारैकान्त	१०. १.
वाग्दोष	११४. १९.
वाग्वृत्ति २२. १७; ७७. २१; १०१. ७.	
वाग्वृत्तेराद्रेक	७८ ८.
वाचक २२. १४, १७; २५. २८; ८७. २८.	
वाचोवृत्ति ८१. ९; ९०. ६, १०१. ४, ११५ ७.	
वाच्यवाचकलक्षणसम्बन्ध	१६ ८.
वाच्यवाचकव्यावृत्ति	१२४. ५.
वाद ८१, ३; १११. १५, १७	
वाद १०९. २, ९.	
वादी ८०. २३.	
वासनानियम	११९. २४.
वासनाभेद	४३. ५.
विकलसकथा	२१. १५.
विकल्प ७.२४, ३१. १७; ३८. १८, २२; ४२.२; ४७. ३०, ६३.२३, ७४. ११; ११२ १२	
विकल्पना	३९. १२.
विकल्पनान्तरीयक	९८. ३.
विकल्पलक्षण	११३. ३.
विकल्पसहार	९८. ७.
विकल्पाविकल्पात्मा	६. २६.
विकल्पोत्पत्त्यभाव	२०. २८.
विकार ६३. १०; ८८. २; १२१. ११.	
विकारिन्	११९. ६
विकृति	६२. २८.
विक्रिया	४. ९.
विक्रियाविरोध	१०८. ५.
विगम	८४. २७.
विग्रहव्यापिन् १०४. १७; ११९. ७.	
विग्रहव्याप्तिविरोध १०४. ११.	
विचार ७५. २१; १०५. २२; १०६. ७.	
विचित्र १०५. १२.	
विचित्रग्रहण	३०. १९.
विचित्रता	७२. २३.
विचित्राभिसन्धि ११६. २६; ११८. १०.	
विचित्रावयवात्मक १०२. २७	
विच्छिन्नप्रतिभासिनी ४३. ८	
विच्छेद ५१. २७, ८३. ६.	
विजातीय १०. ८	
विजातीयव्यवच्छेदनिबन्धन १२४. २९.	

विजिगीषु	८१. ६.
विज्ञप्ति	४०. ६.
विज्ञप्तिमात्र १४. १८, २३; ५२ १४; १०० २८; ११०. १.	
विज्ञान १५. १४; २५. १; ८४ १३; १०३. ११	
विज्ञानगुणदोष	१०१. ७.
विज्ञानप्रतिभास	४८ १३.
विज्ञानविक्रिया	६३. १७.
विज्ञानविशेषानुपत्ति	९८. २९.
विज्ञानव्यक्तिशक्त्याद्या	४४. ३०.
विज्ञानसन्तानभेदवाद	११०. २.
विज्ञानसचय	९८. ६.
विज्ञानानशतत्त्व	६. १३.
विज्ञानाश	४६. २.
विज्ञानोत्पत्ति	१९. ९.
विज्ञेय १०३ १०.	
वितण्डात्मतिरस्कार	११५ ४.
वितण्डादि	८१. ८.
वितथ २५. ११; ५८. २५.	
वितथज्ञानसन्तानविशेष ३६ १७; १०३ २७.	
वितथनिर्भासाविशेष १०३. १४.	
वितथप्रतिभास ३७. १५, १६.	
वितथप्रतिभासिनी ३६. १०.	
वितथाकारा	४०. ६.
वितथार्थत्व	५०. १८.
वितथेतरविज्ञान	७३. २३.
वित्तिसत्ता ३३. ३.	
विद् १८. २४; ८३. ६; १०९. २४, २५.	
विदूषक	८०. २.
विद्या ३४. १५; १०७ १३.	
विद्युदादि	८७. ३.
विद्वत्ता	४१. १६.
विद्वस् ९१ ६; १०७. १३.	
विधानप्रतिषेध ५२. २२; ७५. १७; १०१. २०.	
विधि २२. २.	
विधिनिषेधानुवादातिदेशादिवाक्य	२२. ५.
विधिप्रतिषेध १६. २३; ९०. ३.	
विनश्चरविकल्पविषय १२०. ३०.	
विनाश ६५. १६.	
विनाशानुपलक्षण ६५. २.	
विनिपातित ३१. १७.	
विनियततदतत्परिणामसतत्त्व- विवर्त्तग्रन्थिविकार	९९. २४. २. २०.
विनिश्चय ४ ६; ८९. ५; १११. ९.	
विपक्ष १०८ १२.	
विपक्षानतिशायन ३०. ८; ८३. ३.	
विपर्यय ८०. २४	
विपर्यस्त	
विपर्यास ३९. २१; १००. १, ४; १११. १; ११६. २१.	
विपर्यासनिवृत्ति ११०. ९.	
विपरीत ३५. २०; ८०. १८; ११३. ७.	

विषयसाधनत्व	४. ७	व्यपदेशनियमाभाव	१००. ११.
विषयाकार	४. ७; ११०. १.	व्यपेक्षा	७. २८, ८. १६; १२७. ६.
विषयानुविवायिन्	९७. ११.	व्यभिचार १. २६; ९७ १०; ९९. १; १०६. १६;	११४.-१५.
विषयालोकव्यवहारविलोप	३१. १८.	व्यभिचारिन् ११०. ३१, १११. ९; ११४. २८;	
विषयिन्	२. २२.	व्यवच्छेदस्वभाव	५९. ७.
विषयेन्द्रियविज्ञानमनस्कारादिलक्षण	३१. २५.	व्यवच्छेदाविसवादव्यवहर्तृप्रवृत्ति	७५. ६.
विसदृशपरिणाम	२३. ९; १०४. २३.	व्यवसाय	३० १५.
विसवाद	५. १७; १०५. १९.	व्यवसायकृत्	३९. १९.
विसवादक	८. १०; ८१. १८.	व्यवसायफल	२०. २६.
विसवादकान्त	१५. २७.	व्यवसायसादृश्याभिनिवोधनियम	१००. २.
विस्तराति	८०. १४.	व्यवसायात्मक	२०. २३; २१. ८.
विस्रब्ध	८१. २१.	व्यवसायात्मकसवाद्यव्यपदेश्य	५२. ५.
वी र जि न	१७. १५.	व्यवस्थाभावप्रसंग	२०. २०.
वृक्ष ७. १०, १० ११, १४ १२; ४३. २९;		व्यवहार १४. १; ३७. ९; ७६. २२, ११७. २.	
४४. ३, १०३ २६; १२७. १०.		व्यवहारनय	२३. ८, १२६. ११.
वृक्षदर्शिन्	७. १०	व्यवहारपर्याय	२३. १०.
वृक्षादि	५ १७, १०३ १४.	व्यवहारप्रसाधक	४३ ३.
वृत्तप्रसादवृत्तदोषप्रसर	११९. २९	व्यवहारविरोधित्व	२४. १३.
वृत्तसमत्व	८३. ३०; ९१. २४.	व्यवहारविलोप	३५. १३.
वृत्तिवाक्याय	९०. २१.	व्यवहारादिधी	४३. ८.
वृत्तिविकल्पविरोध	१२२ २५	व्यवहारादिनिर्भास	४१. ५.
वेद	८३. २२, ८५. २३.	व्यवहारानुकूल	२४. ६.
वेदनादिवत्	५१. १७.	व्यवहारपक्ष	१४. १९.
वेद्यता	११५. ११.	व्यवहाराविसवाद	९. ८, २४ ८, १०.
वेद्यवेदकनिर्भास	१२४. ३१	व्यवहाराविसवादी	१४. १७.
वेद्यवेदकाकार	३ ७.	व्यवहितोत्पत्ति	१५. २४.
वेद्यवेदकाकारभेद	६. १३.	व्यस्त	१४. ३.
वेद्यवेदकाकारैकज्ञान	११४. ९.	व्याकुलाप्त	५२. १७.
वेकल्य	२१. २१, १०३. २१.	व्याख्यात	९०. २९.
वैतण्डिक	११५. ४	व्याख्याविप्रतिपत्ति	११७. ३.
वैयधिकरण्य	११४. २.	व्याधिभूतगहादि	५४. ७, १०८. १०.
वैलक्षण्यादिशब्दवत्	५८. २६.	व्यापक	१०६. ७.
वैशद्य	२. ७	व्यापकसाधिनी	१०५. २४.
वैश्वरूप	१०३. ६; १०४. १४; १२४. २६.	व्यापकानुपलब्धि	१०५. २५, २७; १०९. १४.
वश	१२०. २२.	व्यापारभेद	१२३. ३१.
वशादिस्वरधारा	८६. २३.	व्यापारव्याहारविशेषाभाव	१०५ १०.
व्यस्त	३१. ९; ५० ४; १०२. १६.	व्यापारसमारोप	१०८. १.
व्यक्ति ३२. ६; ३३ २५; ३५. ३; ५०. ३; १०२.		व्यापिन्	११८. २६.
१६; १०३. ८; ११८ १९		व्याप्ति ५. ११, १७. ७; १०६. ७, १४; १०९. १४, १८.	
व्यस्तयावरगविच्छेदसंस्कारादिविरोध	८६. २१.	व्याप्तिविशेष	१०६. १७.
व्यङ्ग्यविशेषानियम	११८. २७.	व्याप्य	१०६. ७.
व्यञ्जकव्यापार	११८. २७.	व्याप्यविनिर्वात्तिनी	१०५. २५.
व्यतिरेक	२३ ८, ९.	व्याप्यव्यापक	७४. १९; १०५. २२.
व्यतिरेक ४६. १३; ४८. १४; ७७. ४, १००.		व्याप्यसिद्धि	१०५. २१.
२०, १०७ १७; १०८. ९; १२६. १३.		व्यामोहविच्छेद	९९. १९; १०७. २.
व्यतिरेकचिन्ता	१०१. ४.	व्यामोहशब्दालाकारवेदन	७२. २३.
व्यतिरेकतृप्तत्वग	२२. २६.	व्यावहारिक	२५. १३, १९.
व्यतिरेकाप्रसिद्धि	७६. १४.	व्यावहारिकप्रकृत्यादिप्रक्रियाप्रविभाग	२५. १२.
व्यतिरेकेतरकान्त	१६. २१.	व्यावृत्ति	५७. १; ९९. ५.
व्यतिरेकैकान्त	१६. १६.		

व्यावृत्तिमात्रक	५७. ६; १०९. २८.
व्यावृत्तिस्वभाव	१२३. १९.
व्यावृत्त्यनुगमात्मक	१२१. १९.
व्योमादिवत्	१२१. २९.
व्योमादिविशेषसम्बन्धवत्	१२४. १७.
शकट	५. २३; १०४. ५.
शकटादिज्ञान	९. २२.
शकटोदय	२५. २.
शक्ति १६ १५, १७, ४९. ५; ७०. १९.	
शक्तिप्रतिभासादिभेद	१२३. १९.
शक्तिभेद	६०. १८.
शक्तिमत्	१६. १५, १७.
शक्तिविचित्रता	११२. ९.
शक्तिसकर	१०३ ७, ९.
शक्य	५३. २; १०२. १, ३.
शक्यपरीक्षण	१७. १४; ८१. १८.
शक्र १५ १०, १६. २०; २४. २६.	
शबलाकारज्ञानाभाव	११४. ६.
शब्द (नय) १५ ७, ११; २४. २५; १२६ १५.	
शब्द ३१. २२; ५६. २६; ५८. ४, २८; ५९. ८, १२; ७०. २; ७९. १६, १७; ८६. २०, २४; ८७. २८; ९८. २८; १०४. ६; १०७ २४; १०९. १७, २१; ११५. ३०, १२४. २०; १२५. १९.	
शब्दघटाद्याख्य	८७. ७.
शब्दज्ञान १५. १२; १६. ४; २४. २८, २५ ५.	
शब्दधारा	११८. १४.
शब्दनय	२४. २४.
शब्दनाशित्वसत्त्व	७९. ११
शब्दपर्याय १०९. २२; १२३. २६, २७; १२४. १.	
शब्दपरिणाम	१०४ १३.
शब्दप्रतिपत्ति	१५. २८.
शब्दबुद्धि	६९. २२; १२२. २६.
शब्दभाग	८८ ४.
शब्दमात्र	८३. १५; ८९. २६.
शब्दयोजन	५. ३.
शब्दालग	५५. २२.
शब्दविनाशादि	११०. ७
शब्दवृत्ति	५६. २१; ११७ १.
शब्दव्यवहारबाहुल्याभाव	२२. २१.
शब्दार्थ	१५. २८; १२४. १५
शब्दार्थग्रहण	१२२. २२.
शब्दार्थज्ञान	१५ ३०.
शब्दार्थतत्त्वज्ञ	९०. १५
शब्दार्थदृष्टि	५८. १०.
शब्दार्थप्रत्यय	१६. १९.
शब्दार्थविकल्प	८७. १९.
शब्दार्थसकेत	११७. १६.
शब्दार्थसम्बन्ध ८७. २७; ११७ ४; १२४. ७.	
शब्दादि ४७. २२; १०८. ३०; १२१. ५; १२७. ४.	

शब्दादिपरिणाम	७९. १७.
शब्दाद्ययोगविच्छेद	७५. ९.
शब्दानित्यत्वसाधन	७८ ३०.
शब्दानुयोजन	४. २४.
शब्दान्तर	१२४. २०.
शब्दोत्पत्तिविनाश	७९. २१.
शरण	१७. १५.
शरीरग्रहण	६१. ३.
शरीरस्थितिहेतुत्व १०१. १०; १०५ १२.	
शरीरादिक २६. ११; १०१. ९; १०४. ३; १२१. २८.	
शरीरादिपरिणामोपयोगसाधन	१११. १.
शरीरावयवभेद	१२४. २८.
शरीरावयवसर्पशिनी	११८. १४.
शशविपाण	१०९. २९.
शङ्कुलीभक्षणादि	५१. २.
शाखा १४. ११; ४३. २९, ४४. ३; १०३. २५.	
शान्ति	९४. ४
शा व र	९३. २५.
शावलेयादिभेदानन्वय	१२४. ५.
शावलेयादिवत्	१२४. १.
शाब्द	११७. १८.
शाश्वत ९४. ७; १११. १५, १७.	
शासन ९७. २; ११६. ७.	
शास्त्र ७७. २२; ८०. १४; ८१. १८; ८२. ९; ८६. १५; ९२. ४, १४; १०१. ८; ११५. २९; ११६. २९; ११७. २; १२२. १३.	
शास्त्रकार	८२. ९; ११६. २९.
शास्त्रगम्य	८१. १२; १२७. २२.
शास्त्रज्ञान	८५. २८.
शास्त्रप्रवर्तन	८६. १३.
शास्त्रालिग	१०९. ८.
शास्त्रवक्तृत्वाभाव	२२. १८.
शास्त्रार्थज्ञानसवाद	९८. २४
शास्त्रार्थसंग्रह	९७ ८,
शास्त्रानुमानवत्	१०२. २६.
शिर पाण्यादिमत्त्वाद्या	७७. ८.
शिलाप्लव	३६. ७; ७३. २७.
शिशपा	१०. ११, १२.
शुक्त्यादि	९८. १५.
शुद्ध	१४. ३; ४२ १४.
शुद्धब्रव्य	११. १०.
शुद्धाशुद्धब्रव्यपर्यायपरिग्रहविभाग	१२३ १९.
शून्य २. १०, १४. १८; ४२. ६; १०३ २९.	
शून्यताप्रतिपत्ति	१०३. १८.
शून्यसंवृतिविज्ञानकथानिष्कलदर्शन	११५ २२.
शृङ्ग	१४. ११.
शेषपरावृत्ति	४५. २७.
शेषप्रलाप	१४. २६.
शेषवद्धेतु	७६. ५.
शेषविज्ञान	१. १३.

शौ द्रो व नि	३७. १; ४२. १९.	सकलव्यञ्जनेरनिर्णयानिर्णयार्थेऽस्य	१७. ११.
शंखादि	२०. २.	सकलव्यञ्जनेरनिर्णयार्थे	११. १.
शंभु	४९. ४.	सकलशक्तिप्रयोग	१०३. १.
श्रवणग्रहणयोग्यताव्यावृत्ति	१२३. २७.	सकलश्रुतभावनासंरक्षणविमोक्षानिर्णयार्थे	११७. ११.
श्रवणज्ञानहेतुत्व	९३. १५.	विजृम्भितकेवलज्ञानविग्रहण	१०४. २३; ११३. १.
श्रावणत्वादि	१०४. १३; १०९. १७.	सकलशक्तिनिर्णयार्थे	१०४. २३; ११३. १.
श्रीमत्परमगभीरस्याद्वादामोघलाञ्छन	९७. १.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
श्री व द्वा मा न	२९. ४.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
श्रुत ४. २४; ९. १२; २१. १४; २५. १८, २६;		सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
७४. ३१; ९२. १७; ९७. ३, ६;		सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
श्रुतज्ञान ५. ३, ९. १४, १०. १६; २४. ११; ९३. ५.		सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
श्रुतज्ञानतदाभासव्यवस्था	९. १०.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
श्रुतपाठव	१०१. १६.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
श्रुतभेद	२२. २४.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
श्रुतयोग्यत्वातिशयादानहानि	७९. २०.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
श्रुतविकल्प	११८. ३.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
श्रुतविज्ञानहेतु	९३. १९.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
श्रुतापि	२५. २१.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
श्रुति ९. १९, १०. ९; १४. २१; ११६. २१;		सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
११८. २; १२५. १७.		सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
श्रुतिकल्पनादुप्टादि	९. २५.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
श्रुतेन्द्रियातीत	८६. ८.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
श्रुत्यस्	९३. २७	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
श्रुत्योऽतिशयप्राप्ति	११८. १०	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
श्रुत्र	११८. १६.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
श्रुत्रगोचर	८८. ५.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
श्रुत्रादिवृत्तिप्रत्यक्ष	५२. १.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
श्लेषविश्लेष	६८. १४.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
श्व	५. २४; २५. ३.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
पट्टकारकी	१६. १७, २७; १७. १.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
पडश	४१. २२.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
स एवाय	५८. २४; ८६. ३०.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
सकर्मक	२३. ८.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
सकल आत्मा	१०४. २८.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
सकलकलाकलापमया	१२६. ५.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
सकलकलाकलापसमाश्लेषजात्यन्तर-		सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
प्रतिपत्तिनान्तर्रीयक	११३. ३७.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
सकलग्रह	६०. २३; ७७. ११; १०८. ३.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
सकलग्रहनान्तर्रीयक	१०८. १०.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
सकलग्रहसामर्थ्य	७३. १५.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
सकलज	८८. ५.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
सकलज्ञानावरणपरिहृत्य	९९. १०.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
सकलतत्त्वप्रतिपत्तिपन	१२३. १५.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
सकलनिष्कलस्वविकल्पितेन स्वभावनियम	१२५. १.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
सकलपदार्थन	२३. ३.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
सकलपरिणामिन्	१२३. ३.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
सकलप्रमाणप्रमेयेयनात्रन्वयप्रामाण्य	२१. १०	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
सकलवादिचक्रवर्तिन	१३. १८.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
सकलवित्	१३. १८.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.
सकलविषय	१४. ४.	सकलशक्ति	१०४. २३; ११३. १.

सत्यज्ञान	१८ २८.	सन्तानान्तरगत	२३. ९.
सत्यतप.प्रभावरहित	११६. २३.	सन्तानान्तरगद्गुनि	३८. २१.
सत्यपदविद्या	२४ २४.	सन्तानापेक्षा	२५. २३.
मत्यस्वप्नवत	९९ ३	सन्दिग्ध	७६. ३१; १०९. ६.
सत्याकारावधोद	५८. १९.	सन्दिग्धादिपरिग्रह	१२७. १९.
सत्यार्थप्रत्ययान्वित	५८. ४.	सन्देह	२. १५; ८६. १७; ११८. १.
सत्यानृतव्यवस्था	२२. २०.	सन्देहलक्षणाभाव	३९ १९.
सत्यानृतव्यवस्थान्यथानुपपत्ति	२२. १५	सन्देहविच्छिन्ति	८१. १५.
सत्यानृतार्थताभेद	५८. ६; ११७. १८.	सन्निकर्ष १९. ९; ८६. १७; १०९. १२, २०; ११०.	
सत्यालोकप्रतीति	४१ २८	५, २९, ३१; ११४. १३; १२५. ७.	
सत्येतरव्यवस्था	९. २९	सन्निकर्षादि	१. ४१, १९ ७
सत्येतरस्वरूप	१४ ५	सन्निधानापेक्षिन्	११२. १२.
सत्यप्रयोगजत्व	७७. ११.	सन्निधानाभेद	९८. १३.
सदर्थनियत	९८. ९, ११.	सन्निवेश	८७. १९.
सदर्थान्तराणि	१३ २१.	सन्निवेशविशेष	६७ ११.
सदनेकान्त	१०६. १२.	सन्निवेशादि ४३. ११; ४९. १२, १०८. २३, २७, ३०.	
सदभेद	२४. १.	सन्निधि	१९. ५.
सदविशेष	११. १२, २४ ३.	सन्निधिष्ट	१५. १
सदसज्ज्ञानशब्द	६९. १९.	सन्निहितविषयवाग्रहसमीहावायधारणा-	
सदसज्ज्ञानसवादविसवादविवेक	३०. ३	समानानुस्मरणसङ्कलनपरामर्शभाव	१२५. १९.
सदसत्त्व	३५ ७; ४२. ८, १०९ २९, ११०	सन्निहितार्थत्व	९७. १७
	१५; ११२. २२.	सपक्ष	१०९. १३.
सदसत्प्रमाणप्रमयैकान्तात्मन्	१०२. ७.	सर्पवन्	४५. १९; ११२. ११.
सदसत्प्राप्तित्यागेतरविकल्पविशेष	१२३. १८.	सन्निहितविषयवल्लोत्पत्ति	५. ९.
सदसत्स्वार्थनिर्भास	११ २४	सन्मात्र	१३. १७.
सदसदनभिलाषतद्योगविकल्पविधान	१२३. ५.	सन्मात्रदर्शन	२ २४.
सदसदात्मक	४ १५, १६	सपदि	२५. २६
सदसदेकान्त	१०२. ५	सप्त (नय)	१७. १०; २२. २४.
सदसद्भावविरोधप्रभव	५४. ८.	सप्तभगी	९०. ३, १२२ १७.
सदसद्भावात्मन्	२६. २.	सप्रदेश	६७. २१.
सदसद्विषयविवेकिन्	१२३. २५	सप्रदेशाप्रदेश	६७ २९.
सदमद्वयवहार	१०५ २३.	सभागनियन्धन	६५. २७.
सद्वृत्तक्रेवलज्ञान	९१. २७.	सभागविसभागवत्	७१. ५; ९९. २५.
सद्वृत्तिप्रतिषेध	१०५ १६.	सभागसन्तानकल्पना	६६. १.
सद्व्यवहारलक्षण	१०३ २३.	सम	५०. १०; ५८ २४; ८९. २३.
सदात्मक	६२. २४.	समन्विष्टाविशेष	१२४. २८.
सदात्मन्	११. १८, १३. ४, ७, १९.	समक्षवत्	१६. ६.
सदादि (अनुयोग)	२६. ५	समक्षविकल्पानुस्मरणपरामर्श-	
सदृश	८७. १०.	सम्बन्धाभिनिवोध	१००. ७
सदृशपरिणाम	२३ ३; ९९ २५.	समक्षसजातीयसम्बन्धानुस्मरण-	
सदृशात्मन्	५५. ६.	चिन्ताप्रकर्ष	१२५. २२.
सदृशापरदर्शन	१२३. २७.	समक्षसवित्	७२. ६.
सदृशापरहेतु	७३. १९.	समक्षेतरसप्लव	३०. ४.
सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भ	११०. २४.	ममगकरणादि	४९. १५.
सदशासदृशात्मन्	५६. १९.	समर्थ	४५. २५, १०३. २; ११२ ७;
सद्रूपद्रव्य	११. १३	समर्थवचन	१११. १५.
सन्तान	१. ६, ४० २९; ८३. १, १५, ८९.	समविगति	१७. ६
	२३, २६; ११२. २६; ११९. ८.	समनन्तर ५१. १, ६५. १३; १०५. ६; ११८. २३	
सन्तानसमुदायादिशब्दमात्रविशेष	४७ ९.	समनन्तरसाधारण	११७. २४
सन्तानान्तर	४०. २९; ५१. १; ९८. ४; १२२. २२.	समनन्तरेतरविनाश	१५. २१.

स म न्त भ द्र	११४ २१.	सम्प्रीतिपरिपादिभेद	४० ११.
समबुद्धि	८८. २६.	सम्प्लवप्रसंग	१२१. ४; १२३. १३
समभाव	१७. २७.	सम्प्लवस्थानपरिणामविरोध	१२१ २४.
समभिहार	९८ ३०.	सम्बन्ध ५५ २५; ७५. १८; ८०. २७; ११९. २२.	
समय १. ९, ५६. २५; ५८. ११, २२; ८७.		सम्बन्धग्रह	५५. ६.
२५, १२३. २०, १२४. १२.		सम्बन्धनियम	८७ २५.
समयस्थिति	११०. १९	सम्बन्धनियमाभाव	१६ ७.
समयस्मरणाभाव	११२. ९.	सम्बन्धप्रतिपत्	७. १५.
समयानपेक्षण	११७. २.	सम्बन्धान्तर	१२४. १८.
समयाविप्रलम्भन	८४. ६.	सम्बन्धाभिज्ञान	१२४. ११.
समरागादिदोष	४१. २७.	सम्बन्धासिद्धि १६. १६, १०२ १४; ११३. १५; ११९ २.	
समवग्रह	९९ ६.	सम्बन्धोपकाराद्यनवस्थादोष	१२२. २५.
समवाय १४. ११, १३, १४; ४३. २९; ५२. ७; १२१. १२		सम्भावितोद्भूतवृत्ति	११६. २४.
समवायसाकल्यवैकल्य	११७. १८.	सम्मोह	१०८. ५; १११. ६.
समवायान्तराभाव	१४ १५	सम्मोहविच्छिन्ति १११. २१; १२४. ९, १२७ २५.	
समवायाविशेष	१००. २१; १२१. १२.	सम्यक्त्वमिथ्यात्वे	२५. १५.
समवायिन् ९१. ९, १००. १५, ११४. ३१.		सम्यगेकान्त	२१. २५.
समविकल्पजनकत्व	१०७. ७.	सम्यग्ज्ञान	२९. १२; ६७. ९.
समव्यपदेश	१२४. १०.	सम्यग्ज्ञानाङ्कुश	८८ १४; १२२. ३.
समस्त	१४. ३.	सविकल्पक २४ ९, ३९. १०; ४५. २४; ४६.	
समस्तैक्यसंग्रह	२४ १.	२४; ९७ १८; ९८ १०, १६; १०३. १; १०७. ९.	
समानपरिणाम २३. ६, ७, ५३ ३; ५६. १३; ११७ १		सविकल्पलक्षण	४६. ५.
समानपरिणामरहित	१०७ ६.	सविकल्पाख्यासाधन	४५. ३.
समानपरिणामात्मशब्दसकेतहेतु	७२. १६.	सविकल्पावभासन	८. १७.
समानपरिणामात्मसम्बन्धप्रतिपत्ति	५४. १९.	सविकल्पाविनाभाविन्	३०. ४.
समानपरिणामिन् ४९. ६; ५६. २४, ७२. २६.		सर्वकर्मविनिर्मुक्त	२६ ९.
समानवर्णभाग	१२४. २.	सर्वगत १३ २३; ५० ३; ५२ ७; १०२ १६;	
समानशक्ति	१०३. ६.	११८. २५.	
समानाकारकल्पना	५९. ५.	सर्वचित्त	१०९. ५.
सनानाकारगून्व	४९. ३.	सर्वज्ञ १७ १२; ७७. १५; ९१. २७; १०९ ७, १३; ११०. ३.	
समानात्मन्	५९. ६.	सर्वज्ञप्रतिषेध	७६. ३१.
समानार्थपरावृत्त	४७. २.	सर्वज्ञवाधिनी	७७ ७.
ममानाधारसामान्यविशेषणविशेष्यधी	६८. १	सर्वज्ञसंस्थिति	८५ २०.
समानान्यनिर्णय	७१ १४.	सर्वज्ञादि	९२. १४.
समानेतरपरिणामातिशय २३. ४. ९८. १८.		सर्वज्ञादिविगोपाभाव	२ १३.
समानोन्नयहेतु ३९. १०, ८८. ४		सर्वतोभास	९९. ८.
समारोपव्यवच्छेद ३ ९, १०; ८. १२; ३९. १०.		सर्वत संहृत्य चिन्ता	८. १८.
समित	६५ १३.	सर्वथानुपलब्ध	४९. ३.
समितक्रमयोगिन्	४४ १५	सर्वथाप्लुतात्यय	८६ ११.
समीक्षक	१०६. १२.	सर्वथावरणात्यय	७८ १८.
समीक्षाकारिन्	१०६. १६.	सर्वथाऽवगतव्यत्वकल्पना	१२५ ३०.
समीक्षाविरोध	१०५. २१.	सर्वथाऽवगतव्यत्वत्	१२५. ३०.
समीहित	१२५. १२	सर्वथाऽविकल्पक	९ ५
समुदाय ११०. २६; १११ ३		सर्वथाऽसक्रमव्यवस्था	११. २३
समुदायसमुदायिनियोग	१२३. ३	सर्वथैकत्वविक्षेपी	२४. १६.
समुपलक्षितविशेषसंख्यान	१२५ १८.	सर्वथैकान्त	२२. ३; ११०. ११.
सम्प्रत्यस्तमिताशेपनियम	७१ २४.	सर्वथैकान्तत्याग	२१. २३.
सम्प्रदाय	१२४ १८.	सर्वथैकान्तप्रवादातीतगोचर	८१. २६.
सम्प्रदायाविच्छेद ९८. ३१; १२४ २८.		सर्वथैकान्तविश्लेष	६६. २८.
सम्प्रदायाविधात	९३. ७.	सर्वथैकान्तविश्लेषतत्त्वमार्गव्यवस्थित	९०. २८

सर्वयैकान्तव्यतिक्रम	१२७. २०	सहदृष्टधर्म	७४. २५
सर्वदेगकालादिसम्बन्धसातत्य	११३. १४.	सहप्रतिभासवत्	३. १६.
सर्वनयाभासप्रतिपादख्यातिसख्येय	१२६. ३.	सहभावनियम	१०४. ९.
सर्वप्रकाशसामर्थ्य	७८. १०.	सहभावापत्ति	१२. ९.
सर्वभाव	५४. २८; ६५. २३, ८०. ३१.	सहव्याप्ति	११९. ८.
सर्वभेदप्रभेद	५०. ७.	सहसिद्धि	१००. २१.
सर्वभेदैक्य	१३. ४.	सहेतु	४३. ७.
सर्वमित्यैकान्तातीत	११६. ७.	सहोत्पत्ति	१०९. ६.
सर्वमित्यैकान्तातीतातिशयज्ञान	९८. २५.	सहोत्पत्तिविकल्प	५१. १०.
सर्वमेक	११. १२; १२६. ९.	सहोपलम्भनियम	४१. ९; १०९. ३, ६, २४, २५.
सर्वयोग्यता	८७. २३.	साकत्य	५. १०, ९. २४; २१. २०, ७२. २४; ७४. २३; ९१. ५; १०६. १४, १०८. २०; १०९. १८; १२७. १९.
सर्ववस्तुनिबन्धन	८४. २.	साकार	२९. १४; ४५. १७; १०७. १.
सर्ववस्तुसत्ता	५३. १६.	साक्ष	४४. ७.
सर्ववित्	९९. ९.	साक्षात्करण	४. २.
सर्वविषय	५१. ६.	साक्षात्कृतसमयसंवाद	११६. ७.
सर्वव्यवस्था	४६. १४.	साक्षात्कृताशेषप्रपञ्चभुवनत्रय	८४. ३०.
सर्वव्यवहारसकर	११४. ४.	साक्षात्कृताशेषशास्त्रार्थ	९१. २६.
सर्वसन्तानविच्छेद	७६. २४.	साक्षादतदुत्पत्ति	१५. २४.
सर्वस्वाश्रयसम्बन्ध	१०२. १९.	साक्षिन्	११७. ३.
सर्वहिताभिधा	७८. ५.	साक्षिसमक्ष	१११. १६.
सर्वहेयोपादेयपरिज्ञान	११६. १४.	सात्मक	१०४. ६.
सर्वार्थगोचर	७८. १.	सात्मीभाव	८९. ५.
सर्वार्थावलोकन	९२. २.	सादृश्य	५७. ४; ६५. २७; ८६. ३०.
सर्वान्यसदृश	७९. १६.	सादृश्यविनिबन्धना	५९. १६.
सर्वैकत्वप्रसंग	५७. ११.	साधकतम	२. २; ९९. १६; १०४. २७.
सर्वैकत्वप्रसगादिदोष	४०. ३.	साधकत्रावकप्रमाणाभाव	२. १४.
सर्वैकवेदन	३३. ३.	साधन	६६. २०; १०२. ९.
सर्वोपलभनिवृत्ति	११०. ३.	साधन	२५. २६; ५२. २१; ५९. २४; ६९. १५; ७०. ७, १०१. १, २१; १०४. १५; १११. ३, २२; ११९. १५.
सहकारिकारणवैकल्य	११०. २०.	साधनदूषणतदाभासवाक्य	२२. ६.
सहकारिकारणापेक्षा	१०२. २२; १०३. ८.	साधनदूषणवचन	१११. १५.
सहकारिन्	४७. २७, १०३. ७.	साधनदूषणसामर्थ्यापरिज्ञान	११३. २०.
सहकारिवैकल्यादि	११०. २३.	साधनसम्बन्धप्रतिपत्ति	१११. २१.
सह क्रमभाविन्	११. २७.	साधनान्तर	७. २४; १०१. २४; ११४. ११.
सहक्रमविवक्षा	१२२. १७.	साधनाभास	११०. ९.
सहक्रमविवात्तिन्	११. २४; ४५. २५; १०३. १.	साधनाविषयत्व	५३. ५.
सहक्रमवृत्ति	४४. २९.	साधनासाधनागव्यवस्था	१०. ३.
सहक्रमसयोगधर्मान्तर	९९. ५.	साधनागवचनोपालभच्छल	१११. १९.
सहक्रमसयोगभाविन्	१००. ८.	साधर्म्यादिसमजाति	८०. १५.
सहक्रमसयोगलक्षण	१०१. २१.	साधुत्वन्यूनाधिक्यक्रमस्थिति	११६. २.
सहक्रमसयोगवैसरूप्यविरोधिचेतनेतर-		साधारण	२१. १९.
प्रभेदैकपरिणाम	१००. १२.	साधारणासाधारण	२१. १८.
मह क्रमेण वा	१२. ५.	साध्य	५३. २, १०२. १, ३, ४.
सहचरकार्यानुपलब्धि	१०५. ९.	साध्य	१७. ७; ६९. २८; १०२. ३; ११०. ९, ३०; १११. १; ११३. २२;
सहचरकार्यानुपलब्धि	१०४. २६.	साध्यधर्मकल्पना	१०४. ४.
सहचरकारणानुपलब्धि	१०५. ११.	साध्यधर्मी	५९. २४.
सहचरकारणोपलब्धि	१०४. २८.	साध्यपरिग्रह	१०१. १४.
सहचार	१०७. १६.		
महचारिन्	१०४. २७.		
सह तद्वागवृत्ति	९०. ११.		
सहदर्शन	१०९. ४.		

साध्यविज्ञान	५२. २१.	सिद्धहिसानृतस्तेयान्नह्यर्चयप्रवृत्ति	८२. १२.
साध्यसम	१११. २३.	सिद्धान्तविपमग्रह	४०. ६.
साध्यसाधन ७. ६; ७९ ११; ९२. २७; १०६. १४;		सिद्धासिद्धाकिञ्चित्करविस्तर	१११. २.
१११. २५; ११३. १; ११९. १४.		सिद्धि	८१. २.
साध्यसाधनधर्म	८०. २७.	सुख	२५. २५.
साध्यसाधनमिथ्यासकल्पाभिनिवेश	१२०. ४.	सुखज्ञानादिक	१३. २६.
साध्यसाधनसम्बन्धासिद्धि	११३ २८	सुखदुःखादि	३. १५; १३. १३.
साध्यसाधनसकल्प	४१ १४.	सुखदुःखादिविज्ञानोपयोग	१२१. १९.
साध्यसाधनसंस्थिति	६६ २८; १२४. १४	सुखदुःखादिवेदन	२१. २०.
साध्यार्थासंभवाभावनियमनिश्चयैकलक्षण	१०२. ११.	सुखदुःखादिसंविती	३१ १९.
साध्यार्थासंभवाभावनियमासिद्धि	११०. ११.	सुखदुःखादिहेतु	८५. १५.
साध्यादिविकल्प	८० २८	सुखादि	२. ९, २१. १४, २३. २३; ४०. १७; ६३. २;
साध्याभावसंभवनियमनिर्णयैकलक्षण	१०७. २३.	८३. १८; ९८. १६; १०४. २०; १०९. १;	
साध्याभास	५३. ५; १०२ २, ५.	११२. १२; १२१. ७; १२२. ११; १२५. ८.	
साध्याविनाभाव	१०१. २१.	सुखादिसंविद्विषय	१२१. ७.
साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षण	५. १४.	सुखादिस्वरूपनिरूपण	२३. २४.
सान्तरप्रतिभास	३४. ६.	सु ग त	८०. ४, ५.
सापेक्ष	१५. ३; २४. १९.	सु ग ता दि	९२. ११.
सापेक्षत्व	२५. १५.	सु ग ते त र	९. २.
सामग्रीगुणदोष	८५. २८.	सुतुच्छक	१४. १०.
सामग्रीप्रतिभासविशेष	१०६. २०.	सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाण	२. ९; २१. १४.
सामग्रीभेद	१२. २६; १०६. २०; ११४. १.	सुप्तप्रबुद्ध	४८. २२.
सामग्रीविशेषोपपत्ति	९७. ८; १२४. १३.	सुप्तप्रबुद्धाविशेषप्रसंग	१०६. २९.
सामग्रीविहितज्ञानदर्शिताकारभेदिन्	६८. २९.	सुप्तप्रमत्त	१०१. ५.
सामान्य	३३. १९; ४५. २२; ४९. ५; ५०. ६;	सुवर्णपापाणादिवत्	११९. १८.
	५४. २४; ५६ ३; ५८. २१; ७९. ८;	सुपुप्तवत्	९८. २२.
	९९. २५; १०२. १९, २०; १०७. ७.	सुपुप्तादि	२२. ७; ५९. २८; १०४. ७.
सामान्यदूषण	३३. ६; ५५. १.	सूक्ष्म	२३. २२; ८६. २७.
सामान्यभेदरूपार्थसाधन	७१. ८.	सूक्ष्मकठिनादिविशेष	१२१. १४.
सामान्यलक्षण	४. १; ११. १९; ५६. २८.	सूक्ष्मस्थूलकलाकलाप	११२. ३०.
सामान्यविशेषपरिणामधी	९१. ५.	सूक्ष्मस्थूलतर	७३. २२; ७६. २२.
सामान्यविशेषसमवायव्यपेक्ष	१२०. ९.	सूक्ष्मस्थूलसंस्थानादिभेदमूर्तिवत्	१२६. ५.
सामान्यविशेषात्मन्	९९. १०; १०२. ४; १०३.	सूक्ष्मानेकस्वभाव	८. १९.
	१०; १२२. १८.	सूक्ष्मान्तरितदूरार्थ	८५. १९.
सामान्यविशेषात्मविषय	९७. १८.	सू त्र	४५. ४; ९०. २२.
सामान्यविशेषार्थसाधन	११०. २८.	सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहण	२५. ३.
सामान्यसन्निवेशिन्	११७. ९.	सोपाय	८२. १५.
सामान्यानुस्मृति	१०१. १३.	सौ ग त	९३. २४.
साम्प्रतिकार्थग्राहित्व	२३. १.	सकर	११३. २८.
सारूप्य	३३. ६; ९७. १२; ११५. २६; ११८. ६.	सकलान्तरवत्	९८. १.
सारूप्यव्यभिचाराभाव	११७. १४.	सकल्पाद्यविनाभू	६४. १५.
सावयवविरोध	१००. २३.	संकेत	१५. २८, ३०; ५६. २१; ५८. १६, १३, २९; ८६.
सास्नादि	७५. २९	२३; ८७. १५, २३, २८; ११७. १; १२४. ७.	
साहस	५०. १९; ८३. २२.	संकेतदर्शिन्	११७. ५.
सितासनपुरस्सर	११६. २२.	संकेतस्मरणनियमाभाव	१२३. २४.
सिद्ध ८१. २७; ८६. ८; ११०. ६; १११. ९; ११६. ६.		संख्या	६१. ६, ११; ११५. १.
सिद्धपरमात्मानुशासन	८१. २७; ११६. ६.	संख्याकालकारकलिग	१२४. २०.
सिद्धसाधनीयपरतन्त्र	१२०. १५.	संख्यादिप्रतिपत्तिसाधन	७. २०.
सिद्धसाध्यार्थ	१११. २.	संख्यादिसमभाव	६८. २०.
सिद्ध से न	११४. २१.	संख्यालक्षणगोचरार्थकथन	८१. १३; १२७. २३.

सख्यासख्येय	१२४. २१.	संसार ६२. १३; ८३. १४; ८९. २५; ११९. ५, ८.	
संग्रह	११. १०; १३. ४, ७; २४. १, ३.	संसारपरिनिर्वृती	१२२. १३.
संग्रहव्यवहारजुसूत्रार्थनयसश्रय	१२३. ७.	संसारमुक्तिभाक्	६०. १७.
संग्रहादि	२३. २६.	संसारवैचित्र्य	६४. २१.
सघात	९२. ९.	संसारिन्	२३. १०; ७८. १४; ८४. १७.
सचयापोहसन्तान	११५. २३.	संस्कार	३. १; ११८. २६, ११९. २०.
सचित्तालम्बन	९८. २.	संस्कारपाटव	८९. ८.
संज्ञा	४. २३, ५. १, २; ६०. १८.	संस्कारसंस्थिति	६३. २४.
संज्ञाकर्म	२६. १.	संस्कृतेन्द्रियवत	१०३. ३.
संज्ञान	१७. १०.	संस्थानात्मक	८. १८; १०८. २५.
संज्ञान्तरविकल्प	१२०. १८.	संस्थानादिमान्	१२१. २०.
संज्ञासंज्ञिसंप्रतिपत्तिसाधन	७. २०.	सहत	१०८. २८.
संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्ति	७. ९.	सहारसूत्रनीलादि	११४. ६.
संज्ञिप्रतिपादन	७. ७.	सहृताविकल्पावस्था	१२३. १२.
संभवप्रत्यय	१००. ५.	सहृताशेषचिन्ता	८. १७.
सयोग	१०४. २८, २९.	साकर्य	६७. ११.
सयोगकारण	१००. २३.	सावृत	४९. १३.
सयोगसमवायतदनुदय	१२५. २४.	सांख्यवहारिक	२. ८.
सयोगसमवायादिसम्बन्ध	४८. २६.	स्कन्ध	२३. ६, ६७. २१; ६८. १, १४, १८; १२१. ३०.
सवर	८८. २१; १२२. ६.	स्कन्धपरमाणुपर्यायभेद	२३. १३.
सवरण	८८. २३.	स्तिमितान्तरात्मना	८. १८.
सवाद६३. २४; ९८. २९, ११५. ३, १०; १२५. १४.		स्त्री	१६. १८.
सवादनिरपेक्ष	१२५. ३.	स्त्यानप्रसवतदुभयाभावसामान्यलक्षण	२५. ७.
सवादसामर्थ्यभेद	१००. ८.	स्त्यायत्यस्या गर्भः	१६. १८.
संवादासंभवाभाव	८४. ६.	स्थवीयास	१५. १.
सवित्	४२. १; १२०. ६; १२१. ६.	स्थाणु	११४. १४.
संवित्ति	४. ७; ३४. २०; ५४. २८.	स्थानप्रस्थान	११९. १६.
सवित्परमाणु	१५. २, २४. १७.	स्थानसकरव्यतिकरव्यतिरेक	१२. २५.
सवित्स्वभाव	१०३. १३.	स्थापना	२६. २.
सविदात्मन्	३८. १३; ९८. ४.	स्थापनादिवत्	११७. २७; ११८. ६.
सवेद	३२. ६.	स्थापनाश्रुति	११८. ८.
सवेदन	३२. ३; १०३. १३.	स्थिति	४५. ८; ११३. ५.
सवृत्ति	३. ८, ९; ११५. १६.	स्थितिस्वभावैकान्त	१०५. १८.
सवृत्तिवाद	११५. २१.	स्थित्युत्पत्तिविपत्ति	१००. १७.
सव्यवहारानुपयोगिन्	१. १५.	स्थूल	४४. ६; ९८. १; १०५. ३; १२३. १८.
सव्यवहाराभाव	३. ११.	स्थूलद्रव्यादिक	१२१. १५.
सशय १००. २; १०८. २४, २८, ३१; ११०. ३०; ११४. १.		स्थूलप्रमाणानवधारण	४४. १६.
सशयविपर्यासकारण	१. १५.	स्थूलस्पष्टविकल्प	७२. १४.
सशयविपर्यासस्वप्नज्ञानादि	२४. ९.	स्थूलात्मकमेकम्	८. १९.
सशयविरोधवैयधिकरणयोभयदोषप्रसंगानवस्थासकरा- भावकल्पना	१०३. ४.	स्निग्धरूक्षताभाव	११९. २२.
सशयादिज्ञान १८. २७; २०. २; ११५. १२, १९.		स्नेहादि	१२०. १९.
संशयादिप्रसंग	९१. ४.	स्पर्श	६८. २५; ११५. १; १२१. २०.
संशयादिविदुत्पाद	१८. २५.	स्पर्शनग्रह	६८. २५.
सशयासिद्धव्यतिरेकानन्वयादि	१११. १०.	स्पर्शादिविशेष	१०४. २६.
सशयैकान्त	६. ५.	स्पष्ट २१. ६; २९. १४; ५०. २२; ८४. १३; ९२. १७; ९७. १७; ११६. १५.	
सशयैकान्तवादिन्	८२. ४.	स्पष्टनिर्भास	१२२. १२.
सशीति	२. १४.	स्पष्टाकारविवेक	१२५. १०.
सश्लेष ६७. १७; १०४. ३१; ११३. २९.		स्पष्टाभा	३९. २०.
ससर्ग	५४. २७, २८.	स्पष्टावग्रह	११८. १.

स्पष्टावभासिन्	७२. ९; ७३. २२.	स्वपरप्रत्यक्ष	११७. ३१.
स्फटिकाद्युपहितार्थप्रतिबिम्बोपलम्भ	११८. २.	स्वपरभेदव्यवहारपरिग्रह	१२३. १५.
स्फुट	२१. ८; ८६. ८; ९९. ६; १०२. १६.	स्वपररूप	६९. २१.
स्मरण	१७. ९; १०४. २२.	स्वपरविसवादव्यसनीयेन	१४. २५.
स्मरणपूर्वक	९७. ७.	स्वपरसन्तानभावना	१२०. १८.
स्मृति	५. १, १५; ९. ७; १५. १८, २३, २८; ९९. १५; १०९. ९; १२५. १३.	स्वपरसन्तानस्थानसहारकारण.	१२२. ८.
स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताभिनिबोधात्मिका	२३. १.	स्वपरस्वभावानुगमव्यावृत्तिवत्	१२२. १८.
स्मृतिप्रत्यभिज्ञानादि	१५. २९.	स्वपरात्मन्	३९. २७.
स्मृतिबीज	१२५. १८.	स्वपरिणामविकल	१०४. २५.
स्मृतिविकल्प	१०१. २२.	स्वप्नादि	११०. १४, ११४. १०; ११६. १६.
स्मृतिव्यधान	१९९. १६.	स्वप्नान्तरवत्	१४. ७.
स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मक	२१. ७.	स्वप्नेक्षणिकादि	८४. १४.
स्मृतिहेतु	२. २८; ३. १.	स्वप्नीतागमस्थापन	१०. १९.
स्याच्छब्द	२१. २६.	स्वप्नेश	४७. ४; ७८. ६.
स्याज्जीव एव	२१. २५.	स्वप्नभवकायवागव्यवहारानुमेय	११६. १६.
स्यात्कार	२२. १, ३.	स्वप्नमाणनिवृत्ति	११०. ३.
स्यात्पदप्रयोग	२१. २३.	स्वभाव	५. १७, २१; २०. २०; ६०. २८, ११२. २१.
स्यादस्त्येव जीव.	२१. २६.	स्वभावकार्यभेद	१७. २.
स्याद्वाद	२१. १५, १६, २२. ६.	स्वभावकार्योपलब्धि	१०४. २१.
स्याद्वाद १६. २४; १७. १२; ९०. २४, २९; ९१. ४; ९३. १५, २७.		स्वभावकारणासिद्धि	७७. ११.
स्याद्वादनयसंज्ञित	२१. १४.	स्वभावकारणोपलब्धि	१०४. २३.
स्याद्वादिन्	१. ३.	स्वभावनैरात्म्य	१४. २४.
स्याद्वादेक्षणसप्तक	१८. ५.	स्वभावपरभाव	११५. ७.
स्वगुण	१०३. ३.	स्वभावपरिहारविरोध	१०५. १८.
स्वगुणपर्याय	११. ८; २३. ६; ४५. २५.	स्वभावप्रतिबन्ध	१०६. १४.
स्वचित्ताभाव	६. ६.	स्वभावप्रतिबन्धपरिच्छेद	१२७. १८.
स्वचित्तमात्रगन्तवितारसोपानपोषण	३३. १४.	स्वभावभूतान्यापोहस्वार्थप्रतिपादन	२१. २२.
स्वतन्त्र	६२. ४; ८६. २०; १०७. ११; १२२. ३.	स्वभावभेद	३. १४, २४. २०, ९८. १२; ११०. २१; १२३. ४.
स्वतः	६. २७; १३. १९; ३६. २२, ३७. १५, ७८. २३; ९२. ५; १०३. १४; ११०. १५; १२५. ४.	स्वभावभेदानुपलब्धि	११७. १०.
स्वतः प्रमाण	९८. २८, ११६. १०.	स्वभावभेदाभावकल्पना	३. १५.
स्वतः प्रामाण्यविप्रतिषेध	१०९. १०.	स्वभावलाभ	१८. २०.
स्वतः सत्	१३. २२, १२३. ३.	स्वभावविप्रकर्ष	६. २०.
स्वतः सामर्थ्यविश्लेष	८७. १५.	स्वभावविरुद्धकार्यानुपलब्धि	१०५. २९.
स्वतः सिद्ध	९९. १; १२१. २६.	स्वभावविरुद्धव्यापककारणोपलम्भा-	
स्वतः सिद्धि	४१. २८; १००. १९.	नूपलम्भप्रयोगभेद	१०६. १.
स्वनिर्भासभेद	१२. २९.	स्वभावविरुद्धव्याप्तोपलब्धि	१०५. २७.
स्वनिर्भासभेदात्मकज्ञान	१३. ६.	स्वभावविरुद्धोपलब्धि	१०५. १७, ३१.
स्वनिर्भासिज्ञान	११. ६.	स्वभावव्यवसाय	७२. १९.
स्वनिश्चयफलापेत	९८. २२.	स्वभावसहचरकारणकार्यभेदपरिग्रह	१०५. २८.
स्वपक्ष	४. ५.	स्वभावसहचरानुपलब्धि	१०५. ८.
स्वपक्षविपक्ष	१४. २.	स्वभावहानि	१०२. १८; ११०. २३.
स्वपर्याय	११. ६, ४५. ६.	स्वभावहेतु	६. १९.
स्वपर्यायभेदानपेक्ष	१३. ८.	स्वभावातिशयाधान	७०. २२.
स्वपरज्ञानसन्तानोच्छेदकारण	८२. २१.	स्वभावानतिरेचन	६८. १७.
स्वपरपक्षसाधनदूषणव्यवस्था	११५. १६.	स्वभावानुपलब्धि	१०५. १, २.
स्वपरप्रतिवेदिन्	१२६. १९.	स्वभावान्तर	१०५. १५; ११३. १९.
		स्वभावान्तरग्रहत्याग	१२३. ५.
		स्वभावान्तरपरिणामात्मक	१०४. २४.
		स्वभावान्तरविवेक	१०२. १२.

स्वभावोत्पादाविघात	१००. २२.	स्वार्थप्राधान्य	१७. ३.
स्वभावोपलब्धि	१०४. १९.	स्वार्थभेदनिराकृति	१३. ५.
स्वभावोपलम्भोपयोगसंस्कारविशेष	१२५. १८.	स्वार्थभेदानवबोध	११. २०.
स्वभूतिमात्र	४. ६.	स्वार्थमात्राध्यवसाय	९८. १३.
स्वमतप्रणीतप्रमाणद्वयव्यवस्थापन	८. ४.	स्वार्थविवेक	९८. २०.
स्वयमदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्ति	१०. १६.	स्वार्थालोकपरिस्फुट	९९. २.
स्वयमनाधेयातिशयात्मन्	११२. १.	स्वाधार	६७. २३.
स्वयमभेदक	११. २५, २६; १३. २.	स्वापमूर्च्छाद्यवस्य	५१. २४.
स्वयप्रभु	९९. २.	स्वाभिप्रायनिवर्तन	८१. ६.
स्वयम्	११५. ३०.	स्वावयव	१४. ११.
स्वाध्यायतप प्रभावमूल	११८. ११.	स्वाश्रयव्यापित्व	१०२. २१.
स्वाभिलाष्यानभिलाष्यत्व	१२२. २०.	स्वाशमात्राभिनिवोध	१०६. २१.
स्वरसतः	११९. २९.	स्वाशमात्रावलम्बित्व	३८. १७; ११७. २०.
स्वरसमगुर	११२. २१.	स्वाशमात्राविग्रहविकल्प	१०३. १५.
स्वरसवृत्ति	११२. २०.	स्वाशमात्राविषय	१२०. १३.
स्वरचित्तिरचितदर्शनप्रदर्शनमात्र	१४. ८; १०७. ४.	स्वेष्टसिद्धि	२१. २४.
स्वरूप	१३. २६; ११५. ८; १२५. ४.	स्वोपलभनियम	१०९. ३०.
स्वरूपतत्त्वविभ्रम	११७. २५.	स्वोपादानसहकारिविवर्तनविकल्प	१०५. १४.
स्वरूपादिचतुष्टयविशेषणविशिष्ट	२१. २४.	हतसशय	३. १८.
स्वलक्षण	३. २४; ८. १९; ११. १९, २०; १२. १९, १४. २२; १७. २; ४५. २४; ४६. १३, २६; ४८. ८, ९; ५९. ११; १०३. १; १०७. १७; १२३. १५.	हर्षविपादादि	५. १५.
स्वलक्षणभेदाभेद	१३. १२.	हर्षादि	३१. १९.
स्ववचनप्रतिघाती	११५. ५.	हा कष्टं	४१. १७.
स्ववचनविरुद्ध	११४. ५.	हानादिबुद्धि	२६. १९.
स्वविषयनिर्भासाविवेक	१२५. ४.	हानोपादानोपेक्षाप्रतिपत्ताफल	७. १३.
स्वविषयनिश्चय	१०८. १२.	हित	७७. २९.
स्वविषयव्यवस्थापनविकल्प	२. २४.	हितकामिन्	२९. ९.
स्वसम्बन्धोपलब्धि	१०४. १८.	हिताहितप्रतिपत्ति	९९. १६.
स्वसर्वानुपलम्भ	८४. ९.	हिताहितप्राप्तिपरिवर्जन	१२०. २१.
स्वसामान्यलक्षण	१०७. ८.	हिताहितप्राप्तिपरिहारोपयोगसामर्थ्यविरह	१२७. ९.
स्वसवित्	३. ५.	हिताहितविवेकविरह	१००. ४.
स्वसविद्विषयाकारविवेकानुपलम्भ	६. ११.	हिताहिताप्तिनिर्मुक्तिक्षम	२९. १९.
स्वसवेदन	६. २८; ३४. १२; १०१. २३; १०३. १७; १०४. २०.	हिताहिताप्तिपरिहारसमर्थ	२१. ६; ९७. ७.
स्वसवेद्य	८. १६; ३२. २९.	हीनस्थानप्रापण	११९. २०.
स्वस्थ	२१. २.	हेतु	१०२. ११.
स्वस्वभावरहित	१४. १४.	हेतु	१७. ७; ५३. १२, २२; ६२. २, ११; ७५. १०, १४; ७८. २४; १०५. ३०; १०९. १७, २७; ११०. ६; ११२. २०.
स्वस्वभावस्थित	६६. १७.	हेतुफलभाव	१०८. १.
स्वहेतु	३९. २६; ८८. ४; १२५. २.	हेतुफलसन्तानवत्	४५. १४.
स्वहेतुजनित	२०. १६.	हेतुलक्षण	१०९. २३.
स्वहेतुप्रकृति	८९. २.	हेतुवाद	९. २८; २६. २२.
स्वहेतुप्रतिपक्षपाटव	१२०. ३.	हेतुसन्निधानासन्निधानाविशेष	१०१. ५.
स्वहेतूत्थ	२०. १७.	हेतुसाम्य	४०. १६.
स्वाकार	१२५. ९.	हेत्वाभास	७६. ११.
स्वातन्त्र्यदृष्टि	६२. ८.	हेत्वाभास	७६. २९; ११०. १०.
स्वात्मोपलब्धि	१. ४.	हेय	८२. १८.
		हयोपादेयतत्त्व	८२. १५.
		हयोपादेयतत्त्वार्थविपरीतव्यवस्थिति	८९. १६.



§ ७. टिप्पणनिर्दिष्टानां ग्रन्थानां सूचिः, सङ्केतविवरणञ्च.

अद्वयवज्रस० अद्वयवज्रसंग्रहः (गायकवाड ओरियंटल सीरिज वडोदा) १३१.

अनुयोग० } अनुयोगद्वारसूत्रम् (आगमोदय समिति
अनु० सू० } सूत्रत) १३२, १४४, १४५-१४७,
१५२-१५४.

अनेकान्तजय० अनेकान्तजयपताका (यशोविजय ग्रन्थमाला काशी) १६३.

अन्ययोगव्य० } अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशतिका
स्याद्वादम० का० } (रायचन्द्र शास्त्रमाला बंबई)
१४२, १७०.

अभिधर्मको० अभिधर्मकोशः (काशीविद्यापीठ ग्रन्थ-माला) १६२, १६९, १७९.

अभिधर्मको० व्या० अभिधर्मकोशव्याख्या (काशी विद्यापीठ ग्रन्थमाला) १५६.

अभिसमयालंकारालो० अभिसमयालङ्कारालोकः (गा० सीरिज वडोदा) १३१, १७२.

अमरकोशः (निर्णयसागर बंबई) १७५.

अवयविनिरा० अवयविनिराकरणम् (एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता) १६०.

अष्टश०, अष्टसह० अष्टशती, अष्टसहस्र्यां मुद्रिता (निर्णयसागर बंबई) १३४, १३७, १३९, १४०, १४२, १४५, १५९, १६०, १६८, १७०, १७२-१७५, १७७-१७९.

अष्टसह० अष्टसहस्री (निर्णयसागर बंबई) १३१, १३४, १३८, १४०, १४६, १५५, १५६, १५९, १७०, १७१, १७३.

अष्टसह०वि० अष्टसहस्रीविवरणम् (जैनग्रन्थ प्रकाशक सभा अमदावाद) १५०.

आत्मतत्त्ववि० आत्मतत्त्वविवेकः (जीवानन्द कल-कत्ता) १६८.

आप्तप० आप्तपरीक्षा (जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था कलकत्ता) १३३, १५५, १५८, १७९.

आप्तमी० आप्तमीमांसा (जैनसिद्धान्तप्रका० संस्था कलकत्ता) १४२, १४३, १४५, १५१, १६८, १७०.

आराधनाकथाकोशः (बंबई) १६४.

आव० नि० आवश्यकनिर्युक्तिः (आगमोदय समिति सूत्रत) १३४, १४४-१४७, १५१, १५२.

आव० नि० मलय० आवश्यकनिर्युक्तिमलयगिरिटीका (आगमोदय समिति सूत्रत) १४२, १४३, १४८, १४९, १५२, १५३.

इष्टोपदेशटी० इष्टोपदेशटीका (माणिकचन्द्र ग्रन्थ-माला बंबई) १४८.

उत्तरा० उत्तराध्ययनसूत्रम् (आगमोदय समिति सूत्रत) १६१.

उत्पादादिसि० उत्पादादिसिद्धिः (जैनानन्द पुस्तकालय सूत्रत) १८१.

उपायहृदयम् (गा० सीरिज वडोदा) १६६.

कर्मग्र० कर्मग्रन्थाः (आत्मानन्द ग्रन्थमाला भावन-गर) १५४.

कर्मग्रन्थटी० कर्मग्रन्थटीका (आत्मानन्द ग्रन्थमाला भावनगर) १४८.

क्षणभंगसि० क्षणभंगसिद्धिः (एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता) १३७.

गुरुतत्त्ववि० गुरुतत्त्वविनिश्चयः (आत्मानन्द सभा भावनगर) १४९-१५१.

चतुःशतकम् (विश्वभारती ग्रन्थमाला शान्तिनिकेतन) १६०.

जीवकाण्डम् (रायचन्द्रशास्त्रमाला बंबई) १५४.

जैनतर्कभा० जैनतर्कभाषा (सिधो जैन सीरिज कलकत्ता) १३२-१३५, १३९, १४३-१५०, १५२, १५३, १६२, १६३, १७०, १७५ १७७.

जैनतर्कवा० जैनतर्कवार्त्तिकम् (लाजरस कम्पनी काशी) १३२, १४७, १५५, १६१, १६४, १७१, १७२, १७५, १७९.

जैनतर्कवा०वृ० जैनतर्कवार्त्तिकवृत्तिः (लाजरस कम्पनी काशी) १३३.

जैनशिलालेखसं० जैनशिलालेखसंग्रहः (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई) १७१.

तर्कभा०मो० तर्कभाषा मोक्षाकरगुप्तीया लिखिता (मुनि पुण्यविजयसत्का पाटन) १३५, १४२, १६८.

तर्कशास्त्रम् (गा० सीरिज वडोदा) १६६.

तत्त्वसं० तत्त्वसंग्रहः (गा० सीरिज वडोदा) १३१, १३६-१३८, १४५, १४६, १५५, १५७, १५९-१६४, १६७-१६९.

तत्त्वसू० पं० तत्त्वसंग्रहपञ्जिका (गा० सीरिज बड़ौदा) १३२, १३३, १३६, १५९-१६१, १६३, १७३.

तत्त्वार्थभा० टी० } तत्त्वार्थाधिगमभाष्यटीका सिद्ध-
तत्त्वार्थसिद्ध० } सेनोया (आगमोदय समिति
सूरत) १४३-१४७, १५०.

तत्त्वार्थसारः (प्रथमगुच्छक काशी)
१३४, १३५, १४३, १४५-१४७.

तत्त्वार्थसू० तत्त्वार्थसूत्रम् (जैनग्रन्थरत्नाकर वंदई)
१३२-१३५, १३८, १४२, १५२-१५४,
१६१, १६९, १७०.

तत्त्वार्थश्लो० तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकम् (निर्णयसागर
वंदई) १३२, -१३५, १३७-१४१, १४४-
१४९, १५१-१५३, १५५-१५७, १६२-
१६४, १६६, १६७, १७०, १७१, १७५, १७८,
१७९.

तत्त्वार्थहरि० तत्त्वार्थभाष्यहरिभट्टीया वृत्तिः (आत्मा-
नन्दसभा भावनगर) १४३-१४७.

तत्त्वार्थाधि० भा० तत्त्वार्थाधिगमभाष्यम् (आर्हतप्र-
भाकर कार्यालय पूना) १३४, १३५, १४०,
१४२-१४७, १५२, १५३.

तत्त्वोपप्लव० तत्त्वोपप्लवसिंहः लिखितः (प० सुखला-
लसत्कः B. H. U. काशी) १४६, १६२.

त्रिशिकाभा० त्रिशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः (By
सिल्वनलेवी पेरिस) १५६.

धर्मस० धर्मसंग्रहः (आर्यन सीरिज ऑक्सफोर्ड
यूनि०) १६२.

धर्मसंग्र० धर्मसंग्रहणी (आगमोदय समिति सूरत)
१६३, १६४, १६९.

धर्मस० वृ० धर्मसंग्रहणीवृत्तिः (आगमोदय समिति
सूरत) १७७.

धवलाटी० सत्प्र० धवलाटीका सत्प्ररूपणा लिखिता
(प० हीरालालसत्का अमरावती) १३४, १३५,
१४३-१४८, १५२, १५३.

नयचक्रम् (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला वंदई) १४३-१४७.

नयचक्रवृ० नयचक्रवृत्तिः लिखिता (श्वे० जैनमन्दिर
रामघाट काशी) १३३, १४३, १४४, १४६,
१४७, १४९, १५३, १६२, १७०, १७७, १७८.

नयप्रदीपः (जैनधर्मप्रसारकसभा भावनगर) १४३,
१५१, १५२.

नयरहस्यम् (जैनधर्मप्रसारकसभा भावनगर) १४३.

नयविव० नयविवरणम् (प्रथमगुच्छक काशी) १४३,
१४४, १४६, १४७, १५२, १५५, १७०.

नयोप० नयोपदेशः (जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर)
१७०,

नन्दिसू० नन्दिसूत्रम् (आगमोदय समिति सूरत) १३२.
नन्दि० मलय० नन्दिसूत्रमलयगिरिटीका (आगमोदय
समिति सूरत) १८१.

न्यायकुमु० न्यायकुमुदचन्द्रः (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला
वंदई) १३८, १६०, १६३, १७०, १७९.

न्यायकुमु० टि० न्यायकुमुदचन्द्रटिप्पणम् (माणिकचन्द्र
ग्रन्थमाला वंदई) १६६, १७०.

न्यायकुमु० लि० न्यायकुमुदचन्द्रः लिखितः (स्याद्वाद-
विद्यालय काशी) १३८, १४१.

न्यायकुसु० न्यायकुसुमाञ्जलिः (चौखम्बा सीरिज
काशी) १३४, १४०.

न्यायदी० न्यायदीपिका (जैनसाहित्यप्रसारक कार्यालय
वंदई) १३२, १३४, १३५, १५५, १६२,
१६४, १६८.

न्यायप्र० } न्यायप्रवेशः (गा० सीरिज बड़ौदा)
न्यायप्रवे० } १६१, १६३, १६५, १६६, १७७.

न्यायवि० न्यायविन्दुः (चौखम्बा सीरिज काशी)
१३६-१३९, १४१, १५५, १६१-१६३,
१६५-१६८, १७५, १७८.

न्याय वि० टी० न्यायविन्दुटीका (चौखम्बा सीरिज
काशी.) १३७, १४८, १६८, १७६.

न्यायवि० टी० टि० न्यायविन्दुटीकाटिप्पणी (विब्लो-
थिका बुद्धिका रशिया) १३५.

न्यायभा० न्यायभाष्यम् (गुजराती प्रेस वंदई) १६३.

न्यायमुखग्रन्थः (तत्त्वसंग्रहपञ्जिकायामुद्धृत)
१६१, १६६.

न्यायम० न्यायमञ्जरी (विजयानगरम् सीरिज
काशी) १३७, १५४, १६२, १६३.

न्यायवा० न्यायवार्त्तिकम् (चौखम्बा सीरिज काशी)
१६२, १६३.

न्यायवा० ता० टी० न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका (चौखम्बा
सीरिज काशी) १३४, १३७, १३९, १६२.

न्यायवि० न्यायविनिश्चयः (सिधी जैन सीरिज
कलकत्ता) १३२-१३४, १५५-१६०.

न्यायवि० वि० न्यायविनिश्चयविवरणं लिखितम्
(स्याद्वाद विद्यालय काशी) १३२-१३४,
१३८, १४८, १४९, १६४, १७१-१७६, १७७-
१८०.

न्यायसू० न्यायसूत्रम् (चौखम्बा सीरिज काशी)
१३९, १४१, १६२, १६५, १६६,

न्यायवि० टि० न्यायविनिश्चयटिप्पणम् (एतत्पुस्त-
कस्थम्) १७२-१७५, १७७-१८०.

न्यायावता० न्यायावतारः (श्वेताम्बर कान्फेन्स वंदई)
१३७, १६२, १६३, १६५, १६६, १७०, १७७.

न्यायावता० टी० न्यायावतारटीका (श्वेताम्बर कान्फेस वंवाई) १४३, १४५, १४६, १४८, १४९.

पञ्चास्ति० } पञ्चास्तिकायः (रायचन्द्रशास्त्रमाला पञ्चास्तिका०) (वंवाई) १४४, १६१, १६९.

पत्रप० पत्रपरीक्षा (जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था कलकत्ता) १३२, १५५, १७१.

परमात्मप्र० परमात्मप्रकाशः (रायचन्द्रशास्त्रमाला वंवाई) १६१.

परीक्षामु० परीक्षामुखम् (प्रथमगुच्छक काशी) १३२, १३३, १३७, १३९, १४०, १४८, १५२, १६२-१६६, १७०, १७२, १७३, १७५, १७७.

पात० महाभा० पातञ्जलमहाभाष्यम् (चौखम्बा सीरिज काशी) १४२, १४४, १४७.

पात० रह० पातञ्जलरहस्यम् (चौखम्बा सीरिज काशी) १४६.

प्रमाणनय० प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारः (यशोविजय ग्रन्थमाला काशी) १३२-१३५, १३७, १३९, १४०, १४२, १४४-१४९, १५२, १६२, १६३, १६५, १६६, १७०, १७२, १७३, १७५, १७७.

प्रमाणनि० प्रमाणनिर्णयः (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला वंवाई) १३२, १३३, १५६, १६२, १७७.

प्रमाणप० प्रमाणपरीक्षा (जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था कलकत्ता) १३१, १३२, १३४, १३५, १३९, १६२, १६४, १७५.

प्रमाणमी० प्रमाणमीमांसा (सिधी जैन सीरिज कलकत्ता) १३२-१४०, १४८, १६२-१६४, १६६, १६८, १७०.

प्रमाणमी० भाषाटि० प्रमाणमीमांसाभाषाटिप्पणानि (सिधी जैन सीरिज कलकत्ता) १६६, १७५.

प्रमाणवा० प्रमाणवार्तिकम् (भिक्षुराहुलसाकृत्यायनसत्क प्रूफपुस्तकम्) १३१-१३३, १३६-१३९, १४१, १४२, १४६, १४७, १५२, १५५-१५७, १५९-१७०, १७९-१८१.

प्रमाणवार्तिकाल० प्रमाणवार्तिकालङ्कारः (महाबोधि सोसाइटी सारनाथ) १५७-१५९

प्रमाणवार्तिकाल लि० प्रमाणवार्तिकालङ्कारः लिखितः (भिक्षुराहुलसाकृत्यायनसत्क मुद्रणीयपुस्तकम्) १३२-१३५, १३७, १३८, १४१, १४६, १४८, १५८, १५९, १६२, १६५, १७०, १७२, १७९, १८०.

प्रमाणवा० मनोरथ० प्रमाणवार्तिकमनोरथनन्दिनी-टीका (भिक्षुराहुलसाकृत्यायनसत्क प्रूफपुस्तकम्) १३३, १३६, १४२.

प्रमाणवा० स्ववृ० प्रमाणवार्तिकस्वोपज्ञवृत्ति. (भिक्षुराहुलसाकृत्यायनसत्क प्रूफपुस्तकम्) १८१, १८२.

प्रमाणवा० स्ववृ० टी० प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका (भिक्षुराहुलसाकृत्यायनसत्क प्रूफपुस्तकम्) १८१, १८२.

प्रमाणस० प्रमाणसंग्रहः (सिधी जैनसीरिज कलकत्ता) १३२, १३४, १३९, १४८, १५५-१७२, १७७.

प्रमाणसमु० प्रमाणसमुच्चयः (मैसूर युनि० सीरिज) १३६, १५६, १५७, १६१ १६२, १६६.

प्रमाणसमु० टी० प्रमाणसमुच्चयटीका (मैसूर युनि० सीरिज) १३७, १५५.

प्रमेयक० प्रमेयकमलमार्तण्डः (निर्णयसागर वंवाई) १३३, १३८, १४३-१४७, १४९, १६०, १६६.

प्रमेयरत्नको० प्रमेयरत्नकोशः (जैनधर्मप्र० सभा भावनगर) १७०.

प्रमेयरत्नमा० प्रमेयरत्नमाला (काशी विद्याविलास प्रेस) १३४, १४०, १५६, १७०, १७८.

प्रवचनसा० प्रवचनसारः (रायचन्द्रशास्त्रमाला वंवाई) १६९.

प्रश० भा० प्रशस्तपादभाष्यम् (चौखम्बा सीरिज काशी) १६०, १६२.

प्रश० व्यो० प्रशस्तपादभाष्यव्योमवतीटीका (चौखम्बा सीरिज काशी) १३९, १५४.

बुद्धवेदः (गा० सीरिज वडौदा) १३१.

बोधिचर्याव० बोधिचर्यावतारः (एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता) १४५.

बोधिचर्या०प० बोधिचर्यावतारपंजिका (एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता) १३१, १३८.

बृहत्कल्पभा० बृहत्कल्पभाष्यम् (आत्मानन्द जैन-ग्रन्थमाला भावनगर) १५२, १५३.

ब्रह्मसू० ब्रह्मसूत्रम् (चौखम्बा सीरिज काशी) १६१.

महोदयः (स्याद्वादरत्नाकरे उद्धृतः) १३५.

भास्कर भा० ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्यम् (चौखम्बा सीरिज काशी) १८२.

माध्यमिकका० माध्यमिककारिका (विब्लोथिका-बुद्धिका रशिया) १३२.

माध्यमिकवृ० माध्यमिकवृत्तिः (विब्लोथिका बुद्धिका रशिया) १५४.

मी० श्लो० मीमांसाश्लोकवार्तिकम् (चौखम्बा-सीरिज काशी) १३३, १३९, १४०, १४२, १५५, १५७, १६३, १६७, १६८.

मूलाचा० मूलाचारः (माणिकचन्द्रग्रन्थमाला वंवाई) १५२-१५४.

युक्त्यनुशा० युक्त्यनुशासनम् (माणिकचन्द्रग्रन्थ-माला वंवाई) १३७, १४५, १६९.

योगसू० योगसूत्रम् (चौखम्बा सीरिज काशी) १६९.

योगभा० } योगभाष्यम् (चौखम्बा सीरिज
योगसू० व्यासभा० } काशी) १४२, १४६, १५५,
१६२.

योगभा० तत्त्ववै० } योगभाष्यतत्त्ववैशारदी (चौखम्बा
योगसू० तत्त्ववै० } सीरिज काशी) १४६, १६०.

योगभा० भा० योगभाष्यभास्वती (चौखम्बा सीरिज
काशी) १४६.

रत्नाकराव० रत्नाकरावतारिका (यशोविजयग्रन्थ-
माला काशी) १४०, १५१.

राजवा० राजवार्तिकम् (जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी सस्था
कलकत्ता) १३४, १३५, १४३-१४७, १४९,
१५२, १५३, १५७, १७०, १७९.

लघी० लघीयस्त्रयम् (सिधी जैन सीरिज कलकत्ता)
१३२, १६२, १७०, १८०.

लघी० टि० लघीयस्त्रयटिप्पणम् (एतत्पुस्तकस्थम्)
१६०, १६१, १६७, १७०, १७२, १७३, १७५,
१७७, १८०.

वादन्यायः (महाबोधि सोसाइटी सारनाथ) १३७,
१३९, १६६, १७५.

वादन्यायटी० वादन्यायटीका (महाबोधि सोसाइटी
सारनाथ) १३२, १३९, १४५, १५९, १७९.

विज्ञप्ति० विशिका } विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः विशि-
विज्ञप्तिमात्र० विशतिका } तिका (By सिल्वनलेवी
मेरिस) १५८, १६०.

विधिवि० विधिविवेकः (लाजरसकम्पनी काशी) १३७.

विधिवि० न्यायकणि० } विधिविवेकन्यायकणिका-
न्यायकणि० } टीका (लाजरस कम्पनी
काशी) १३७, १६०.

वादविधिः (प्रमाणमीमासाभापाटिप्पणोल्लिखिता)
१६६

विशेषा० भा० विशेषावश्यकभाष्यम् (जैनधर्मप्रसा-
रकसभा भावनगर) १३२, १३४, १३५, १४३-
१४७, १५२, १५३, १६३, १६४, १६९.

वैशे०सू० वैशेषिकसूत्रम् (चौखम्बा सीरिज काशी)
१६५.

व्या० प्र० } व्याख्याप्रज्ञप्तिशतकम् (पूजाभाई
भगवतीसू० } ग्रन्थमाला अमदावाद) १४२, १५१.

शब्दकल्पद्रुमः कोशः (कलकत्ता) १६२.

शावरभा० शावरभाष्यम् (आनन्दाश्रम सीरिज
पूना) १४०.

शावरभा० बृहती शावरभाष्यबृहतीटीका (मद्रास
यूनि० सीरिज) १५६.

शावरभा० बृहतीप० शावरभाष्यबृहतीपञ्जिका
(मद्रास यूनि० सीरिज) १६०, १६९.

शा० भा० भामती शाङ्करभाष्यभामतीटीका (निर्णय-
सागर बंबई) १३९, १४६, १६०.

शास्त्रदी० शास्त्रदीपिका (विद्याविलास प्रेस काशी)
१५५, १८२.

शास्त्रवा० शास्त्रवार्तसमुच्चयः (आगमोदय समिति
सूरत) १३८, १६३, १६८.

शास्त्रवा० टी० शास्त्रवार्तसमुच्चययशोविजयटीका
(यशोविजयग्रन्थमाला काशी) १३३, १४९,
१५०, १७०.

शिक्षासमु० शिक्षासमुच्चयः (त्रिलोथिका बुद्धिका
रशिया) १३१, १७५.

पङ्द० बृह० पङ्दशंनसमुच्चयबृहद्वृत्तिः (आत्मान-
न्दसभा भावनगर) १३२-१३५, १३९, १६२.

पठिततन्त्रशास्त्रम् (योगभा० तत्त्ववैशारद्यामुद्धृतम्)
१४६.

सन्मति० सन्मतितर्कः (पुरातत्त्व मन्दिर अमदावाद)
१४२-१४४, १५२, १६९.

सन्मति० टी० सन्मतितर्कटीका (पुरातत्त्व मन्दिर
अमदावाद) १३२, १३४, १३५, १३८-१४१,
१४५-१४८, १५०, १६०, १६४, १७०, १७९.

सप्तभगित० सप्तभगितरङ्गिणी (रामचन्द्रशास्त्रमाला
बंबई) १४९, १५१, १७०.

सर्वार्थसि० सर्वार्थसिद्धिः (कोल्हापुर) १३४, १४०,
१४३-१४८, १५२, १५३, १७०.

सांख्यका० सांख्यकारिका (चौखम्बा सीरिज काशी)
१५४.

सांख्यका० माठरवृ० सांख्यकारिकामाठरवृत्तिः
(चौखम्बा सीरिज काशी) १७७.

सांख्यतत्त्वकौ० सांख्यतत्त्वकौमुदी (चौखम्बा सीरिज
काशी) १६५.

सिद्ध० द्वात्रि० सिद्धसेनद्वात्रिशतिका (भावनगर)
१६१, १६७.

सिद्धिवि० सिद्धिविनिश्चयः (सिद्धिविनिश्चयटीकात
उद्धृतः) १३३, १३६, १३९-१४५, १४८,
१५२, १५४, १५६, १५८, १५९, १६३-१७०,
१७३, १७४, १७७, १७८.

सिद्धिवि० टी० सिद्धिविनिश्चयटीका लिखिता (पं०
मुखलालसत्का B. H. U. काशी) १३२,
१३४, १३५, १३७, १४०, १४१, १४६,
१४८, १४९, १५६-१६०, १६३, १६४, १६७,
१७१, १७२, १७७, १७८.

सूत्रकृतागशी० } सूत्रकृतागशीलाङ्कटीका (आग-
मोदय समिति सूरत) १४६,
सूत्रकृतागटी० } १५२, १६४.

स्थानाङ्ग० } स्थानाङ्गसूत्रम् (आगमोदय समिति
स्थानाङ्गसू० } सूरत) १४२, १५२, १६९.

स्या० म० स्याद्वादमञ्जरी (रायचन्द्रशास्त्रमाला
ववई) १४३-१४७, १५१.

स्या० रत्ना० स्याद्वादरत्नाकरः (आर्हत्प्रभाकर
कार्यालय पूना) १३३-१३५, १४०, १५१,
१६०, १६४, १७०, १७९.

हेतुवि० हेतुबिन्दुः (P. तारकसमहाशयेन हेतुबिन्दुटी-
कात् उद्धृत) १३६, १७४, १७७, १७९.

हेतुवि० टी० हेतुबिन्दुटीका अर्चटकृता लिखिता
(प० सुखलालसत्का B. H. U. काशी)
१३७, १३९, १४४, १७०, १७८.

ई० ईडरभण्डारीयन्यायकुमुदचन्द्रस्य प्रतौ उपलब्धा
त्रुटिता विवृतिः ।

का० कारिका ।

गा० गाथा ।

ज० जयपुरीयपाटोदीमन्दिरसत्का विवृतिप्रतिः ।

न्यायकु० न्यायकुमुदचन्द्रः ।

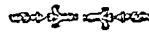
पृ० पृष्ठम् ।

प० पङ्क्तिः ।

मु० लघी० मुद्रितं लघीयस्त्रयम् (भाणिकचन्द्रग्रन्थ-
माला ववई)

श्लो० श्लोकः ।

सम्पा० सम्पादकः ।



§ ८. टिप्पणनिर्दिष्टानाम् आचार्याणां सूचिः.

अकलक	१३२, १४२, १५५, १६२, १६३, १७१.
अकलङ्काद्याचार्य	१४९.
अनन्तवीर्य	१३५
आर्यरक्षिताचार्य	१३२.
उ० यशोविजय	१५०, १५१.
कुमारनन्दिभट्टारक	१६४.
कुमारिल	१३३.
जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण	१३२.
जैनतर्कवार्तिककृत्	१७१.
तत्त्वसंग्रहकार	१३१.
देवनन्दिन्	१७८.
धर्मकीर्ति	१३२, १३४, १४१, १६८.
नन्दिसूत्रकार	१३२.
नागार्जुनप्रभृति	१३२, १७२.
पात्रस्वामिन्	१६४.

प्रज्ञाकरगुप्त	१३२, १५८.
प्रभाचन्द्र	१३८.
भदन्तयोगसेन	१३७.
भदन्तशुभगुप्त	१५९.
मलयगिरि	१४३, १५०, १५१.
मल्लवादिन्	१७९.
वार्तिककार	१६४.
वार्पण्य	१६२
विद्यानन्द	१३८, १७१.
सन्मतिटीकाकार	१३८.
समन्तभद्र	१५०, १५१, १६८, १७८, १७९.
सिद्धसेनगणिप्रभृति	१४९.
सिद्धसेनदिवाकर	१५२, १७८, १७९.
हेमचन्द्रादि	१५०.



§ ६. अकलङ्कप्रणीतत्वेनोक्तानां लघीयस्त्रयादिग्रन्थत्रयवाह्यानां कियतां गद्यपद्यानां सूचिः ।

§ १. सिद्धिविनिश्चयटीकायां लिखितायाम्—

पृ० ६६ A. “कथमन्यथा न्यायविनिश्चये ‘सहभुवो गुणा.’ इत्यस्य ‘सुखमाल्लादनाकारं विज्ञान मेयबोधनम् । शक्ति. क्रियानुमेया स्याद्यूनं कान्तासमागमे ॥’ इति निदर्शनं स्यात् ।”

[न्यायविनिश्चयविवरणे (पृ० २३० B.) ‘सुखमाल्लादनाकारम्’ इति श्लोकः ‘तदुक्त स्याद्वादमहार्णवे’ इति कृत्वा समुद्धृतं । निम्नग्रन्थेष्वपि समुद्धृतोऽयम्—अष्टसह० पृ० ७८ । न्यायकुमु० पृ० १२९ । सन्मति० टी० पृ० ४७८ । स्या० रत्ना० पृ० १७८ । प्रमेयरत्नमा० ४।७]

पृ० १२० A. तदुक्तं न्यायविनिश्चये—“न चैतद्वहिरिव किं तर्हि ? वहिर्वहिरिव प्रतिभासते कुत एतद् भ्रान्तेः तदन्यत्र समानमिति ।”

§ २. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके—

पृ० १८६. युक्तमुक्तञ्च कैश्चन—“अक्षजानैरनुस्मृत्य प्रत्यभिजाय चिन्तयेत् । आभिमुख्येन तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तते ॥” [सिद्धिवि० पृ० ९७ B.]

[श्लोकोऽयं न्यायविनिश्चयविवरणे (पृ० ४२४ B. ४६३ B.) समुद्धृतं]

पृ० २८१. तथोक्तम्—“स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः । नासाधनाङ्गवचनं नादोपोद्भावनं द्वयोः ॥”

[श्लोकोऽयम् अष्टसहस्र्यां (पृ० ८७) प्रमेयकमलमार्तण्डे च (पृ० २०३ A.) उद्धृतः]

पृ० ४२४. तथा चाहुरकलङ्कदेवा.—“शब्दः पुद्गलपर्यायः स्कन्धः छायातपादिवत् ।” [सिद्धिवि० पृ० ४६३ A.]

§ ३. प्रमाणपरीक्षायाम्—

पृ० ५४. तदुक्तम्—“व्यवसायात्मनो दृष्टेः सस्कारः स्मृतिरेव वा ।

दृष्टे दृष्टसजातीये नान्यथा क्षणिकादिवत् ॥” [सिद्धिवि० पृ० २१]

[पूर्वाद्धं न्यायविनिश्चयविवरणेऽपि (पृ० ३६९ A.) उद्धृतम्]

§ ४. न्यायकुमुदचन्द्रे—

पृ० ३७०. “द्रव्यात् स्वस्मादभिज्ञाश्च व्यावृत्ताश्च परस्परम् । उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ।” [सिद्धिवि० पृ० १७४]

§ ५. न्यायविनिश्चयविवरणे लिखिते—

पृ० २३ A. कथं तर्हि कथितम् “स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः ।”

पृ० ३० A. ५० A. उक्तञ्च—“सिद्धं यन्न परापेक्षं सिद्धौ स्वपररूपयोः । तत्प्रमाणं ततो नान्यदविकल्पमचेतनम् ॥” [सिद्धिवि० पृ० ८० A.]

पृ० ४६ B. तदुक्तं सिद्धिविनिश्चये—“पश्यन् स्वलक्षणान्येकं स्थूलमक्षणिकं स्फुटम् । यद्वचवस्यति वैशद्यं तत्सिद्धयेद्विसदृशस्मृते. (तद्विद्धि सदृशस्मृते.) ॥” [सिद्धिवि० पृ० ३२]

पृ० ८४ A. यद्वक्ष्यति—“सकलाकारं वस्तु निर्विकल्पकमिति ।”

पृ० ८६ B. एतदेव स्वयं देवैरुक्तं सिद्धिविनिश्चये—“प्रत्यासत्त्या ययैकं स्यात् भ्रान्तिप्रत्यक्षयोस्तथा । भागतद्वदभेदेऽपि ततस्तत्त्व द्वयात्मकम् ॥” [सिद्धिवि० पृ० ३१५]

पृ० ६२ B. तदुक्तम्—“जीवस्य सविदो भ्रान्तिनिमित्तं मदिरादिवत् । तत्कर्मागन्तुकं तस्य प्रवन्वोऽनादिरिष्यते ॥” [सिद्धिवि० पृ० ३७३]

[श्लोकोऽयं प्रमाणनिर्णयेऽपि (पृ० ७१) समुद्धृतः]

पृ० ६३ B. २०६ A. २२५ A. ४०५ A. तदिदमपि वचनमनवद्य देवस्य—“न पश्यामः क्वचित् किञ्चित् सामान्यं वा स्वलक्षणम् । जात्यन्तरं तु पश्यामः ततोऽनेकान्तसाधनम् ॥” [सिद्धिवि० पृ० १२१]

[श्लोकोऽयम् उत्पादादिसिद्धौ (पृ० ७१) समुद्धृतः]

पृ० ४६ A १०३ A. ४६५ A. तथाच देवस्य अन्यत्र वचनम्—“व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षं स्वतः एव ते । अभिधानाद्यपेक्षायां भवेदन्योन्यसंश्रयः ॥”

पृ० १२२ B. तदुक्तम्—“दृश्यदर्शनयोः मुक्तिर्नित्यव्यापकयोः कथम् । यतस्तापाद्विमुच्येत तदर्थं वा तपश्चरेत् ॥” [सिद्धिवि० पृ० ४५७ A.]

पृ० १६१ B. तथा च सूक्तं चूर्णो देवस्य वचनम्—“समारोपव्यवच्छेदात् प्रामाण्यमनुमानवत् । स्मृत्यादितर्कपर्यन्तं लिङ्गिज्ञाननिवन्धनम् ॥”

पृ० २१६ A. तदुक्तम्—“स्वीकुर्वन्ति गुणानर्था यया शक्त्या गुणा न किम् ।” [सिद्धिवि० पृ० ५९१ A.]

पृ० २२२ B. उक्तञ्चैतत्—“स्वतोऽन्यतो विवर्तते क्रमाद्धेतुफलात्मना ।” [सिद्धिवि० पृ० १७३]

पृ० २३२ A. देवैर्निवेदितं चैतत्—“द्रव्यात् स्वस्मादभिन्नाश्च व्यावृत्ताश्च परस्परम् । लक्ष्यन्ते गुणपर्याया दि (धी) विकल्पाविकल्पवत् ॥” [सिद्धिवि० पृ० १७४]

पृ० ३४६ B. देवैरुक्तम्—“मिथ्यैकान्ते विशेषो वा कः स्वपक्षविपक्षयोः ।”

पृ० ३६२ A. देवैरुचितमुक्तम्—“अखण्डताण्डवारम्भविकटाटोपभूषणम् । शिखण्डिमण्डलं वीक्ष्य ककोऽपि किल नृत्यति ॥”

पृ० ३८५ A. उक्तञ्चैतत्—“अभेदात् सदृशस्मृत्यामर्थकल्पधिया न किम् । सस्कारा विनियम्येरन् यथास्व सन्निकर्षिभिः ॥” [सिद्धिवि० पृ० २८]

पृ० ४१५ A. देवैरन्यत्रोक्तम्—“अदृश्यानुपलम्भादेकैकान्ते यन्न लक्षयेत् । पिशाचो नाहमस्मीति दृश्यादृश्यविवेकधी ॥” [सिद्धिवि० पृ० ३४८]

पृ० ५२६ A. देवैरन्यत्र भाषितम्—“तन्वादिकरणात् सत्त्वान् भवक्लेशेन योजयेत् । बुद्धिमानीश्वरः कस्मात् स्वयं ब्रह्मकुर्वत ॥” [सिद्धिवि० पृ० ३८०]

पृ० ५२६ A. तदुक्तम्—“वादिनोऽनेकहेतूक्तौ निगृहीति किलेप्यते । नानेकदूषणस्योक्तौ वैतण्डिकविनिग्रहः ॥” [सिद्धिवि० पृ० २८७ A.]

पृ० ५२६ A. उक्तञ्च—“सर्वनाम्ना विना वाक्यं तद्वि तेन विना पदम् । सक्षेप्तव्यं समार्थं निग्रहस्थानभीरुणा ॥” [सिद्धिवि० पृ० २८० A.]

पृ० ५३१ B. उक्तमेवेदम्—“स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः ।”

पृ० ५३६ A. उक्तञ्च—“जीवानामसहायाक्षादशास्त्रार्थविदः क्रमात् । विज्ञानातिशये विद्वान् वै विप्रतिपद्यते ।” [सिद्धिवि० पृ० ४१५]

पृ० ५७१ A. कथं तर्हि शास्त्रकारेण अन्यत्र प्रतिपादितम्—“योग्यः शब्दो विकल्पो वा सर्वः सर्वत्र चेत् स्वतः । मिथ्यात्वं परतस्तस्य चक्षुरादिधियामिव ॥” [सिद्धिवि० पृ० २९३ B.]

§ ६. प्रमाणनिर्णये—

पृ० २. अत एवोक्तम्—“प्रमाणस्य साक्षात्फलं (फलसाक्षात्) सिद्धिः स्वार्थविनिश्चयः ।” [सिद्धिवि० पृ० १२६ A.]

§ ७. स्याद्वादरत्नाकरे—

पृ० ६४१. यदाहाकलं. सिद्धिविनिश्चये—“वर्णसमुदायं पदमिति प्रायिकमेतत् प्रत्येकमकारादेः कादाचित्कत्वदर्शनात् ।”

§ ८. रत्नाकरावतारिकायाम्—

पृ० ११३७. प्रकटिततीर्थान्तरीयकलङ्कोऽकलङ्कोऽपि प्राह—“वादन्याये दोषनाशेन यदि पराजयप्राप्तिः पुनस्तवत् श्रुतिदुष्टार्थदुष्टकल्पनादुष्टादयोऽलङ्कारदोषा पराजयाः कल्पेरन्निति ।”

पृ० ११४१. अकलकोऽप्यभ्यधात्—“विरुद्ध हेतुमुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः । आभासान्तर-
मुद्भाव्य पक्षसिद्धिमपेक्षते ॥”

[श्लोकोऽयं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके (पृ० २८०) सन्मति० टीकाया (पृ० ७५९) न्यायवि०
विवरणे (पृ० ५२८ A.) प्रमाणमीमांसायाञ्च (पृ० ६५) उद्धृतः]

§ ६. प्रमाणमीमांसायाम्—

पृ० १२. यदाह—“धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत्पुसा कुतः पुनः । ज्योतिर्ज्ञानाविसवादः श्रुताच्चेत्
साधनान्तरम् ॥ त्रिकालविषय तत्त्व कस्मै वेदो निवेदयेत् । अक्षय्यावरणैकान्तान्न चेद्वेद तथा नरः ॥”
[सिद्धिवि० पृ० ४१३, १४]

§ १०. सप्तभङ्गतरङ्गिण्याम्—

पृ० ७६. तदुक्त भट्टकलङ्कदेवैः—“प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः ।

ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः ॥”

[श्लोकोऽयं स्वरूपसम्बोधने मूलरूपेण निष्टङ्कितः]



शुद्धयः पाठभेदाश्च

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
३.	१०.	प्रमाण्य	प्रामाण्यम्	P. ४६.	२८.	-द्वधर्माध्यासेन	-द्वप्रतिभासेन
६.	१७.	-रन्तश्च प्रत्य-	-रन्तश्चाप्रत्य-	P. ४७.	१.	स्यादसंभवतादा-	असंभवदतादा-
८.	२२.	-विषय-	-विषय-	४८.	११.	-त्मनस्त-	-त्मनोस्त-
९.	७.	अक्षधीःस्मृति-	अक्षधीस्मृति-	५३.	१६.	सर्वस्तुसत्ता	सर्ववस्तुसत्तां
१२.	१७.	-कालनियमा-	-कालस्वभावनियमा-	P. ५४.	९	प्रामाण्यमविसं-	प्रमाणमर्थसं-
१४.	२१.	इति श्रुते । प्र-	इति । श्रुतेः प्र-	५४.	१०.	क्षाभाप्र-	-क्षाभेऽप्र-
१४.	२३.	तदतिसूक्ष्मे-	तदपि सूक्ष्मे-	५४.	२७.	केवल	केवलः
२०.	३.	मूमूर्षणा	मुमूर्षणाम्	५८.	३.	-मानतदि-	-मानवदि-
२०.	१३.	अलक्षणत्वेन	लक्षणत्वेन	५९.	५.	भेदव-	भेदिव-
२१.	१९.	परिणामतो	परमागमतो	६०.	१०.	चेदभि-	चेदत्राभि-
२२.	५.	-देशवाक्येषु	-देशादिवाक्येषु	६०.	३०.	तदनेकान्तात्मक	तदनेकात्मकं
P. २३.	१६.	-प्रस्तावमूल-	-प्रस्तरमूल	६१.	१४.	प्रसक्त	प्रसक्ता
			(न्यायकुमुदचन्द्रे)	६२.	१२.	कार्यकरणयोः	कार्यकारणयोः
२३.	२३.	गुणीभूता सु-	गुणीभूताः सु-	P. ६६.	२७.	बहिर्गत.	बहिरङ्गत
२४.	११.	श्रुतज्ञानेन	श्रुतज्ञानस्य	७१.	२९.	क्षणङ्गोपि	क्षणभङ्गोऽपि
P. २५.	८.	-भेदकृत्	-भेदकः (न्याय- कुमुदचन्द्रे)	७२.	२.	न च ते	न चर्ते
P. २५.	२७.	-निरूपणम्	-निरूपणप्रवणम् (न्यायकुमुदचन्द्रे)	७९.	१७.	सर्वार्थान्यास-	सर्वान्यार्थास-
३०.	२४.	-थैकतानत्व-	थैकनानात्व-	८२.	१८.	सर्वथासदु-	सर्वथाऽसदु-
P. ३२.	१७.	असिद्धिरि-	असिद्धेरि-	८२.	२२.	करुणेष्वमत्य-	करुणात्य-
३९.	२०.	निश्चय	विनिश्चयः	८४.	५.	-लौकिकम्	-लौकिके
४१.	१०.	-कान्द्वयत्वत	-कान्द्वयत्वतः	८४.	२६.	-मर्थ्याच्चै-	-मर्थ्यच्चै-
४२.	२.	-कुर्यान्ति-	कुर्यान्ति-	P. ८८.	५.	सकलाग्र-	साकल्याग्र-
P. ४३.	३०.	अनन्य-	अन्यान्य-	१०१.	३.	कुतका	कुतर्का
४५.	२९.	अन्वर्थ-	अन्वर्थ-	१११.	४.	-ञ्चित्करोज्ञात	-ञ्चित्करोऽज्ञात.
				२८.	८.	१०५. १०६.	परिशिष्टेपु
				३९.	३९.	४६. ८६.	

P. एतच्चिह्नाङ्किताः पाठभेदाः ।

